भारतीय दर्शन में सूक्ष्म शरीर का पर्यालोचन

(वेदान्त, सांख्य-योग एवं आयुर्वेद के विशेष सन्दर्भ में)

Bhārtīya Darśana mein Sūkṣma Śarīra kā Paryālocana

(Vedānta, Sankhya-Yoga evam Āyurveda ke viśeṣa sandarbha mein)

Ph.D. THESIS SUBMITTED TO THE JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY IN FULFILMENT OF THE REQUIREMENTS FOR THE AWARD OF THE DEGREE OF

Doctor of Philosophy

ANIL KUMAR

Special Centre for Sanskrit Studies

Jawaharlal Nehru University

New Delhi-110067

2017

भारतीय दर्शन में सूक्ष्म शरीर का पर्यालोचन

(वेदान्त, सांख्य-योग एवं आयुर्वेद के विशेष सन्दर्भ में)

Bhārtīya Darśana mein Sūkṣma Śarīra kā Paryālocana

(Vedānta, Sankhya-Yoga evam Āyurveda ke viśeṣa sandarbha mein)

पीएच. डी. शोध-प्रबन्ध

शोधनिर्देशक

प्रो. सुधीर कुमार

शोधार्थी

अनिल कुमार

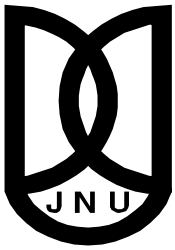

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली – 110067

2017

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

NEW DELHI – 110067

17 July 2017

CERTIFICATE

This is to certify that the Thesis entitled **भारतीय दर्शन में सूक्ष्म शरीर का पर्यालोचन (सांख्य-योग, वेदान्त एवं आयुर्वेद के विशेष सन्दर्भ में) Bhārtīya Darśana mein Sūkṣma Śarīra kā Paryālocana (Vedānta, Sankhya-Yoga evam Āyurveda ke viśeṣa sandarbha mein)** Submitted in partial fulfillment for the requirement for the award of the degree of **DOCTOR OF PHILOSOPHY** has not been previously submitted for any other degree of this University or any other University and is my original work.

19/07/2017

ANIL KUMAR

(Enrolment No. 10/72/MS/001)

We recommend that this Ph.D Thesis be placed before the examiners for the evaluation.

19.07.17

Prof. Grish Natha Jha
Chairperson
Special Center For Sanskrit Studies
Jawharlal Nehru University, New Delhi

PROF. GIRISH NATH JHA
Chairperson
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

Prof . SUDHIR KUMAR
Supervisor
Special Center For Sanskrit Studies
Jawharlal Nehru University, New Delhi

Dr. Sudhir Kumar Arya
Professor
Special Cetre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

<u>सादर समर्पण</u>

स्नेहमयी एवं करुणा की मूर्ति मेरी माँ श्रीमती

सुप्यार देवी, पूज्य पिता श्री कैलाश चन्द , स्वर्गीय पूज्य ससुर भगवानसहाय , पूज्य स्नेहमयी सासू मञ्जु देवी जी, चाचा श्री जगदीश जी

भारत की वह महान् एवं प्राचीनतम वेदान्त, सांख्य-योग की ज्ञान परम्परा जो अवैदिक यतियों से लेकर आज तक आदिवासियों में जीवन्तता के साथ चली आ रही है

एवं

मेरे शोध निर्देशक प्रो. सुधीर कुमार जी

को सादर समर्पित !

आत्मनिवेदन

मैं अपने इस शोधकार्य को सर्वप्रथम अपनी वात्सल्यमयी माता सुप्यार देवी, पिता कैलाश चन्द, दादी बिदामी देवी के पावन चरणों में समर्पित करता हूँ जिन्होनें जीवन के तूफानों में शिलावत रहकर मेरे व्यक्तित्व और अस्तित्त्व को अपने रक्त व स्वेद के एक-एक कण से सींचकर मुझे इस अवस्था में पहुँचाया जिसके कारण मैं भारत की उत्कृष्ट उच्चशिक्षण संस्थान में अपने इस शोधकार्य को अन्तिम परिणति तक पहुँचाने में सफल हो सका। सर्वप्रथम मैं प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध कार्य के शोध निर्देशक प्रो. सुधीर कुमार जी के प्रति सहृदय कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके वैदग्ध्यपूर्ण निर्देशन के दौरान मुझे अनन्त धैर्य, निरन्तर ऊर्जा मिलती रही है। प्रो. सुधीर जी ने विषय चयन से लेकर शोधकार्य की साफल्यपूर्ण परिणति तक सतत् प्रोत्साहन व परामर्श रूपी अविस्मरणीय मार्गदर्शन किया है जिसके बिना इस शोधकार्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

इस शोधकार्य के दौरान मेरे संघर्षमयी परिस्थिति में मेरी पत्नी प्रियंका देवी, प्यारे भाई-बहिन डॉ विजय कुमार, दलिप, बजरंग, गौरीशंकर, रविन्द्र, सोमेश तथा प्यारी अनुजा सुनिता, डॉ अनिता, निशा, सीमा, प्रियंका, आशा व घर-परिवार के सभी सदस्यों को, जिन्होनें संघर्षमय परिस्थितियों में न केवल सोहार्दमय एवं अनुकूल वातावरण बनाये रखा अपितु मुझे शोध सामग्री उपलब्ध कराकर लेखन कार्य में, टाइपिंग, एडिटिंग, चर्चाओं व विचार- विमर्श के माध्यम से अनेक निष्कर्षों पर पहुँचने में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की है, मैं उन सभी के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। मैं मेरे सहपाठियों और मित्रगणों में बूटा सिंह, डॉ. विकास सिंह डॉ. यशविन्द्र, सुबोजित नशकर, डॉ. खालिद खान, मनिष मीणा सन्दीप सागर, सुभाष कुमार, कुलदीप मीना, ललित कुमार, अनिल कुमार, डॉ. मनिषा, डॉ रामकिशोर महोलिया, डॉ पूरण मल, डॉ महेन्द्र मीणा, डॉ. गंगासहाय मीणा, जितेन्द्र जेफ, डॉ शकुन्तला मीना, डॉ मानसिंह मीणा आदि का हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होनें मुझे समय-समय पर स्नेह, सहयोग व उत्साह से लाभान्वित कर शोधकार्य में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से सहायता की। इसके अतिरिक्त डॉ कौशल पवार, डॉ. अनीता स्वामी, डॉ. श्रुतिराय तथा अन्य बडे भाई-बहनों को भी हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिनकी शुभकामना व समयानुकूल सहायता से इस शोधकार्य को लाभ प्राप्त हुआ है।

इस शोधकार्य में विशिष्ट योगदान के लिये मैं वरिष्ठ शोधार्थी माईराम जी तथा प्यारी अनुजा सुनिता का दिल से धन्यवाद ज्ञापित करना चाहूँगा जिन्होनें मुझे जीवन की हर परिस्थिति में संघर्ष करने के लिए प्रोत्साहित किया तथा मेरा उत्साह और मनोबल को कभी नहीं टूटने दिया। इसके अतिरिक्त महेश कुमार, डॉ. मालीराम मीना, शेलेन्द्र कुमार, ज्योति मीना, कपिल मीना, राहुल मीना, विकास मीना सुरेश बिजानिणा, सत्य नारायण, पवित्रा अग्रवाल, सोनल व अनिता मीणा को भी दिल से धन्यवाद देता हूँ, जिन्होनें इस शोधकार्य के दौरान टाइपिंग व एडिटिंग से सम्बन्धित कार्य करके मुझे शोधकार्य को अन्तिम परिणति तक पहुँचाने में सहायता की है।

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र की पूर्व आचार्या प्रो. शशिप्रभा कुमार व सम्मानीय शिक्षकगण प्रो. गिरीश नाथ झा, प्रो. रामनाथ झा, डॉ. रजनीश कुमार मिश्रा, डॉ. संतोष कुमार शुक्ल, प्रो. चौडूरि उपेन्दर राव, डॉ. हरिराम मिश्रा जी का मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होनें मुझे शिक्षा प्रदान कर समय-समय पर मेरा मार्गदर्शन करके इस शोधकार्य के योग्य बनाया। इसी सन्दर्भ में दिल्ली विश्वविद्यालय के विशेष रूप से प्रो. सतीश उपाध्याय, प्रो. आदित्य नारायण मिश्र, प्रो. प्रकाश नारायण, डॉ राजेश झा, डॉ चयनिका उनियाल पाण्डा, डॉ सुरेन्द्र कुमार, डॉ प्रेम चन्द को बहुत बहुत धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होनें इस शोधकार्य में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से मुझे सहायता प्रदान की।

मैं अपने पूर्व गुरूजनों श्री गोपाल शर्मा, श्री श्रवण मीना, श्री ओमप्रकाश मीना, श्री दुर्गाप्रसाद मीना का भी हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिनके मार्गदर्शन के कारण मेरे द्वारा विज्ञान संकाय छोड़कर कला संकाय में प्रवेश लिया गया और जे.एन.यू.जैसे उच्चशिक्षण संस्थान में यह शोधकार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। अन्त में, भारत के सर्वोच्च शिक्षा संस्थान विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू. जी. सी.) का मैं विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ, जिसने जूनियर व सीनियर रिसर्च फेलोशिप के रूप में आर्थिक सहयोग से मैंने अपने इस शोधकार्य को सरलता व सफलतापूर्वक सम्पन्न किया।

दिनाँक 17/07/201 **अनिल कुमार**

(Enrolment No. 10/72/MS/001)

संकेताक्षर सूची (Abbreviation)

अ. वि.सू	=	अर्थविनिश्चयसूत्र	अट्ठ. सा	=	अट्ठसालिनी
अ .ह .नि.	=	अष्टांग हृदय निदानस्थान	अ.ह.सू.	=	अष्टांग हृदय सूत्रस्थान
अ.वि	=	अभिदीप, विभाषाप्रभा	ऐ. ब्रा	=	ऐतरेय ब्राह्मण
अ.सं.सू.	=	अष्टांग संग्रह सूत्रस्थान	ऋग् .	=	ऋग्वेद
अं. नि	=	अंगुत्तर निकाय	अर्थवि. सू	=	अर्थविश्चयसूत्र
अथर्व.	=	अथर्ववेद	अमृत. उप.	=	अमृतबिन्दूपनिषद्
अभि. को	=	अभिधर्मकोशम्	अभि. स	=	अभिधर्म समुच्चय
अभि. को. भा	=	अभिधर्मकोश भाष्य	अर्थ. वि	=	अर्थविनिश्चय
अभि. दी	=	अभिधर्म दी	उ. भा	=	उष्कार भाष्य
अभि. दी	=	अभिधर्मदी	अभि. सं	=	अभिधम्मसंगणि
अभि. दी	=	अभिधर्म-दी	अभि. प्र	=	अभिधर्मप्रदी
अभि. संग	=	अभिधम्मत्थसङ्गहो	त.भा	=	तत्त्वार्थ-भाष्य
ऐ. उ	=	ऐतरेय उनिषद्	क. उ	=	कठो उनिषद्
ऐत. उ.	=	ऐतरेयोनिषद्	ऐ. ब्रा	=ऐतरेय ब्राह्मण	
क. उ.	=	कठोनिषद्	के. उ.	=	केनोपनिषद्
के. उ	=	केन उपनिषद्	गौ.ब्रा	=	गोथ ब्राह्मण
कौषिब्रा .	=	कौषितकी ब्राह्मण	गौ.ब्रा.	=	गोपथ ब्राह्मण
गो.उप.	=	गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्	श्री.वा	=	श्रीभाष्यवार्तिक

च.शा .	=	चरक शारीरस्थान	च. सं.	=	चरक संहिता
च. सं	=	चरक संहिता	छा. उ	=	छान्दोग्य उपनिषद्
च.उ.	=	चरक उत्तरस्थान	च.चि.	=	चरक चिकित्सास्थान
च .सू.	=	चरकसंहिता सूत्रस्थान	च.वि.	=	चरक विमानस्थान
छा. उ.	=	छान्दोग्योपनिषद्	त. वै.	=	तत्त्ववैशारदी
त. वै	=	तत्त्ववैशारदी	ता. ब्रा	=	ताण्डव ब्राह्मण
त.प्र	=	तत्त्वप्रदीपिका	आ. टी	=	आनन्दगिरी टीका
त.स.	=	तत्त्वार्थ सूत्र	गो.जी.	=	गोम्मटसार-जीवकाण्ड
त.सू.	=	तत्त्वार्थाधिगमसूत्र	वि.भा	=	विशेषावश्यकभाष्य
ता. ब्रा.	=	ताण्डय ब्राह्मण	तै. उ.	=	तैत्तिरीयोपनिषद्
तै. उ	=	तैत्तिरीय उपनिषद्	दी. नि	=	दीघनिकाय
ध. प	=	धम्मपद	नि.	=	निरुक्त
न्या. सू.	=	न्यायसूत्र	पा.द .यो .	=	पातञ्जलयोगदर्शनम्
प.	=	पञ्चस्तिकाय	जै. सि. दी	=	जैन सिद्धान्त दीपिका
प.सं	=	पञ्चसंग्रह	त.वा.	=	तत्त्व वार्त्तिक
प.सा	=	परमार्थसार	ह.स्तो	=	हस्तामलकस्तोत्र
पा. भा. को	=	पाली-भाष्यकोश	प्र. भा	=	प्रशस्तपाद भाष्य
प्र. उ	=	प्रश्न उपनिषद्	बोधि.	=	बोधिचर्यावतार
प्रक. पं	=	प्रकरण पंचिका	प्र. भा	=	प्रशस्तपाद भाष्य
बृ. सू	=	बृहस्पतिसूत्र	बृ. उ	=	बृहदारण्यक उनिषद्

बृ. सू	=	बृहस्पतिसूत्र	भा.	=	भाषा रिच्छेद
बृह.	=	बृहदारण्यकोपनिषद्	भ. गी.	=	भगवद्गीता
ब्र. सू.	=	ब्रह्मसूत्र	ब्र. सू. शा. भा.	=	ब्रह्मसूत्र शाबरभाष्य
ब्र.	=	ब्रह्मवाद	प्र.र	=	प्रस्थान रत्नाकर
ब्र.सि	=	ब्रह्म-सिद्दान्त	यो.रा	=	योगराजवृत्ति
भ. गी	=	भगवद्गीता	जै. सि.को	=	जैन सिद्धान्त कोमुदी
भा. स	=	भागवत्सन्दर्भस्य सर्वसंवादिनी	गौ.भा	=	गौडपादभाष्य
भे. स.	=	भेलसंहिता	मा. नि.	=	माधव निदान
म. शा	=	मध्मक शास्त्रम्	मा. का	=	माध्यमिक कारिका
महा. सू	=	महायान सूत्रालंकार	यो. व	=	योगवाशिष्ट
मा. उ	=	मडुक्य उपनिषद्	मु. उ	=	मुण्डक उपनिषद्
मा. उ	=	मडुक्य उपनिषद्	मु. उ	=	मुण्डक उनिषद्
मा.	=	मानसोल्लास	मा.पु	=	मार्कण्डेयपुराण
मै. उ	=	मैत्रयणी उपनिषद्	मा. मे	=	मान मेयोदय
य. वे	=	यजुर्वेद	वै. सू	=	वैशेषिक सूत्र
यजु .	=	यजुर्वेद	यो. सू.	=	योगसूत्र
यो. वा.	=	योगवार्तिक	प.वा	=	पंचीकरवार्तिक
योगा. भू	=	योगाचारभूमि	ल. सू	=	लंकावतारसूत्र
वा.	=	वाक्यदीयम्	विभा.	=	विभावनी
वा.	=	वाचस्पत्यम्	आ. पौ.सु	=आत्मप्रतिलाभ-पौठपाद सुत्त	
वि. म	=	विसुद्धिमग्ग	सां. त. कौ. टी	=	सांख्यतत्त्वकौमुदीटीका

वे.दी	=	वेदान्तदीप	वे.सं	=	वेदार्थसंग्रह,
श. ब्रा	=	शतपथ ब्राह्मण	शु. य. वे	=	शुक्लयजुर्वेद
श.क	=	शब्दकल्पद्रूम	अ.को	=	अमरकोष
शत .ब्रा .	=	शतपथ ब्राह्मण	श्लो.वा.	=	श्लोकवार्तिक
शा. दी	=	शास्त्र दीपिका	श्लो. वा	=	श्लोक वार्तिक
शा. सं.	=	शारङ्गर संहिता	सां. का.	=	सांख्यकारिका
शि. वा	=	शिवसूत्र वार्तिक	सं. नि	=	संयुक्त निकाय
शि. स	=	शिक्षा समुच्चय	शि. सू	=	शिवसूत्र
शु. द्वै. मा	=	शुद्धाद्वैतमार्तण्ड	त.दी	=	तत्वार्थदीपनिबन्ध
ष.स	=	षड्दर्शनसमुच्चय	द्र.सं	=	द्रव्यसंग्रह
स.	=	सप्तदार्थी	सां. त. कौ	=	सांख्यतत्त्वकौमुदी
स.आ.गा	=	समयसार, आत्मख्याति,गाथा	भ.	=	भगवतीसूत्र
स.सि	=	सर्वार्थसिद्धि	प्र.प	=	प्रज्ञापना पद
सां. का	=	सांख्यकारिका	सु. सं	=	सुश्रुत संहिता
सां. त. कौ.	=	सांख्यतत्त्वकौमुदी	सां. सू .	=	साख्यसूत्र
सु. उ	=	सुश्रुत उत्तरस्थान	सु. सं	=	सुश्रुतसंहिता
सु. नि.	=	सुश्रुत निदानस्थान	हा. सं.	=	हारीत संहिता
सु .सू.	=	सुश्रुत सूत्रस्थान	सु. शा.	=	सुश्रुत शारीरस्थान
सौ. न	=	सौन्दरनन्द	सं. नि	=	संयुक्त-निकाय
ह.हि	=	हस्तिहिरण्यमश्वान्	पु.सू.	=	पुरूष सूक्त

अध्याय–विभाजन (Chapter-Division)

1. प्रथम अध्याय **Pager. No**

शोधप्रबन्ध-कार्य का स्वरूप

- प्रस्तावना 1
- **सर्वेक्षण (Survey of Existing Researches)** 16
- **शोधकार्य की विशिष्टता** **17**
- **शोध–प्रविधि (Method of Research)** **19**
- परियोजना 20
- शोध शीर्षक का औचित्य 21
- **मुख्यस्रोत** **23**

2. भारतीय ज्ञान परम्परा में सूक्ष्मशरीर का पर्यालोचन

I. **उपनिषदों में शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन :-** 27

II. **विज्ञान में शरीर का पर्यालोचन :-** 45

III. **चार्वाक दर्शन में सूक्ष्म शरीर का पर्यालोचन :-** 49

IV. **जैन दर्शन में शरीर का पर्यालोचन** 51

क. **औदारिक शरीर**

ख. **वैक्रियक शरीर**

ग. **आहारक शरीर**

घ. तैजस शरीर

ङ. कार्मण शरीर

V. बौद्ध दर्शन में शरीर का पर्यालोचन :- 65

क. औदारिक स्थूल शरीर का ग्रहण

ख. मनोरूप शरीर ग्रहण

ग. अरूप (अभौतिक) शरीर ग्रहण

VI. न्याय-वैशेषिक दर्शन में शरीर का पर्यालोचन :- 78

VII. शैव दर्शन में सूक्ष्म शरीर का पर्यालोचन :- 86

VIII. कैवल्य दर्शन में शरीर का पर्यालोचन :- 91

3. वेदान्त दर्शन में सूक्ष्मशरीर का पर्यालोचन 96

I. परिचय :- 96

II. अद्वैत वेदान्त दर्शन में सूक्ष्म शरीर का स्वरुप:- 105

III. सूक्ष्मशरीर:- 111

IV. सूक्ष्मशरीर की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया: - 113

V. स्थूल शरीर:- 119

VI. सूक्ष्मशरीर एवं चेतन अवस्थायें :- 130

क. जाग्रतावस्था

ख. स्वप्नावस्था

ग. सुषुप्ति अवस्था

घ. तुरीयावास्था

VII. शरीर एवं पञ्चकोश :- 135

क. - अन्नमय कोष 135

ख. प्राणमय कोष 137

ग. मनो मय कोष 138

घ. विज्ञानं मय कोष 140

ङ. आनंदमय कोष 140

VIII. सूक्ष्मशरीर एवं कर्म सिद्धान्त :- 141

IX. सूक्ष्म शरीर एवं मोक्ष:- 147

X. सूक्ष्म शरीर का ब्रह्म, आत्मा, माया, ईश्वर एवं जीव से सम्बन्ध:- 151

4. सांख्य-योग दर्शन में सूक्ष्मशरीर का पर्यालोचन

I. परिचय 194

II. सूक्ष्म शरीर का स्वरूप 197

III. सूक्ष्म शरीर को मानने की आवश्यकता 200

IV. सूक्ष्मशरीर एवं त्रिगुणात्मक सिद्धान्त:- 201

V. सूक्ष्मशरीर का अनेकत्व:- 206

VI. सूक्ष्मशरीर एवं सृष्टि-विकास क्रम :- 208

क. बुद्धि:- 211

ख. अहङ्कार:- 213

ग. एकादश इन्द्रियां:- 214

घ. ज्ञानेन्द्रियां:- 216

ङ. कर्मेन्द्रियां:- 217

VII. स्थूलशरीर(अधिष्ठान शरीर) एवं सृष्टि विकास क्रम:- 220

VIII. सूक्ष्मशरीर के बन्धन के कारण:- 225

IX. सूक्ष्मशरीर एवं कैवल्य (मोक्ष):- 242

X. सूक्ष्मशरीर की आत्यान्तिक निवृत्ति एवं अष्टांग योग 257

5. आयुर्वेदीय में शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन 267

परिचय 270

I. आयुर्वेद में शरीरोत्पत्ति संकल्पना 270

II. आयुर्वेद में स्थूल शरीर 273

III. पञ्चमहाभूत सिद्धान्त और आयुर्वेदिक शरीर 274

- आकाशीय द्रव्य–
- वायव्य द्रव्य
- तैजस द्रव्य

- आप्य या जलीय द्रव्य
- पार्थिव द्रव्य

IV. स्थूलशरीर एवं त्रिदोष सिद्धान्त 276

- वात 278
  - वात प्रकोप के लक्षण
  - वात प्रकोप के कारण
  - प्रकुपित वात का उपचार
- पित्त 281
  - पित्त प्रकोप के लक्षण
  - पित्त प्रकोप के कारण
  - प्रकुपित पित्त का उपचार
- कफ या श्लेष्मा 282
  - प्रकुपित कफ के लक्षण
  - कफ प्रकोप के कारण
  - प्रकुपित कफ का उपचार

V. स्थूलशरीर त्रिदोषों का आश्रय स्थान 284

VI. त्रिदोष, ऋतुएं और स्थूलशरीर 285

VII. स्थूलशरीर एवं सप्त धातुयें 286

- रस धातु (Plasma) 286
- रक्त धातु (Blood) 287
- मांस धातु (Muscle tissues) 287
- मेद धातु (Fat tissues) 288
- अस्थि धातु (Bone) 288

- मज्जा धातु (Bone-marrow) 288
- शुक्र धातु (Sperm and Ovum) 289

VIII. स्थूलशरीर एवं तेरह अग्नियां 290

- जाठराग्नि
- विषमाग्नि
- तीक्ष्णाग्नि
- मन्दाग्नि
- समाग्नि
- भूताग्नियाँ
- धात्वाग्नियाँ

IX. मल पदार्थ 292

- पुरीष
- मूत्र
- स्वेद या पसीना

X. इन्द्रिय-विवेचन 294

XI. शरीर की प्रवृत्तियाँ एवं त्रिगुणसिद्धान्त 296

- सत्वगुण 297
  - सत्त्वगुण का स्वरूप
  - सत्त्वगुण का लक्षण (कार्य)
- रजस् गुण 302
  - रजस् गुण का स्वरूप
  - रजोगुण का लक्षण
  - राजसी गतियां
- तमस् गुण:- 305

- तमोगुण का लक्षण
- तामसी गतियां

XII. त्रिगुण का पारस्परिक सम्बन्ध 308

XIII. आयुर्वेद में सूक्ष्म शरीर की संकल्पना 311

XIV. सूक्ष्मशरीर विवेचन 314

- परम आत्मा 316

a. परम आत्मा के लक्षण (लिङ्ग) 317

b. आतिवाहिक (सूक्ष्म शरीरयुक्त) आत्मा 317

c. स्थूल चेतना शरीर या कर्मपुरुष 322

d. राशिपुरुष उत्पत्ति कारण 323

e. कर्मपुरुष की क्रियाकारिता 325

f. सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) 326

XV. अपवर्ग एवं शरीर 331

XVI. जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति 332

निष्कर्ष 333

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 349

प्रथम अध्याय **Pager. No**

शोधप्रबन्ध-कार्य का स्वरूप

- प्रस्तावना 1
- **सर्वेक्षण (Survey of Existing Researches)** 16
- **शोधकार्य की विशिष्टता** 17
- **शोध–प्रविधि (Method of Research)** 19
- परियोजना 20
- शोध शीर्षक का औचित्य 21
- **मुख्यस्रोत** 23

प्रस्तावना :-

भारतीय दर्शन में सूक्ष्मशरीर के दार्शनिक अध्ययन की अर्हतता समझने से पहले 'दर्शन' शब्द का शाब्दिक स्वरूप समझना अपेक्षित है। दृश्यते= ज्ञायते= विचार्यते अनेन इति दर्शनम्" अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय, जाना जाय अर्थात् सद्-असद् वस्तु का विचार किया जाय उसे दर्शन कहते है। किसी वस्तु के तात्त्विक अर्थात् सच्चे स्वरूप को जान लेना ही दर्शन शब्द का अर्थ = प्रयोजन माना गया है। यह दृश्यमान चराचर विश्व सत्य है या मिथ्या है, जड़ है या चेतन, प्रकाश है या अन्धकार, सुख है या दुःख आदि के द्वन्द से रहित या सहित है, आधि व्याधि- जरा और मरण की भीषण कथा की व्यथा से समन्वित है अथवा निरन्वित है, इत्यादि विषयों का विचार दर्शन शब्दार्थ के अन्तर्गत माना गया है। दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत यह दृष्टिगोचर होता है कि संसार क्या है? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? यह नित्य है या अनित्य? संसार के अन्दर सुख-दुःख का कारण क्या है? इस जगत् में आत्मा-परमात्मा, मोक्ष एवं पुनर्जन्म का रहस्य क्या है? संसार के दुःख सागर से अन्तिम आनन्द की पराकाष्टा की प्राप्ति के साधन क्या है ? इत्यादि समस्त विषयों का ज्ञान दर्शनशास्त्रगम्य है। दर्शनशास्त्र को व्याकरण शास्त्र एवं ज्योतिष शास्त्र की तरह स्वतन्त्र शास्त्र की संज्ञा प्रदान की गई है- **शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।** यहां पर **शास्** धातु का अर्थ आदेश प्रदान करना, आज्ञा देना आदि माना गया है। और **शंस्** धातु का अर्थ विचार करना, निरूपण करना, प्रतिपादन करना आदि माना गया है। दर्शन इस चराचर दृश्यमान मिथ्याजगत् के अन्दर सत्य की खोज करता है एवं इस मिथ्या जगत् के आधारभूत वास्तविक तत्त्व सद्-असद् का अन्वेषण, दृश्यादृश्य जगत् में परम सत्य की प्राप्ति करवाने में सहायक है।

भारतीय प्राचीन दार्शनिक परम्परा का परम लक्ष्य शुद्ध ज्ञान आधारित सुख (आनन्द) प्राप्ति तथा संसार के दुःखों से निवृत्ति जिज्ञासा के फलस्वरूप अनेक चिन्तनधारायें विकसित हुईं, जिनका उद्देश्य परमसत्ता को जानना तथा आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक सभी प्रकार के दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति रहा है। बौद्ध परम्परा के अनुसार जन्म लेना ही दूःख की परम कारण है। शरीर का अस्तित्त्व तब तक बना रहेगा तब तक अच्छे-बुरे कर्मो

का संस्कारों का क्रम चलता रहेगा। भारतीय दार्शनिक विद्वानों में यह मतभेद हमेशा से बना रहा है कि इन अच्छे-बुरे संस्कारों का वाहक आत्मा है या शरीर ? आत्मा इन संस्कारों का वाहक नही हो सकता क्योंकि आत्मा किसी का साधन स्वीकार करने पर उसकी सर्वव्यापकता पर प्रश्न खड़ा हो सकता। आत्मा शाश्वत, नित्य, अपरिणामी एवं बन्धन रहित है। यदि आत्मा को संस्कारों का वाहक मान लिया जाता है जडत्व दोष के कारण उनमें अनित्यता का दोष आ जायेगा तथा जो जड़ तत्त्व है उसका नाश निश्चित है। यदि आत्मा को अनित्य तत्त्व मान लिया जाता है तो वैश्विक स्तर पर अनेक समस्यायें विश्वजगत के सामने सम्पुस्थित हो जाती है। जैसे कि आत्मा की नित्यता सिद्धान्त के कारण मनुष्य में आशावाद का भावना में प्रवृत्ति तथा निराशावाद की भावना से निवृत्ति मिलती है। जिसके चलते व्यक्ति में यह पुनर्जन्म लेने की भावना बनी रहती है तथा दूसरा वह जीवन के अन्तिम अवस्था के दौर में वह इस आशा के साथ नश्वर शरीर रूपी चौले का परित्याग करने के लिये तैयार रहता है कि अगले जन्म में योग-साधाना के माध्यम से कलुषित कर्मों के सस्कारों से मुक्ति पाने का प्रयास करेगा। यहाँ आत्मा कर्मों के संस्कारो का वाहक नही है। और नश्वर शरीर भी कर्मो के संस्कारों का वाहक नही हो सकता क्योंकि व्यवहारिक जगत में यह प्रत्यक्ष ज्ञान से क्षणभगुर परिलक्षित होता है। इस तरह आत्मा एवं शरीर की अवधारणा से पुनर्जन्म कल्पना करना एवं समझ पाना कठिन हो जाता है। इसके सन्दर्भ में भारतीय ज्ञान परम्परा के अथाह सागर में जाने से सूक्ष्म शरीर की अवधारणा का विस्तृत वर्णन मिलता है। सूक्ष्म शरीर ही वह माध्यम है जो एक जन्म से दूसरे जन्म हमारे अच्छे-बूरे संस्कारों को ले जाने वाला वाहक है। सूक्ष्म शरीर के सन्दर्भ में भारतीय ज्ञान परम्परा की मतैक्यता नही है। सभी दार्शनिक परम्पराओं की दार्शनिक पृष्टभूमि अलग- अलग होने कारण सूक्ष्म शरीर की तत्त्वमीमांसा भिन्न-भिन्न है। इस ससांर के आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों के सन्दर्भ में जहाँ एक ओर व्यक्ति के मानसिक व आध्यात्मिक स्वास्थ्य की सुरक्षा एवं संवर्धन हेतु सांख्य-योग, जैन, बौद्ध, शैव, योग, वेदान्त आदि दार्शनिक चिन्तन धाराओं का विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर आयुर्वेद एवं हठयोग जैसी शारीरिक स्वास्थ्य की सुरक्षा एवं संवर्धन करने वाली क्रियात्मक चिन्तनधाराओं का विकास हुआ । वही तीसरी ओर पुनर्जन्म की जटिल गुत्थियों को सुलझाने के लिये सूक्ष्म शरीर की विचारधारा का विकास हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि ये तीनों प्रकार की चिन्तनधारायें समानान्तर चली आ रही थीं। इन परम्पराओं में से दो व्यावहारिक परम्परायें महत्वपूर्ण थीं – आयुर्वेद व योग परम्परा, जो कि यहाँ के मूलनिवासियों की जीवनशैली में परिव्याप्त थीं।

आयुर्वेद व योग दोनों ही विधायें मानव हितकारी, अत्यन्त प्राचीन व व्यावहारिक पहलुओं पर आधारित परम्परायें हैं तथा दोनों के ही आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में प्राचीन सांख्य दर्शन है जिससे दोनों ही परम्पराओं का परम लक्ष्य आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक सभी प्रकार के दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति या कैवल्यप्राप्ति है। जहाँ एक ओर आयुर्वेद शारीरिक रोगों के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा के साथ-साथ मानसिक और आध्यात्मिक भावों का भी विवेचन करता है वहीं दूसरी ओर योग मुख्य रूप से मानसिक एवं आध्यात्मिक पक्षों का ही विशिष्ट विवेचन करता है। एक शरीर प्रधान है तो दूसरा मनस् प्रधान । व्यक्ति का स्वास्थ्य शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक व्याधियों से रहित का द्योतक है। इन तीनों के विकार रहीत होने पर व्यक्तिक स्वास्थय बना रहता है। हमारे इस शोध का मुख्य विषय सूक्ष्म शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन है। सूक्ष्म शरीर के गूढ़ रहस्य को समझने से पहले हमें शरीर के वैज्ञानिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप के विभिन्न विचारधाराओं के अनुसार शरीर के विभिन्न पक्षों को समझना अपेक्षित है। जिसका हम निम्नानुसार उल्लेख कर रहे है।

भारतीय दर्शन में पुनर्जन्म की अवधारणा को चार्वाक को छोड़कर प्राय: सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। यह पुनर्जन्म किसका का होता है? इसके उत्तर में सभी दर्शन आत्मा का पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन आलयविज्ञान का पुनर्जन्म स्वीकार करता हैं। श्रीमद्भगवद् गीता में श्रीकृष्ण भी कहते हैं-

"वांसासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा, न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।"

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर नवीन शरीरों को प्राप्त करती हैं।[1] स्थूल शरीर के माध्यम से आत्मा नये-नये वस्त्र धारण करती रहती है जिसमें वह अधिष्ठित होकर करती रहती है, वह सूक्ष्म शरीर होता हैं। फिर सूक्ष्म शरीर मानने की आवश्यकता क्या

[1] भगवद्गीता,२.२२

है? बौद्ध दर्शन सूक्ष्म शरीर को मनोमय आत्मप्रतिलाभ[1], शैव दर्शन पौर्यष्टक[2], सांख्य दर्शन लिंग शरीर या सूक्ष्म शरीर तथा वेदान्त-दर्शन लिंग शरीर सूक्ष्म शरीर मानता हैं। सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता है क्योंकि आत्मा शुद्ध एवं चेतन हैं तथा यह साधनहीन रहकर अचेतन जगत् के सम्पर्क में कुछ भी करने में असमर्थ हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण कहते हैं- **"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।**

अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।"

अर्थात् यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्म लेता है और न ही मरता है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरता हैं। भोगादि के लिए एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर में जाने के लिए भी आत्मा को साधन की अपेक्षा रहती हैं। यह साधन सूक्ष्म शरीर ही हैं। इस जन्म-मरण की गति में यह हमेशा आत्मा के साथ बना रहता हैं। आत्मा का वाहन सूक्ष्म शरीर को कहा जाता हैं। समस्त सर्गकाल में आत्मा इसी में स्थित होकर अपनी समस्त गतिविधियाँ सम्पन्न करता हैं। यह आत्मा और स्थूल शरीर के मध्य सदैव बना रहता हैं। इस तरह सूक्ष्म शरीर आत्मा का अधिष्ठान कहा गया हैं। सूक्ष्म शरीर का वास्तविक उपयोग, आत्मा के लिए सुख-दुःखादि समस्त भोगों को प्रस्तुत करना तथा समाधि द्वारा तत्त्वज्ञान का सम्पादन करना हैं। शुद्ध आत्मा भोगों को करने में असमर्थ रहती है फलस्वरूप आत्मा को अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए एक ऐसे साधन की अपेक्षा रहती है, जो भोग से लेकर अपवर्ग या मोक्ष पर्यन्त सर्वदा उसका सहयोग कर सके, सूक्ष्म शरीर ही वह साधन हैं। सूक्ष्म शरीर आत्मा तथा स्थूल शरीर के मध्य की योजक- कड़ी हैं। इस शोध कार्य का मूख्य उद्देश्य सूक्ष्म शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन भारतीय दर्शन के अव्दैत वेदान्त, सांख्य-योग एवं आयुर्वेद को केन्द्रिभूत आधार मानकर समझाने का प्रयास किया है। अद्वैत वेदान्त दर्शन का मानना है कि ईश्वर सृष्टि की रचना केवल लीला के लिए करता हैं।[3] शंकराचार्य का कहना है कि सृष्टि रचना ईश्वर का स्वभाव हैं। जैसे मनुष्य के शरीर में श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं उसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति और

[1] आत्मप्रतिलाभ-पौठपाद सुत्त(दीर्घनिकाय,१३)

[2]. सर्वदर्शनसग्रंह-पृ.स. २९०

[3] लोकवन्तु लीलाकैवल्यम्। ब्रह्मसूत्र-2.1,33

विनाश होता रहता हैं।[1] वेदान्तसार प्रकरण ग्रंथ में सदानन्द ने सृष्टि की प्रक्रिया के अन्तर्गत सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर का वर्णन किया हैं।

उपनिषदवादी अद्वैत वेदान्त और सांख्य दर्शन में कुछ समानताएं होते हुए भी कुछ ऐसी असमानताएं है जो अनेक प्रश्नो को उठाती है क्यों अद्वैत वेदान्त सूक्ष्म तन्मात्रा से सूक्ष्म शरीर की अभिव्यक्ति मानता है वही सांख्य अहंकार से सूक्ष्म शरीर की अभिव्यक्ति मानता हैं। अद्वैत वेदान्त जहाँ सूक्ष्म शरीर में पञ्च प्राणों को स्वीकार करता है वही सांख्य क्यों पञ्च प्राणों की जगह पञ्च तन्मात्रा को स्वीकार करता है- इन तीनों दर्शनों की गूढ़ता अथवा गहराईयों को जानने के लिए मेरे द्वारा इस विषय का शोध –विषय के रूप में चयन किया गया हैं।

भारतीय ज्ञान परम्परा में मृत्यु एवं सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध इस तरह के प्रश्न कई सदीयों से भारतीय ऋषियों-महर्षियों, योगियों, तपस्वियों, साधुओं, संन्यासियों और वैज्ञानिकों का मस्तिष्क मंथन करता रहा है कि 'मृत्यु क्या है?' और 'अमृत्यु क्या है? विश्व के सभी धर्मों की खोज यही रही है कि क्या शरीर की मृत्यु मनुष्य की मृत्यु है? क्या मर जाने के बाद सभी कुछ मर जाता है, या कुछ अवशिष्ट रहता है? और यह इतना केंद्रीयभूत प्रश्न है कि इस पर ही सभी कुछ निर्भर करता है। जीवन के सारे मूल्य, जीवन का सारा अर्थ, प्रयोजन, अभिप्राय, जीवन की सारी गरिमा, गीत, गौरव, सभी कुछ इस एक बात पर निर्भर है कि क्या शरीर के साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है? अगर शरीर के साथ सभी कुछ समाप्त हो जाता है तो न नीति में कोई अर्थ है, न धर्म में कोई अर्थ है। न अच्छाई है, न बुराई है। क्योंकि अच्छे भी मिट्टी में मिल जाते हैं, बुरे भी मिट्टी में मिल जाते हैं। जब अच्छे आदमी की मिट्टी में और बुरे आदमी की मिट्टी में कोई गुणात्मक फर्क नहीं होता। एक चोर और एक साधु के मरे हुए शरीर में कोई भी तो भेद नहीं है, बेईमानी और ईमानदारी समान हैं, हिंसा और जीवनदान बराबर हैं, सत्य और असत्य में कोई भेद नही है ? अगर बुरे कर्मों वाला भी वहीं पहुंच जाता है और अच्छे कर्मों वाला भी वहीं एक जगह पहुंच जाता है। अर्थात दोनों समान रूप से अन्तिम परिणति एक जगह होती है, तो दोनों के जीवन में जो भेद था वह काल्पनिक था।

---

[1] यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोSनाभिसंधाय बाह्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यपेक्ष्य किञ्चित प्रयोजनान्तरं स्वभावदेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिभविष्यति। शा.भा.2.1,33

क्योंकि मृत्यु ने प्रगट कर दिया कि सब भेद काल्पनिक थे। यदि मृत्यु के साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है। विश्वजनमानस के समुख सबसे बड़ी समस्या यह खड़ी हो जाती है कि इस संसार का कोई भी मनुष्य सामाजिक नैतिक आदर्शो का पालन नही करेगा, कोई भी व्यक्ति धार्मिक मूल्यों का महत्त्व नही समझ पायेगा, सारी साधुता एक ही धारणा पर टिकी है कि शरीर के साथ सब समाप्त नहीं होता। और जीवन का अर्थ इसी बात पर निर्भर है कि शरीर जब नष्ट होता है तो कुछ हमारे कर्मों के संस्कार शेष रह जाता है। स्थूल शरीर के नष्ट होने पर मनुष्य का सब कुछ नष्ट नही होता। मनुष्य की अवशिष्ट रहने वाले में अच्छे-बुरे कर्मो के संस्कारों का भेद शेष रहता है। मनुष्य की आत्मा मरणधर्मा नही है , यदि मरणधर्मा होता तो सभी सिद्ध साधु मूढ़ होते हैं, ध्यानी अज्ञानी होते। मंदिरों, मस्जिदों में धर्म का आचरण करने वाले लोग विक्षिप्त होते हैं। यथार्थ रूप में संसार के सभी प्राणि अपने वास्तविक आत्मस्वरूप की खोज में प्रयत्नशील है।

कठोपनिषद में नचिकेता के सम्मुख यही प्रश्न उठता है कि मृत्यु के बात मनुष्य का क्या होता है? क्या आत्मा नष्ट हो जाती है या अमर रहती है? मृत्यु के बाद क्या होता है? यही मेरा तीसरा वर है। नचिकेता भी यमराज के सम्मुख ऐसी जिज्ञासा प्रस्तुत करता है कि हे यमराज ! कोई कहता है मृत्यु के बाद मनुष्य रहता है और कोई कहता है नहीं रहता है। इसमें बहुत संदेह है। इसलिए मुझे मृत्यु का रहस्य समझाओ ताकि सत्य क्या है, यह मैं जान सकूँ।[1] यमराज नचिकेता को मृत्यु के विषय में प्रश्न नही पूछने के लिए सांसारिक भौतिक भोग और वैभव का प्रलोभन देते हुए कहते है कि हे नचिकेता ! तू सौ वर्ष की आयुष्य वाले पुत्र-पौत्र, बहुत से पशु, हाथी-घोड़े, सोना माँग ले, पृथ्वी का विशाल राज्य माँग ले तथा स्वयं भी जितने वर्ष इच्छा हो जीवित रह सकते हो।[2] मनुष्यलोक में जो भोग दुर्लभ हैं उन सबको स्वच्छन्दतापूर्वक तू माँग ले। यहाँ जो रथ और बाजों सहित सुन्दर रमणियाँ हैं, वे

---

[1] *येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येपुस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।*
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीय।।: कठोपनिषद, १/२०

[2] शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीप्य बल—पद्य—हस्तिहिरण्यमश्वान्।

भूमेर्महदायतनं वृणीध्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।।- कठोपनिषद, १/२३

मनुष्यों के लिए दुर्लभ हैं। ऐसी कामिनयों को तू ले जा। इनसे अपनी सेवा करा सकते हो किन्तु मृत्यु के विषय में किसी प्रकार का प्रश्न नही होना चाहिए।[1] नचिकेता कहता है कि यह मनुष्य जीर्ण होने वाला और मरणधर्मा है इस तत्त्व को भलीभांति समझने वाला मनुष्यलोक का निवासी कौन ऐसा मनुष्य है जो कि बुढ़ापे से रहित न मरने वाले आप सदृश महात्माओं का संग पाकर भी स्त्रियों के सौदर्य-क्रीड़ा और आमोद-प्रमोद का बार-बार चिंतन करता हुआ बहुत काल तक जीवित रहने में उत्सुकता रखेगा।[2] अर्थात यहां स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि नचिकेता के प्रश्नों में छिपा हुआ रहस्य यह उदघाटित करता है कि मनुष्य का सांसारिक जीवन को सत्य नही है अपितु इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक अलौकिक सत्ता है जहां पर सभी दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति है सम्भव है।

व्यवहारिक जगत् में जब सूक्ष्मशरीर का अपने पंचभौतिक स्थूल शरीर से वियोग हो जाता है, तो उसे ही मृत्यु कहा जाता है । परन्तु मृत्यु केवल सथूल शरीर की होती है सूक्ष्म शरीर की नहीं । यदि सूक्ष्म शरीर की निवृत्ति हो जाती है तो वह स्थिति मोक्ष कहलाती है। मृत्यु नहीं ! मृत्यु नाम केवल शरीर बदलने की प्रक्रीया का नाम है। मनुष्य जिस प्रकार वस्त्र बदलता रहता है उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर में अधितिष्ठित आत्मा स्थूल शरीरों बदलता रहता है। व्यवहारिक जीवन में मनुष्य जगत के सम्मुख अनेक शंकायें उदभुत होती है कि क्या मृत्यु से परे भी कोई चीज है? क्या मृत्यु असंभव है? क्या मृत्यु को हम टाल सकते हैं? और क्या कोई युक्ति या साधना या कोई स्थिति या कोई योजना है जिससे हम **'मृत्योर्माअमृतं गमय'** उस उपनिषद् की इस पंक्ति को सही चरितार्थ कर सकें। भारतीय शास्त्र परम्परा में मनुष्य को मृत्यु से अमृत्यु की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी गई है। इसका मतलब यह है कि उपनिषदों का दार्शनिक पक्ष भी इस बात को स्वीकार करता है कि मृत्यु तो सम्भव है तभी कहा गया है कि मृत्यु से अमृत्यु की

---

[1] ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतप्रार्थयस्व। :

इमा रामा।:मनुष्यै लम्मनीया हीदृशा न सतूर्या :सरथा :

आभिर्मत्यत्ताभि मरणं नचिकेतो परिचारयस्व :मानुप्राक्षी।।: -कठोपनिषद, १/२५

[2] अजीर्यतामृतानामुपेत्य जीर्यन् मर्त्यप्रजानन्। :क्यधःस्थ :

अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत।। -कठोपनिषद,१/२८

ओर अग्रसरित होना चाहिये। मृत्यु प्राणि जीवन का अटुट हिस्सा है। क्या कोई ऐसी स्थिति आ सकती है जहां हम अमृत्यु की ओर बढ़ सकें, हमारी मृत्यु नहीं हो, हम पूर्ण रूप से अमर हो सकें, जीवित रह सकें ? दोनों ही स्थितियां हमारे सामने एक जटिल गुत्थियों में उलझा हुआ प्रश्न खड़ा करती है। मृत्यु के विषय में भारतीय दर्शन, योग, मीमांसा, शास्त्र, वेद, पुराण इन सभी में चिन्तन-मन्थन किया गया है। वैज्ञानिकों ने भी अपने तरीके से इस पर चिन्तन किया है। मनुष्य वृद्ध क्यों होता है?, मनुष्य मृत्यु को प्राप्त क्यों होता है? ऐसी रहस्यात्म क्या चीज है जिसके बने रहने से मनुष्य जीवित रहता है और जिसके चले जाने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है? क्योंकि मृत्यु और अमृत्यु के बीच में शरीर के अन्दर गुणात्मक अन्तर तो नहीं आता, एक क्षण पहले जो जीवित था, उसके ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सुचारू रूप से कार्य कर रहे थे और उसके कुछ क्षण बाद वह मृत्यु को प्राप्त होने पर उसके हस्त-पाद, चक्षु, श्रोत्रेन्द्रियाँ ठिक रहते हुए भी क्रिया से रहित हो जाते है। यहां प्रश्न उठता है कि ह्रदय की धड़कन बंद हो जाने पर मृत्यु हो जाती है किन्तु कई ऐसे योगी हैं जो लम्बे समय तक ह्रदय की धड़कन को रोक देते हैं तो क्या वे उसे मृत्यु को प्राप्त हो गए? इसलिए मृत्यु की यह परिभाषा मान्य नहीं हो सकती कि ह्रदय की धड़कन के बंद होने से मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाते है। ह्रदय की धड़कन कई कारणों से बंद हो सकती है जो कि हमें व्यवहारिक जगत के यंत्रों के माध्यम से नही श्रवण नही कर सकते। मृत्यु एक विश्रान्ति-स्थान है- **"पुनरपि जननं पुनरपि मरणं । पुनरपि जननी जठरे शयनम्**"। मृत्यु तो एक पड़ाव है, एक विश्रान्ति-स्थान है। उससे भय कैसा? यह तो प्रकृति की एक व्यवस्था है। यह एक स्थानान्तर मात्र है। समयानुसार हमारे स्थूलशरीर एबं सूक्ष्मशरीर की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं किन्तु वास्तविक स्वरूप नही बदलता। पहले हम सूक्ष्म रूप में थे फिर बालक का रूप, किशोर, युवा, प्रौढ़ रूप तथा वृद्धावस्था। मनुष्य इन अवस्थाओं के बदलाव में अपना बदलना मान लेता हैं। वास्तविका में न तो हम जन्मते-मरते हैं और न ही हम बालक, किशोर, युवा और वृद्ध बनते हैं। ये सब हमारी देह के धर्म हैं और हमारा वास्तविक रूप देह नहीं हैं। मृत्यु नवीनता को जन्म देने में एक संधिस्थान है। यह एक विश्राम स्थल है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार दिन भर के कठिन परिश्रम से थका मनुष्य रात्रि को निद्रा लेकर दूसरे दिन प्रातः नवीन स्फूर्ति के साथ कार्य में लग जाता है। उसी प्रकार यह सूक्ष्मशरीर आत्मा में अधितिष्ठित होकर अपना जीर्ण-शीर्ण स्थूल शरीर छोड़कर आगे

पुनर्जन्म की यात्रा के लिए नया शरीर धारण करता रहता है। वासना की मृत्यु के बाद परम विश्रान्ति स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का वियोग, जिसको मृत्यु कहा जाता है, वह विश्राम-स्थल तो है परन्तु पूर्ण विश्रांति स्थूल शरीर के नाश में नहीं है। जिसमें सभी वासनाएँ जड़ सहित भस्म हो जाएँ, वह सूक्ष्मशरीर का मोक्ष है। यदि सूक्ष्म वासना भी अवशेष रह जाती है तो जीव फिर से नया शरीर धारण कर लेगा और फिर से सुख-दुःख के भव-सागर में गोते खाने की प्रक्रिया चलती रहती है। जैसे किसी एक वस्तु का निरन्तर प्रयोग करते रहने से उस वस्तु का सामर्थ्य घट जाता है, और उस वस्तु को बदलना आवश्यक हो जाता है, ठीक वैसे ही स्थूलशरीर का सामर्थ्य भी घट जाता है और इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं तब शरीर के बदलते रहने की प्रक्रिया का नाम मृत्यु है। दार्शनिक विद्वानों का मानना है कि जीवन और शरीर एक वस्तु के रूप में ध्यौतित नहीं किया जा सकता हैं। जैसे कपड़ों को हम यथा समय बदलते रहते हैं, उसी प्रकार जीव को भी शरीर बदलने पड़ते हैं। जीवन के अनन्त समय तक एक कपड़ा नही पहना जा सकता, उसी प्रकार अनंत जीवन का एक शरीर नहीं ठहर सकता। इसलिए उसे बार-बार बदलने की आवश्यकता पड़ती है। शरीर साधारणतः वृद्धावस्था में जीर्ण होने पर नष्ट होता है, परंतु यदि बीच में ही कोई आकस्मिक कारण उपस्थित हो जाएँ, तो अल्पायु में भी शरीर त्यागना पड़ता है। जब मनुष्य स्थूलशरीर त्यागने पर मृत्यु किस प्रकार होती है ? इस संबंध में तत्त्वदर्शी योगियों का मत है कि मृत्यु से कुछ समय पूर्व मनुष्य को बड़े बेचैन, पीड़ा और छटपटाहट होती, क्योंकि सब नाड़ियों में से प्राण खिंचकर एक जगह एकत्रित होता है, किंतु पुराने अभ्यास के कारण वह फिर उन नाड़ियों में खिसक जाता है, जिससे एक प्रकार का आघात लगता है, यही पीड़ा का कारण है। रोग, आघात या अन्य जिस कारण से मृत्यु हो रही हो तो उससे भी कष्ट उत्पन्न होता है। मरने से पूर्व प्राणी कष्ट पाता है, चाहे वह उसे अभिव्यक्त कर सके या न कर सके, लेकिन जब प्राण निकलने का समय बिलकुल नजदीक आ जाता है तो एक प्रकार की मूर्च्छा आ जाती है और उस अचेतनावस्था में प्राण शरीर से बाहर निकल जाते हैं। जैसे ही मनुष्य की मृत्यु नजदीक होती है, तो उसकी समस्त बाह्य शक्तियाँ एकत्रित होकर अंतर्मुखी हो जाती हैं और फिर स्थूल शरीर से बाहर निकल जाता हैं। मृत्यु के समय मर्मांतक मानसिक चेतनाएँ तो शून्य हो जाती हैं किन्तु मानसिक कष्ट बहुत भारी होता है। रोग आदि शारीरिक पीड़ा तो कुछ क्षण पूर्व ही, जबकि इंद्रियों की शक्ति अंतर्मुखी होने लगती

है, तब ही बंद हो जाती है। मृत्यु से पूर्व शरीर अपना कष्ट सह चुकता है। बीमारी से या किसी आघात से शरीर और जीव के बंधन टूटने आरंभ हो जाते हैं। डाली पर से फल उस समय टूटता है, जब उसका डंठल असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार मृत्यु उस समय होती है, जब शारीरिक शिथिलता और अचेतना आ जाती है। ऊर्ध्व रंध्रों में से अकसर प्राण निकलता है। ऐसी मान्यताओं के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि सार रूप में संस्कार बनकर सूक्ष्मशरीर के साथ गमन करता है । स्थूलशरीर का सूक्ष्मशरीर से विच्छेद होने पर अत्यन्त कष्ट होता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा यही विचार ऋषि-महात्माओं ने बहुत पहले श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि- 'हे अमृतपुत्रों ! सुनो। उस महान परम पुरुषोत्तम को मैं जानता हूँ। वह अविद्यारूप अंधकार से सर्वथा अतीत है। वह सूर्य की तरह स्वयंप्रकाश-स्वरूप है। उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु का उल्लंघन करने में, जन्म-मृत्यु के बंधनों से सदैव के लिए छूटने में समर्थ होता है। परम पद की प्राप्ति के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।[1] भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा किः-

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।"[2]

'हे अर्जुन ! तू यदि शरीरों के वियोग का शोक करता है तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों का त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है। 'यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।[3] वस्त्र परिवर्तन से भय कैसा? वस्त्र बदलने वाला तो कभी भी मरता नहीं, वह अमर है और परिवर्तन प्रकृति का स्वभाव है, तो फिर मौत है ही कहाँ? यही बात समझाते हुए गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं

---

[1] शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा । आ ये धामानि दिव्यानि तस्युः ।।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् । आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ।नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।। - श्वेताश्वतरोपनिषद्

[2] भगवद्गीता, २/२२

[3] न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयंपुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। -भगवदगीताः २/२३

कि हे अर्जुन से कि तुम्हे भय किस बात का है? **हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्**' यदि युद्ध में शरीर छूट गया तो स्वर्ग को प्राप्त करोगे और यदि जीत गये तो पृथ्वी का राज्य भोगेगे।'

भारतीय विद्वानों का मानना है जीवन की नई शुरूवात करने के लिए मृत्यु जरूरी है। उदाहरण के लिए बगीचे में वहा के पेड़-पौधे, फूल-पत्ते ज्यों के त्यों बने रहें, उनकी काट-छाँट न की जाय, नये न लगायें जाएँ, उनको सँवारा न जाय तो बगीचा बगीचा नहीं रहेगा, जंगल बन जायेगा। बगीचे में काट-छाँट होती रहे, नये पौधे लगते रहें, पुराने, सड़े-गले, पुष्पहीन, ठूँठ, बिन जरूरी पौधे हटा दिये जायें और नये, सुगन्धित, नवजीवन और नवचेतना से ओतप्रोत पौधे लगाये जाएँ यह जरूरी है। सृष्टा ने मृत्यु का मंगलमय विधान न बनाया होता तो मनुष्य में त्याग, सेवा, नम्रता के सदगुण की भावना विकसित नही हो पाती। यदि इस संसार में किसी की भी मृत्यु हो ही नहीं तो यह देश, यह समाज, यह राष्ट्र अपने आप में कितना दुःखी, परेशान हो जाएगा। इसकी कल्पना करे तो हमारे सम्मुख हजारों-हजारों, करोड़ों-करोड़ों वृद्ध घूमते नजर आयेंगे, दुःखी, परेशान, पीड़ित नजर आयेंगे। किस प्रकार की स्थिति बनेगी यह कह पाना असम्भव है? उसमें कोई नवीनता नहीं होगी, कुछ भी हलचल नहीं होगी, कोई जोश नहीं होगा, कोई यौवन नहीं होगा। मृत्यु की भुक्ति पर जन्म एक नया सवेरा होता है, यह प्रश्न एक अलग है कि क्या मृत्यु के बाद भी हमारा तत्त्व रहता है या नहीं। इन्ही विषयों पर प्रत्येक दार्शनिक परम्परा में विभेद है। जन्म और मृत्यु का भविष्य में निर्धारण करना संसारी जीव के नियन्त्रण में नही है। किन्तु कुछ सिद्ध योगी कुछ विशिष्ट साधनाओं के माध्यम से अधिक लम्बे समय तक प्राण धारण करने की योग्यता प्राप्त कर लेते है। मृत्यु पर किसी का भी नियंत्रण नहीं है। जिसकी मृत्यु हो चुकी है वे जीवात्मा सूक्ष्मशरीर में अधितिष्ठित होकर इस ब्रह्माण्ड में यत्र-तत्र पुनर्जन्म लेने के लिए विचरण करते रहते है।

भारतीय सिद्ध योगी-महात्माओं ने स्वीकार किया है। मनुष्य की दुःख प्रवृतियां अपने आप में जन्म लेती है उनको सन्तुलन में करने के लिये कुछ विशिष्ट योगियों ने आध्यात्मिक साधना पर जोर दिया है। प्रश्न तो यह है की हम ऐसी साधनाओं को संपन्न करना चाहिए जो कि हमारे इस जीवन के लिए उपयोगी हो और मृत्यु के बाद हमारी जीवात्मा इस ब्रह्माण्ड में विचरण करते रहती है तो प्राणात्मा पर भी हमारा नियंत्रण बना रहे। साधना के माध्यम

से जीवात्मा उच्चकोटि के गर्भ में हम प्रवेश पा सकता है। इस जीवन में की गई साधनाएं सम्पूर्ण रहे और जितना ज्ञान इस जन्म में प्राप्त किया है उसे आगे का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। क्योंकि ज्ञान को तो एक अथाह सागर हैं, अनन्त पथ है। इस जीवन में हम पूर्ण साधनाएं संपन्न नहीं कर सकते तो उन्हें अग्रगामी जीवन में हमने जहां छोड़ा है उससे आगे बढ़ सकते है। क्योंकि जो इस जीवन का ज्ञान है वह उस जीवन में स्मरण रहता है। यह स्मरण तभी रहता है जब जीवात्मा पर हमारा पूर्ण नियंत्रण रहता हो। जीवात्मा पर पूर्ण नियन्त्रण होने पर सूक्ष्मशरीर गर्भ पर, गर्भ में जन्म लेने पर एवं गर्भ से बाहर आने कि क्रिया पर पूर्ण नियंत्रण पाया जा सकता है। यह सूक्ष्मशरीर के अभिज्ञान के बिना लौकिक एवं आध्यात्मिक रहस्यों की जटिल गुत्थियों को नही सुलझा सकते।

भारतीय वैज्ञानिक चिन्तन आज अपनी व्यावहारिकता, वैज्ञानिकता तथा दैनिक दिनचर्या में बढती हूई सहभागिता के कारण समस्त विश्व के बौद्धिक समुदाय को आधुनिक विज्ञान द्वारा स्थापित उपभोक्तावादी एवं अतिवादी (यूरोपीय, अमेरिकी मॉडल) प्रारूप के स्थान पर पारिस्थितिकी मित्रता (इको फ्रेंडली मॉडल) रूपी प्रारूप को एक विकल्प के रूप में अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। इसी तथ्य को आज वैश्विक स्तर पर बौद्धिक समुदाय द्वारा स्वीकार किया जा रहा है। जिसका सुन्दर पक्ष कुछ आधुनिक विज्ञानशास्त्री सूक्ष्मशरीर को डीएनए में देखने का प्रयास कर रहे है। भारतीय दर्शन की सभी परम्पराओं का अन्तिम लक्ष्य दुःख की निवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।[1] दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति सूक्ष्मशरीर के दार्शनिक अध्ययन के बिना सम्भव नही है। प्राचीन भारतीय चिकित्साशास्त्रीय ग्रन्थ आयुर्वेद केवल सूक्ष्म शरीर की अवधारणा पर ही जोर नही देता अपितु वह भौतिक स्थूल शरीर पर एवं उसकी शारीरिक स्वास्थ्य पर अधिक व्यापकता लिये हुये मनीषियों की तीव्र मेधा के सूक्ष्म चिन्तन के परिणाम के रुप में इस प्रकार उपलब्ध होते है- *"समदोषः समाग्निश्चसमधातु मलक्रियः।*

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥"[2]

---

[1] Spiritual health aspect is the support for universal values that are at the core of all major religions that links us together. Common to that core is the injunction expressed clearly by all major religions that "we should not do unto others as we would not have them do unto us". This has public health significance in that it implies the need for collective action, the basis for effective infectious disease control, for reducing the levels of injuries and violence and stopping the spread of Products that lead to increased non-communicable diseases. __ First paragraph of Amendment to the Constitution, Report by the Secretariat of WHO - (www.google.com)

[2] सु.सू. 15.42

सुश्रुतसंहिता के अनुसार 'स्वस्थ व्यक्ति उस व्यक्ति को कहा जायेगा जिसके दोष एवं अग्नि सम हो, धातु एवं मल क्रियायें सम हो, आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न हो।' वस्तुतः यह समग्र स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य की उत्कृष्ट अवस्था है। आयुर्वेद में इसी उत्कृष्ट अवस्था की प्राप्ति के लिये नैष्ठिक चिकित्सा की कल्पना की गई है और योगशास्त्र का भी मूल उद्देश्य यही है। शाब्दिक दृष्टि से जब मनुष्य सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर स्व (आत्म) में स्थिर हो जाता है, यही आयुर्वेद व सांख्य-योग परम्परा में पूर्ण सूक्ष्मशरीर की मुक्ति एवं कैवल्य है।

आयुर्वेद के अनुसार मानव-शरीर मानव-मन का अनुसरण करता है और मानव-मन मानव-शरीर का । इसी को स्पष्ट करते हुये चरक-संहिता में कहा गया है – "*शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरम्*।"[1] इसी प्रकार मनोगत सूक्ष्मशरीर के प्रभाव से स्थूलशरीर पर प्रभाव को स्पष्ट करते हुए प्राचीन यूनानी दार्शनिक सुकरात का कथन है "स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है" अर्थात् यदि शरीर अस्वस्थ है तो मन निश्चित रुपेण अस्वस्थ हो जायेगा।

यद्यपि आयुर्वेद परम्परा भी स्थूल शरीर पर सूक्ष्म शरीर का प्रभाव स्वीकार करते है, तो भी इसका दृष्टिकोण प्राधान्येन शरीरपरक ही है। इसीलिये आयुर्वेद ने स्वस्थ को परिभाषित करते हुये भी सर्वप्रथम दोष, अग्नि, धातु, मल आदि को ही प्रथम स्थान प्रदत्त किया है। अत: यहाँ यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक ही है कि जब आयुर्वेद प्राधान्येन शरीरपरक दृष्टि रखते हुये भी सूक्ष्म शरीर की महत्ता स्वीकार करते है तो यह सूक्ष्मशरीर का दार्शनिक विवेचन किस सीमा तक कर पाता है?

पातञ्जलयोग व सांख्य की दार्शनिक दृष्टि से सूक्ष्म शरीर का जन्म-जन्मान्तरण का कारण में (चित्त) अचेतन प्रकृति का प्रथम विकार का विकृत रहना है। चित्त से अहंकार, अहंकार से मन का आविर्भाव स्वीकार किया गया हैं। सत्कार्यवाद सिद्धान्त के अनुसार चित्त, अहंकार, मन तीनों एक ही अचेतन प्रकृति के विकार अन्तःकरण से अभिहित होते हैं। अतः अचेतनता के आधारीत्व के कारण समस्त मानसिक विकृतियों के आधार भी ये ही अन्तःकरण हैं। योग में मानसिक विकृतियों का मूल कारण चेतन व अचेतन का संसर्ग, जिसके कारण शुद्ध चैतन्य पुरुष द्वारा स्वयं को ही कर्त्ता व भोक्ता समझना तथा चित्त (अचेतन) का चेतनवत् संचालित होना, जो कि सूक्ष्मशरीर की अभिव्यक्ति का

[1] च. शा. 4.36

कारण है। इसका कारण अविद्यादि पञ्चक्लेश[1] हैं जिससे चित्तवृत्तियों का व्यापार प्रारंभ होता है जिसके फलस्वरूप चित्त में नौ विक्षेप[2], पञ्च सहविक्षेप[3] का आविर्भाव होता है और चित्त मानसिक विकारों से ग्रसित हो जाता है। इनकी निवृत्ति हेतु पातञ्जलयोग में एकतत्त्वाभ्यास[4] का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त मानसिक विकारों की चिकित्सा के सन्दर्भ में चित्तप्रसादन[5] आदि परिकर्मों का उल्लेख किया गया है। किन्तु योग चिन्तनपरम्परा में समग्र रूप से सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति का अन्तिम स्वरुप कैवल्य है। यह वह अवस्था होती है जहाँ सूक्ष्मशरीर की सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध हो जाता है। जब पुरुष सम्यक् ज्ञान द्वारा चित्त में अपने प्रतिबिम्ब से अपना तादात्म्य हटा लेता है और चित्त को प्रकृतिजन्य अचेतन तथा अपने से सर्वथा विपरीत जान लेता है तब पुरुष चैतन्य का प्रकाश चित्त से हट जाता है। उस दशा में चित्तवृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध हो जाता है तथा चित्त प्रकृति में विलीन हो जाता है। यही पुरुष का स्वरूपावस्थान अर्थात् कैवल्य तथा योग का लक्ष्य है।[6] यह अवस्था प्राप्त होने पर सूक्ष्म शरीर के संस्कारों का समूल नाश हो जाता है। इस प्रकार प्रकृत आध्यात्मिक चिकित्सा चित्तभूमियों व चित्तवृत्तियों के शमन से ही सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति करने में सहायक है। प्रकृत बिन्दु के अन्तर्गत इन सभी विषयों पर गहन विश्लेषण किया गया । इस प्रकार यहां सूक्ष्म शरीर के दार्शनिक पक्ष तथा पुनर्जन्म के निरोध के अध्ययन से सम्बन्धित वेदान्तिक सांख्य-यौगिक एवं आयुर्वेदीय पक्षों का विश्लेषण करने से सम्बन्धित निम्नलिखित बिन्दु निष्कृष्ट होते हैं-

- वेदान्त द्वारा प्रस्तुत केन्द्रित सूक्ष्म शरीर सम्बन्धि विश्लेषण सूक्ष्मतर है। पुनर्जन्म सम्बन्धित जटिल गुत्थियों को सुलझाने में जहाँ एक ओर मार्ग प्रशस्थ करती है वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिक पद्धति से दुःखदायी कर्मो के संस्कारों के शमन से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।
- सांख्य और योग दोनों ही चिन्तन परम्पराओं का सैद्धांतिक पक्ष प्राचीनतम चिन्तनपरम्पराओं में समानता होने के कारण दोनों का एक स्थल पर सूक्ष्मशरीर के दार्शनिक पक्ष को समझाने का प्रयास किया है। अतः

---

[1] अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः। यो. सू. 2.3

[2] व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। यो. सू. 1.30

[3] दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः। यो. सू. 1.31

[4] तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। यो. सू. 1.32

[5] मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। यो. सू. 1.33

[6] तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। यो. सू. 1.3

योगश्च चित्तवृत्तिनिरोधः । यो. सू. 1.2

सांख्य-योग परम्परायें परस्पर अंतर्सम्बंधित है तथा इनका परम लक्ष्य दुखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक उपाय के माध्यम से सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति करना है।

- ❖ आयुर्वेदीक दार्शनिक परम्परा न केवल अदृश्य सूक्ष्म शरीर का आध्यात्मिक स्तर पर विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है अपितु व्यवहारिक जगत में दृश्यमान होने वाले स्थूल शरीर के लिए मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। स्थूल शरीर के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धित विश्लेषण एवं विवेचन को समृद्धत्तर बनाने हेतु इस क्षेत्र में उपलब्ध योग चिन्तन द्वारा प्रस्तुत सूक्ष्मशरीर के विश्लेषण की पद्धति एवं प्रक्रिया को स्वीकार करके दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में नई संभावनाओं को विकसित करना चाहिए। इस शोध के अन्तिम चरण में सूक्ष्म शरीर के दार्शनिक पक्षों का सूक्ष्मता के साथ विचार करना।
- ❖ भारतीय दर्शन की इन तीनों दार्शनिक शाखाओं में प्रस्तुत विश्लेषण अपेक्षाकृत अधित सूक्ष्म है तथा सूक्ष्म शरीर की आध्यात्मिक संरचना को प्रस्तुत करते हुए कर्मो के मलिनता वाले संस्कारों की शुद्धि के आधार पर उसको निर्मल करने का प्रयास तो सम्भवत: विश्व में अपनी तरह का एक मात्र आध्यात्मिक प्रयास है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

1. सर्वेक्षण (Survey of Existing Researches)

वेदान्त सांख्य- योग एवं आयुर्वेद से सम्बन्धित पृथक्–पृथक् दृष्टिकोण से अथवा उभयात्मक रीति से अनेकविध कार्य किये गये हैं, किन्तु यहाँ केवल वेदान्त, सांख्य-योग एवं आयुर्वेद दर्शन के सन्दर्भ में सूक्ष्म शरीर का पर्यालोचन के आधार पर किये गए शोधकार्यो का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है–

- ➢ Katyanidas bhattacharya, *"The concept of subtle body in samkhaya philosophy"* proceedings of the all india conference.Listed by volume and year.1-36(1986-87)
- ➢ Katayani bhattacharya,*"The concept of sublte body in the samkhya philosophy"* Journal of philosophical association(Nagpur)

- Y.K. Wadwani *"subtle bodies postulated in the classical. samkhaya system",* Sambodhi s.l.,1976-77
- A.C.Das, *Advaita vedanta liberation in bodily existence philosophy east and west* (Honolulu)1954
- योग और आयुर्वेद, आचार्य राजकुमार जैन, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2011
- आयुर्वेदशास्त्रे भूतविद्यायाः संवीक्षात्मकम् अध्ययनम्, डॉ. विद्याधर शुक्ल, अनुसंधान संस्थान निदेशक, संपूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी
- आयुर्वेदीय मानस विज्ञान, प्रो. रामहर्ष सिंह, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2009
- आयुर्वेदीय मानसरोग चिकित्सा, गोविन्दप्रसाद उपाध्याय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2009
- The Mind in Ayurveda and other Indian Philosophical System, Dr. A.R.V. Murthy, Caukhambha Sanskrit Pratishthan, Delhi, 2004

2. शोधकार्य की विशिष्टता (In what way this research is going to be different from existing works

१. Katayani bhattacharya,*"The concept of sublte body in the samkhya philosophy"* Journal of philosophical association(Nagpur)

"The concept of sublte body in the samkhya philosophy" इस पुस्तक में मुख्यतः सांख्य दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों की विवेचना के साथ त्रिविध शरीरों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। यहां पर सूक्ष्मशरीर का स्थूल दृष्टि से संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

२. Y.K. Wadwani *"subtle bodies postulated in the classical. samkhaya system",* Sambodhi s.l.,1976-77

"subtle bodies postulated in the classical. samkhaya system" इस पुस्तक में सांख्य दर्शन में शरीर के वर्गीकरण के साथ वैज्ञानिक पद्धति से सूक्ष्मशरीर का अंग्रेजी भाषा के माध्यम से अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

३. A.C.Das, *Advaita vedanta liberation in bodily existence philosophy east and west* (Honolulu)1954

"Advaita vedanta liberation in bodily existence philosophy east and west" इस पुस्तक के माध्यम से वेदान्त परम्परा के विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इसमें शरीर का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

४. योग और आयुर्वेद, आचार्य राजकुमार जैन, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली, 2011

"योग और आयुर्वेद" इस पुस्तक में मुख्यतः योग और आयुर्वेद का अध्ययन किया गया है किन्तु प्रधानता अष्टांगयोग के बहिरंग अवयव, जिसमें विशेष रूप से आसन, प्राणायाम, षट्कर्म आदि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है तथा प्रसंगवश आयुर्वेद का भी अष्टांगयोग के प्रारूप में असूक्ष्मतर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। किन्तु प्रस्तावित शोधकार्य का विषय आयुर्वेद व पातञ्जलयोग में मनः स्वास्थ्य के दार्शनिक पक्ष से सम्बन्धित है।

५. आयुर्वेदशास्त्रे भूतविद्यायाः संवीक्षात्मकम् अध्ययनम्, डॉ. विद्याधर शुक्ल, अनुसंधान संस्थान निदेशक, संपूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी

"आयुर्वेदशास्त्रे भूतविद्यायाः संवीक्षणात्मकम् अध्ययनम्" नामक शोधकार्य में मनस् चिकित्सा सम्बन्धित एक भाग 'भूतविद्या' को आधार करके उसके लक्षण कारण व निदान पर विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अतः इसमें योग का विवेचन व आयुर्वेदिक अन्य मानसिक विकृतियों का विवेचन अनुपलब्ध है।

६. आयुर्वेदीय मानस विज्ञान, प्रो. रामहर्ष सिंह, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2009

इस पुस्तक में आयुर्वेददर्शन, आयुर्वेदीय मानसविज्ञान, आयुर्वेदीय मानसस्वास्थ्य एवं मानसरोग पर शास्त्रीय व वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह पुस्तक प्रकृत शोधकार्य के लिए उपयोगी है किन्तु इसमे केवल आयुर्वेदीय दृष्टिकोण को विवेचित किया गया।

७. आयुर्वेदीय मानसरोग चिकित्सा, गोविन्दप्रसाद उपाध्याय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2009

इस पुस्तक में आयुर्वेद में मन, मानसरोगों के सामान्य निदान, रोगों के साध्यत्व व असाध्यत्व, मनोविकृति परीक्षण, विभिन्न मानसिक रोगों का उपचार, मानसरोगों पर कार्यकारी औषधियाँ, योगासन आदि विषयों को समाहित किया गया है, जो प्रधानतः आयुर्वेदिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। किन्तु प्रस्तावित शोधकार्य आयुर्वेद व योग दोनों परम्पराओं को आधारित है।

८. The Mind in Ayurveda and other Indian Philosophical System, Dr. A.R.V. Murthy, Caukhambha Sanskrit Pratishthan, Delhi, 2004

A.R.V. Murthy की इस पुस्तक में आयुर्वेद, शरीर-विज्ञान, भारतीय दर्शन व पाश्चात्य दर्शन आदि विधाओं में मन व व्यक्तित्व के स्वरूप के विविध पक्षों का समुचित रूप से संकलन प्रस्तुत किया गया है।

‘ उपर्युक्त आवश्यकता एवं उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत शोध विषय का चयन किया गया है । यह शोध कार्य उपर्युक्त सभी शोध कार्यों से पृथक् एवं वैशिष्ट्य इसलिये है कि इसका मुख्य लक्ष्य वेदान्त, सांख्य-योग तथा आयुर्वेद दर्शनों में सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों के स्वरूपों का एवं भिन्नता के आधारों का तुलनात्मक एक ही स्थल पर समग्रतया विवेचन करते हुए इनकी तुलनात्मक समीक्षा का सुस्पष्ट, सरल एवं सुसम्बद्ध प्रस्तुतिकरण करना हैं। वेदान्त, सांख्य-योग एवं आयुर्वेद दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि दोनों ही विधाओं का एक व्यावहारिक उद्देश्य है – सांसारिक मनुष्यों को साक्षात् रूप से शारीरिक व मानसिक नीरोगता प्रदान करना। प्रस्तुत शोध कार्य में सूक्ष्म शरीर के दार्शनिक विवेचन से सम्बन्धित तथ्यों का समन्वयात्मक दृष्टिकोण से तुलनात्मक व संमीक्षणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा। प्रस्तुत शोध कार्य वेदान्त, सांख्य-योग एवं आयुर्वेद के क्षेत्र में भविष्य में होने वाले शोध कार्यों के आधार के रूप में अनेक नवीन सम्भावनाओं के लिये नये- नये द्वार खोलने में सहायक सिद्ध होगा ।

3. शोध–प्रविधि (Method of Research) :-

इस शोधकार्य में मुख्यतः विश्लेषणात्मक व तुलनात्मक प्रविधि को अपनाया गया है जिसमें मुख्य स्रोतों, गौण स्रोतों, दर्शन–कोश, शोध पत्र–पत्रिकाओं, इंटरनेट, सी.डी. तथा आयुर्वेद व योग सम्बन्धित शोध–कार्यों को समाहित

किया गया है। इसमें निम्न बिन्दुओं को प्राथमिकता प्रदान करते हुए एवं उनकी सहायता लेते हुए शोधकार्य किया गया है–

- वेदान्त, सांख्य-योग तथा आयुर्वेद के मूलग्रन्थों में लिगं शरीर से सम्बन्धित दार्शनिक तथ्यों व सिद्धान्तों का संकलन, अध्ययन व विश्लेषण।
- वेदान्त, सांख्य-योग तथा आयुर्वेद में सूक्ष्म शरीर से संबंधित तथ्यों व सिद्धान्तों का संकलन, अध्ययन
- वेदान्त, सांख्य-योग तथा आयुर्वेद में स्थूल शरीर सम्बन्धित तथ्यों व सिद्धान्तों का संकलन, अध्ययन व विश्लेषण।
- प्रसङ्गानुसार तुलनात्मक एवं समीक्षणात्मक अध्ययन ।
- अन्त में विषयानुरूप अध्याय विभाजन एवं तार्किक विधि से विषय विवेचन।

4. परियोजना :-

वेदान्त, सांख्य-योग तथा आयुर्वेद में सूक्ष्म शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन" इस शोधकार्य हेतु इन परम्पराओं मे सूक्ष्म शरीर से सम्बंधित प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों का विधिवत् विश्लेषण करने हेतु मुख्य रूप से निम्न प्रयोजनों की सिद्धि आवश्यक है ।

i. वेदान्त, सांख्य-योग एवं आयुर्वेद योग में सूक्ष्म शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन के अन्तर्गतविविध पक्षों का स्पष्ट व परिमार्जित ज्ञान प्राप्त करने के लिए विभिन्न स्थानों के सम्मानित संस्थानों [दिल्ली विश्वविद्यालय, जे. एन. यू., टिबिया कॉलेज, AYUSH, सेन्ट्रल काउन्सिल फॉर रिसर्च इन आयुर्वेद एंड सिद्ध – CCRAS, मोरारजी देसाई इंस्टिट्यूट ऑफ़ योग, नेशनल आयुर्वेद अकादमी (दिल्ली), आयुर्वेद विश्वविद्यालय (जोधपुर, राजस्थान), नेशनल इंस्टिट्यूट् ऑफ़ आयुर्वेद (जयपुर, राजस्थान), आयुर्वेद विश्वविद्यालय (जामनगर, गुजरात), बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय (वाराणसी, उत्तरप्रदेश) आदि] के पुस्तकालयों की सहायता से पुस्तकों–ग्रन्थों का संग्रहण करना ।

ii. संग्रहण करने के पश्चात् उक्त ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन करना ।

iii. प्रकृत विषय सम्बन्धित प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन व शरीर संबन्धित अभिमतों का वेदान्त, सांख्य-योग एवं आयुर्वेद के सन्दर्भ में सुव्यवस्थित रीति से उपस्थापन करना।

iv. प्रत्येक विचारधारा का तर्कसंगत वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण के साथ परीक्षण करना।

v. आधुनिक युग में प्रचलित आधुनिक विज्ञान के अभिमतों से वेदान्तिक सांख्य-यौगिक एवं आयुर्वेदिक मतों का तुलनात्मक विधि के आधार पर युक्तियुक्त अध्ययन।

vi. एक सार्वभौमिक, सर्वस्वीकृत व सारभूत निष्कर्षरूपेण सम्पूर्ण स्थूल शरीर के लिए समग्र सूक्ष्म शरीर की अवधारणा का प्रतिपादन करना ।

5. शोध–शीर्षक का औचित्य :–

शोधविषय **सूक्ष्म शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन** (सांख्य-योग, आयुर्वेद एवं अद्वैत वेदान्त दर्शन के विशेष सन्दर्भ में) के प्रत्येक पद का अपना एक महत्त्व है। अतः शोध–प्रविधि के दृष्टिकोण से शोध–शीर्षक में प्रयुक्त शब्दों का औचित्य प्रतिपादन कर शीर्षक की सार्थकता का निरूपण किया जा रहा है। प्रथमतः वेदान्त सांख्य-योग एवं आयुर्वेद शब्दों की विवेचना प्रस्तुत की जा रही है। आयुर्वेद शब्द अत्यंत व्यापक है जो शरीर सहित सम्पूर्ण जीवन की आयु को इंगित करता है। सुश्रुत के अनुसार **"आयुरस्मिन् विद्यते, अनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः**।[1] **तत्रायुजीवितमुच्यते**"[2] अर्थात् जिस शास्त्र में प्रतिपाद्य विषय के रूप में आयु (जीवन) का विवेचन है, वह आयुर्वेद है। जीवन शरीर, मन व आत्मा के संयोग के बिना नहीं हो सकता, अतः आयुर्वेद प्राधानतः मानव शरीर के जीवन (आयु) को हितायु, दीर्घायु, रोग-राहित्य व प्राकृतिक शैली से जीने आदि से सम्बन्धित शास्त्र है जिसमे प्राकृतिक पञ्चभौतिक तत्वों, त्रिगुणों व त्रिदोषो का समुचित समन्वय सूक्ष्मशरीर की आत्यान्तिक मुक्ति का मार्ग प्रशस्थ किया गया है। किन्तु योग इन यौगिक क्रियाओं के माध्यम से जीवन की अगली अवस्था है जिसको अपनाते हुए मानव इस जीवन के परम सुख, परम लक्ष्य कैवल्य को प्राप्त करता है। युजिर्-योगे धातु से निष्पन्न योग शब्द का अर्थ जोड़ना, संयुक्त होना "**संयोगो**

[1] सु. सं. 1.1.15

[2] क. सं., विमानस्थान

योग इत्युक्तो जीवात्मापरमात्मनोरिति"[1]- अर्थात् आत्मा का परमात्मा से एकाकार होना। यही परम आनन्द व कैवल्य की स्थिति है। आयुर्वेदिक जीवनशैली जहाँ प्रधानतः हितायु, दीर्घायु, रोग-राहित्य से अन्वित जीवन शरीर के दार्शनिक पक्ष के सूत्र उपस्थित करती है वहीँ सांख्य-योग परम्परा दीर्घायु जीवन को परम लक्ष्य सहित **"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽस्वस्थानम्"** को समुपस्थित करती है जो शरीर के दुःखो की ऐकान्तिक व आत्यन्तिक निवृति है। यही सम्पूर्ण क्लेशों से रहित स्वास्थ्य की अवस्था है। योग आयुर्वेद शास्त्र का महत्वपूर्ण अंग होने के साथ-साथ स्वास्थ्य की अन्तिम परिणति है। अतः वेदान्त, सांख्य-योग एवं आयुर्वेद कर्मों के संस्कारों के वाहक बने रहने का कारण एव इसकी निवृत्ति के लिये शोधविषय के संदर्भ में सूक्ष्म शरीर के दार्शनिक आधार का इन तीनों दर्शनों के बिना कल्पना करना भी असम्भव है ।

वेदान्त, सांख्य-योग एवं आयुर्वेद सूक्ष्म शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन" शोधविषय का अग्रिम पद सूक्ष्म शरीर है इसे वेदान्त में लिगं शरीर भी कहते है। तेरह करण (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार) तथा पञ्च-तन्मात्रायें, इन अट्ठारह तत्त्वों का यह समूह सूक्ष्म शरीर कहलाता हैं।[2] सांख्य दर्शन के अनुसार मनुष्य जो भी शुभ और अशुभ कार्य करता हैं उसके परिणाम-स्वरूप संस्कार बनते हैं। इन संस्कारों को ही भाव कहते हैं।[3] ये संख्या आठ में है:- धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये सात्त्विक भाव तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये तामस् भाव हैं। बुद्धि इन्हीं से संयुक्त होकर सूक्ष्म शरीर की रचना करते हैं।

शीर्षक में प्रयुक्त अन्तिम शब्द 'दार्शनिक पर्यालोचन' है। यहाँ 'दार्शनिक पर्यालोचन' शब्द के अन्तर्गत लिगं शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर आदि की मूल प्रकृति क्या है? इसकी अभिव्यक्ति का क्या कारण है? कब तक इनका अस्तित्त्व बना रहेगा? क्या सृष्टि की प्रलय की स्थिति में भी इनका अस्तित्त्व बना रहता है? इन तीनों शरीरों का स्वरूप क्या है? इन तीनो शरीरों की तत्त्वमीमांसा विभेद क्यों है? इस सूक्ष्म शरीर की पुनर्जन्म धारण करने की क्षमता कब तक बनी रहेगी? ऐसे किन साधनों से इनके आवागमन से मुक्ति मिल सकती है? वे मुक्ति के साधन कौन-

---

[1] सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव विरचित पातञ्जलयोगदर्शन, पृ. 31

[2] पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि, मनोबुद्धिरहंकार, एवमष्टादश महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् । माठरवृत्ति,४०

[3] सा च बुद्धिरष्टांडिका सात्त्विकतामसरुपभेदात् । - गौडपादभाष्य,२३

कौन से है? सूक्ष्म शरीर की अवधारणा को व्यवस्थित रूप देकर नास्तिक जनमानस को आस्तिक आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करना।भारतीय दर्शन में सूक्ष्मशरीर का एक पटल पर वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना। आदि पर विश्लेषणात्म अध्ययन प्रस्तुत करना ही दार्शनिक पर्यालोचन है । इस प्रकार शोध–शीर्षक वेदान्त, सांख्य-योग एवं आयुर्वेद में सूक्ष्म शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन" में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द सार्थक है। अतः इस शीर्षकात्मक विषय पर शोधकार्य करना इस क्षेत्र में होने वाले शोध कार्यों को नवीन दिशा प्रदान करने का द्वार खोलेगा।

6. मुख्यस्रोत

साक्षात् स्रोत

- वागभट्ट प्रणीत अष्टांगहृदयम्
- चरकसंहिता
- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
- वाचस्पतिकृत भामती टीका
- सदानन्दयोगीकृत वेदान्तसार
- विद्यारण्यकृत वेदान्तपरिभाषा
- पातंजलयोगसूत्र व्यासभाष्यसहित
- वाचस्पत्तिमिश्रकृत–त्तत्ववैशारदी–
- विज्ञानभिक्षुकृत–योगवार्तिक–व्यासभाष्यसमवेतम्
- ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका
- कपिलमुनिकृत सांख्यसूत्र
- वाचस्पतिमिश्रकृत सांख्यतत्त्वकौमुदी

a) असाक्षात्

- वेदान्तसार : सदानन्द योगीन्द्र
- सुबोधिनी संस्कृतटीका सहितः वेदान्तसार सदानन्दप्रणीत

- वेदान्त परिभाषा, श्रीमद्विधारण्यमुनिविरचिता
- वेदान्तसार (विवृत्ति सहित) सदानन्दयोगीकृत
- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य सहितम्, महर्षि वेदव्यास प्रणीतम्
- सांख्यसूत्र : महर्षि कपिल
- सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण
- सांख्यतत्त्व–कौमुदी : वाचस्पति मिश्र
- चरकसंहिता, श्रीमदग्निवेशेन प्रणीता चरकदृढबलाभ्यां प्रतिसंस्कृता सविमर्शविद्योदनी हिन्दीएव्याख्यायोपेता
- अष्टांगहृदयम्, वाग्भटट्, निर्मलाहिन्दीटीकासहित
- सर्वदर्शनसंग्रह : माधवाचार्य
- ईशादि नौ उपनिषद्
- श्रीमद्भगवद्गीता
- सांख्यदर्शन विदोदयभाष्य, उदयवीर शास्त्री

द्वितीय अध्याय

भारतीय ज्ञान परम्परा में सूक्ष्मशरीर का पर्यालोचन

6. भारतीय ज्ञान परम्परा में सूक्ष्मशरीर का पर्यालोचन Page. No

IX. उपनिषदों में शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन :- 27

x. विज्ञान में शरीर का पर्यालोचन :- 45

XI. चार्वाक दर्शन में सूक्ष्म शरीर का पर्यालोचन :- 49

XII. जैन दर्शन में शरीर का पर्यालोचन 51

च. औदारिक शरीर

छ. वैक्रियक शरीर

ज. आहारक शरीर

झ. तैजस शरीर

ञ. कार्मण शरीर

XIII. बौद्ध दर्शन में शरीर का पर्यालोचन :- 65

घ. औदारिक स्थूल शरीर का ग्रहण

ङ. मनोरूप शरीर ग्रहण

च. अरूप (अभौतिक) शरीर ग्रहण

XIV. न्याय-वैशेषिक दर्शन में शरीर का पर्यालोचन :- 78

XV. शैव दर्शन में सूक्ष्म शरीर का पर्यालोचन :- 86

XVI. कैवल्य दर्शन में शरीर का पर्यालोचन :- 91

उपनिषदों में शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन :-

वैदिक ज्ञान परम्परा के अन्तिम उच्चतम दर्शन के रूप में वेदान्त या उपनिषदों को माना गया है। वेदान्त शब्द का प्रयोग मुख्यतः उपनिषदों पर आधारित है। शंकर के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति 'सद्' धातु से, जिसका अर्थ है मुक्त करना, पहँचना या नष्ट करना। यहां पर एक विशेष्य है जिसमें 'उप' और 'नि' उपसर्ग और क्विप् प्रत्यय लगा हुआ है। यहां 'उप' (समीप) 'नि' (अच्छी तरह) और 'सद्' (बैठना) अर्थात् परमात्मा के समीप अच्छी तरह बैठकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना, जिसके द्वारा अज्ञान से मुक्ति मिलती है, उन्हें उपनिषद् कहते हैं। उपनिषदों में आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि एवं दार्शनिक तर्क प्रणाली दोनों का विशद अध्ययन मिलता है। भारतीय परम्परा में उपनिषदों की संख्या १०८ परिगणित है। शंकराचार्य ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहद् आरण्यक और श्वेताश्वतर- इन ग्यारह उपनिषदों का भाष्य किया है। भारतीय वैदिक ज्ञान परम्परा की शाखाओं की विकास का मुख्य प्रयोजन मनुष्य के दुःखों के आश्रय पञ्चभौतिक शरीर की दुःखों से आत्यान्तिक निवृत्ति है। अथर्व वेद में स्थूल शरीर के सन्दर्भ में कहा गया है- **"प्र च्यवस्व तन्व सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि भो शरीरम्। मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ।।"** अर्थात् शरीर का उत्तम ढंग से पालन-पोषण कर। तेरे हाथ पैर न छूटें। जहाँ तेरा मन हो वहाँ इच्छानुसार जा और जिस भूमि में प्रीति हो, उस देश में जा। स्वास्थ हमारे शरीर वह बुनियाद है जिस पर सुख का भवन खड़ा होता है। प्राचीन ज्ञान परम्परा इसके महत्त्व को बहुत पहले ही समझ लिया गया था। व्याधियों से रहीत शरीर ही सुख प्राथमिक आवश्यकता है। इसके बिना आप कोई भी सुख नहीं भोग सकते। प्रजापति का पहला सूत्र में भी यही कहा गया शरीर को समझो, शरीर को संभालो। जहाँ स्वास्थ्य नहीं है, वहाँ सुख नहीं हो सकता। जहाँ शरीर रोग-ग्रस्त है, वहाँ शांति नहीं हो सकती। यदि देह में स्फूर्त्ति नहीं, मस्तिष्क में चेतना नहीं, स्नायुओं में बल नहीं, अंगों में दृढ़ता नहीं, तो न में उमंग नहीं उठ सकती। व्यक्ति चाहे कितना ही धन सम्पन्न हो, यशस्वी हो, यदि उसका यह शरीर स्वस्थ नहीं है तो जीवन समस्त सुविधा सम्पन्न संसाधन व्यर्थ है। रोग-ग्रस्त व्याधियों वाला जीवन एक बोझ बनकर रह जाता है। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करता है। अथर्व वेद की सूक्ति में कहा गया है- **"वर्च आ धेहि मे तन्वां सह ओजो वयो बलम्"** मेरे शरीर में

तेज, साहस, ओज, शक्ति और बल स्थापन कर। आगे कहा गया है- **"शं में चतुर्भ्या अंगेभ्यः शमस्तु तन्वे मम"** अर्थात मेरे चारों अंगों के लिये आरोग्य हो, मेरे शरीर के लिए निरोगिता हो।

शरीर और स्वास्थ्य की रक्षा के लिये यजुर्वेद में भी प्रार्थना की गई है- "**आयुर्मे पाहि प्राणं में पाह्म पानं में पाहि व्यानं में पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं में पाहि वाचं में पिन्व मनो मे जिन्वातमानां में पाहि ज्यातिर्मे यच्छं**।" अर्थात हे ईश्वर! मेरी आयु की रक्षा कर, मेरे प्राणों की रक्षा कर, अपान व व्यान वायु (श्वास-प्रश्वास) की रक्षा कर, मेरे दोनों नेत्रों की रक्षा कर, मेरे दोनों कानों की रक्षा कर, मेरी वाणी व मन को प्रसन्न कर, मेरी आत्मा की रक्षा कर और मुझको तेज प्रदान कर। यहां स्थूलशरीर के सन्दर्भ में कहा गया है। आगे यर्जुर्वेद में कहा गया है- **"तनुपा अग्नेऽसि तन्वं पाह्यायुर्दा अग्ने--यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो में देहि"** अर्थात् हे अग्ने! तू शरीर का रक्षक है, अतः मेरे शरीर की रक्षा कर। तू आयु देने वाला है, अतः मुझे दीर्घायु दे। तू तेजस्विता देने वाला है, अतः मुझे तेजिस्वता दे। इसके सन्दर्भ में यजुर्वेद कहा गया कि विद्वान जागृत रहते हुए विविध प्रकार से शरीर की स्तुति करते हैं और परमात्मा को भली-भाँति प्रकाशित होते हैं- **"तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यतपरम पदम्।"** शारीरिक निरोगिता हमारा पहला सुख है। शरीर के बिना परम पद की यात्रा नही हो सकती।

वैदिक वाङ्मय में बताया गया है कि पुरुष- शरीर में समुद्र और नदियाँ नाड़ियों के रूप में रहती हैं । बाहर के विश्व में नदियां है, पुरुष शरीर में नस नाड़ियां हैं, बाह्य विश्व में समुद्र है, पुरुष के शरीर में हृदय का रुधिराशय है । अतः ब्रह्माण्ड ही पिण्ड शरीर में अंश रूप में रहता है । वैदिका वाङ्मय में मानव शरीर का प्रथम वैशिष्टय यह है कि इसे ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म रूप माना गया है । समग्र ब्रह्माण्ड एक सूक्ष्म रूप में विद्यमान है – '**यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे**'। वास्तव में मानव शरीर ईश्वर की सबसे अद्भुत रचना है।[1] यह विचार अथर्ववेद के मन्त्रों में आया है जहाँ शरीर में अवयवों के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न आए हैं –

"**केन पार्ष्णी आभृते पुरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ ।**

केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छलगौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥"[2]

---

[1] Ibid.p.2

[2] अथर्ववेद. १०/२/१

अर्थात् मनुष्य की एड़ियां किसने बनाई? किसने मांस भर दिया? किसने टखने बनाएं? किसने सुन्दर अंगुलियां बनाई? किसने इन्द्रियों के सुराख बनाए? किसने पांव के तलवे जोड़ दिए? बीच में कौन आधार देता है? इसके उत्तर में ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त में परमसत्ता का देहरूप में वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस एकपाद मायाशक्ति-सम्पन्न पुरुष से यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूपी समष्टि देह उत्पन्न हुआ, जिसका आश्रय लेकर वह पुरुष जीवात्मा रूप में अपने आप को विकसित करके देव-तिर्यग् एवं मनुष्यों में अनुप्रविष्ट होते हुए क्रमशः पृथिवी एवं जीवों के शरीरों को उत्पन्न किया।[1] समस्त जगत् अथवा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही ब्रह्म का शरीर या उसका विराट रूप है। यदि ईश्वर के सहस्त्र हाथ, सहस्त्र नेत्र, सहस्त्र मुख आदि की बात कही जाती है तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि इस प्रकार की आकृति वाला कोई पुरुष है इस प्रकार के कथन उपमा के रूप में कहे हुए होते हैं। फिर भी सूक्ष्म या निरपेक्ष ब्रह्म से जगत् के निर्माण तक सत्य की चार मुद्राएँ या स्थितियाँ मिलती हैं– (1) निरपेक्ष, 'ब्रह्म' (2) सृजनात्मक शक्ति, 'ईश्वर' (3) विश्व आत्मा, 'हिरण्यगर्भ' और (4) जगत् . माण्डूक्य उपनिषद् कहती है कि ब्रह्म 'चतुष्पात्' चार पैरों वाला है और उसके चार तत्त्व 'ब्रह्म', 'ईश्वर', 'हिरण्यगर्भ' और 'विराज' हैं. निरपेक्ष की, जब जैसा कि वह अपने-आप में है, हर प्रकार के सृजन से स्वतन्त्र कल्पना की जाती है, तो वह 'ब्रह्म' कहलाता है। जब उसे इस रूप में सोचा जाता है कि उसने अपने-आपको विश्व में व्यक्त किया है तो वह 'विराज' कहलाता है. जब उसे उस आत्मा के रूप में सोचा जाता है जो विश्व में सर्वत्र गतिशील है, तो वह 'हिरण्यगर्भ' कहलाता है। जब उसकी विश्व के स्रष्टा, रक्षक, और संहारक के रूप में कल्पना की जाती है, तो वह 'ईश्वर' कहलाता है।[2] वही ब्रह्माण्ड के समस्त प्राणियों का आरम्भक है। यहाँ शरीर की अवधारणा के सन्दर्भ में उपनिषद् परम्परा में विशद् वर्णन किया गया है| 'उपनिषदों में शरीर के निम्नलिखित पर्याय मिलते है-देह, रथ, काय, वपु, तनु, कलेवर, सन्देह, ब्रह्मपुर, बाण इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[3]

"The variety of ancient Indian body concepts is naturally reflected in the rich Sanskrit vocabulary of names for the body, a litany of which includes such term as sariram, kayah,

---

[1] तस्माद विराट्जायत विराजो अधि पुरूषः।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः। पु.सू.५

[2] http://upanishad.vishwahindusamaj.com/hindi/2008/01/8.html

[3] The Human Body in the Upanishads, Georage William Brown, p. 16

dehah, vigrahah, angam, vapus, kalevaram, tanus, gatram, savah and kunapah, each carrying its own particular connotations according to usage and etymology.''[1]

उपनिषदों में शरीर के पर्याय- देह, रथ, काय, वपु, तनु, सन्देह, ब्रह्मपुर, बाण इत्यादि शब्द मिलते है।[2] कोश-ग्रन्थों के अनुसार उपर्युक्त शब्दों की निरुक्ति निम्न प्रकार से है-

देह – देग्धि प्रतिदिनम् । दिह् वृद्धौ (अच्)शरीरम्।[3] दिह्यते दिह उपचयेघञ् । ,[4] अमरकोश में देह के पर्याय- कलेवर , ,संहनन ,वपुष ,गात्रशरीर तनु ,मूर्ति ,देह .काय ,वर्ष्मन् ,विग्रह ,बताये गये है।

रथ- शरीरं रथमेव तु।[5]

काय – कदैवते मूर्तौ संघे तक्षस्वभावयोः । मनुष्यतीर्थ कायं स्यात् (इति मेदिनी)

वपु– (वपुः स्त्रवः वपुषः) पुल्लिंग ,शरीरात् स्त्रवः क्षरणं यस्य।

तनु – तनादिगण में पठित तन् धातु से ठक् प्रत्यय । तनु तनौ तन्वां वा रोहति रूह। (पुल्लिंग)[6] तनुतनोति कर्म (स्त्री) उन् । शरीरे अमरः त्वचि राजनि।+काश्यं वा । तन[7] तनोति तन्यते वा तनुः काये त्वचि स्त्री (तनु विस्तारे) स्यात्त्रिष्वल्पो विरले कृशे इति मेदिनी । अमरकोश में तनुः ,का अर्थ चमड़ी (स्त्री)शरीरइत्यादि के रूप में हुआ कृश , है ।[8] तनुर्वपुस्वचोः । विरलेऽल्पेविरलेकृशे इति ।[9] तनोति तन्यते वा । अत्तिर्पृवापियजितनिधनितपिभ्यो नित् । उणादि इति उसिः स च नित् । शरीरम् । इत्युणादिकोशः । (१८/२)[10]

सन्देहसंशय शब्दस्यार्थः । (घञ्+दिह+सम) –[11] सन्देहनम् – संशय के नाम दिह उपचये । (घञ्)विचिकित्सा ,संशय , द्वापर। ,सन्देह[12]

---

[1] Wujastyk.Dominik, Interpreting the Image of the Human Body in Premodern India P.190

[2] The Human Body in the Upanishads, Georage William Brown, p. 16

[3] शब्दकल्पद्रूम.पृ.७४९

[4] अमरकोष,३/३/१९

[5] कठो.उप,१/३/३

[6] वाचस्पत्यम् पृ.३२२२०

[7] वाचस्पत्यम् पृ.३२१९

[8] अमरकोश,पृ,६८६

[9] अमरकोश,पृ,६०८

[10] शब्दकल्पद्रुम्, पृ.५८३

[11] वाचस्पत्यम्, भाग-६, पृ.५२१२

[12] अमरकोश, पृ.८०-८१

ब्रह्मपुरयः सर्वज्ञः सर्वविदु तस्यैष (.उ.छा) अथ यदिदं ब्रह्मपुरे दहरं पुण्दरीकं (ब्रह्मण उपासनार्थे हृदयस्थाने) – (उ.मु)महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ।[1]

बाणप्रत्यय शते अमरः । पञ्चवायु बाणः । इति प्रसन्नराघवम्। घञ् +वण् (.पु) –[2] बाण शब्द स्वार्थे ण्यन्तः। पचाद्यच्।[3] स्याद्रोस्तने दैत्यभेदे केवलकाण्डयोः।[4] बाण शब्द का अर्थ है राजा बलि का पुत्र । बाणो बलिसुते शरे।[5]

शरीर शब्द नपुसंकलिंग है जो शृ धातु ईरन् प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ जड़-चेतन पदार्थ की काया या देह है।[6] व्युत्पत्ति की दृष्टि से **शीर्यते इति प्रतिक्षणं क्षीयमाणं देह शरीरम्**।[7] अर्थात जो प्रतिक्षण क्षीयमाण देह है उसी का नाम शरीर है। भारतीय न्याय शास्त्र में शरीर को सम्पूर्ण चेष्टाओं का आश्रय, सभी इन्द्रियों का आधारस्थल और समस्त विषयभोगों का केन्द्रबिन्दु कहा गया है।[8] हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार के लिए होने वाली क्रिया को चेष्टा कहते है अथवा प्रयत्न से प्रेरित आत्मा के व्यापार को चेष्टा कहते है तथा वह चेष्टा जिसमें होती है उसे शरीर कहते है।[9] वैदिक वाङ्मय में शरीरम् शब्द ऋग्वेद में एक बार अथर्ववेद [10] में पाँच बार , बृहदारण्यकोपनिषद् में एक बार मिलता है। वैदिक वाङ्मय में शरीर के लिए गात्र[11] एवं शव[12] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है तथा मानव शरीर के रूपक के रूप में इसे ब्रह्मपुरी[13] की संज्ञा से अभिहित किया है - देवपुरी[14] कहा गया है, 'दैवी नाव'[15] तथा 'दैवी वीणा'[16] के साथ-साथ रथ[17] के रूपकों में भी बांधा गया है । मानव शरीर को वेद मन्त्रों में अनेक

---

[1] वाचस्पत्यम्, पृ.४५९६

[2] वाचस्पत्यम्, पृ.४८७३

[3] अमरकोश,३/१/१३४

[4] अमरकोश, पृ.६६६

[5] अमरकोश, पृ.६६६

[6] आप्टे, वामन शिवराम, सं.हि.को. पृ.स. 2008

[7] न्याय कोष, पृ. ८६८

[8] चेष्टान्द्रियार्थश्रयः शरीरम्। न्या.सू. १/१/११

[9] कुमार, शशिप्रभा, वैशेषिक दर्शन में शरीर की अवधारणा, वैशेषिक दर्शन परिशीलन, पृ.५६

[10] शरीरस्य सं विदां तत् पद्भ्यां प्रति तिष्ठतु। अथर्ववेद,५/३/१३

[11] यथारूप तन्वं सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि। यजु.१८/४/५२

[12] इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः। अथर्ववेद,२०/५६/१

[13] अथर्ववेद.१०/२/२८-२९

[14] अथर्ववेद.१०/२/३१

[15] अथर्ववेद.७/६/३

[16] शां.आ. ८/९

[17] आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। कठ.उप.१/३/३

स्थानों पर क्षेत्र[1] की संज्ञा भी दी गई है जिसे प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा कर्म रूपी फल की प्राप्ति को बताया गया है। जो इस क्षेत्र को जानता है, वह क्षेत्रविद् या क्षेत्रपति कहा गया है।[2] श्रीमद्भगव्दगीता में भगवान श्रीकृष्ण ने शरीर को क्षेत्र की संज्ञा दी है – **इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।**

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥[3]

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, हे कुन्तीपुत्र! शरीर को चोट आदि से बचाया जाता है, इसलिए यह शनैः शनैः होता रहता है इसलिए क्षेत्र के समान इसमें कर्मफल प्राप्त होते रहते हैं इसी कारण शरीर को क्षेत्र कहा जाता है। जो मनुष्य शरीररूप क्षेत्र को जानता है अर्थात् चरणों से लेकर मस्तकपर्यन्त इस शरीर का जो प्रत्यक्ष करता है अर्थात् स्वाभाविक या उपदेश द्वारा प्राप्त अनुभव से विभाग द्वारा स्पष्ट जानता है उस जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं।[4]

ऋग्वेद में तनु शब्द का प्रयोग देह अर्थ में करते हुए कहा है कि जैसे देह को सहज से त्यागने वाले और वन में विचरने वाले पापी दो चोर दस रस्सियों से पथिक को बांध लेते हैंवैसे ही हमारे दोनों हाथों दस अगुंलियों से मन , और अहंकार इन दोनों चोरों को अच्छी प्रकार पकड़ती है ।[5] यजुर्वेद में शरीर के सन्दर्भ में कहा है कि जिस प्रकार बन्धन रहित मनुष्य आसुरी माया से देहों को बनाता हुआ अपने पुट्ठों को वश में करता हुआ उनको फैलाता है इस , प्रकार तेरे इस शरीरांग को बल के साथ एक अवयव से दूसरे अवयव के सम होने के समान यह अर्चनीय आत्मा पुष्ट करे ।[6] इसमें शरीर को देवपुरी भी कहा गया है। इसके पीछे यह औचित्य दिया गया कि मानव शरीर को अनेक देवताओं का निवास-स्थल माना गया है, इसीलिए शरीर को दिव्य नगर अर्थात् देवपुरी कहा गया है।[7] प्रश्नोपनिषद् में शरीर को बाण कहा गया है जिसका अर्थ वीणा अथवा तन्तुवाद्य है। आकाशादि पञ्चभूतों को शरीर का आधारभूत स्तम्भ बताते हुए कहा है कि आकाश ही देव है तथा वायु, अग्नि, जल और पृथिवी शरीर के आरम्भ करने वाले पाँच भूत एवं वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियाँ- ये कार्य और करण रूप देव अपनी महिमा को प्रकट

---

[1] शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिस्तु शंभुः। अथर्ववेद.१९/१०/१०

[2] अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्याप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः ।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम् ॥ ऋग्वेद, १०/३२/७

[3] भगवद्गीता,१३/१

[4] एतत शरीरं क्षेत्रम् यो वेत्ति विजानाति आपादतलमस्तकं ज्ञानेन विषयीकरोति स्वाभाविकेन औपदेशिकेन वा वेदनेन विषयीकरोति विभागशः तं वेदितारं प्राहुः कथयन्ति क्षेत्रज्ञ इति।– भगवद्गीता, १३/१ शा.भा

[5] तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू रशनाभिर्दशभिरम्यधीताम्। ऋ.१०/४/६

[6] यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपुसि कृण्वन्नसुरस्य मायया। यजुर्वेद,६/७२/१

[7] Kumar, Shashiprabha, Vedic Concept of Human Body p.3

करते हुए कार्यकरण के संघातरूप शरीर को आश्रय देकर धारण करते हैं।[1] प्राण शरीर को आश्रय देकर धारण करने वाला बताया गया हैं।[2] छान्दोग्योपनिषद में शरीर को गायत्री-रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। ब्रह्माण्ड में पृथ्वी को गायत्री के रूप में माना गया है। पृथिवी में सम्पूर्ण प्राणसमुदाय स्थित है उसी प्रकार शरीर में प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं।[3] प्राणों का अधिष्ठान होने के कारण शरीर गायत्री है । पृथिवी के समान भूत शब्द वाच्य प्राणों का अधिष्ठान होने के कारण शरीर गायत्री है।[4], क्योंकि प्राण इस शरीर का ही अतिक्रमण नहीं करते।[5] जो भी इस पुरुष में शरीररूप गायत्री है वह यही है जो कि इस अन्तःपुरुष में (पुण्डरीक संज्ञक) हृदय है । वह गायत्री है । शरीर के समान हृदय गायत्री है क्योंकि इसी में प्राण प्रतिष्ठित रहते है ।[6] श्वेताश्वतरोपनिषद् में शरीर का त्रिरुन्नत-रूपक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। क्योंकि यह वक्षःस्थल, ग्रीवा और सिर में उन्नत रखे जाने के कारण उस त्रिरोन्नत शरीर को समान भाव से स्थित किया जाता है । प्रणव के द्वारा मन और इन्द्रियों को नियमित करके प्रणव से ही विद्वान् संसार-सरिता के स्वाभाविक अविद्या, कामना और कर्मों द्वारा प्रवर्तित भयावह प्रेत, तिर्यक् एवं ऊर्ध्व योनियों को प्राप्त करानेवाले पुनरावृत्ति के हेतुभूत स्त्रोतों को पार कर लेता है। मोक्ष की अवस्था में इन तीनों को पार करने के कारण शरीर को तिरोन्नत कहा गया है।[7] आगे यह योगी को योगाग्निमय शरीर की प्राप्ति हो जाने पर भी वह सभी रोगों पर विजय कर लेने के फलस्वरूप वह दोष योगाग्नि से भस्म हो जाते हैं। व्यवहारिक जगत में मनुष्यों के शरीर जिन विषय-वासनाओं के मल से दूषित होते हैं, योगी का शरीर उन मलों और दोषों से मुक्त होकर योगाग्नि से देदीप्यमान होने के कारण योगी के स्थूलशरीर को योगाग्निमय के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।[8] यह स्थूलशरीर जिस-जिस स्त्रीशरीर, पुरुषशरीर और नपुंसकशरीर के धर्मो को धारण करने के कारण त्रिविध शरीर के आधार के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है।[9] इसी परम्परा में शरीर को अन्न और अन्नाद कहा गया है।[10] मनुष्य शरीर को अन्नमूलक

---

[1] ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्वाणमवष्टभ्य विद्यारयामः। -प्रश्न.उप २/२

[2] मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्वाणमवष्टभ्य विद्यारयानि तेऽश्रद्दधाना बभूवुः। -प्रश्न.उप २/३

[3] या वै सा पृथ्वीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरूषे शरीरमस्मिन्महीमे प्राणाः प्रतिष्ठता एतदेव नातिशीयन्ते। छा.उप.३/१२/३

[4] अस्मिन्महीमे प्राणा भूतशब्दवाच्याः प्रतिष्ठताः॥ छा.उप,३/१२/३, शां.भा

[5] अतः पृथ्वीवद् भूतशब्दवाच्यप्राणप्रतिष्ठानाच्छरीरं गायत्री एतदेव यस्माच्छरीरं नातिशीयन्ते प्राणाः। छा.उप.३/१२/३, शां.भा

[6] यद्वै तत्पुरूषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरूषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते। छा.उप.३/१२/३, शां.भा

[7] त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ श्वे.उप.२/८

[8] पृथ्व्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ -श्वे.उप,२/८

[9] नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥ -श्वे.उप.५/१०

[10] प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः ।

इसलिए कहा जाता है क्योंकि जल के द्वारा द्रवीभूत होकर जठराग्नि के द्वारा पचाये जाने पर खाया हुआ अन्न रस रूप में परिणित हो जाता है। वही क्रमशः रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेस से अस्थि और अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य रूप में परिणत होकर रज बनता है। अन्न से परिपुष्ट हुए वीर्य और रज से मृतिका के पिण्ड के भीत के समान पुष्ट होकर यह अन्नमूलक देह रूप अंकुर निष्पन्न होता है। अन्न से ही वीर्य की उत्पत्ति होने के कारण शरीर को अन्नमय के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।[1] बृहदारण्यकोपनिषद् में शरीर को मन का द्युलोक बताया गया है।[2] वैदिक चिन्तन परम्परा में स्वस्थ शरीर, उचित पोषण एवं अंगों के साथ अदीन होकर शतायु जीवन यापन की कामना की गई है[3] -**सर्वमायुर्नयतु जीवनाय**।[4] अर्थात् प्रभु हमारी समग्र आयु को जीवन के लिए ले चलें। आगे इसमें मानव-जीवन का लक्ष्य है अमृतत्व की सिद्धि करने के कारण इसको अमृतपुत्र सम्बोधन का अधिकारी बनाता है- **श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः**।[5] अमृत की अदम्य आस्पृहा मानव-जीवन का परम प्रयोजन है, इसलिए **'मृत्युबन्ध'** होने पर भी 'मृत्युञ्जय' होना चाहता है।[6] मानव देह में जो जीर्णता का अंश है, वही मर्त्य है और जो अरिष्टता का अंश है, वही अमृत है।[7]

अथर्ववेद में तनु शब्द को प्रयोग शरीर अर्थ करते हुए कहा है कि हे सविता और हे वायोमेरे शरीर में सेवन ! करने योग्य कान्ति और पुष्टियुक्त बल उत्पन्न करें।[8] तनु शब्द का प्रयोग शरीर के पर्याय के रूप में प्रयुक्त करते हुए कहा है कि यह मैं शरीर में दोष उत्पन्न करने वाले विनाशक रोग को दूर करता हूँ और जो कल्याणमय तेजस्वी है उसको प्राप्त करता हूँ।[9] आगे अथर्वेद में शरीर के सन्दर्भ में कहा है- **"अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥"**[10] अर्थात् जिसमें आठ चक्र हैं, और नौ द्वार हैं, ऐसी यह अयोध्या, देवों की नगरी है उसमें तेजस्वी कोश है, जो तेज से परिपूर्ण स्वर्ग शरीर है। मानव शरीर को देवताओं का मन्दिर माना गया है। क्योंकि इस मानव शरीर में जो ब्रह्म को देखते हैं वे परमेष्ठी प्रजापति को जान सकते हैं। मानव शरीर में सूर्य,

---

तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। श्वे.उप.३/७/१

[1] बृह.उप.३/२/१३, शा.भा

[2] प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्रयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत्। बृह.उप.१/२/६. शां.भा

[3] कुमार, शशिप्रभा, "वैदिक जीवन-दर्शन, श्रुति-नैवेद्यम्, पृ.३२४

[4] अथर्ववेद.१२/२/२४

[5] ऋग्वेद.१०/१३/१

[6] कुमार, शशिप्रभा, "वैदिक जीवन-दर्शन, श्रुति-नैवेद्यम्, पृ.३२५

[7] कुमार, शशिप्रभा, "वैदिक जीवन-दर्शन, श्रुति-नैवेद्यम्, पृ.३२४

[8] रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम्। अथर्ववेद, ५/२५/५

[9] इदमन्तं रूशन्तं ग्रामं तनूदूषिमपोहामि। यो भद्रो रोंचनस्तमुदचमि। अथर्ववेद,१४/१/३८

[10] अथर्ववेद.१०/२/३१

चन्द्र, वायु, विद्युत, जल, पृथिवी आदि देवताओं का अंश रहने कारण देवताओं के मन्दिर कहा गया है।[1] मानव शरीर को 'त्रिलोकी' की संज्ञा से अभिहित किया गया है, क्योंकि ३३ देवताओं का निवास स्थान सिर द्युलोक है, मध्यभाग अन्तरिक्ष लोक है और नाभि के नीचे भूलोक है में होने के कारण त्रिलोकी शब्द से सम्बोधित किया जाता है। छान्दोग्योपनिषद में मानव-शरीर मन्दिर के पाँच देव-द्वार बताये गये है, इसमें ब्रह्म-देव विराजते हैं।[2] मानव शरीर को सभी पुरुषार्थों का साधन माना गया है । क्योंकि इस शरीर के बिना पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की सिद्धि नही हो सकती। मैत्री उपनिषद में शरीर-रथ का संचालक आत्मा से होती है बताया गया, जो कि शुद्ध, शान्त, शाश्वत,अज तथा अपनी महत्ता में संस्थित स्वतंत्र सत्ता है।[3] कौषीतकि उपनिषद् में आत्मा को समस्त शारीरिक वृत्तियों की स्वामिनी तथा समस्त ऐन्द्रिक व्यापारों की अधिष्ठात्री कहा गया है ।[4] प्रश्नोपनिषद् बताया गया है कि ब्रह्म की सोलह कलाओं का प्रादुर्भाव मनुष्य शरीर में होता है यह मनुष्य शरीर इसी से बना हुआ है।[5] इन सोलह कलाओं की उत्पत्ति के सन्दर्भ में पुरुष ने सर्वप्रथम प्राण का सर्जन किया, प्राण के द्वारा श्रद्धा, पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य ,तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम का सर्जन हुआ जिनसे ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड का निर्माण होता है। यह सोलह कलाओं वाला पुरुष ब्रह्म भी इसी शरीर में निवास करता है। कठोपनिषद् में इसी शरीर को आत्मा का साक्षात्कार से ब्रह्म की प्राप्ति[6] या मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया है। मनुष्य इसी शरीर के माध्यम से ब्रह्म के ज्ञान की प्राप्ति से बन्धन से मुक्त हो सकता है।[7] जो इस दृश्यमान स्थूल शरीर के रहते परमतत्त्व का अभिज्ञान नही कर पाता , वह जन्म-मरणादि रूप का साक्षि होता है।[8] बृहदारण्यकोपनिषद में अविद्या से प्रेरित स्थूलशरीर द्वारा किये गये कार्यों को पापयुक्त माना गया है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार जीव एक वर्तमान शरीर में ही बुद्धि की समानता को प्राप्त होकर स्वप्न और जाग्रत दोनों वृत्तियों में पापरूप देह तथा इन्द्रियों का ग्रहण और त्याग करता हुआ निरन्तर

---

[1] ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्। अथर्ववेद,१०/७/१७

[2] एतस्य हृदयस्य पञ्च देव-सुषयः स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति। छा.उप.३/१३/१

[3] शुद्ध..शान्त..शास्वतोऽजः स्वतंत्र स्वे महिम्नि तिष्ठति। अनेनेदं शरीरं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं। प्रचोदयिता वैषोऽप्यस्येति। मैत्री उप. २/३/४

[4] कठोपनिषद,१/२/८

[5] तस्मै स होवाच। इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरूषो।
यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति॥ प्रश्न.उप.६/२

[6] इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ के.उप.२/५

[7] इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्त्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ कठ.उप.१/६/४

[8] इहैव सन्तोऽथ विद्यस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥ बृह.उप.४/४/१४

संचार करता रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष जन्म और मरण के द्वारा देहेन्द्रिय का निरन्तर ग्रहण और त्याग करता हुआ इहलोक और परलोक दोनों में तब तक संचार करता रहता है जब तक इस सांसारिक बन्धनो से मुक्त नहीं हो जाता। इसलिए पापयुक्त इन्द्रियों के संयोग और वियोग के कारण इस आत्मज्योति शरीर पापों से अन्यत्व सिद्ध होता है।[1] अतः शरीर और इन्द्रियों को पाप से युक्त माना है।[2] इसके पापयुक्त धर्म सूक्ष्मशरीर के माध्यम से जन्म-जन्मान्तर गमन होते रहते है। स्थूलशरीर को मरणधर्मा कहा गया है क्योंकि कर्मानुसार निश्चित समयावधि पर आत्मा का शरीरपात होने पर इस शरीर के भीतर प्राणवायु बाह्य वायु को प्राप्त हो तथा यह शरीर भी भस्मशेष होकर पृथिवी को प्राप्त हो जाने के कारण इसे मरणधर्मा कहा गया है।[3] बृहदारण्यक उपनिषद में देहान्तरगमन के सन्दर्भ में जोंक-सुवर्ण दृष्टान्त के माध्यम से शरीर का वर्णन करते हुए कहा गया है **–"तद् यथा तृणजलायुक्ता तृणस्यान्तं गत्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्या गमयित्वान्यक्रम्यात्मानमुपसं हरति।"**[4] जिस प्रकार जोंक एक तृण के अन्त में पहुँचकर दूसरे तृणरूप आश्रय को पकड़कर अपने को सिकोड़ लेती है, उसी प्रकार आत्मा शरीर को मारकर अविद्या (अचेतनावस्था) को प्राप्त कराकर दूसरे आधार का आश्रय लेकर अपना उपसंहार कर लेता है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार सोनार सुवर्ण का भाग लेकर दूसरे नवीन और कल्याणतर सुन्दर आभूषण रूप की रचना करता है, उसी प्रकार आत्मा शरीर को नष्ट कर अचेतनावस्था को प्राप्त कर दूसरे पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्म अथवा अन्यभूतों के नवीन और कल्याणकारी रूप की रचना करता है।[5] यहा आत्मा को नवीन जीवन धारण करने वाला हेतु माना है। यह पुनर्जन्म का चक्र तब तक चलता रहेगा जब तक जीव अविद्या का समूल नाश करके ब्रह्म की प्राप्ति नही कर लेता। अब यहां ब्रह्म प्राप्ति का साधन बताते हुए कहा गया है[6]कि जिस समय समस्त काम-तृषणाओं के भेद सर्वथा छूट जाते हैं, आत्मकामी ब्रह्मवेत्ता की वे समस्त कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, जो लोक में प्रसिद्ध पुतैषणा, वितैषणा और लोकेषणा रूप ऐहिक और पारलौकिक कामनाएँ इस पुरुष के हृदय-बुद्धि में आश्रित हैं वे जब समूल नष्ट हो जाती हैं तब यह मर्त्य-मरणधर्मा होने पर भी कामनाओं का समूल नष्ट हो जाने के कारण अमृत हो जाता है । अनात्मविषयक कामनाएँ ही अविद्यारूप मृत्यु हैं, अतः मृत्यु का वियोग हो जाने पर विद्वान् जीवित रहते हुए भी अमृत हो जाता है । वह शरीर में रहता हुआ ब्रह्म को अर्थात्

---

[1] इदं शरीरं पापीयो मन्यते स वा वसिष्ठ इति। - बृह.उप.४/३/८, शां.भा

[2] स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः सः सृज्यते स उत्क्राम म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति। -बृह.उप.४/३/८

[3] वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्। बृह.उप. ५/१५/१

[4] बृह.उप. ४/४/३

[5] एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते।–बृह.उप.४/४/४

[6] तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः। -छा.उप.४/४/७

ब्रह्मभाव रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में शरीर में आत्मा का निवास माना गया है।[2] इसके सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि किसी वृक्ष के मूल, मध्य या अग्र भागों में जहाँ भी प्रहार किया जाता है वहाँ यदि वृक्ष जीवित रहता है तो रसस्राव होता है। उसमें जीवरूप आत्मा अनुविष्ट रहता है, अतः पानी पीता हुआ वृक्ष मोदमान देखा जाता है परन्तु जिस शाखा को जीव छोड़ देता है वह सूख जाती है। यदि सम्पूर्ण वृक्ष को छोड़ता है तो वह सम्पूर्ण सूख जाता है। किन्तु जीव नही मरता। यहां जीव को आत्मा का वह रूप बताया गया है जिससे जड़ जगत को जीवन मिलता है।[3] कठोपनिषद् में अंगुष्ठपरिणाम पुरुष को शरीर के मध्य में स्थित बताया गया है – **अंगुष्ठमात्रः पुरुषों मध्य आत्मनि तिष्ठति** ।[4] वह अंगुष्ठमात्र पुरुष धूम रहोत ज्योति के समान है।[5] अंगुष्ठमात्र पुरुष को जीवों के हृदय में स्थित उनका अन्तरात्मा है।[6] अर्थात् आत्मा का निवास स्थल इस स्थूल शरीर में बताया गया है, और इसे धैर्य अर्थात् अप्रमादपूर्वक शरीर से प्रथक करने के नियमों का प्रावधान भी किया गया है। जैसे मूंज से उसके भीतर रहने वाली सींक प्रथक की जाती है , वैसे ही शरीर से आत्मा को प्रथक करना चाहिए। शरीर से पृथक् किए हुए अंगुष्ठमात्र पुरुष को चिन्मात्र विशुद्ध और अमृतमय ब्रह्म समझना चाहिए ।[7] मुण्डकोपनिषद् में आत्मा शरीर के भीतर शुभ्र ज्योति रूप में विद्यमान बताया गया है।[8]

स्वामी विवेकानन्द जी भी शरीर की महत्ता को समझते हुए इसके सन्दर्भ में कहा है- "यह ठीक है कि परमात्मा की पूजा के लिये आप मन्दिर बना सकते हो, लेकिन एक सुन्दर और उत्कृष्ट मन्दिर तो आप के पास पहले से ही है। वह मन्दिर है आपका शरीर।"

---

[1] अस्मिन्नेव शरीरे वर्तमानो ब्रह्म समश्नुते, ब्रह्मभावं मोक्षं प्रतिपद्यत इत्यर्थः। -छा.उप.४/४/७, शां.भा

[2] एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य परं ज्योतिसम्पद्य स्वेन रूपणाभिनिष्पद्य एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो ब्रह्मणो नाम सत्यमस्ति । छा.उप.८/३/४

[3] अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभिन्याज्जीवन् स्रवेद यो मध्येऽभिहन्याज्जीवन् स्रवेद। स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति। अस्य यदेका शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति। द्वितियां जहात्यथ सा शुष्यति। तृतीय जहात्यथ सा शुष्यति। सर्व जहाति सर्वः शुष्यति। एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच। जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वम्। तत् सत्यम्। स आत्मा । तत् त्वमसि श्वेतकेतो। छान्दोग्योपनिषद् ६/११/१-३

[4] कठ.उप.१/२/१२

[5] अङ्गुष्ठमात्रः पुरूषो ज्योतिरिवाधूमकः। कठ.उप.१/२/१३

[6] कठ.उप.१/६/१७

[7] कठ.उप.१/६/१७ शां.भा

[8] सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषः ॥ मु.उप.३/१/१

अमेरिका के उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध कवि वाल्ट व्हिटमैन ने शरीर के सन्दर्भ में कहा है "यदि कोई चीज पवित्र है, तो वह मनुष्य का शरीर है।"

भारतीय ज्ञान परम्परा में पुनर्जन्म की अवधारणा को चार्वाक को छोड़कर प्राय: सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। यह पुनर्जन्म किसका का होता है? इसके उत्तर में सभी दर्शन सूक्ष्म शरीर का पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता में श्रीकृष्ण भी कहते हैं-

"वांसासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्वाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।"

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर नवीन शरीरों को प्राप्त करती हैं।[1] स्थूल शरीर के माध्यम से आत्मा नये-नये वस्त्र धारण करती रहती है जिसमें वह अधिष्ठित होकर करती रहती है, वह सूक्ष्म शरीर होता हैं। फिर सूक्ष्म शरीर मानने की आवश्यकता क्या है? बौद्ध दर्शन सूक्ष्म शरीर को मनोमय आत्मप्रतिलाप्[2], शैव दर्शन पौर्यष्टक[3], सांख्य दर्शन लिंग शरीर[4] या सूक्ष्म शरीर तथा वेदान्त-दर्शन लिंग शरीर सूक्ष्म शरीर मानता हैं। सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता है क्योंकि आत्मा शुद्ध एवं चेतन हैं तथा यह साधनहीन रहकर अचेतन जगत् के सम्पर्क में कुछ भी करने में असमर्थ हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण कहते हैं-

" न जायते म्रियते वा विपशिचन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतो अयम पुराणो, न हन्यते न हन्यमाने शरीरे ।।"[5]

अर्थात् यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्म लेता है और न ही मरता है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरता हैं। भोगादि के लिए एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर में जाने के लिए भी आत्मा को साधन की अपेक्षा

---

[1] भगवद्गीता,२.२२

[2] आत्मप्रतिलाभ-पौठपाद सुत्त(दीर्घनिकाय,१३)

[3]. सर्वदर्शनसग्रंह-पृ.स. २९०

[5] कठोपनिषद 2 /18

रहती हैं। यह साधन सूक्ष्म शरीर ही हैं। इस जन्म-मरण की गति में यह हमेशा आत्मा के साथ बना रहता हैं। आत्मा का वाहन सूक्ष्म शरीर को कहा जाता हैं। समस्त सर्गकाल में आत्मा इसी में स्थित होकर अपनी समस्त गतिविधियाँ सम्पन्न करता हैं। यह आत्मा और स्थूल शरीर के मध्य सदैव बना रहता हैं। इस तरह सूक्ष्म शरीर आत्मा का अधिष्ठान कहा गया हैं। सूक्ष्म शरीर का वास्तविक उपयोग, आत्मा के लिए सुख-दु:खादि समस्त भोगों को प्रस्तुत करना तथा समाधि द्वारा तत्त्वज्ञान का सम्पादन करना हैं। शुद्ध आत्मा भोगों को करने में असमर्थ रहती है फलस्वरूप आत्मा को अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए एक ऐसे साधन की अपेक्षा रहती है, जो भोग से लेकर अपवर्ग या मोक्ष पर्यन्त सर्वदा उसका सहयोग कर सके, सूक्ष्म शरीर ही वह साधन हैं। सूक्ष्म शरीर आत्मा तथा स्थूल शरीर के मध्य की योजक-कड़ी हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि-

"कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रद्यते । .

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति॥"[1]

मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार अनुसार शरीरस्थ आत्मा उत्तरोत्तर नाना-स्थानों पर जन्म लेता है । वह अपनी प्रकृति के गुणों की शक्ति के अनुसार वह बहुत-से स्थूल और सूक्ष्म रूप धारण करती है। यहाँ सूक्ष्माणि से तात्पर्य सूक्ष्म शरीर से है। क्योंकि स्थूल शरीर तो जन्म-जन्मान्तर का माध्यम नही हो सकता। कठोपनिषद् में रूपक के द्वारा शरीर को रथ तथा आत्मा को रथी तुल्य के रूप मे उधृत किया गया है अर्थात रथ के माध्यम से प्रपञ्चमय संसार से पार किया जा सकता है। शरीर मनुष्य को अन्तिम सत् साध्य तक पहुचाने का साधन है।[2] जीवात्मा को यहा भोक्ता के रूप जानकारी मिलती है अतः जीवात्मा भोक्ता है । यदि जीवात्मा न हो तो हम तन्मात्राओ (रूप, रस, गंध, शब्द व स्पर्श) की अनुभूति कैसे कर सकते है । इसी से सिद्ध होता है कि जीवात्मा ही विषयों का ज्ञाता और भोक्ता है । **येन रूपं रसं गंधं शब्दन स्पर्शास्च मैथुनान ।**

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ।।[3]

---

[1] श्वेताश्वतरोपनिषद ५.११, १२

[2] आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुधिन्तु सारथिम विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ कठोपनिषद, 3 /3

[3] कठोपनिषद 4 /3

ईशावास्योपनिषद् का प्रथम महामंत्र में ऋषि कहता है कि जगत् मे जो कुछ स्थावर-जङ्गम है, वह सब ईश्वर के द्वारा व्याप्त है। उसका त्याग-भाव से उपभोग करना चाहिए । किसी के धन की इच्छा नहीं करनी चाहिए। जीवात्मा भोक्ता के रूप उधृत हुआ है।[1]

कठोपनिषद कहता है कि मनुष्य अन्न की भांति जन्म लेता है, पचता है और नष्ट हो जाता है । तथा नष्ट होने के बाद वह पुनः जन्म लेता है , वह पुनर्जन्म लेने वाला माध्यम सूक्ष्म शरीर ही है ।[2] उपनिषदों में इनके पुनर्जन्मों के कारणो की व्यवस्था स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ईश्वरीय व्यवस्था पर विश्वास न करने वाला जीवात्मा बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है । इसी प्रकार जो जीवात्मा मोक्ष नहीं प्राप्त कर पाते उन्हें भी भव-चक्र में फंसना पड़ता है । ईशावास्य कहता है कि जो आत्मघाती होते है वे प्रेत योनियो में जाते हैं । इससे भी सूक्ष्म शरीर के पुनर्जन्म की अवधारणा को बल मिलता है । कठोपनिषद के अनुसार मानव शरीर में अंगुष्ठ परिमाण वाला ह्रदय एक स्थान है जिसमे आत्मा का निवास रहता है । इसे ब्रह्मपुर कहते हैं । यही से वह प्राण-वायु को ऊपर तथा अपान वायु को नीचे फेंकता है । मन आदि सभी देव उसके अधीन एवम उसके नियंत्रण में कार्य करते है । ह्रदय के समीप एक सौ एक नाडिया है । इनमे सुषुम्ना नाडी ब्रह्मरंध्र की ओर जाती है । इससे होकर जीवात्मा ब्रह्मरंध्र में जाकर उत्क्रमण कर मोक्ष प्राप्त करता है । जो ऐसा नहीं कर पाता वह कर्मानुसार अन्य योनियों में भटकता फिरता है। जीव आत्मज्ञान से कई प्रकार का सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है और विद्या से मोक्ष की प्राप्ति संभव बताया गया है । इसके सन्दर्भ में कहा गया है- **'आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम ।"** [3] इसी के सन्दर्भ में मुण्डकोपनिषद में कहा गया है कि मनुष्य परमात्मा के समीप वास करते है जो तप –धर्माचरण और अत्यंत श्रद्धा से शुद्ध ह्रदय रूपी वन में स्थिर हो जाते है । जो अधर्म के परित्याग से शांत मन वाले वेदादि सत्य शास्त्रों के विद्वान है, वे भिक्षा करते हुए भी विरज (सब अविद्याओ से छूटे हुए)प्राण द्वार से परमानन्द मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।[4] इसके साथ ही जो सत्याचरण, तपस्या,

---

[1] ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्.
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विध्दनम्। ईशोवास्योपनिषद् 1/1

[2] सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिववाजायते पुनः। -कठोपनिषद 1/6

[3] केनो 2 /4

[4] मुंडकोपनिषद 1/2/11

ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य द्वारा दोषमुक्त हो चुके है, ऐसे शुद्ध अंतःकरण वाले धर्मात्मा, ज्ञानी, सन्यासी लोग परमात्म ज्ञान कर सकते है और मोक्ष प्राप्त करने के अधिकारी बन जाते है।[1]

श्वेताश्वतर उपनिषद में ऋषि उपनिषदो में ब्रह्म जीव में क्या अंतर है और इन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध है इसे भी बड़े काव्यात्मक ढंग से रूपायित करते हुए कहा गया है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्त्यनश्नन्यो अभिचाक शीति॥[2]

अर्थात दो सुंदर पंखों वाले पक्षी साथ-साथ जुड़े हुए एवं एक दूसरे के मित्र हैं। एक वृक्ष को वे सब ओर से घेरे हुए हैं। उनमें से एक, वृक्ष के फल को बड़े स्वाद से चख रहा है, दूसरा बिना चखे, सब कुछ साक्षी भाव से सिर्फ़ देख रहा है। जीवात्मा परमात्मा ही ये दो पक्षी हैं, प्रकृति वृक्ष है, कर्मफल इस वृक्ष का फल है, जीवात्मा को कर्मफल मिलता है, परमात्मा प्रकृति से आसक्त हुए बिना, साक्षी भाव से जीव और प्रकृति को देख रहा है यानि दृष्टा मात्र है। उक्त निदर्शन से पता चलता है कि जीवात्मा और ब्रह्म समान धर्मा है तभी परस्पर मित्र है परन्तु जीवात्मा रूपी पक्षी फल चखता है यानि कि वह कर्मादि बन्धनों से बंधता है। परन्तु ईश्वर साक्षी या द्रष्टा है वह तटस्थ परीक्षक है और समय आने पर शुभाशुभ कर्मो का फल भी वही देता है।

व्रहदारण्यक उपनिषद में ब्रह्म को जीव के समान नहीं दर्शाया गया। इसके अनुसार ब्रह्म अतीव सूक्ष्म होने के कारण जीवात्मा से भी व्यापक है। जीवात्मा अविद्या ग्रस्त रहता है। अतः वह ईश्वर को जान नहीं पाता। यहाँ जीवात्मा को परमात्मा का शरीर बताया गया है और उनमे व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है। इसके सन्दर्भ में कहा गया है – **'य आत्मनि तिष्ठन आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद। यस्य आत्मा शरीरम।'**

तैत्तरीय उपनिषद ने जीव और ब्रह्म के बीच एक नया अन्तर बताया गया है- **'रसं ह्येवायम लब्ध्वानन्दी भवति'** अर्थात् परमात्मा आनंदस्वरूप है पर जीव नहीं। जब जीव योगादिक साधनों से शुद्ध होकर अथवा ज्ञान प्राप्तकर

---

[1] अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ मुंडक0 3/1/5

[2] श्वेत० 4/6

परमात्मा का स्वरुप जान लेता है तब उसे परमानन्द की अनुभूति हो जाती है। यहाँ प्राप्य-प्रापक भेद से जीव और ब्रह्म के बीच की भिन्नता प्रकट की गयी है।

सामान्यतः लौकिक जनमानस द्वारा समय समय पर यह रहस्यात्मक प्रश्न उठाया जाता है कि मृत्यु के बाद आत्मा दूसरा शरीर कितने दिनों के अन्दर धारण करता है? किन-किन योनियों में प्रवेश करता है? क्या मनुष्य की आत्मा पशु-पक्षियों की योनियों में जन्म लेने के बाद फिर लौट के मनुष्य योनियों में बनने का कितना समय लगता है? सूक्ष्म शरीर माता-पिता के द्वारा गर्भधारण करने से शरीर धारण करता है ? किन्तु व्यवहारिक जीवन आधुनिक पद्धतियों के द्वारा टेस्ट ट्यूब बेबी, सरोगसि पद्धति, गर्भधारण पद्धति, स्पर्म बैंकिंग पद्धति आदि में आत्मा उतने दिनों तक स्टोर किया जाता है क्या? मृत्यु के बाद आत्मा कब शरीर धारण करता है, इसका ठीक-ठीक ज्ञान तो परमेश्वर को है। किन्तु जैसा कुछ ज्ञान हमें शास्त्रों से प्राप्त होता है वैसा यहाँ लिखते हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् में मृत्यु व अन्य शरीर धारण करने का वर्णन मिलता है। वर्तमान शरीर को छोड़कर अन्य शरीर प्राप्ति में कितना समय लगता है, इस विषय में उपनिषद् ने कहा- "**तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानम् उपसँहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्य् आत्मानमुपसंहरति।**"[1] जैसे तृण जलायुका (सुंडी=कोई कीड़ा विशेष) तिनके के अन्त पर पहुँच कर, दूसरे तिनके को सहारे के लिए पकड़ लेती है अथवा पकड़ कर अपने आपको खींच लेती है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीररूपी तिनके को परे फेंक कर अविद्या को दूर कर, दूसरे शरीर रूपी तिनके का सहारा लेकर अपने आपको खींच लेता है। यहाँ उपनिषद् संकेत कर रहा है कि मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त होने में इतना ही समय लगता है, जितना कि एक कीड़ा एक तिनके से दूसरे तिनके पर जाता है अर्थात् दूसरा शरीर प्राप्त होने में कुछ ही क्षण लगते हैं। कुछ ही क्षणों में (सूक्ष्म शरीर) जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है। मृत्यु के समय जब जीवात्मा (सूक्ष्म शरीर) स्थूल शरीर का साथ छोड़ता है तब मनुष्य स्थिति का वर्णन करते हुए वृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है कि जब मनुष्य अन्त समय में निर्बलता से मूर्छित-सा हो जाता है, तब जीवात्मा की चेतना शक्ति जो समस्त बाहर और भीतर की इन्द्रियों में फैली

[1] बृ. ४.४.३

हुई रहती है, उसे सिकोड़ती हुई हृदय में पहुँचती है, जहाँ वह उसकी समस्त शक्ति इकट्ठी हो जाती है। इन शक्तियों के सिकोड़ लेने का इन्द्रियों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि जब नेत्रों से वह चेतनामय शक्ति जिसे यहाँ पर चाक्षुष पुरुष कहा है, वह निकल जाती तब नेत्र ज्योति रहित हो जाता है। मनुष्य उस मृत्यु समय किसी को देखने अथवा पहचानने में अयोग्य हो जाता है।[1] जब वह चेतनामय शक्ति आँख, नाक,जिह्वा, वाणी, श्रोत्र, मन और त्वचा आदि से निकलकर जीवात्मा में समाविष्ट हो जाती है, तो ऐसे मरने वाले व्यक्ति के पास बैठे हुए लोग कहते हैं कि अब वह यह नहीं देखता, नहीं सूँघता इत्यादि। इस प्रकार इन समस्त शक्तियों को लेकर यह जीवात्मा हृदय में पहुँचता है और जब हृदय को छोड़ना चाहता है तो आत्मा की ज्योति से हृदय का अग्रभाग प्रकाशित हो उठता है। तब हृदय से भी उस ज्योति चेतना की शक्ति को लेकर, उसके साथ हृदय से निकल जाता है। हृदय से निकलकर वह जीवन शरीर के किस भाग में से निकला करता है, इस सम्बन्ध में कहते है कि वह आँख, मूर्धा अथवा शरीर के अन्य भागों-कान, नाक और मुँह आदि किसी एक स्थान से निकला करता है। इस प्रकार शरीर से निकलने वाले जीव के साथ प्राण और समस्त इन्द्रियाँ भी निकल जाया करती हैं। जीव मरते समय 'सविज्ञान' हो जाता है अर्थात् जीवन का सारा खेल इसके सामने आ जाता है। इसप्रकार निकलने वाले जीव के साथ उसका उपार्जित ज्ञान, उसके किये कर्म और पिछले जन्मों के संस्कार, वासना और स्मृति जाया करती है। जिस शरीर में जीव रह रहा था उस शरीर से पृथक् होना मृत्यु है। उस मृत्यु समय में आत्मा के साथ उसका सूक्ष्म शरीर भी रहता, सूक्ष्म शरीर भी निकलता है।[2] वेदों में कहा गया है कि जो आत्मघाती=घोर पाप कर्म करते है वे लोग मरकर घोर अन्धकार युक्त=दुःखयुक्त तिर्यक योनियों को प्राप्त होते हैं।[3]

---

[1] स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्यसंमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमे"वान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति।– बृ. उ.४.४.१

[2] एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकी भवति, न जिघ्रतीत्याहुरेकी भवति, न रसयत इत्याहुरेकी भवति, न वदतीत्याहुरेकी भवति, न शृणोतीत्याहुरेकी भवति, न मनुत इत्याहुरेकी भवति, न स्पृशतीत्याहुरेकी भवति, न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति, सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।। - बृ.उ. ४.४.२

[3] असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

ताँऽस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।। यजुर्वेद. ४०.३

उपनिषदों ने पाँच प्रकार के शरीरो की चर्चा मिलती है। हमारा शरीर पाँच तत्वों से बना है और इसके पाँच आवरण भी है जो पहला हाड्मास का शरीर ऊपर से दिखाई देता है - ये अन्नमय शरीर है। जैसा आपका अन्न होगा - वैसा ही आपका शरीर होगा। हमारा जो स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ है, वह अन्न ही है। अन्न में सब जीव रहते हैं। अन्न से ही उत्पन्न होते हैं तथा अन्न से जीवित रहते हैं। प्राण अन्न का ही रस है, अन्न ही प्रजापति है। अन्न से रेत बनता है, रेत से प्रजा की उत्पत्ति होती है।[1] सब पशु-पक्षी भी अन्न खाते हैं, अन्न से वीर्य बनता है और उससे संतानोत्पत्ति होती है। बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज-इस चक्राकार जीवन-गति के साथ बीज की एक दूसरी गति भी है। यही बीज अन्न के रुप में प्राणियों के शरीर में पहुँचकर प्राण बन जाता है। अन्न के बिना प्राणों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अन्न भोजन है और भोजन सम्पूर्ण प्राणियों की आधारभूत होने के कारण शरीर को अन्नमय शरीर कहा गया है। इसके बाद दूसरा शरीर प्राणमय शरीर है - इससे उर्जा उत्पन्न होती है और ये पहले अन्नमय शरीर को शक्ति प्रदान करता है। विज्ञानं इसे Bio-energy कहता है। इसके बाद तीसरा शरीर मनोमय शरीर है। यहाँ मन का साम्राज्य होता है। मन की इच्छायें, कामनायें, प्राणमय शरीर की उर्जा में परिवर्तित होकर शरीर से क्रियायें करवाती है, फलस्वरूप इच्छायें पूर्ण होती हैं। चतुर्थ शरीर है - विज्ञानमय शरीर है यहाँ ज्ञान की धारायें बहती हैं और अपने प्रभाव से मन को नियंत्रित करने का प्रयास करती हैं। अगर ज्ञान पर्याप्त मात्रा में हुआ तो मन नियंत्रित होगा और व्यक्ति अपने कर्मों के कारण शुभ-गति को प्राप्त होगा अन्यथा भटकाव होगा। इसके बाद अंतिम और पाँचवा शरीर है - आनंदमय शरीर है। अगर जीवन में कभी सुख महसूस होता है तो उसकी तरंगे इसी शरीर से फूटती है जिससे व्यक्ति के ज्ञान, मन, प्राण और आनंदमय शरीर सभी आनंद और संतुष्टि महसूस करते है। इन पाँचों शरीरों के पीछे वो अशरीरी 'आत्मा' निवास करता है जो परमात्मा का अंश है।

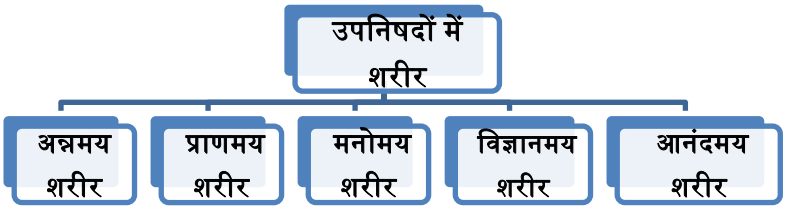

[1] अन्नाद्वे प्रजा: प्रजायन्ते, अथो अन्नेन जीवंति।
अन्नाद्भूतानि जायंते जातान्यन्नेन वर्धन्ते। - तै. २.२.१

विज्ञान में शरीर का पर्यालोचन :-

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वैशेषिक दार्शनिक परम्परा के अनुसार मनुष्य का शरीर विभिन्न संरचनात्मक स्तरों का एक जटील संगठित रूप है, जिस शुरुआत परमाणुओं, अणुओं एवं यौगिकों से होती है तथा कोशिकाएँ, ऊतक, अंग एवं जटिल संस्थान या तन्त्र परस्पर मिलकर सम्पूर्ण मानव का निर्माण हुआ हैं। रासायनिक स्तर पर मानव शरीर विभिन्न जैव-रसायनों का संगठनात्मक तथा क्रियात्मक रूप होता है जिसमें विभिन्न तत्त्वों के परमाणु यौगिकों के रूप में संगठित होकर जैविक क्रियाओं को संचालित करते हैं। इन तत्त्वों में कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, फॉस्फोरस एवं सल्फर मुख्य होते हैं। जब दो या दो से अधिक परमाणु परस्पर मिलते हैं, तो वे एक अणु की संरचना करते हैं, उदाहरणार्थ जब ऑक्सीजन के दो परमाणु परस्पर मिलते हैं, तो वे एक ऑक्सीजन का अणु बनाते हैं। जब एक अणु में एक से अधिक परमाणुओं का सघांत होने पर उसे यौगिक कहते हैं। जल एवं कार्बन डाइऑक्साइड की तरह ही कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन्स एवं लिपिड (वास) भी ऐसे यौगिक हैं जो कि मानव शरीर के सजृन लिए महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य के स्थूल शरीर का निर्माण कोशिकाएँ, ऊतक, अंग एवं जटिल संस्थान या तन्त्र परस्पर मिलने से हुआ है।

विज्ञान का यह मानना है कि आधुनिक मानव शरीर का उद्विकास एक लम्बी क्रमिक प्रक्रिया का परिणाम है। मनुष्य को आधुनिक भौतिक स्थूल शारीरिक अवस्था की स्थिति तक पँहुचने के लिए विभिन्न सांस्कृतिक सभ्यताओं के दौर से सफलता को तय करना पड़ा है। प्रारम्भिक मनुष्य की शारीरिक संरचना बन्दर जैसे थी। डार्विन ने अपने विकासवाद के सिद्धान्त के माध्यम से मनुष्य का क्रमिक विकास हुआ है इस पर बल दिया है जो कि सर्वपक्षिय विकास सिद्धान्त पर आधारित है । विज्ञान ने मानव शरीर को तीन भागों मे बांटा है जो कि निम्नलिखित प्रकार है- शारीरिक स्तर, मानसिक स्तर पर एवं योन स्तर। यहां सर्वपक्षिय सिद्धान्त से तात्पर्य यह है जब भी कोई विकास होता है तो इन तीनों स्तरों के विकास एकसाथ होता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा जहाँ सूक्ष्म शरीर को संस्कारों के वाहक का माध्यम मानते है, वहीं विज्ञान ने डी.एन.ए को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक के गुणों का वाहक माना है। सूक्ष्म शरीर के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन और विज्ञान का सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करने पर अभिज्ञान होता है कि डी.एन.ए का व्यवहार सूक्ष्मशरीर की तरह परिलक्षित होती है।[1] इस बात में कितनी सत्यता है, यहां पर एक प्रश्न चिन्ह है जो कि आगे आने वाले शोधार्थी के लिये नये शोध के द्वार खोलने में काफी सहायक सिद्ध होगा। विज्ञान में डी.एन.ए के विभिन्न पक्षों को पर विभिन्न वैज्ञानिकों के विभिन्न मत है। किन्तु जब हम सूक्ष्म शरीर की बात करते हैं तब हमारे पास भारतीय ज्ञान परम्परा का विस्तृत भण्डार भरा पडा़ है। वैदिककालीन साहित्य में हमें परमाणु और अणु के आकारों की चर्चा मिलति है। वहा कहा गया है कि जो कर्म हम करते हैं उन्हें हमारा सूक्ष्म शरीर साथ ढोता है और अगले जन्मों में अच्छे-बुरे कर्मों के परिणाम भोगने पड़ते है। किन्तु नास्तिक जनमानस भले ही इन बातों कपोल कल्पित कल्पना मानता हो किन्तु यह सभी बाते सत्यता की कसौटी पर खरी उतरती है। उदाहरण के लिए डी.एन.ए में शुगर और फासफेट के बंध वाले प्रोटीन्स की एक लंबी शृंखला होती है जिन्हें जीन कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि इन्हीं जीन्स में पुनर्जन्म की अवधारणा का रहस्य छिपा हुआ है। यही जीन हमारी पूर्व जन्म की अनुवांशिकता को ढोते रहते हैं। डार्विन ने इसी अनुवांशिकता के आधार पर जीव विकास सिद्धांत को प्रतिस्थापित किया है। हमारे पुराणों में अनेक उदाहरण ऎसे मिलते है जो कि पूर्व जन्म एवं पुनर्जन्म की कथाशैली पर आधारित है, ठीक उन्ही की व्याख्या डार्विन ने जैव विकास के रूप में की है। विज्ञान इस बात को सिद्ध कर चुकी है कि मनुष्य के डीएनए में ३३ हजार से ज्यादा जीन्स की शृंखला पाई जाती है और इनका क्रमिक विकास हुआ है। आज विज्ञान डीएनए जांच के आधार पर यह बताने में सक्षम है कि कौन किस वंश परम्परा से है। इसी तरह भारतीय ज्ञान परम्परा में यह बताने का प्रयास किया गया है कि सूक्ष्म शरीर ही हमारे संस्कारों का वाहक है। कर्मों का हमारे जीन से सीधा संबंध होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि जीन ही मनुष्य के गुणों का वाहक है तो मनुष्य की बन्दर समान पूछ कहां गायब हो गई? इसके उत्तर में विज्ञान ने इसका जवाब दिया है कि हमारी पूंछ इसलिए गायब हुई, क्योंकि हमारे दैनिक कर्म में इसका

[1] http://sudhirraghav.blogspot.in/2009/09/blog-post_22.html#!/2009/09/blog-post_22.html

कोई सरोकार नहीं रहा था और व्यवधान उत्पन्न करने के कारण कई पीढ़ियों तक यह संदेश जीन को मिलने के बाद ही पूंछ गायब हो गई। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि डीएनए और सूक्ष्म शरीर की अवधारणा में काफी समानता दिखाने का प्रयास किया गया है।

सांख्य-योग, आर्युवेद एवं वेदान्त दर्शन के अनुसार तीन तरह के शरीर होते हैं- स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। यह मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से निकलकर परलोक में अपने पाप-पुण्य का फल भोगता है। आत्मा इसी शरीर से में अधितिष्टित रहती है। स्थूल शरीर पाँच तत्त्वों से मिलकर बना होता है जो कि प्रत्यक्षतः दिखाई देता है और सूक्ष्म शरीर की तत्त्वमीमांसा के सन्दर्भ में दार्शनिक परम्परा मतैक्य नही है।

आधुनिक विज्ञान का यह मानना है कि डी.एन.ए में ही जीव का सूक्ष्मकोड (सूक्ष्मतम रूप) होता है, जो यह तय करता है कि आने वाले एक जीव का स्वभाव कैसा होगा। यह शरीर की प्रत्येक कोशिका के केंद्र में रहता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि शरीर इसी से मिलकर बना हुआ है। इस सूक्ष्म शरीर (डीएनए) का आकार २.२ नैनो मीटर से २.६ नैनोमीटर तक होता है। सत्य रूप में नैनो मीटर में एक मीटर का अरब वां हिस्सा होता है। सेंस और एंटीसेंस इसके दो मुख्य गुण हैं, जो इसे जीवन का आधार बनाते हैं। ये आरएनए की कॉपी से उत्पन्न होते हैं। शायद इसी को बुद्धि और अहंकार कहा गया होगा। सेंस ही बुद्धि है और एंटीसेंस यानी प्रतिक्रिया को अहंकार कहा जा सकता है। इसमें जीव के भाव का बोध होता है। डी.एन,ए को आसानी से नष्ट नही किया जा सकता। यहां पर यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि यह अवधारणा इसलिए बनी होगी ताकि सूक्ष्म शरीर आगे स्थूल शरीर को धारण करता हो। इस अवधारणा से सिद्ध होता है कि मनुष्यों के डीएनए के जेनेटिक क्रम में ९९.९ तक की समानता होती है। मृत शरीर के अन्त्येष्टी दाह संस्कार के बाद बचने वाली हड्डियों और राख, जिसे फूल कहा जाता है में यह जीन विद्यमान रहता है। इसलिए शायद भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में उसके प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिये फूल चुनने की रस्म-रिवाज का पालन किया जाता होगा।

आधुनिक विज्ञान के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने मृत्यु के अनुभव के आधार पर एक सिद्धांत प्रतिपादित किया है। प्राणी की तंत्रिका प्रणाली से जब आत्मा को बनाने वाला क्वांटम पदार्थ निकलकर व्यापक ब्रह्मांड में विलीन होता है, तब मृत्यु जैसा अनुभव होता है। इस सिद्धांत के पीछे विचार यह है कि मस्तिष्क में क्वांटम कंप्यूटर के लिए चेतना एक प्रोग्राम की तरह काम करती है। यह चेतना मृत्यु के बाद भी ब्रह्मांड में परिव्याप्त रहती है। 'डेली मेल' की खबर के अनुसार एरिजोना विश्वविद्यालय में एनेस्थिसियोलॉजी एवं मनोविज्ञान विभाग के प्रोफेसर एमरेटस एवं चेतना अध्ययन केंद्र के निदेशक डॉ. स्टुवर्ट हेमेराफ ने इस अर्ध धार्मिक सिद्धांत को आगे बढ़ाया है। यह परिकल्पना चेतनता के उस क्वांटम सिद्धांत पर आधारित है, जो उन्होंने एवं ब्रिटिश मनोविज्ञानी सर रोजर पेनरोस ने विकसित की है। इस सिद्धांत के अनुसार हमारी आत्मा का मूल स्थान मस्तिष्क की कोशिकाओं के अंदर बने ढांचों में होता है जिसे माइक्रोटयूबुल्स कहते हैं। दोनों वैज्ञानिकों का तर्क है कि इन माइक्रोटयूबुल्स पर पड़ने वाले क्वांटम गुरुतत्वाकर्षण प्रभाव के परिणामस्वरूप हमें चेतनता का अनुभव होता है। वैज्ञानिकों ने इस सिद्धांत को आर्वेक्स्ट्रेड ऑब्जेक्टिव रिडक्शन (आर्च-ओर) का नाम दिया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार हमारी आत्मा मस्तिष्क में न्यूरॉन के बीच होने वाले संबंध से कहीं व्यापक है। इसका निर्माण उन्हीं तंतुओं से हुआ जिससे ब्रह्मांड बना था। यह आत्मा काल के जन्म से ही व्याप्त थी। यह परिकल्पना बौद्ध एवं हिन्दुओं की इस मान्यता से काफी कुछ मिलती-जुलती है कि चेतनता ब्रह्मांड का अभिन्न अंग है। इन परिकल्पना के साथ हेमराफ कहते हैं मृत्यु जैसे अनुभव में माइक्रोटयूबुल्स अपनी क्वांटम अवस्था गंवा देते हैं। लेकिन इसके अंदर के अनुभव नष्ट नहीं होते। आत्मा केवल शरीर छोड़ती है और ब्रह्मांड में विलीन हो जाती है। हेमराफ कहना है कि हम कह सकते हैं कि दिल धड़कना बंद हो जाता है। रक्त का प्रवाह रुक जाता है। माइक्रोटयूबुल्स अपनी क्वांटम अवस्था गंवा देते हैं। माइक्रोटयूबुल्स में क्वांटम सूचना नष्ट नहीं होती। यह नष्ट नहीं हो सकती। यह महज व्यापक ब्रह्मांड में वितरित एवं विलीन हो जाती हैं। उन्होंने कहा कि यदि रोगी बच जाता है तो यह क्वांटम सूचना माइक्रोटयूबुल्स में वापस चली जाती है तथा रोगी कहता है कि उसे मृत्यु जैसा अनुभव हुआ है। हेमराफ यह भी कहते हैं कि यदि रोगी ठीक नहीं हो पाता और उसकी मृत्यु हो जाती है तो यह संभव है कि यह

क्वांटम सूचना शरीर के बाहर व्याप्त है।[1] जैन दर्शन में जाति ज्ञान का स्मरण करवाने के लिए एकाग्रता पर अधिक जोर दिया गया है। इसमें बताया गया है कि जब चित्त स्थिर हो जाए अर्थात मन भटकना छोड़कर एकाग्र होकर श्वासों में ही स्थिर रहने लगे, तब जाति स्मरण का प्रयोग करना चाहिए। जाति स्मरण के प्रयोग के लिए ध्यान को जारी रखते हुए बिस्तर पर सोने जाएं तब आंखें बंद करके उल्टे क्रम में अपनी दिनचर्या के घटनाक्रम को याद करें। जैसे सोने से पूर्व आप क्या कर रहे थे, फिर उससे पूर्व क्या कर रहे थे तब इस तरह की स्मृतियों को सुबह उठने तक ले जाएं। दिनचर्या का क्रम सतत जारी रखते हुए 'मेमोरी रिवर्स' को बढ़ाते जाएं। ध्यान के साथ इस जाति स्मरण का अभ्यास जारी रखने से कुछ माह बाद जहां मेमोरी पॉवर बढ़ेगा, वहीं नए-नए अनुभवों के साथ पिछले जन्म को जानने का द्वार भी खुलने लगेगा।

इस तरह क्वांटम सूचना माइक्रोटयूबुल्स, जीन एवं सूक्ष्म शरीर का अनुशीलनात्म अध्ययन करने पर काफी समानतायें परिलक्षित होती है। भारत के इस भौगोलिक परिवेश में विज्ञान भौतिकवादी दृष्टिकोण से सूक्ष्म शरीर की जगह डीएनए एवं माइक्रोटयूबुल्स के माध्यम से गुणों को समझाने का प्रयास करता है। भारतीय दार्शनिक परम्परा वहीं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सूक्ष्म शरीर के माध्यम से कर्मों के संस्कारों का जन्म-जन्मातर प्रवाह मानता है। जहां विज्ञान शरीर की भौतिकवादी दृष्टिकोण से विकास को समझाने काफी हद तक सफल रहा है किन्तु आध्यात्मिक स्तर पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण देने में असफल रहा है।

चार्वाक दर्शन में सूक्ष्म शरीर का पर्यालोचन :-

भारतीय चिन्तन परम्परा को विकसित रुप देने में नास्तिक तन्त्रों का महत्वपूर्ण योगदान रहा हैं। इनमें चार्वाक दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है| इसकी सिद्धि पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं उपस्थिति दर्ज कराती हैं। इनकी दृष्टि में चार महाभतों से उत्पन्न शरीर से अतिरिक्त अन्य किसी भी तत्त्व की सत्ता स्वीकार्य नहीं है । जहाँ किसी भी गोचर-अगोचर की नित्यता सम्बन्धी अवधारणा का अभाव हैं। इन्होनें जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या चार महाभूत-पृथ्वी,

[1] http://kahaniya.co.in

जल, तेज तथा वायु में संयोग के स्वाभाविक गुण से मानी है अर्थात् जैसे जल का स्वभाव शीतलता तथा अग्नि का स्वभाव उष्णता है उसी प्रकार इन चार महाभूतों का स्वभाव संयोग-विभाग होना हैं। संयोग-विभाग के फ़लस्वरुप जगत् की उत्पत्ति तथा नाश होता हैं। भौतिकवाद के प्रबल समर्थक चार्वाक के दृष्टिकोण में भौतिक शरीर इन चार महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं हैं। यह परम्परा जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या भौतिकवादी दृष्टिकोण से करते हुए अनित्य चेतना प्रक्रिया को समझाते हैं। इनके मत में जगत् की उत्पत्ति तथा मानसिक चेतना की उत्पत्ति प्रक्रिया चार भौतिक महाभूतों के संयोग से हुई हैं।[1] जब इन चार महाभूतों के संयोग में ध्वंस हो जाता है, तब अनित्य चेतन्य विशिष्ट पुरुष का नाश हो जाता हैं।

चार्वाक मत में कोई भी जीव भौतिक शरीर से भिन्न नहीं है। शरीर ही जीव या आत्मा है। स्थूल भौतिक शरीर का विनाश जब मृत्यु के उपरान्त दाह संस्कार होने के बाद हो जाता है, तब ही जीव या जीवात्मा भी विनष्ट हो जाता है। शरीर में जो चार महाभूतों का समवधान है, यह समवधान ही चैतन्य का कारण है। मृत्यु के अनन्तर सूक्ष्म शरीर परलोक चला जाता है यह मान्यता तभी निराधार सिद्ध हो जाती है जब चार्वाक दर्शन भौतिक शरीर को ही चेतन या आत्मा स्वीकार करता है तथा मृत्यु के बाद पुनर्जन्म की अवधारणा को अस्वीकार करता है। हिन्दु धर्मशास्त्रों में परिभाषित मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ भी चार्वाक दर्शन दृष्टि में स्वीकृति नही है। इनके मत में चेतन्य युक्त भौतिक शरीर का नाश ही मोक्ष है। चार्वाक पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार नही करने के कारण धर्म-अधर्म या पुण्य-पाप, अदृश्य स्वर्ग एवं नरक आदि फल भी अनायास सिद्ध हो जाता है[2]। चेतन्य की उत्पत्ति के परिपेक्ष्य में सर्वदर्शनसंग्रह में कहा गया है-

"जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।

ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितः॥"[3]

---

[1]अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते॥ -सदसं, पृ.७

[2] लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः। धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः॥ -षड्दर्शनसमुच्चय- पृ0 452

[3] सर्वदर्शनसंग्रह

अर्थात् जिस प्रकार पान, सुपारी, कत्था और चूने के संयोग से लाल रंग उत्पन्न होता है, उसी प्रकार चार महाभूत पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति होती हैं। पृथक्-पृथक् रूप से पान, सुपारी तथा कत्था इत्यादि लाल रंग उत्पन्न करने की सामर्थ्यता नहीं है किन्तु इन सभी के संयोग से चेतन्य की उत्पत्ति इनका स्वभाव हैं। चैतन्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में एक उदाहरण में कहा गया है- **"किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् विज्ञानम्।"**[1] किण्व एक प्रकार का बीज होता हैं। जिसमें मादक शक्ति का अभाव होता हैं। जब इसमें रासायनिक प्रक्रिया (मादक) उत्पन्न होती है, तब मादक शक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं। उसी प्रकार चैतन्य भी चार महाभूतों के संयोग के परिणाम स्वरुप उत्पन्न होता हैं। इसके सन्दर्भ में षड्दर्शनसमुच्चय कहा गया है कि जैसे किण्वा, मधु, शर्करा, चावल, यव, द्राक्षा, महुआ, सेब आदि पदार्थ पानी आदि के साथ कुछ दिन विशेष-विधि से रखने के बाद विकृत हो कर मद्य में परिवर्तित हो जाते हैं तथा अचेतन होने पर भी मादकता शक्ति को उत्पन्न कर देते हैं ठीक उसी प्रकार शरीर रूप में विकारयुक्त भूत-समूह भी चैतन्य का उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार ताम्बूल, सुपारी, तथा चूने के संयोग से जैसे लाल रंग उत्पन्न होता है वैसे ही भूत, शरीर में जब परस्पर संयुक्त होते हैं, तो जड़ के रूप में प्रसिद्ध भूतों से भी चैतन्य उत्पन्न हो जाता है।[2] इनकी दृष्टि में भौतिक शरीर में चैतन्य नामक गुण विध्यमान रहता है,जो कि शरीर में समवाय सम्बन्ध से रहता है। जब हम कार्य-कारण भाव से सूक्ष्म शरीर की परिकल्पना आरोपित करने का प्रयास करते है वहाँ चार्वाक दार्शनिक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकृति प्रदान करने के कारण एवं चैतन्य का भौतिक शरीर में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान की उत्पन्न होने से सूक्ष्म शरीर को मानना निरर्थक सिद्ध हो जाता है।

जैन दर्शन में शरीर का पर्यालोचन:-

भारतीय ज्ञान परम्परा में जैन दर्शन भारतीय दर्शन की नास्तिक दर्शन परम्परा की तीन प्रमुख शाखाओं में से एक है। इस विचारधारा का प्रस्फुटन लगभग छठी शताब्दी ई॰ पू॰ में भगवान महावीर के माध्यम से पुनरावृति हुई। इनके आदर्श अहिंसा पर आधारित होने के कारण हिंसा परक कर्मकाण्ड की प्रधानता के कारण इन्होनें वेदों की

---

[1] बृ. सू.

[2] यद्वद्यथा सुरांगेभ्यो गुडधातक्यादिभ्यो मद्यांगेभ्यो मदशक्ति: उन्मादकत्वं भवति। -षड्दर्शनसमुच्चय- पृ0 458

प्रामाणिकता को स्वीकार नही किया। जैन दार्शनिक परमपरा में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान तथा तीर्थंकरों के आदेशों का दृढता से पालन करने का विधान है। इनकी विचारधारा मूलतः नैतिकता और मानवतावादी दृष्टिकोण पर आधारित है। जैन दर्शन की विचारधारा मुख्य रूप से चौबीस तीर्थंकरों(ऋषभदेव-प्रथम तीर्थंकर तथा महावीर स्वामी(अन्तिम तीर्थंकर) की शिक्षाओं पर आधारित है। जैन शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'जिन्' धातु से हुई है जिससे अर्थ है इन्द्रियों को जितने वाला अर्थात जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को राग-द्वेष आदि संवेगों से जीत लिया है वे जिनेन्द्रिय कहलाये। तथा जो इन जिनेन्द्रिय (जैन मुनियों) के वचन पर आस्था रखते हैं एवं उनके मार्गों का अनुसरण करने वाले जैन कहलाये हैं। जैन सम्प्रदाय के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया सम्बन्धि विषयक मत अन्य दार्शनिक विचारधारा से भिन्न एवं मौलिक है। पंचास्तिकाय में तीन धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अमूर्त्त और गतिशून्य है इसलिये वे सृष्टि या जगत का मूल कारण नही है। उनका अस्तित्त्व सिर्फ स्थूल जगत तक है। जीवास्थिकाय और पुद्गलास्तकाय क्रमशः अमूर्त्त और मूर्त्त है तथा दोनों गतिशील है अतः दोनों सृष्टि का मूल कारण है। जैनसिद्धान्त दीपिका के मतानुसार जीव और पुद्गल के विविध संयोगों से यह लोक विविध रूपों वाला होता है, इस विविधता का नाम सृष्टि है।[1] प्रत्येक पदार्थ में परिणमन होता है तथा जीव और पुद्गल के संयोग से जो वैभाविक परिवर्तन होता है, वही सष्टि है[2]। जैन दर्शन के अनुसार अस्तित्व या सत्ता के दो प्रमुख प्रकार हैं – जीव एवं अजीव। जीव वे हैं जिनमें चेतना है-"चेतना लक्षणो जीवः"[3] तथा अजीव तत्व वह है जिसमें चेतना या गति का अभाव हैं। जीवत्व के सन्दर्भ में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि जो बल, इन्द्रिय, आयु और उच्छ्वास इन चार प्राणों से जो त्रिकाल में जीवनधारी है उसे जीव कहा गया है।[4] आगे इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि जिस प्रकार पद्मराग मणि दूध में डालने पर उसे प्रकाशित करता है उसी प्रकार देहस्थ जीव अपने शरीर को भासित करता है।[5] जीवों का यह शरीर त्रिविध चेतनाओं

---

[1] जीवपुद्गलयोर्विविधसंयोगैः स विविधरूपः। इयं विविधरूपता एवं सृष्टिरिति कथ्यते। जै. सि. दी

[2] जैन दर्शन और विज्ञान, पृ.२१८

[3] द्रव्यसंग्रह

[4] पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पिव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिदिर्मोदियमाउ उस्सासो। - पञ्चस्तिकाय ३०

[5] जह पउमरायरणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमत्तं पभासयदि॥ पञ्चस्तिकाय ३३

से निर्धारित होता है- कुछ कर्मफल से, कुछ कार्य से और कुछ ज्ञान की चेतना से।[1] अजीव का आगे दो विभाग हैं – अचेतन जड़ एवं अचेतन अजड़। चेतना के अतिरिक्त जीव के अन्य मूलभूत लक्षण सुख, ऊर्जामयता तथा प्रकृति से ऊर्ध्वगामी होना कहे गये हैं। जीव के भी दो विभाग हैं – बद्ध जीव एवं मुक्त जीव। मुक्त जीवों में गुण अनन्त संख्या मात्रा में तथा बद्ध जीवों में सीमिति मात्रा मे होते हैं। जीव संख्या में अनन्त बतलाये गये हैं। जीव के परिमाण या आकार के सम्बन्ध में जैन दर्शन **अस्तिकायवाद** को मानता है। अर्थात् **(अस्ति-है, काय-शरीर, जैसा)** जिस परिमाण का शरीर है उसी परिमाण का भी जीव भी है। जीव के अन्य दो विभाग- स्थिर एवं गतिशील बतलाये गये हैं। इनमें भी उनमें इन्द्रियों की संख्या के आधार पर एक-इन्द्रियजीव, दो-इन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीव (मनुष्य) विवेचन किया गया है।[2] इसके सन्दर्भ में कहा गया है-**"वनस्पत्यन्तानामेकम्।। कृमिपिपीलिका भ्रमर मनुष्यादीनामेकैक वृद्धानि।"** *3* जैन परम्परा में सृष्टि के तीन के तीन परिणाम बताये है- प्रयोगजा, विस्रसा(स्वभावजा), और मिश्रजा[4]। सृष्टि का यह भेद पुद्गलों के परिणमन के आधार पर किया गया है[5]। इनमें सर्वप्रथम प्रयोगजा सृष्टि के सन्दर्भ में बताया गया है कि यह ऐसा पुद्गलों का समूह है जो जीव द्वारा ग्रहण किये गये है जैसे शरीर, इन्द्रियाँ, रक्त आदि[6]। स्वभावजा सृष्टि ऐसे पुद्गलों का समूह है जिसमें बिना जीव की सहायता के स्वयं ही स्वभाव से परिणत होते है[7], जैसे-बादल। मिश्रजा सृष्टि ऐसे पुद्गल जो जीव द्वारा परिणत होकर पुनः मुक्त हो चुके है वो मिश्र परिणत होते है तथा उन पर आधारित मिश्रजा सृष्टि होती है। सृष्टि के प्रत्येक द्रव में परिवर्तन प्रतिक्षण होता है। स्थूल परिवर्तन जीव और पुद्गल में होता है। सृष्टि का आरम्भ, विनाश और संचालन की व्यवस्था स्वभाविक परिवर्तन के सिद्धान्त पर आधारित है[8] जीव बिना कर्मो उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम नहीं हो सकता। संसार

---

[1] कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण॥ - पञ्चस्तिकाय ३८

[2] समनस्कामनस्काः। संसारिणस्त्रसस्थावराः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः। द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः। -तत्त्वार्थाधिगमसूत्र २/११-१४

[3] तत्त्वार्थ सूत्र २/२२-२३

[4] भगवती सूत्र, ८१२

[5] भगवती सूत्र, ८/१

[6] द्र. की अत. पृ.९६

[7] द्र. की अत. पृ.९६

[8] द्र. की अत. पृ.९७

में बने रहने का कारण कर्मकृत भाव है।[1] जीवस्तिकाय एवं पुद्गलस्तिकाय परस्पर गहनता से प्रतिबद्ध रहते है। यह समय के अनुसार वियुक्त होते रहते है जिससे पुद्गल सुखदुःख को देने वाले एवं जीव इनका भोक्ता कहा गया है।[2] जिनभद्र ने अपनी गाथाओं में शरीर के सन्दर्भ में कहा है कि उपयोग जीव का ज्ञापक है जिसके कारण वह प्रति शरीर में भिन्न- भिन्न होता है। उत्कर्ष तथा अपकर्ष के तारतम्य से उपयोग विविधता लेता है। अतः जीव अनन्त है।[3]

जैन दर्शन इस जगत में किसी भी जीव के निर्माण को भगवान द्वारा बनाया हुआ स्वीकार नहीं करता है। जीव के सम्बन्ध को तीन चर्याओं के माध्यम से समझाया है- आश्रव. संवर एवं निर्जरा। **आश्रव–** जीव के साथ कर्मो का जुड़ना ही आश्रव है। विविध वासनाओं, संस्कारों या अविद्या के कारण कर्म के अणु जीव के साथ संयुक्त होते हैं। इसके कारण जीव अपनी अवस्था से च्युत होता है(गिरता है)। यही जीव की बंधनावस्था है। इस प्रकार आश्रव से बंधनवस्था का प्रारम्भ हो जाता है। **संवर–** जीव से कर्म के परमाणुओं का संयोग होने का कारण है, जीव की ओर विभिन्न कर्म परमाणुओं की गति। इस गति के से ही जीव एवं कर्मों का संयोग होता है। इस गति को रोकना संवर है। अर्थात् कर्म परमाणुओं की गति जीव की ओर रोकना संवर है। संवरों के अन्तर्गत व्रत, चर्यायें, समितियाँ एवं संयम- कायिक, वाचिक एवं मानसिक तथा गुप्तियाँ आदि बतलाये गये हैं। **निर्जरा–** कर्म परमाणुओं की गति को रोकने से नये कर्मों का जीव से संयोग नहीं होगा, परन्तु मोक्ष के लिये जो कर्म परमाणु जीव से पहले जुड़ चुके हैं उनके निकालना होगा, इस प्रकार जीव में अवशिष्ट(बचे) कर्म परमाणुओं को विलग करना ही निर्जरा है। निर्जरा की प्रक्रिया वास्तव में जीव की शुद्धावस्था को प्राप्त करने की प्रकिया है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत जैन दर्शन के अनुसार तप-साधनायें, शरीर के प्रति अनिर्भरता तितिक्षा, अनुप्रेक्षा, ध्यानविधियों आदि की सहायता आवश्यक होती है। निर्जरा अवस्था की परिपूर्णता वास्तव में जीव की शुद्धावस्था को लाने वाली है। इस अवस्था से जीव अपनी बंधनावस्था से मुक्त होकर पूर्णावस्था को प्राप्त करता है। पूर्णवस्था ही मुक्तावस्था है। मुक्तावस्था में जीव के अनन्त

---

[1] कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं।
सो तेण तस्स कत्ता हवदि त्ति य सासणे पढिदं॥ - पञ्चस्तिकाय ५७

[2] जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णोगाढगहण-पडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुंजंति। - पञ्चस्तिकाय ६७

[3] जेणोवयोगलिंगो जीवो भिण्णो य सो पतिसरीरं।
उवओगो उक्करिसावकरिसतो तेण तेणंता॥ -विशेषावश्यकभाष्य २०३

ज्ञान, अनन्त दर्शन तथा अनन्त समाधि कही गयी है। जैन दर्शन में त्रिरत्न प्रज्ञा, शील और समाधि के माध्यम से जीव मुक्ति बतलाई है। जैन दर्शन में मोक्ष की दो अवस्थायें बतलाई गई है। जब जीवन के रहते हुए इसकी अनुभूति एवं प्राप्ति संभव होना जीवनमुक्तावस्था है तथा जब समस्त नाम, रूप आदि कर्मो के क्षय के साथ मुक्ति को प्राप्त करना होती है,वह विदेह मुक्ति है। यह जगत सूक्ष्म शरीर के माध्यम से स्थूल शारीर का जो जन्म-मरण आदि जो भी होता है, उसे नियंत्रित करने वाली कोई सार्वभौमिक सत्ता का अस्तित्त्व स्वीकार नही करता। यह जीव जैसे जैसे अच्छे-बुरे कर्म करता है तो यह उसमें बन्धता जाता है, जिसके परिणामस्वरूप यह अच्छे या बुरे फलों को भुगतने क लिए वह मनुष्य नरक देव एवं तिर्यंच (जानवर) योनियों में जन्म मरण करता रहता है। इस तरह इसके कर्मो के प्रवाह को आस्रव कहते है[1]। आस्रव के कारण ही जीव और कर्मो का यह सम्बन्ध अनादि काल से नीर-क्षीरवत् जुड़ा हुआ है[2]। ये आस्रव इन्द्रियास्रव, कषायास्रव, और अव्रतास्रव द्रव्यास्रव- वर्ग में आते है किन्तु पच्चीस क्रियाओं से कर्म को प्रवाहित करने वाला कर्मादान भावास्रव है[3]। इस आस्रव का आधार जीव एवं अजीव होता है।[4] जिनका वाहक सूक्ष्म शरीर होता है। जैन आगम साहित्य में सूक्ष्म शब्द का प्रयोग सूक्ष्म जीव[5], सूक्ष्म पुद्गल[6], सूक्ष्म शरीर[7], सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती ध्यान[8], सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान[9], सूक्ष्म सांपराय चारित्र[10] आदि के लिये प्रयोग हुआ है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म पुद्गलों निर्मित्त है।[11] जैन दर्शन में जीव के क्रिया करने के साधन को शरीर कहा जाता है।[12] अन्य परिभाषा के अनुसार

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र १/४

[2] आदीनवास्रवौ क्लेशे। अमर.३/२/२९

योगप्रणालिकया कर्मास्रवतीति आस्रवः। सर्वार्थसिद्धि, ६/२

[3] इन्द्रिय-कषायाव्रतानां द्रव्यास्रवत्वम्, भावास्रवः कर्मादानम्,

तच्च पञ्चविंशतिक्रियाभिरास्रवति कर्मेति। वही ३/५/१३

[4] अधिकरणं जीवाजीवाः। त.सू ६/७

[5] प्रज्ञापना पद १

[6] अनुयोगद्वार(प्रमाणद्वार), ठाण २/२

[7] तत्तार्थसूत्र २/३६

[8] जैन सिध्दान्त दीपिका ८/२३

[9] जैन सिध्दान्त दीपिका ८/२४

[10] तत्त्वार्थसूत्र ४/२४

[11] तत्त्वार्थसूत्र ४/३६

[12] तत्त्वार्थसूत्र २/३७

द्वारा पौद्गलिक सुख-दुख का अनुभव किया जाता है वह शरीर है।[1] शरीर का निर्माण पुद्गल वर्गणाओं[2] से होता है। प्राणी और पुद्गल का प्रथम सम्बन्ध शरीर है। प्राणी का सर्वाधिक उपकारी और उपयोगी पुद्गल शरीर है। इसके सन्दर्भ में कहा गया है –**"पौद्गालिक सुख-दुःखानुभवसाधनं शरीरम्"**– आत्मा को जो पौद्गलिक सुख-दुःख का जितना अनुभव है वह सब शरीर के द्वारा ही होता है । जिसके द्वारा चलना, फिरना खाना-पीना आदि क्रियाएं का सम्पन्न होना, प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण होना जिसका स्वभाव है, जो शरीर नामकर्म के उदय से बनता है और जो संसारी आत्माओं का निवास स्थान होता है, उसे शरीर कहते है। यह विनाशशील होने के कारण इसको शरीर नाम से सम्बोधित किया जाता है । जैन आगम ग्रन्थों में कार्य कारण आदि के सादृश्य की दृष्टि से शरीर पाँच प्रकार के बताये गये हैं[3]- १)औदारिक शरीर, २) वैक्रियक शरीर,३) आहारक शरीर, ४) तैजस शरीर एवं ५) कार्मण शरीर।

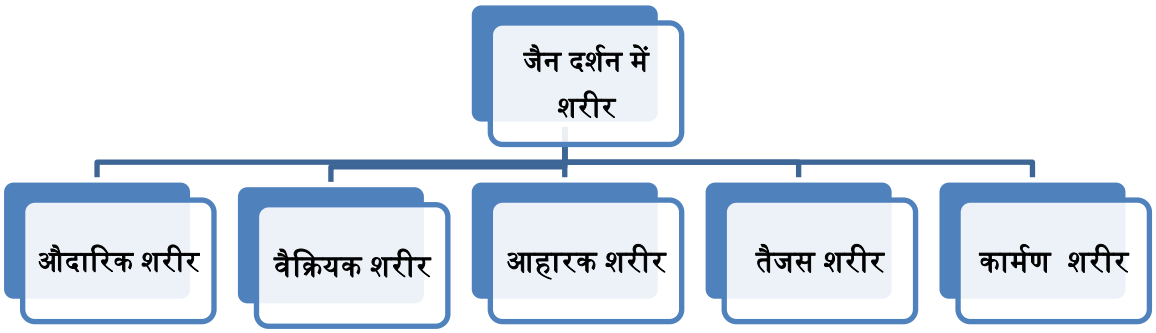

औदारिक शरीर – यह स्थूल पुद्गलों से बने होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के शरीर, औदारिक शरीर होते है। यही मूलतः स्थूल शरीर है। यह औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्यन्चों के ही होता है।[4] आत्मा के बिना इसका अस्तित्त्व सम्भव नही है। यह हाड, मांस एवं रक्त आदि से निर्मित होने के कारण इसमें छेदन, भेदन हो सकता है। गलना, सड़ना व विनाश होना इत्यादि इसका स्वभाव है। मोक्ष प्राप्त करना इसका परम लक्ष्य है। औदरिक शरीरधारीयों की संख्या इस जगत में अनन्त है। यह शरीर नामकर्म की एक प्रकृति, जिसके उदय से जीव औदारिक शरीर आदि के प्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर औदारिक शरीर आदि के रूप में उन्हें परिणत कर आत्मप्रदेशों के साथ उनका परस्पर सम्बन्ध करता है।[5]

वैक्रियक शरीर – जिस शरीर से विविध क्रियायें होती है तथा जो वैक्रिय पुद्गलों से बना होता है उसे वैक्रिय कहते हैं। यह छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि विविध क्रियाएँ करने में यह शरीर समर्थ है होता है। विविध रूप

---

[1] जैन सिद्धान्त दीपिका १/१४

[2] समयसार, आत्मख्याति,गाथा-५२

[3] ठांण 5/25

[4] जैपाश 80

[5] जैपाश 280

बनाने में समर्थ शरीर । यह नैरयिक तथा देवों के जन्मजात होता है । वैक्रिय लब्धि से सम्पन्न मनुष्यों और तिर्यन्चों तथा वायुकाय के भी होता है।[1] विविध क्रियाओं में यह शरीर स्वरुप धारण करना, अनेक स्वरुप धारण करना, छोटा शरीर धारण करना, बड़ा शरीर धारण करना, आकाश में चलने योग्य शरीर धारण, भूमि पर चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य शरीर धारण करना तथा अदृश्य इत्यादि अनेक अवस्थाओं को धारण करने की क्षमता वैक्रिय शरीर में ही है। इस शरीर में हाड़,मांस एवं रक्त का अभाव रहता है । मृत्योपरान्त इसमे कोई अवशेष अवशिष्ट नही बचता। इसमें कपूर की भाँति उड़ने की समर्थता होती है। जैन आगमों में वैक्रियक शरीर के दो प्रकार स्वीकार किये गये है- औपपातिक शरीर और लब्धि प्रत्यय शरीर। जो निम्न प्रकार से है-

औपपातिक वैक्रियक शरीर (उत्पति के समय): - नारक व देवों का यह शरीर औपपातिक वैक्रिक शरीर कहलाता है। अर्थात् जन्म के समय से ही उनके यह शरीर सहज होता है। वे वैक्रियक शरीर के द्वारा विविध रूपों का सृर्जन होता है, किन्तु ये बाहरी पुद्गलों (वैक्रियक वर्गणा के पुद्गल) का ग्रहण किए बिना नहीं कर सकते।[2]

लब्धि प्रत्यय वैक्रियक शरीर (लब्धि से प्राप्त):- मनुष्य व तिर्यंच तप साधनाओं के माध्यम से प्राप्त शक्ति विशेष द्वारा वैक्रिय लब्धि प्राप्त कर इस शरीर का निर्माण कर सकता हैं[3] । मनुष्य व तिर्यंच इस अवस्था में क्षण प्रति क्षण के अन्दर अपने औदारिक शरीर में प्रवेश करना पड़ता है। वायुकायिक जीवों के स्वाभाविक रुप से वैक्रिय शरीर होता है। वायुकाय में अपर्याप्त अवस्था में यह नहीं होता । पर्याप्त अवस्था होते ही वैक्रिय शरीर की प्राप्ति हो जाती है । धवला में पर्याप्त तेजसकायिक जीवों के भी वैक्रिय शरीर होने का उल्लेख मिलता है । श्वेताम्बर परम्परा में पर्याप्त वायुकाय जीवों के ही वैक्रिय शरीर माना गया है।[4] यह वैक्रियक शरीर परमाणुओं की स्थूलता का उल्लघंन नही कर पाने के कारण यह औदारिक शरीर की अपेक्षा बहुत सूक्ष्म है[5]। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण यह किसी पदार्थ का व्याघात नही करता और न ही अन्य पदार्थो से व्याघातित होता है[6]। वायुकाय जब वैक्रिय रचना करता है तब वह इस शरीर से विविध प्रकार की गति करने मैं समर्थ होता है किन्तु विविध प्रकार के रूप निर्माण योगजनित शक्ति से ही सम्भव है। साधारणतः यह सम्भव नही है। वह जीव (गर्भगतशिशु) अर्थकामी, राज्यकामी, भोगकामी

---

[1] जैपाश 273

[2] भ. 2 -309

[3] वैक्रियकमोपातिकं लब्धिप्रत्ययं च। त.सू-२/४६-४७

[4] भ-2- 75

[5] औदारिकं स्थूलं ततः सूक्ष्मम् वैक्रियिकम्। सर्वा. पृ.१९२

[6] नह्याहारकं शरीरेणान्यस्य व्याघातो, नाप्यन्येनाहारकस्य। रा. वा.१५२

औरकामकामी, अर्थकांक्षी, राज्य-कांक्षी, भोगकांक्षी ओर कामकांक्षी तथाअर्थपिपासु, राज्यपिपासु, भोगपिपासु और कामपिपासु होकर उस अर्थ आदि में ही अपने चित्त, मन, लेश्या, अध्यवसाय ओर तीव्र अध्यवसान का नियोजन करता है। वह उसी विषय में उपयुक्त हो जाता है। उसके लिए अपने सारे करणों (इन्द्रियों) का समपर्ण कर देता है। वह उसके भावना से भावित हो जाता है। उस अंतर (युद्ध काल) में यदि मरणकाल को प्राप्त होता है, तो नैरयिकों में उत्पन्न होता है|

आहारक शरीर:- संशय-निवारण के लिए चतुर्दशपूर्वी प्रमत्त सयंति के द्वारा आहारक लब्धि से निर्मित किया जाने वाला आहारक शरीर होता है।[1] औदारक शरीर सबसे स्थूल शरीर है वैक्रियिक उससे सूक्ष्म तथा आहारक इन दोनों से सूक्ष्म होता है।[2] आहारक वर्गणा का प्रथम कार्य औदारिक शरीर का निर्माण करना है। यह सब शरीरों से स्थूलशरीर होने के कारण इसे औदारक शरीर कहा जाता है[3]। जैन दर्शन में आहारक शरीर विशेष का नाम है जो उन जीवों को मिलता है जो एक ओर प्रमत्त रहता है और दूसरी ओर संयम का भी पालन करते हैं। आहारन या आनयन को आहार कहा जाता है जिससे निष्पादित शरीर आहारक होता है। आहार के उदय से प्रमत्तविरत पुरूष को आहारक शरीर मिलता है। स्वयं के क्षेत्र में असंयम तथा संदेह का विनाश और परक्षेत्र में जिन तथा गणधर का अभिवादन, इसका प्रयोजन होता है। उत्तम अंग में संघातरहित, धातुविहीन सूक्ष्म, शुभ, स्वच्छ, हस्तमात्र, प्रशस्त, मूहूर्तस्थायी तथा व्याघात-रहित इस शरीर का अन्त भी कभी हो सकता है जब पुरूष की भोग की पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है।[4] आहारक शरीर मूहूर्त से अधिक नहीं ठहरता और संयम की निष्पत्ति हेतु उनमें उत्पन्न होता है जो कुछ समय के लिये सत्कर्म में प्रवृत्त होकर असंयम दूर करना चाहते है।[5] इसके माध्यम से ही संसारी व्यक्ति शुभ,विशुद्ध

---

[1] जैपाश 58

[2] त.सू, २/३७

[3] णाम् णिरूत्तीए उरालमिदि ओरालिए। षट. १४/२३७

[4] आहारस्सुदएण य पमत्त-विरदस्स होदि आहारं। असंजम-परिहरणट्ठं संदेहविणासणट्ठं॥
पियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लांणे। परखेत्ते संवित्ते जिणजिणधर-वंदणट्ठं च।
उत्तम अंगम्मि हवे धादुविहीणं सुहं असंहणणं। सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसस्युदयं।
अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णदरे। पज्जत्ती- संपुण्णे मरणं पि कदाचि संभवइ॥ गोम्मटसार-जीवकाण्ड २३४-३७

[5] अर्थानाहरते सूक्ष्मान् गत्वा केवलिनोन्तिकम्। संशये सति लब्धर्द्धेरसंयमजिहासया॥
यः प्रमत्तस्य मूर्धोत्थो धवलो धातुवर्जितः।अन्तर्मुहूर्तस्थितिकः सर्वव्याघातविच्युतः॥
पवित्रोत्तम-संस्थानो हस्तमात्रोनघद्द्युतिः। आहारकः स बोद्धव्य....॥ पञ्चसंग्रह १/१७५-७७

तथा व्याघातरहित आहारक शरीर प्रमत्त-संयत जीव को प्राप्त करता है।[1] सांसारिक कर्मों से बद्ध जीव इसके माध्यम से ही सूक्ष्म पदार्थ के विविक्त ज्ञाना प्राप्त करता है। जिसके कारण ही असंयम के निराकण की इच्छा से पहले प्रमत्त तथा पुनः संयत जीव द्वारा निष्पादित शरीर को आहारक कहा गया है।[2] तत्त्ववार्तिक में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि यदि कोई पुरूष यह अनुभव करता है कि "औदारिक शरीर से मुझे बड़ा असंयम जानता हुआ अभी उपलब्धिविशेष के ज्ञापन हेतु, कभी सूक्ष्म पदार्थ के निर्धारण हेतु और संयम-पालन हेतु जब भरत तथा ऐरावत भू-भागों में आत्यान्तिक स्वरूप केवल्य की अवस्था को नही प्राप्त करता तो संशयनिराकरण के लिए महाविदेह जनपद के केवल्य की प्राप्ति की इच्छा से आहारक शरीर का ग्रहण होता है।[3] आहारक शरीर कुछ समय के लिए रहने वाला आन्तरिक जीव शरीर है जो केवल्य के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए पुद्गलों द्वारा संघटित कर लिया जाता है। आहारक लब्धि से सम्पन्न मुनि जघन्य देश न्यून एक हाथ उत्कृष्ट एक हाथ प्रमाण अति विशुद्ध स्फटिक के समान निर्मल शरीर की संरचना करते हैं ,उसे आहारक शरीर कहते हैं । अब यहाँ साधारण जनमानस में यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि इसको आहारक शरीर क्यों कहते है? इसके उत्तर में जैन आगमों कहा गया है कि आहारक शरीर अप्रतिहत गति से गमन करके कई लाख योजन तक सूक्ष्म पदार्थों का आहरण करता है तथा यह आहारक पुद्गलों से बना होता है, इसलिए इसको आहारक शरीर कहते है। यह शरीर केवली भगवान के पास शंका निवारण के लिए अथवा प्रश्न का उत्तर लेने के लिए पहुँचता है और केवली भगवान द्वारा प्रश्न का उत्तर देने पर यहाँ बैठे मुनिराज शंका का समाधान प्राप्त कर लेते हैं तब मुनिराज शंका का समाधान दें देते हैं हैं । यह कार्य केवल अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है । सामने बैठने वाले को इसका आभास तक नही होता। यह शरीर औदारिक और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म तथा तैजस शरीर और कार्मण शरीर की अपेक्षा यह स्थूल होता है । फिर भी इसकी गतिशीलता में कोई बाह्य पदार्थ अवरोध पैदा नही कर सकता। आहारक शरीर की मुख्य बात यह है कि इसको पूरे भव चक्रों में कोई अधिकतम ४ बार ही बनाया जा सकता है। श्रावक इस शरीर का निर्माण करने में असमर्थ होता है । इस शरीर का निर्माण सिर्फ वही साधना सिद्ध साधु ही कर सकता है जिन्होनें १४ पूर्व ज्ञान के साथ आहारक - लब्धि प्राप्त की हो।

---

[1] शुभ विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्त संयमस्यैव। तत्त्वार्थसूत्र२/४९

[2] सूक्ष्मपदार्थ-निर्ज्ञानार्थमसंयम-परिजिहीर्षया वा प्रमत्तसंयते नाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम्। सवार्थसिद्धि२/३६-३७

[3] तद् यथा कदाचिल्लब्धिविशेष-सद्भाव-व्यापनार्थ, कदाचित् सूक्ष्मपदार्थ-निर्धारणार्थ संयमपरिपालनार्थ च भरतैरावतेषु केवलिविहे जातसंशयस्तन्निर्णयार्थ महाविदेहषु केवलिसकाशं जिगमषुःऔदारिकेण मे महानसंयमो भवीति विद्वानाहारकं निर्वर्तयति। -तत्त्व वार्त्तिक २/४९/४

तैजस शरीर:- यह तैजस परमाणुओं द्वारा निष्पन्न शरीर, जिसके द्वारा दीप्ति, पाचन तथा आभामण्डल का निर्माण होता है और जो तेजोलब्धि का निमित्त बनता है।[1] पहले तीन शरीरों की अपेक्षा, पिछले दो शरीर सूक्ष्म शरीर कहलाते है।[2] इसे ही जैन आगम परम्परा का सूक्ष्म शरीर है। जिसे इसमें शरीर की उष्णता से खाये हुये अन्न का पाचन होता है[3]। इसको समझने के लिये जिस प्रकार कृषक खेत में क्यारियों में अलग-अलग सिंचता है उसी तरह यह शरीर ग्रहण किये हुये आहार को विविध रसादि में परिणत करके प्रत्येक अवयव तक पहुँचाता है। इसी शरीर के माध्यम से कई तपस्वी क्रोध से अभिभूत होकर उष्ण - तेजोलेश्या के द्वारा अन्य को हानि पहुँचाते हैं। जैसे वैश्यानन ऋषि ने क्रोध में आकर गौशालक पर तेजोलब्धि का प्रयोग किया था तथा प्रसन्न होकर शीतलतेजोलेश्या के द्वारा बचाव एवं लाभ पहुँचाते हैं जैसे महावीर ने गौशालक पर शीतोलेश्या का। इस शरीर का भान योगी मुनियों को ही सम्भव है। यह शरीर बिना इन्द्रिय गम्य नही होते हुए कही भी अतिशीघ्र गति कर सकता है। तैजस शरीर आहार के पाचन का हेतु तथा उष्ण तेजोलेश्या और शीतल - तेजोलेश्या के निर्गमन का कारण होता है। तैजस शरीर ऊर्जा का रूप है । पौद्गलिक ऊर्जा के बिना कोई भी कार्य सम्पन्न होना असम्भव है। इस सांसारिक जीव को हमेशा तैजस शरीर की अपेक्षा रहती है। जैन आगम परम्परा के अनुसार संसारी प्रत्येक संसारी जीवों के दो शरीर होते है- तैजस शरीर और कार्मण शरीर। संसार का कोई भी प्राणी इन दो शरीरों के बिना संसार में नही रह सकता। इन दोनों शरीरों के छूट जाने पर आत्मा मुक्त हो जाती है और उसे संसार में पुनर्जन्म के लिये परिभ्रमण नहीं करना पड़ता। तैजस और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है जिसके कारण सारे लोक की कोई भी वस्तु उनके प्रवेश को रोक नहीं सकती ,बिना रूकावट के यह अति कठोर लोह पिण्ड में एवं अग्नि में प्रवेश कर सकता है। तैजस् और कार्मण शरीर के अंगोंपांग नहीं होते। यह सदैव देशबंध होता है तथा सर्व देश बंध में नहीं रहता। ये दोनों शरीर सुख दुख के अनुभव से रहित होते हैं। लेश्या का पौद्गलिक स्वरूप तैजस शरीर है।

कार्मण शरीर[4] :- कार्मण शरीर के योग्य पुद्गल समूह व कर्म सिद्धान्त का मूल कार्मण वर्गणा है। मन, वचन और कर्म के द्वारा जीवात्मा की कर्म चेतना जो कुछ भी विचारती, बोलती या चेष्टा करती है उसका कर्म कहा जाता है और कर्तृत्व युक्त होने के कारण उसे चेतना कहा जाता है। समस्त संस्कारों को धारण करने वाला कारने वाला कर्मवर्गणा

---

[1] जैपाश 132

[2] तत्त्वार्थसूत्र २/३७

[3] जं तमणिस्सरणप्पंय। षट.१४/२४८

[4] ठांण 5/25

का कार्यरूप कार्मण शरीर स्थूल शरीर के छूट जाने पर भी जीव क साथ भव भवान्तर में भ्रमण करता रहता है[1] कार्मण शरीर रूप,रस, गन्ध वाले परमाणुओं का कार्य होने के कारण मूर्त साकार और पौद्गलिक होते हुए भी इन्द्रियगोचर तथा अप्रतिपाती होने के कारण अमूर्त निराकार और अपौदगलिक प्रतीत होता है। यद्यपि पौद्गलिक, मूर्तत्व व साकारत्व का कार्म वर्गणा में यह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यह दृष्टिगोचर नही होता तथा मूर्त्त विषयों द्वारा फलभोग किये जाने के कारण अनुमान या आगम प्रमाण से इसका ज्ञान होता [2]है। जैन आगम परम्परा में उन कर्मों के बीज को पुद्गल कहा जिसके कारण जीव सुख-दुःख पाता है[3]। कर्म जड़ है अतः सुख-दुःख की प्रक्रिया भी पौद्गलिक है। कार्मण शरीर इसको इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसके जीव के साथ कर्म पुद्गलों द्वारा निर्मित्त कर्मो का समूह रहता है[4]। तत्त्वार्थ भाष्य में कहा गया है कि -कर्मणो विकारः कर्मात्मकं कर्ममयमिति कार्मणम्।[5] अर्थात् कर्म विकार, कर्मरूप एवं कर्ममय शरीरों को कार्मण कहते है।संसार के सभी छोटे बड़े प्राणी इसी कार्मण शरीर से बंधें हुए हैं जिसके कारण जीव पुनर्जन्म के माध्यम से संसार में भ्रमण करता रहता है[6]। मुहावरे की भाषा में इस शरीर को " काचर का बीज "कहा जाता है अर्थात् यह सभी शरीरों का बीज है । जिस क्षण यह शरीर क्षीण हो जाता है , उसी क्षण सभी प्राणी संसार से मुक्त हो जाता है। उपार्युक्त चारों शरीरों का निमित्त कारण कार्मण शरीर। कार्मण शरीर आस्रव के अन्तर्गत प्राणी के विचार, वचन, व्यवहार, शारीरिक क्रियाओं के प्रभाव और संस्कारों का आत्मा से चिरकालीन सम्बन्ध रहता है[7]। जैन आचार्यो ने कर्म बंध के लिए दो प्रमुख कारक - १. योग और २. कषाय। योग शक्ति के कारण कर्म वर्गणाएं कर्म रूप से परिणत होती हैं तथा कषायों के कारण उनका आत्मा के साथ संश्लेष रूप से एक क्षेत्रवगाह सम्बन्ध होता है।[8]

---

[1] जै. सि.को भाग-१,पृ.७५

[2] सर्वा. पृ.१९

[3] सव्वकम्माणं परूहणुप्पादयं सुहदुक्खाणं बीजमिदि। षट. ४/२४

[4] जैपाश 90

[5] तत्वार्थ-भाष्य२/४९

[6] जीवापुग्गलकाया अण्णोण्णा गाढ़गहणाय डिबद्धा काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुंजति। -प.का.गाथा,६७

[7] अनादि सम्बन्धे च सर्वस्य। त.सू २/४१-४२

[8] द्रव्य संग्रह गाथा ३३, जैन धर्म और दर्शन, पृ. १२९

जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में अज्ञान के साथ राग- द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग को बंध का कारण माना है।[1] रामसेन ने तत्वानुशासन में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को बंध का कारण बताया है।[2] तत्त्वार्थसूत्र में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच तत्वों को बंध का कारण बताया है।[3] विपरीत श्रद्धा या तत्त्व ज्ञान के अभाव को मिथ्यात्त्व कहते हैं। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरत न होना अविरति है। कुशल कार्यों के प्रति अनादर या अनास्था होना प्रमाद है। आत्मा के भीतर वे कलुष परिणाम, जो कर्मों के श्लेश के कारण होते हैं या जीव के जिन भावों के द्वारा संसार की प्राप्ति हो वे कषाय भाव हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय के चार भेद हैं। इनमें क्रोध और मान, द्वेष- रूप है तथा लोभ और माया, राग- रूप है। राग और द्वेष ही समस्त अनर्थों का मूल है। मनुष्य के इन सभी अच्छे-बुरे संस्कारों की छाप कार्मण शरीर पर ही पड़ती है और यही कर्मो की छाप उसे जन्म-जन्मान्तर जन्म लेने के लिये प्रेरित करती है।[4] यह अज्ञानता के कारण एक को दूसरों को सुख-दु:ख, जीवन-मरण का कर्ता मानना है। यदि ऐसा मान लिया जाए तो फिर स्वयं कृत शुभाशुभ कर्म निष्फल सिद्ध होंगे। इसके सन्दर्भ में आचार्य अमितगति कहते है-

“स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।

परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।

विचारयन्नेवमनन्य मानस: परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्॥

जैन आगम आगम परम्परा में कर्म सिद्धान्त दैववाद नहीं अपितु अध्यात्मवाद है। क्योंकि इसमें दृश्यमान सभी अवस्थाओं को कर्मजन्य कहकर यह प्रतिपादन किया गया है कि 'आत्मा अलग है और कर्मजन्य शरीर अलग हैं।'

---

[1] समयसार गाथा १०९, २३७, २४१, १७७

[2] तत्त्वानुशासन ८

[3] तत्वार्थ सूत्र ८/१

[4] आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै:
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तम:।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत् किं ज्ञानधनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मन:॥ पंचास्तिकाय. ५५

इन्होने कर्मबन्ध के चार भेद स्वीकार किये हैं- प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबन्ध तथा अनुभागबन्ध। कर्मों में ज्ञान आदि गुणों को घातने, सुख-दु:खादि देने का स्वभाव पड़ना प्रकृतिबंध है। कर्म बंधने पर जितने समय तक आत्मा के साथ बद्ध रहेंगे, उस समय की मर्यादा का नाम स्थितिबंध है। कर्म तीव्र या मन्द जैसा फल दे उस फलदान की शक्ति का पड़ना अनुभागबन्ध है। कर्म परमाणुओं की संख्या के परिणाम को प्रदेशबंध कहते हैं। हम जो भी खाते हैं उसे तैजस् शरीर ही पचाता है तथा गर्म रखता है। मरने के बाद यह स्थूल शरीर का साथ छोड़ देता है जिसके कारण शरीर ठंडा हो जाता है। यदि हमें पुनर्जन्म का निरोध करना है तो उसके लिये हमें अरिहन्तों के बताये मार्ग अनुसरण करना पड़ेगा तभी हम काचर के बीज यानि कार्मण शरीर से सदा के लिए मुक्ति पाकर सिद्ध - बुद्ध - मुक्त बन सकते है। औदरिक, वैक्रिय और आहारक इन शरीरों के संघात आदि तीनों करण होते है । तैजस और कार्मण शरीर प्रवाहरूप से अनादि है अत: इनका संघातकरण नहीं होता । जब सांसारिक जीवों के लिये मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाने के बाद तैजस और कार्मण का परित्याग हो जाता है। संसारी आत्मा अपने विकारी भावों के कारण कर्मों से बंधा हुआ है और अपने आत्मज्ञान रूप अविकारी भाव से ही कर्मबंधन से मुक्त हो सकता है। पर संसारी और मुक्ति दोनों अवस्था में अपने उन उन भावों का कर्त्ता वह स्वयं है, अन्य कोई नहीं। ज्ञानी ज्ञान भाव का कर्त्ता है और अज्ञानी अज्ञानमय भावों का कर्त्ता है। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने यही लिखा है-

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता सो भवति तस्य भावस्य।

ज्ञानिनस्तुज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिन:॥[1]

अर्थात् जो आत्मा जिस समय जिस भाव को करता है उस समय उस भाव का कर्त्ता वही है। ज्ञानी का भाव ज्ञानमय होता है और अज्ञानी का भाव अज्ञानमय होता है। जब जीव इन कर्मो के संघातों से अपनी आत्मा को कर्मो से निर्मुक्त कर देता है तब वह तीर्थकर बन जाता है। लेकिन इसके लिए उसे सम्यक पुरुषार्थ करना पड़ता है जो कि जैन धर्म की मौलिक मान्यता है। इसके सन्दर्भ में भगवान् ने कहा है कि दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति भी भोग का परित्याग कर महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला हो सकता है।[2] अतः जैन आगम परमपरा का तैजस् शरीर एवं कार्मण शरीर ही सूक्ष्म शरीर मे समतुल्य है। इसके सन्दर्भ में जैनाचार्य कुन्दकुन्द का कहना है कि 'इस संसारी जीव के अनादि कर्म - बंध के कारण राग-द्वेष रूप स्निग्ध एवं अशुद्ध भाव होते हैं, उन अशुद्ध राग द्वेष रूप परिणामों के कारण ज्ञानावरणादि रूप आठ द्रव्य कर्मों का बंध होता है। इन द्रव्य कर्मों के उदय से जीव नरक, तिर्यंच मनुष्य और

[1] -संस्कृत छाया,126॥

[2] भ 7/149

देव गतियों को प्राप्त करता है। इन गतियों में जन्म लेने से शरीर की उपलब्धि होती है और शरीर उपलब्ध होने पर इन्द्रियां होती है और इन्द्रियों के होने पर जीव विषय ग्रहण करता है तथा विषयों के ग्रहण करने से राग द्वेष उत्पन्न होते है। इस प्रकार संसारी जीव कुम्भकार के चक्र के समान इस संसार में भ्रमण करता रहता है|[1] इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि पुनर्जन्म का प्रमुख कारण कर्म और जीव का परिणाम है।

आचार्य अमृतचंद स्वामी के अनुसार— " यह जीव शरीर में दूध और पानी की तरह मिल कर रहता है तो भी अपने स्वभाव को छोड़कर शरीर रूप नहीं हो जाता है। रागादि भावों सहित होने के कारण यह जीव द्रव्यकर्म रूपी मल से मलिन हो जाने पर मिथ्यात्व रागादि रूप भाव कर्मों तथा द्रव्य कर्मों से रचित अन्य शरीर में प्रविष्ट होता रहता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि जीव स्वयं शरीरांतर में जाता है।[2] अन्य दर्शनों में जिसे सूक्ष्म शरीर की मान्यता प्रदान की है, जैन दर्शन में उसे पांच शरीरों में से एक कार्मण शरीर कहा गया है, जो समस्त अन्य शरीरों की अपेक्षा सूक्ष्म होता है।[3] और जो समस्त संसारी जीवों को होता है। संसारी जीवों की मृत्यु के बाद औदारिकादि समस्त शरीर नष्ट हो जाते हैं, केवल कार्मण शरीर जीव के साथ रहता है। यही कार्मण शरीर जीव को विभिन्न योनियों में ले जाता है।[4] जब तक जीव मुक्त नहीं हो जाता है तब तक इस शरीर का विनाश नहीं होता है। कार्मण शरीर ही अन्य समस्त शरीरों का कारण होता है।[5] इस शरीर के नष्ट होने पर ही जीव का पुनर्जन्म नहीं होता है। कर्म सिद्धांत के अध्ययन से यह बात मालूम होता है कि एक आनुपूर्वी नामक नामकर्म होता है। यही नामकर्म जीव को अपने उत्पत्ति स्थान तक उसी प्रकार पहुँचा देता है, जिस प्रकार रज्जू (रस्सी) से बंधा हुआ बैल अभिमींट स्थान पर ले जाया जाता है। आनुपूर्वी कर्म वक्रगति करने वाले जीव की सहायता करता है। कार्मण शरीर युक्त जीव अभिष्ट जन्म स्थान पर पहुँचकर औदारिकादि शरीर का स्वयं निर्माण करता है। जीव एवं कर्म का संयोग ही जीव की अधोगति या संसारिक गति करता है। यही जीव का बंधन है। अतः जैन दर्शन में जीव की बंधनावस्था से मुक्ति के लिये महत्तवपूर्ण है कि वह अपनी पूर्णता को प्राप्त करे तथा सारे मलों एवं कषायों को छोड़कर शुद्धावस्था को प्राप्त

---

[1] पंचास्तिकाय १२८/३०

[2] पंचास्तिकाय १२८/३०

[3] पंचास्तिकाय गाथा ३४

[4] तत्त्वार्थसूत्र २/३६-७/सर्वस्य-वही २/४२

[5] सर्वार्थसिद्धि २/२५ पृ. १८३

करे। यही जीव का मोक्षा वस्था है। जैन दर्शन में मोक्षमार्ग के लिये सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है।[1]

बौद्ध दर्शन में शरीर का पर्यालोचन :-

बौद्ध दर्शन के अनुसार पुनर्जन्म की वास्तविकता को स्वीकार करने के लिए हमें पूर्व और आगामी जीवन के अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता है। सत्व अपने पूर्व जीवन से इस वर्तमान जीवन में आते हैं और मृत्यु के पश्चात फिर से पुनर्जन्म लेते हैं। इस प्रकार का निरंतर पुनर्जन्म सभी प्राचीन भारतीय परम्पराओं और सभी विचारधारो में स्वीकार किया जाता है। जगत की भौतिकवादी व्याख्या करने के कारण चार्वाक दर्शन सूक्ष्मशरीर एवं पुनर्जन्म की व्याख्या करने का पक्षधर नही है। कुछ आधुनिक दार्शनिक पूर्व और भविष्य जीवन इस आधार पर नकारते हैं कि हमारे लिए प्रत्यक्षगम्य नही है। यद्यपि कई ज्ञानपरम्परायें पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार करती है किन्तु विभिन्न विचारधारायें अपन् मत में भिन्नता रखती है कि वह क्या है जिसका पुनर्जन्म होता है? उसका पुनर्जन्म कैसे होता है? और कैसे वह दो जीवन के बीच संक्रमणकालीन अवधि से होकर जाता है? कुछ धार्मिक परम्पराएँ भविष्य के जीवन की संभावना को स्वीकार करती है, पर पूर्व जन्मों के विचार को त्यागती है। बौद्ध दार्शनिकों की यह मान्यता है कि जन्म का कोई प्रारंभ नहीं है और एक बार हम अपने कर्मों तथा क्लेशों से निर्मलता पाकर भव-चक्र से मुक्ति प्राप्त कर सकता है उन परिस्थितियों में पुनर्जन्म नहीं होता। इसलिए बौद्ध चिन्तक मानते हैं कि कर्म और क्लेशों के परिणामस्वरूप पुनर्जन्म में प्रवृत्ति होती है। किन्तु कुछ चिन्तक मानते है कि चित्त के संतति का अंत होता है। पूर्व और आगामी पुनर्जन्म को अस्वीकार करना बौद्ध धारणा के स्थान, मार्ग तथा फल का विरोध करना है जिसको अनुशासित अथवा अनुशासनहीन चित्त के आधार पर समझाया जा सकता है। यदि हम इस तर्क को स्वीकार करते हैं तो तार्किक रूप से हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि यह विश्व और उसके निवासी कारणों और परिस्थितियों के बिना अस्तित्व में आते हैं। यदि हम बौद्ध हैं तो पूर्व और आगामी पुनर्जन्म को स्वीकार करना आवश्यक है। जिन व्यक्तियों को अपने पूर्व जन्मों का संस्मरण है उनके लिए पुनर्जन्म परोक्ष नहीं है। परन्तु अधिकांश साधारण लोग मृत्यु, अंतरभव की अवस्था तथा पुनर्जन्म की प्रक्रिया से निकलते हुए अपने पूर्व जन्मों को

[1] सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थ सूत्र, 1/1

भूल जाते हैं। चूँकि पूर्व और आगामी पुनर्जन्म उनके लिए किंचित परोक्ष होता है, हमें उनके लिए पूर्व और आगामी पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिए प्रमाण आधारित तर्क की आवश्यकता होती है। पूर्व और आगामी जीवन के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए बुद्ध वचन और उसके भाष्यों में कई अलग अलग तार्किक बहस के विषय हैं। सारांशतः वे चार बिंदुओं में रखे जा सकते हैं:- सजातीय पूर्वगामी, उपादान पूर्वगामी, अभ्यास पूर्वगामी और अनुभव पूर्वगामी। यह सभी तर्क इस विचार पर आधारित हैं कि स्फुट विद्या का यह चित्त अपनी उपादान में स्फुट विद्या न हो तो जड वस्तु स्फुट विद्या का उपादान नहीं हो सकता। यह स्वतः स्पष्ट है। तार्किक विश्लेषण के माध्यम से अथवा रसायनिक प्रयोग से स्फुट विद्या की नई संतति अकारण या विसदृश हेतु से सिद्ध नहीं की जा सकती और अनुमान लगा सकते हैं कि सूक्ष्म स्फुट विद्या उच्छेद का हेतु प्रत्यय भी नहीं है। कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिक, भौतिक विज्ञानी या तंत्रिका वैज्ञानिक अकारण अथवा जड पदार्थ से स्फुट विद्या उत्पाद की स्थिति न प्रत्यक्ष दिखा पाया है और न ही अनुमान लगा पाया है। ऐसे लोग हैं जो उनके तत्काल पूर्व जीवन, यहाँ तक कि कई पिछले जन्मों को याद कर सकते हैं, साथ ही उन जीवन से सम्बन्धित स्थानों तथा संबंधियों को पहचानने में सक्षम होते हैं। यह ऐसा नहीं जो अतीत में कभी हुआ हो। आज भी ऐसे कई लोग पूर्व और पश्चिम में हैं जो अपने पूर्व जन्मों से सम्बन्धित घटनाओं और अनुभवों का स्मरण कर सकते हैं। इसको अस्वीकार करना शोध करने का एक सच्चा और निष्पक्ष तरीका नहीं है क्योंकि वह इस प्रमाण के विरुद्ध है। पुनर्जन्म पहचानने की तिब्बती व्यवस्था परीक्षण का एक प्रामाणिक तरीका है जो लोगों के पूर्व जन्मों के स्मरण पर आधारित है। बौद्ध दार्शनिक परम्परा के अनुसार चार भौतिक पदार्थ है या चार महाभूत है जिनसे शरीर बना है-१) पृथ्वी २) जल ३) अग्नि ४) वायु। .जब शरीर का मरण होता है तो इन चारों महाभूतों का क्या होता है ? क्या वे कभी शरीर के साथ नष्ट हो जाते है? कुछ विद्वानों का मानना है कि वे नष्ट हो जाते है। भगवान बुद्ध ने इसके सन्दर्भ में कहा की “नहीं” ! उनके अनुसार आकाश में जो समान भौतिक पदार्थ सामूहिक रूप से विद्यमान है, वे उनमे मिल जाते है। इस विद्यमान (तैरती हुई) राशी में ये सब इन चारों महाभूतों का पुनर्मिलन होता है ,तो पुनर्जन्म होता है भगवान बुद्ध का पुनर्जन्म से यही अभिप्राय था। इन भौतिक पदार्थों के लिए यही आवश्यक नहीं है की वे उसी शरीर के हो ,जिसका मरण हो चूका है वे नाना मृत शरीरो के भौतिक अंश हो सकते है। यही बात ध्यान देने की है की शरीर का मरण होता है ,लेकिन भौतिक पदार्थ बने रहते हैं । भगवान बुद्ध इसी प्रकार

के पुनर्जन्म को मानते थे। बौद्ध-दर्शन के प्रतिष्ठापक बौद्ध ने जिन चार प्रकार के शरीरों को देखकर वास्तविकता के अन्वेषण में राज-पाट का परित्याग किया था वे शरीर इस प्रकार के थे- वृद्ध- शरीर, दीन- शरीर, बीमार- शरीर एवं मृत- शरीर। ये सभी प्रकार के शरीर बाह्य संरचना पर आधारित थे। बौद्ध परम्परा में शरीर की उतनी प्रासंगिकता नहीं है, क्योंकि इस परम्परा में शरीर को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया है। बौद्धों के शरीर विवेचन का मुख्य आधार पाँच स्कन्ध हैं। प्रथम रूप स्कन्ध बाह्य ढांचे पर आधारित है। द्वितीय वेदना- स्कन्ध सुखदायक एवं दुःखदायक दोनों प्रकार का है। यह मानसिक बोध पर आधारित होते हैं। तृतीय स्कन्ध संज्ञा है। चतुर्थ संस्कार-स्कन्ध जिसे इच्छाशक्ति अथवा संकल्प कहा जाता है। पंचम विज्ञान- स्कन्ध में चैतन्य होने के प्रविधि होते हैं। ये सिद्धान्त मुख्यतः मनोगत शरीर की है। बौद्धों द्वारा की गयी पूर्वविश्लेषण जो तत्त्व पर आधारित था वो कालान्तर में अनुभव के समूह रूप में लिये गये। क्योंकि बौद्धों ने कभी ये नहीं कहा कि "आदमी क्या है" बल्कि "आदमी कैसे है"। उन्होने शरीर को कभी भी प्रयोजन रूप में नहीं लिया बल्कि संज्ञानात्मक अनुभव को लिया जो मूर्तरूप में संलग्नता के कारण को बताये। चार आर्य-सत्य अथवा कारण ज्ञानादि का विश्लेषण ही प्रबोध के हेतु बनते हैं। ये स्कन्ध की तीन मूल तत्त्वों- अर्थात् मूलतत्त्व का स्थायी विनाश जो असंतोष एवं अस्थायित्व द्वारा उत्पन्न होते हैं। शारीरिक नश्वरता के कारण ध्यानादि साधना के लिए इस भौतिक शरीर पर प्रबल जोर दिया गया है। वैसे प्रारम्भिक काल में स्त्रियों से जुगुप्सा भावादि के लिये तत्वतः नहीं लिया गया था। बौद्ध दार्शनिक परम्परा क अनुसार मनुष्य के जो कर्म के संस्कार व्यक्ति पुनर्जन्म के लिए प्रेरित करते है, उन्हें आश्रव कहते है। आश्रव से तात्पर्य जो सब ओर इन्द्रियों से मन पर्यन्त स्रवण या स्यन्दन करते हुए प्रवृत्त रहते है उन्हें आसव या आश्रव कहा गया है। यह धर्मधातु से लौकिक व्यवहार पर्यन्त तथा मध्यावकाश से आगामी जन्म तक जो स्रवणशील होते हैं। यह चिरपरिवासित के अर्थ से लेकर मदिरादि आस्रवों के समान होने के कारण आसव शब्द से सम्बोधित किया गया है।[1] थेरवाद में आस्रवों से अविद्या का प्रतीत्यसमुत्पाद माना गया है। इन्होनें जरा, मरण, मूर्छा, शोक तथा परिदेवन आदि द्वारा अतिशय एवं निरन्तर पीडित जीवसन्तानों में आस्रव के प्रतीत्यसमुत्पाद से अविद्या प्रवृत्त होती है।[2] जिससे कामास्रव, भवास्रव, दृष्टास्रव एवं अविद्यास्रव चार आस्रव अकुशलसंग्रहरूप है।[3] मनुष्य़ के सभी क्लेशों का अधिकरण काम को बताया गया है,

---

[1] आसवन्ती ति आसवा। चक्खुतो पि...मनतो पि सन्दति पवत्तन्ती ति वुत्तं होति। धम्मतो याव गोत्रभुं ओकासतो याव भवमा सवन्ती ति वा आसवा।.....चिरपरिवासियट्ठेन मदिरादयो आसवा विया ति पि आसवा। -धम्मसंगहणी, अट्ठकथा २/४३

[2] जरामरणमुच्छाय-पीडितानं अभिण्हसो।

आस्वानं समुप्पादा अविज्जा च पवत्तति। -अभिधम्मत्थसंगह ६/१२

[3] अकुसलंगहे ताव चत्तारो आसवा- कामासवो भवासवो दिट्ठासवो अविज्जासवो। -अभिधम्मत्थसंगह, ७/३

अतः मोह को छोड़कर सभी क्लेश समुदितरूप में कामास्रव कहे गये हैं। रूपी तथा आरूप्य विषयों में होने वाले अनुशयों को "भवास्रव" नाम दिया गया है। ये अनुशय, अव्याकृत, अन्तर्मुख तथा समाहित भूमिका भेदों में त्रिधा विभक्त होते हैं, किन्तु अनुशयत्वेन उन्हें एक माना जाता है। उक्त दोनों आस्रवों तथा संस्कारादि स्कन्धों का मूल अविद्या है और उसी को यहाँ अविद्यास्रव सज्ञां की प्रदान की गई है।[1] अविद्या को छोड़कर सभी कामावचर क्लेशों को समुदित रूप में कामास्रव कहा गया है। स्त्यान तथा औद्धत्य के अतिरिक्त शेष क्लेशों को सम्मिलित रूप से भवास्रव कहते हैं। सभी धातुओं का मूल अविद्या ही अविद्यास्रव है।[2] यह आस्रव ही आदिम जन्म से लेकर नरक पर्यन्त चित्तसन्तान को स्रावित करते रहते है और स्वयं भी स्रवण को प्राप्त होते रहते है।[3] इन आस्रवों का जन्म-जन्मातरों तक जिसके माध्यम से प्रवाह चलता रहता है, वह मनोमय शरीर ग्रहण है।

सुत्तपिटक (दीघनिकायपालि) सीलक्खन्धवग्ग (१) नामक ग्रन्थ के पोट्ठपादसुत्त के अन्तर्गत प्रोष्ठपाद परिव्राजक तथा भगवान बुद्ध के मध्य हुए वार्तालाप में तीन प्रकार के शरीरों का उल्लेख मिलता है- १ औदारिक स्थूल शरीर का ग्रहण, २ मनोरूप शरीर ग्रहण एवं ३ अरूप (अभौतिक) शरीर ग्रहण। इनमें मनोमय शरीर ग्रहण को सूक्ष्मशरीर कहा गया है।

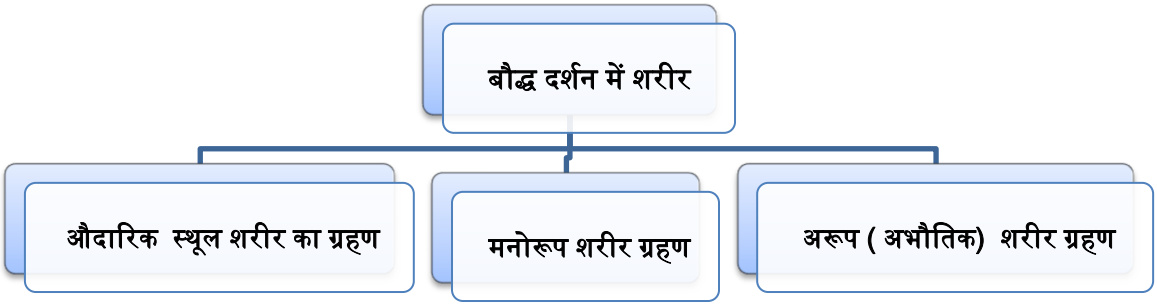

औदारिक शरीर ग्रहण- पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार महाभूतों से बना ग्रास-ग्रास कर आहार करने वाला, रूपवान शरीर औदारिक शरीर ग्रहण कहलाता है। योगाचार दार्शनिक विचारधारा आलय विज्ञान के

---

[1] कामे सपर्यवस्थानाः क्लेशाः कामास्रवो विना। मोहेनानुशया एव रूप्यारूप्ये भवास्रवः।
अव्याकृतान्तर्मुखा हि ते समाहितभूमिकाः। अत एकीकृता मूलमविद्येत्यास्रवः पृथक्। -अभि.को ५/३५-३६

[2] व्यविद्याः सकलाः क्लेशाः कामे कामास्रवो मतः।
स्त्यानौद्धत्ये च हित्वोर्ध्वं समानत्वाद् भवास्रवः।
अविद्याख्यस्तु मूलत्वादविद्या सार्वधातुकी। -अभिदीप ५/३६०-६१

[3] आस्रवाहिआभवाग्राद्यावदवीचिमुपादायचित्तसन्ततिं स्रावयन्ति स्वयं स्रवन्तीत्यास्रवाः। -अभिदीप, विभाषाप्रभा १/१९

अन्तर्गत रूप स्कन्ध को स्वीकार करते है। इनके मत में इन्द्रियों के विषयों के आकार में आने पर यह रूप स्कन्ध कहलाता है। यह शरीर रूप स्कन्ध का नियंत्रक है तथा यह मनोमय शरीर पर आश्रित है।

मनोमय शरीर ग्रहण- रूपी, मनोमय सर्व आहार एवं सर्व अङ्ग-प्रत्यंङ्ग वाला, इन्द्रियों से परिपूर्ण यह मनोमय शरीरग्रहण है। यह शरीर ही सूक्ष्मशरीर कहलाता है। यह रूप स्कन्ध को नियन्त्रित करता है। इस पर स्थूल औदारिक शरीर आश्रित है। यह स्वयं की इच्छा के अधीन होता है। यह स्वयं की नियन्त्रण शक्ति से यह कुछ भी करने में समर्थ है। स्थूल शरीर की भांति यह इन्द्रियों से पूर्ण होने पर अङ्ग-प्रत्यङ्ग अर्थात भौतिक स्वरूप में यह परिलक्षित हो सकता है। अरूप शरीर ग्रहण- संज्ञामय होना। संज्ञास्कन्ध के अन्तर्गत गौ इत्यादि शब्दों को व्यक्त करने वाले ज्ञान का प्रवाह होता है।[1]

योगाचारवादी ज्ञान के रूप में स्कन्ध का सिद्दान्त देने के कारण पञ्च स्कन्धों को स्वीकार करते है- रूप स्कन्ध (विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध), विज्ञान स्कन्ध (आलय विज्ञान एवं प्रकृति विज्ञान का प्रवाह है। यही चित्त है एवं अन्य इसके विकार है) वेदना स्कन्ध (रूप व विज्ञान इन दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला), संस्कार स्कन्ध (वेदना स्कन्ध पर आधारित राग-द्वेषादि क्लेश, मद मानादि उपक्लेश तथा धर्म-अधर्म आदि)[2]

बौद्ध दर्शन में जिस मनोमय शरीर का ग्रहण को सूक्ष्मशरीर माना गया है, वह रूप स्कन्ध को छोड़कर शेष बचे हुए स्कन्धों से मिलकर बना हुआ है। अरूप शरीर ग्रहण से आशय हम चेतन (आत्मा) से ले सकते है। औदारिक स्थूल शरीर है तथा अरूप शरीर को आलय विज्ञान माना गया है।

भगवान बुद्ध से हत्थिसारिपुत प्रश्न करते है, "भन्ते! जिस समय स्थूल शरीर का प्ररिग्रह होता है उस समय मनोमय एवं अरूप शरीर परिग्रह मिथ्या होते हैं, उस समय तो स्थूल शरीर परिग्रह ही सत्य होता है। क्या यह सत्य है?" उत्तर यही होता है कि ऐसा कहना गलत है। जिस समय स्थूल शरीर परिग्रह होता है, उस समय वही समझा जाता है, अन्य नहीं। जैसे गाय से दूध, दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी। दुग्धावस्था में दूध दूध है, दही नहीं।

[1] दीघनिकायपालि, पृ. २०३-२०७

[2] सर्वदर्शन सग्रह, पृ.७५-७६

तथा दही मिथ्या भी नही है।[1] अर्थात सूक्ष्मशरीर जगत में विद्यमान रहता है किन्तु जब रूप स्कन्ध से युक्त होता है तो मनोमय शरीर ग्रहण होता है।

पुनर्जन्म का अभिज्ञान तिब्बती व्यवस्था परीक्षण का एक प्रामाणिक तरीका है जो लोगों के पूर्व जन्मों के स्मरण पर आधारित है। अब यहा प्रश्न उठना स्वाभाविक है पुनर्जन्म कैसे होता है? मृत्यु के पश्चात कोई दो प्रकार से पुनर्जन्म ले सकता है:- पहला कर्म और क्लेश के प्रभाव से और दूसरा करुणा और प्रणिधान के माध्यम से। पहले के संबंध में अविद्या के कारण पाप पुण्य द्वारा एकत्रित कर्मों का वासना विज्ञान पर रखते हैं। मृत्यु के समय तृष्णा, उपादान तथा भव द्वारा पोषित वे आगामी जीवन की ओर धकेलते हैं । फिर हम विवश होकर उच्च अथवा निम्न लोकों में जन्म लेते हैं। इस तरह साधारण सत्व अरघट्ट की तरह परतन्त्र होकर जन्म और मरण की चक्र में निरंतर घूमते रहते हैं। ऐसी परिस्थितियों में भी साधारण प्राणी अपने दैनिक जीवन में कुशल कर्मों की अभ्यासों में परिश्रम से मृत्यु के समय कुशल कर्म द्वारा पोषित से उच्च लोक में जन्म ले सकते हैं। दूसरी ओर, आर्य मार्ग प्राप्त बोधिसत्व अपना पुनर्जन्म उनके कर्मों तथा क्लेशों के कारण नहीं अपितु सत्वों के प्रति करुणा से उनके कल्याण हेतु उनकी प्रणिधान पर आधारित होता है। वे अपने जन्म का स्थान, समय और साथ ही अपने भविष्य के माता - पिता का चयन करने में सक्षम होते हैं।

बौद्ध दर्शन में पुनर्जन्म की पहचान किसी के पूर्व जीवन के बारे में जानकर वर्णन करने की व्यवस्था उस समय से थी जब स्वयं शाक्यमुनि बुद्ध जीवित थे। विनय वस्तु, जातक, विज्ञमूर्ख सूत्र और कर्मशतक इत्यादि के अधिकतर सूत्र और तंत्र में कई विवरण मिलते हैं जिसमें तथागत द्वारा कर्मफल की व्यवस्था देते समय किस कर्म की संचय से आज इस फल का अनुभव किया जा रहा है, इसे विस्तार से दिखाया गया है। साथ ही भारतीय आचार्यों की जीवन कथाओं में जिनका जीवन बुद्ध के बाद था, कई अपने जन्म के पहले के स्थान को प्रकट करते हैं। ऐसी कई कहानियाँ हैं पर उनके पहचान और उनके अवतरण की संख्या की व्यवस्था भारत में नहीं हुई। अब यहां शंका उठना स्वाभाविक है जन्म-जन्मान्तर पुनर्जन्म का माध्यम क्या है? शंका का समाधान शरीर ही है। बौद्ध-दर्शन के प्रतिष्ठापक बौद्ध ने जिन चार प्रकार के शरीरों को देखकर वास्तविकता के अन्वेषण में राज-पाट का परित्याग किया था वे शरीर इस प्रकार के थे- वृद्ध- शरीर, दीन- शरीर, बीमार- शरीर एवं मृत- शरीर । ये सभी प्रकार के शरीर

[1] दीघनिकाय, पृ. २०६-२०८

बाह्य संरचना पर आधारित थे। बौद्ध परम्परा में शरीर की उतनी प्रासंगिकता नहीं है, क्योंकि इस परम्परा में शरीर को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया है। बौद्धों के शरीर विवेचन का मुख्य आधार पाँच स्कन्ध हैं। प्रथम रूप स्कन्ध बाह्य ढांचे पर आधारित है। द्वितीय वेदना- स्कन्ध सुखदायक एवं दुःखदायक दोनों प्रकार का है। यह मानसिक बोध पर आधारित होते हैं। तृतीय स्कन्ध संज्ञा है। चतुर्थ संस्कार- स्कन्ध जिसे इच्छाशक्ति अथवा संकल्प कहा जाता है। पंचम विज्ञान- स्कन्ध में चैतन्य होने के प्रविधि होते हैं। ये सिद्धान्त मुख्यतः मनोगत शरीर की है। बौद्धों द्वारा की गयी पूर्वविश्लेषण जो तत्त्व पर आधारित था वो कालान्तर में अनुभव के समूह रूप में लिये गये। क्योंकि बौद्धों ने कभी ये नहीं कहा कि "आदमी क्या है" बल्कि "आदमी कैसे है"। उन्होने शरीर को कभी भी प्रयोजन रूप में नहीं लिया बल्कि संज्ञानात्मक अनुभव को लिया जो मूर्तरूप में संलग्नता के कारण को बताये। चार आर्य-सत्य अथवा कारण ज्ञानादि का विश्लेषण ही प्रबोध के हेतु बनते हैं। ये स्कन्ध की तीन मूल तत्त्वों- अर्थात् मूलतत्त्व का स्थायी विनाश जो असंतोष एवं अस्थायित्व द्वारा उत्पन्न होते हैं। शारीरिक नश्वरता के कारण ध्यानादि साधना के लिए इस भौतिक शरीर पर प्रबल जोर दिया गया है। वैसे प्रारम्भिक काल में स्त्रियों से जुगुप्सा भावादि के लिये तत्वतः नहीं लिया गया था। बाद में परम्परा सी बन गयी।

बौद्ध परम्पराओं में स्थविरवादी यद्यपि आलयविज्ञान नहीं मानते, फिर भी कर्म, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि की व्यवस्था के लिए एक 'भवाङ्ग' नामक चित्त' स्वीकार करते हैं। इनके मतानुसार भावाङ्ग ही व्यक्तित्व है, जो कुछ अवस्थाओं को छोड़कर समुद्र की भाँति भीतर ही भीतर निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। जैसे आलयविज्ञान जब तक बुद्धत्व प्राप्त नहीं होता, तब तक निरन्तर अविच्छिन्न रूप से प्रवृत्त होता रहता है, वैसे ही 'भवाङ्ग चित्त' भी अर्हत के निरूपधिशेष निर्वाणधातु में लीन होते तक प्रवृत्त होता रहता है। समुद्र से तरङ्गों की भांति आलयविज्ञान से जैसे सात प्रवृत्तिविज्ञानों की की प्रवृत्ति होती है और अन्त में वे उसी में विलीन हो जाते हैं, वैसे ही भवाङ्ग चित्त से छह प्रवृत्तिविज्ञानों (वीथिचित्तो) की प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्त होकर उसी में विलीन हो जाते हैं।

भारतीय दार्शनिक परंपरा की प्रत्येक शाखाओं ने सूक्ष्म शरीर की अवधारणा को स्वीकार किया है। जब बौद्ध परंपरा की विभिन्न शाखाओं में पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। पुनर्जन्म बौद्ध दर्शन की दृष्टि में किसका होता है? इस के संदर्भ में विभिन्न शाखाओं में मतभेद है कुछ धार्मिक परम्परायें 'भवाङ्ग चित्त' से तो किसी ने मनोगत शरीर के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किआ है। बौद्ध दर्शन के हीनयान शाखा में सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर अभिज्ञात होता है कि वहाम् आलय विज्ञान के माध्यम से पुनर्जन्म की अवधारणा को

स्पष्ट किया गया है । बौद्ध दर्शन की हीनयान शाखा ने आलय विज्ञान का दूसरा नाम प्रवृत्ति विज्ञान दिया गया है। बौद्ध दर्शन में की महायान शाखा में इसे योगाचार प्रस्थान में आत्मा, चित्त एवं मन नामों से जाना जाता है। कई जगह इन्होंने कर्त्ता एवं भोक्ता को अमान्य करते हुए विज्ञानसंतानरूप को अविच्छिन्न धारा माना गया है। आचार्य यशोमित्र ने इसके संदर्भ में कहा है कि निरोध, असंज्ञिसमापत्ति तथा आसंज्ञिक (समाधियों) समाधियों को वैभाषिक ने चित्तरहित माना है। स्थावर वसुमित्र आदि के अनुसार वहाँ अस्फुट मनोविज्ञानरूप चित्त रहता है और योगाचार आलय विज्ञान द्वारा उन भूमियों को सचित्तक मानते हैं।[1]

विज्ञानवादी आलयविज्ञान को जैसे कुशल, अकुशल का विपाक मानते हैं, स्थविरवादियों के मत में भवाङ्ग चित्त भी कुशल, अकुशल कर्मों का विपाक होता है। आलयविज्ञान की भांति भवाङ्ग चित्त भी प्रतिसन्धि (पुनर्जन्म ग्रहण) और च्युति (मरण) कृत्य करता है। आलयविज्ञान और भवाङ्ग दोनों संस्कृत और क्षणिक होते हैं। विज्ञानवाद के अनुसार आलयविज्ञान में कुशल, अकुशल, अव्याकृत सभी चित्तों की वासनाएं निहित रहती हैं। वह समस्त धर्मों के बीजों का आधार होता है। वैसे भवाङ्ग चित्त से भी षड् विज्ञानवीथियाँ उत्पन्न होती हैं और अन्त में उसी में पतित हो जाती हैं। फलत: वह भी वासनाओं का आधार हो जाता है।

विज्ञानवादी बौद्धो के अनुसार आलयविज्ञान की धारा में कर्मवासनाएँ सन्तान बनाती चलती है। क्षणिक वासनाओं की धाराओं से भोग फलित होता है। इसके सन्दर्भ में स्थिरमत ने कहा है- की आलयविज्ञान में विपाकनि:ष्यन्द (फलपर्यन्त सन्तानों) की वासना पुष्ट होती रहती है, यही हेतुपरिणाम है और विपाकवासना के वृत्तिलाभ से आलयविज्ञान के पूर्वजन्म सम्बन्धी कर्मों के आक्षेप के समाप्ति पर जो सजातीय शरीरान्तर में उत्पत्ति होती है वही फल परिणाम है।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्वजन्म के शरीर से जो जन्मान्तरीय शरीर में कर्मवासना का संक्रमण होता है वह फलनिष्पत्ति है। पूर्वजन्म की वासनाओं की सजातीय वासनाएँ जन्मान्तर में संक्रान्त होकर फलभोग देती है। कर्म तथा फल के मध्य में वासनासन्तान के अतिरिक्त कोई अपूर्व कल्पना नही है। क्षणिक कर्म वासनारूप सन्तान को आलयविज्ञानसन्तान के रूप में बनाते चलते है। वासनाओं का आधार आलय

---

[1] तत्राचित्तकान्येव निरोधासंज्ञिसमापत्त्यासंज्ञिकानीति वैभाषिकादय:, अप्रिस्फुट-मनोविज्ञानसचित्तकानीति स्थविरवसुमित्रादय:, आलयविज्ञानसचित्तकानीति योगाचारा:। -स्फुटार्था, अभिको २/४४

[2] हेतुपरिणामो यालयविज्ञाने विपाकनि:ष्यन्दवासना-परिपुष्टि:। फलपरिणाम: पुनर्विपाकवासनावृत्तिलाभादालय विज्ञानस्य पूर्वकर्माक्षेपपरिसमाप्तौ या निकाय सभागान्तरेष्वभिनिवृत्ति:। -त्रिशिकाभाष्य १

विज्ञान है। स्थिरमति भाष्य की टीका में इसके सन्दर्भ में कहा गया है:- "**आलयविज्ञानं शेषाणां सप्तानां विज्ञानानां हेतुप्रत्ययभावेन हेतुरिति प्रत्ययविज्ञानम्"** अर्थात् यह सभी का कारण है जिस से प्रतित्यसमुत्पाद सात प्रकार के प्रवृत्तिविज्ञान फल रूप हैं। अतः हेतु रूप होने के कारण इसे प्रत्यय विज्ञान भी कहा जाता है। इसे आलय विज्ञान कहने के पीछे औचित्य यह है कि यह सभी सास्रव धर्म फलरूप जिसमें लीन रहते हैं और जो हेतु रूप से उन धर्मों में लीन होने के कारण इसको आलय कहा जाता है। सत्ता का प्रतिभास देने वाले लोक का विज्ञापक होने से इसकी विज्ञान की संज्ञा है। इस प्रकार आलय विज्ञान सभी प्रवृत्तिविज्ञानों एवं चेतस धर्मों का आश्रय होते हुए प्रतिभासक भी है। आलयविज्ञान से प्रवृत्त होता हुआ प्रवृत्तिविज्ञान अनुत्पन्न एवं सहजातीय प्रवृत्तिविज्ञान के उत्पादक बीज (वासना) को आलयविज्ञान में पोषण देता है। आलय विज्ञान में बीज के परिपुष्ट हो जाने पर वह परिणाम विशेष को प्राप्त करता कर सकता है जिसके कारण पुनः पूर्व प्रवृत्ति विज्ञान का सहजातीय प्रवृत्तिविज्ञान जन्म लेता है। इस कारण ही प्रवृत्ति विज्ञान को आलयविज्ञान से प्रतित्यसमुत्पाद कहा गया है।[1] यहां पर यह शकां उठना स्वाभाविक है कि जब प्रवत्ति विज्ञान बीज पोषण कर सह जातीय प्रवृत्तिविज्ञान के परिणाम के कारण बनता है तब उसे प्रत्ययविज्ञान क्यों न कहा जाय? जब व्यक्ति की वेदनाओं के परिणाम का आस्रय आलयविज्ञान है तब उसे औपभोगिकरूप प्रवृत्तिविज्ञान से पृथक कैसे माना जा सकता है। इसके संदर्भ में अभी धर्मसूत्र की गाथा में कहा भी गया है- **"सर्वधर्मा हि आलीना विज्ञाने तेषु तत् यथा। अन्योन्यं फलभावेन हेतुभावेन सर्वदा।"** विज्ञान में सभी धर्म तथा धर्म में विज्ञान इस प्रकार आलीन है कि परस्पर सदैव हेतुफल की स्थिति बनी रहती है। इसका समर्थन करते हुए स्थिरमति ने इसका निराकरण देते हुए कहा है कि इसमें अनुपपत्ति नहीं होती क्योंकि आलय विज्ञान की वेदना स्पष्ट लक्षित नहीं होती, अतः प्रवत्तिविज्ञान के समान इसे औपभोगिक नहीं कहा जा सकता। प्रकर्ष के आधार पर सूर्यवत् व्यवस्था है। उपभोगरूप त्रिविध वेदनाओं (सुख,दुख, अदुःखासुखा) का आश्रय प्रवृत्ति विज्ञान में ही रहता है ना कि आले विज्ञान में। आलय विज्ञान वेदनाओं का सूर्यवत् प्रकाशक न होकर प्रवृत्ति विज्ञान का आस्रय है न कि

[1] आलीयन्ते सर्वे सास्रवा धर्मास्तत्र फलभावेन तच्च तेषु हेतु-भावैनत्यालयः। सत्त्वभाजनलोकविज्ञापनात् तन्निर्भासतया विज्ञानम्। प्रवृत्तिविज्ञानं ह्यालयविज्ञानात् प्रवर्तमानमुत्पन्नस्य तज्जातीयस्य प्रवृत्तिविज्ञानस्योत्पादकं बीजालयविज्ञाने परिपुष्णाति। तस्मात् परिपुष्टबीजात् परिणामविशेषप्राप्तात् पुनस्तज्जातीयं प्रवृत्तिविज्ञानमुत्पद्यत इत्येवं तत्प्रत्ययं प्रवृत्तिविज्ञानं भवति। -स्थिरमति भाष्य टीका

वेदनाओं का।[1] इसको प्रत्ययविज्ञान का नाम देने में हेतु प्रत्यय अपेक्षित रहता है, इसलिए इसको प्रत्ययमात्र होने से प्रत्ययविज्ञान नहीं कहा जा सकता। आलयविज्ञान समस्त सास्रव धर्मों का कारण प्रत्यय है और प्रवृत्तिविज्ञान आलयविज्ञान का अधिप्रतिप्रत्यय बताया गया है। प्रवृत्तिविज्ञान को प्रत्ययविज्ञान नहीं कहा जा सकता। अर्थात कहने का तात्पर्य यह है कि वेदनारूप उपभोगो के प्रति प्रत्ययविज्ञान पर प्रवृत्तिविज्ञान का आधिपत्य रहता है, अतः बह औपभोगिक है किन्तु सभी प्रकार के धर्मो का कारण प्रत्यय होने से आलय विज्ञान को ही प्रत्यय विज्ञान कहा गया है।[2] इसी के माध्यम से आत्मा, जीव, जंतु, मनुज एवं मानवा आदि का आत्मोपचार और स्कन्ध, धातु आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान आदि का धर्मोपचार विविधता के साथ व्यवहार में आता है। वह सब विज्ञान का परिणाम है। यह परिणाम भी तीन प्रकार का होता हैं- विपाक, मनन तथा विषयविज्ञप्ति। इन तीनों में विपाक रूप परिणाम को आलयविज्ञान कहा गया है। इसमें सभी बीज लीन रहते हैं।[3] आलयविज्ञान ही पुनर्जन्म का हेतु कारण है। आगे इसके सन्दर्भ में स्थिरमति ने अपने भाष्य में स्पष्ट किया है कि संक्लेजनक सभी धर्मों के बीजरूप वासनाओं का स्थान होने से 'आलय' नाम की सार्थकता है। इसमें सभी धर्मों के कार्यरुप से आलीन रहने कारण इसको आलय कहा गया है। और यह जानने की क्रिया से संबंधित होने के कारण इसको ' विज्ञान' नाम से सम्बोधित किया जाता है।[4] उदाहरण के लिए स्थिरमति ने आगे कहा भी है कि – **"यथा ह्योघस्तृणकाष्ठगोमयादीनाकर्षयन् गच्छति एवमालयविज्ञानमपि...कर्मवासनानुगतं स्पर्शमनस्कारादीनाकर्षयत् स्रोतसासंसारमव्युपरतं प्रवर्तत इति।[5]"** जिस प्रकार प्रवाह तृण एवं काष्ठादि को बहा कर ले चलता है उसी प्रकार मर्मवासनाओं से युक्त आलयविज्ञान स्पर्शादि

---

[1] न प्रसज्यते, तद्वेदनाया दुरूपलक्षत्वात्। न तदौपभोगिकत्वेन लक्ष्यते प्रवृत्तिविज्ञानवत्। प्रकर्षगतं वा ज्ञेयं सूर्यवत्। यथा हि उपभोगत्रिविधवेदनाश्रयत्वं प्रवृत्तिविज्ञानस्यैव न त्वालयविज्ञानस्येति। -वही

[2] हेतुप्रत्ययश्चात्र विवक्षितो न प्रत्ययमात्रम्।.. आलयविज्ञानं निरवशेषाणां हेतुप्रत्ययः प्रवृत्तिविज्ञानं तु आलयविज्ञानस्याधिपतिप्रत्यय इति नास्ति प्रवृत्तिविज्ञानस्य प्रत्ययत्वप्रसङ्गः। -वही

[3] आत्मधर्मोपचारो हि विविधोः यः प्रवर्तते। विज्ञानपरिणामोसौ परिणामः स च त्रिधा।
विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च। तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम्॥ -विज्ञप्तिमात्रता, त्रिंशिका १-२
मित्येवमादिको धर्मोपचारः।

[4] तच्च सर्व-सांक्लेशिक-धर्मबीजस्थानत्वादालयः। आलयः स्थानमिति पर्यायौ। अथवालीयन्ते उपनिबध्यन्तेस्मिन् सर्वधर्माः कार्यभावेन। यद्वालीयत उपनिबध्यते कारणभावेन सर्वधर्मेष्वत्यालयः विजानातीति विज्ञानम्। -स्थिरमति भाष्य, ५

[5] स्थिरमति भाष्य ५

धर्मो को संसारपर्यन्त निरन्तर लेकर चलता हुआ प्रवृत्त होता है। इस निरन्तर आवागमन से मुक्ति अर्हत्त्व या बुद्धत्व प्राप्त करने पर आलयविज्ञान की निवृत्ति होने से नैरात्म्यसिद्धि मिलति है किन्तु संसारदशा में उसके अधीन मनन्सवरूप मनोविज्ञान प्रवृत्त होता है।[1] यह आलय विज्ञान अनादि है जिसका निरोध निर्वाण से ही सम्भव होता है। अय अनादि वासनाओं का अधिष्ठान कारण होने के कारण प्रवृत्तिविज्ञान विभिन्न परिणाम पाते रहते है। संक्लेश तथा व्यवधान(क्लेशनिरोध) की अविच्छिन्न धारा चलती रहती है। निद्रा आदि में जब प्रवृत्तिविज्ञानरूप परिणाम नही होता है तब आलयविज्ञान वासना-बीजों का सन्धारण करता है। यह क्षणिक विज्ञानों का सन्तानरूप है जो प्रवाहवत् निरन्तरता रखता है। यह पूर्व-पूर्व क्षणों के संस्कारो का उत्तरोत्तर क्षणों में सजातीय सदृश्य संस्कारों का प्रतीत्यसमुत्पाद करते चलते है जिससे सजातीय परिणामों में एकत्व का भ्रम होता है जो संसार में पुनर्जन्म का कारण बनते है। जिसके फलस्वरूप वास्तविक स्वरूप सर्वसंस्कारनिरोध नैरात्म्य की उपलब्धि का अभाव रहता है, जो कि आलयविज्ञान का निरोधक है। आलयविज्ञान के बिना संसार की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की व्याख्या नहीं हो सकती। शरीरान्तर में प्रतिसन्धिविज्ञान की निरन्तरता को संसारप्रवृत्ति माना गया है। आलयविज्ञान से भिन्न अन्य विज्ञान को संस्कार से प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं माना जा सकता। संस्कारप्रतीत्यसमुत्पन्न विज्ञान के अभाव में संसारप्रवृत्ति का भी अभाव होगा। आलयविज्ञान को स्वीकृत करने पर संस्कारप्रतीत्यसमुत्पन्न प्रतिसन्धिविज्ञान की कल्पना की जाय अथवा छह विज्ञानकायों का प्रतीत्यसमुत्पाद माना जाय।[2]

आचार्य धर्मकीर्ति ने इसके सन्दर्भ में कहा है कि जो आत्मा को देखता है उसका शरीर या स्कन्धों में 'अहं' के साथ शाश्वत स्नेह उत्पाद लेता है। स्नेहरूप राग से सुखों की तृष्णा जन्म लेती है जो विषयदोषों को आच्छादित करती है। परिणामतः दोषों में गुण देखते हुए तृष्णावश वह पुद्गल ममता के साथ सुख साधनों का उपादान करता है। अतः जब तक आत्मा का अभिनिवेश रहता है तब तक वह पुद्गल संसार में भटकता रहता है। आत्मा के होने पर 'पर' की

[1] तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे, तदाश्रित्य प्रवर्तते।
तदालम्बं मनो नाम विज्ञानं मननात्मकम्। -स्थिरमति भाष्य ५

[2] न चालयविज्ञानमन्तरेण संसारप्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा युज्यते। तत्र संसारप्रवृत्तिर्निकायसभागान्तरेषु प्रतिसन्धिबन्धः। निवृत्तिः सोपधिशेषो निरूपधिशेश्च निर्वाणधातुः तत्रालयविज्ञानादन्यत् संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं न युज्यते। संस्कारप्रत्ययविज्ञानाभावे प्रवृत्तेरभावः संसारस्य। आलयविज्ञानाभ्युपगमे प्रतिसन्धिविज्ञानं वा संस्कारप्रत्ययं परिकल्प्येत संस्कारभाविता वा षड्विज्ञानकायाः। स्थिरमति १९

संज्ञा लेती है, अपने पराये के विभाग से परिग्रह तथा द्वेष का उत्पाद होता है और इन्हीं दोनों से सम्बद्ध सभी दोष प्रसार पाते है। यह निश्चय है कि आत्मा में स्नेह करता हुआ जीव आत्मीय के प्रति विरक्ति नहीं हो सकता और जब तक आत्मा की बुद्धि निर्दोष या यथावत् रहती है तब तक स्नेह का नाश का कोई कारण नहीं है जिसके कारण पुनर्जन्म होता रहता है।[1] इनमें आत्मा तथा आत्मीय के अभिनिवेश से संस्कार बनते है[2] और संस्कारों से विषय के प्रति स्नेह उत्पन्न होता है[3], अतः आत्मदृष्टि की वासना के नाश से संसार नही होता। इनकी दृष्टि में पुनर्जन्म उन परिस्थितियों में नही होता जब सत्कायदृष्टिरूप आत्मानुदृष्टि के त्याग से नैरात्म्यसिद्धि होने पर निर्वाण की प्राप्ति हो जाता है। पुनर्जन्म की व्यवस्था समझाने के लिए बौद्ध आचार्यो ने दो जन्मों के संयोजक विज्ञान को प्रतिसन्धिविज्ञान नाम दिया है। किन्तु विज्ञानवादी आचार्य उसके उत्पाद का अधिकरण भी आलयविज्ञान को मानकर ही व्याख्या करते है। आलयविज्ञान के अतिरिक्त कोई विज्ञान अपने में वासना का सन्धारण नही कर सकता क्योंकि इससे कारित्र का विरोध आता है। एक कारित्र शक्ति किसी क्षणिक क्रिया के सम्पादन में समर्थ रहती है जिससे चक्षुविज्ञान अपने कारित्र द्वारा रूपाभास का प्रतीत्यसमुत्पादक सकता है परन्तु वह वासनाधारण नही कर सकता। अनागत विज्ञान के अविद्यमान होने से तथा अतीत के विरूद्ध हो जाने से वासनाश्रय नही हो सकता। ऐसी परिस्थिति में विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन आदि के प्रतीत्यसमुत्पाद की द्वादशाङ्ग व्यवस्था असंभव होगी जिससे संसारप्रवृत्ति की व्याख्या करना भी असंभव है। अविद्या से प्रतीत्यसमुत्पन्न संस्कारों से जिस विज्ञान का प्रतीत्यसमुत्पादक कहा गया है वह संस्कारों से अधिवासित आलयविज्ञान है जिससे प्रतिसन्धि में नामरूप का उत्पाद होता है।[4] थेरवाद में

---

[1] यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शास्वतः स्नेहः। स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषौंस्तरस्कुरूते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते। तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ। अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥
नियमेनात्मनि स्निह्यंस्तदीये न विरज्यते। न चात्मनि निर्दोषे स्नेहापगमकारणम्॥ -प्रवा १/२१९-२३

[2] आत्मात्मीयग्रहकृतः स्नेहः संस्कारगोचरः। -प्रवा १/१३७

[3] आत्मदर्शनबीजस्य हानादपुनरागमः। प्रवा.१/१४३

[4] न हि विज्ञानं विपाकवासनां निष्यन्दवासनां वा स्वात्मन्याधातुं समर्थम्, स्वात्मनि कारित्रविरोधात्। नाप्यनागते, तस्य तदानुत्पन्नत्वात् अनुत्पन्नस्य चासत्त्वात्। नाप्युत्पन्ने, पूर्वस्य तदा निरूद्धत्वात्। ....विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं न स्यात्, षडायतनं न स्यात्, एवं यावज्जातिप्रत्ययं जरामरणं न स्यात्। ततश्च संसारप्रवृत्तिरेव न स्यात्। तस्मादविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, तदधिवासितालयविज्ञानं संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्। तत्प्रत्ययं प्रतिसन्धौ नामरूपमित्येषैव नीतिरनवद्या। -स्थिरमति १९

आस्रवो से अविद्या का प्रतीत्यसमुत्पाद माना गया है । इससे ही जरा, मरण, मूर्छा, तथा परिदेवन आदि द्वारा अतिशय एवं निरन्तर पीडित जीवसन्तानों आस्रवों के प्रतीत्यसमुत्पाद से अविद्या प्रवृत्त होती है।[1] अब यहां पर यह दार्शनिक शंका उत्पन्न होती है कि व्यक्ति के जीवित रहते जीवन-मुक्ति सम्भव है। जीवनमुक्ति के सन्दर्भ में मण्डन मिश्र विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि जिस प्रकार अविवेकी पुरूष जब मिट्टी या दारू द्वारा स्त्री की प्रतिकृति देखता है तब वह दर्शन कामादिक्रीडारूप अभिनिवेश से रहित होता है उसी प्रकार विवेकी पुरूष की अविद्या क्षीण हो जाती है तब कर्मों के संस्कारो के अधीन वह प्रपञ्च का द्रष्टा मात्र रहता है। विषयों में उसकी प्रवृत्ति छायामात्र से होती है। यहां पर यह प्रश्न व्यर्थ है कि संस्कारसत्ता में तटस्थता नहीं आ सकती और जीवनमुक्ति कैसे सम्भव होगी? यहां पर सर्प के उदाहरण के माध्यम स् समझाया गया है कि जैसे सर्प को देखकर भयजनित कम्पादि होते है वैसे कम्पादि केंचुली देखकर नहीं होते है। इस प्रकार शरीरादि के पुनर्जन्म के मूलकारण अविद्या के क्षीण होने पर संस्कारागत अविद्यालेश से यथापूर्व सुखदुःखजनक रागद्वेषादि का उदय नही होता। तत्त्वज्ञान से संस्कारों के क्षय से विदेहमुक्ति में निवृत्ति हो जाती है। इन संस्कारों से प्रारब्ध के शेष कार्यों की अनुवृत्ति अवश्य रहती है। अर्थात् मनुष्य के जो संस्कार कार्यारम्भ कर चुके है वह विपाकसंस्कार सक्रिय होते हैं उनके अधीन विवेकी पुरूष का शरीरधारण भोगसमाप्ति पर्यन्त बना रहता है। चक्रभ्रमणवत् संस्कारवश पुरूष की सशरीर स्थिति बनी रहती है।[2]

अतः बौद्ध दार्शनिक परम्परा कर्मों के संस्कारों कारण पुनर्जन्म की व्याख्या सूक्ष्मशरीर के स्थान पर आलयविज्ञान के माध्यम से समझाया गया है। यही मनुष्य के पुनर्जन्म का हेतु होता है। यह जन्म-जन्मान्तर का क्रम पूर्ण निर्वाण अवस्था नैरात्म्यसिद्धि के बिना सम्भव नही है।

---

[1] जरामरणमुच्छाय-पीडितानं अभिण्हसो।

आसवानं समुप्पादा अविज्जा च पवत्तति। -अभिधम्मत्थसंगह ८/१२

[2] यथा खल्वविदुषो मृद्दारूरचिते स्त्रयादौ विषये छायामात्रदर्शनमभिनिवेशाविकलं तथा विदुषः क्षीण्कर्माविद्यस्य तत्संकारमात्राद् दर्शनं छायामात्रेणैव विषयेषु। ...यतो न मूलकारणतुल्यफलः, अल्पकाल-स्थायित्वात् संस्कारस्य, तद्वदेव च न तन्निवृत्तेः, स्वयमेव वा। सा चेयमवस्था जीवन्मुक्तिरिति गीयते।...सर्वथा भवति कार्यशेषानुवृत्तिः संस्कारात्। अतो लब्धवृत्तिकर्मसंस्कारात् तद्विपाकसंस्काराद् वा विदुषोपि शरीरस्थितिः। तदुक्तं तन्त्रान्तेऽपितिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः। ब्रसि, पृष्ट १३२

न्याय-वैशेषिक दर्शन में शरीर की अवधारणा:-

न्याय-वैशेषिक प्रमाणप्रधान दर्शन हैं। न्याय एक प्रकार का भारतीय तर्कशास्त्र है। दोनों दर्शनों में व्यवहारिक जगत को वास्तविक सत्ता के के रूप में स्वीकार किया है, इसलिए दोनों दर्शनों को "समानतंत्र" के रूप में देखा गया हैं। व्यावहारिक जगत् को यह वास्तविक मानते हैं। दोनों ही दर्शन बाह्य जगत् तथा अंतर्जगत् की अवधारणा में परात्पर एवं घनिष्ठ संबंध मानते हैं। इन्होनें बाह्य जगत् (मानसिक) का अस्तित्त्व विचार पर निर्भर न बताकर स्वतंत्र स्वीकार किया है। भारेतीय दार्शनिक परम्परा में न्याय दर्शन को प्रमाण-मीमांसा और वैशेषिक दर्शन में प्रमुख रूप से प्रमेय-मीमांसा अर्थात भौतिक पदार्थों का विश्लेषण करने वाले की दृष्टि से देखा गया है। इसी दृष्टि से वैशेषिक दर्शन को अध्यात्मोन्मुख जिज्ञासा प्रधान दर्शन कहा गया है। न्याय और वैशेषिक दर्शन प्रमुख रूप से दृश्यमान जगत् से परे जो समस्याएँ या गुत्थियाँ हैं, उन पर विचार केन्द्रित करने की अपेक्षा दृश्यमान जगत को वास्तविक मानकर उसकी सत्ता का विश्लेषण करना ही अधिक उपयुक्त समझा।[1] कि जगत में जिन वस्तुओं का हमें अनुभव हो रहा वे सत हैं। अत: उन्होंने वस्तुवादी और जिज्ञासा प्रधान होने के कारण तथा प्रमेय-प्रधान विश्लेषण के कारण वैशेषिक दर्शन व्यावहारिक या लौकिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण दर्शन है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार जहां ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की पृथक्-पृथक् वस्तु-सत्ता है, वही वेदान्त दर्शन में ज्ञाता को ज्ञानस्वरूप है और ज्ञेय को ज्ञान से पृथक् स्वीकार नही किया। न्याय दर्शन को प्रमाण-प्रधान दर्शन है जबकि वैशेषिक प्रमेय-प्रधान कहा गया है। इसके अतिरिक्त अन्य कई दार्शनिक पक्षों पर दोनों दर्शनों का पार्थक्य है। वेदान्त परम्परा में ब्रह्म की जिज्ञासा को नि:श्रेयस का साधन बताया गया है। वैशेषिक में पदार्थों के तत्त्वज्ञानरूपी धर्म अर्थात् उनके सामान्य और विशिष्ट रूपों के विश्लेषण से पारलौकिक नि:श्रेयस के साथ-साथ इह लौकिक अभ्युदय को भी साध्य माना गया है।[2] अन्य दर्शनिक परमपराओं में प्राय: ज्ञान की सत्ता को सिद्ध मान कर उसके अस्तित्वबोध और विज्ञान को मोक्ष या नि:श्रेय का साधन बताया गया है, किन्तु वैशेषिक में दृश्यमान वस्तुओं के साधर्म्य-वैधर्म्यमूलक तत्त्वज्ञान को साध्य माना गया है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में लोकधर्मिता तथा वैज्ञानिकता से समन्वित आध्यात्मिकता परिलक्षित होता है। यही कारण है कि न्याय-वैशेषिक को व्याकरण के समान अन्य शास्त्रों के ज्ञान का भी उपकारक या प्रदीप कहा गया है। महर्षि कणाद रचित वैशेषिक दर्शन में सांसारिक उन्नति तथा निश्श्रेय सिद्धि के साधन को धर्म माना गया है। अत: मानव के कल्याण हेतु धर्म का अनुष्ठान करना परमावश्यक बताया गया है। इसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष और समवाय इन छ: पदार्थों के

[1] संविदेव भगवती वस्तूपगमे न: प्रमाणम्, न्या. वा. ता. टीका, 2.1.36

[2] यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:। वै. सू. 1.1.2

साधर्म्य तथा वैधर्म्य के तत्वाधान से मोक्ष प्राप्ति बताई गई है। साधर्म्य तथा वैधर्म्य ज्ञान की एक विशेष पद्धति के अभिज्ञान के बिना भ्रांतियों का निराकरण करना संभव नहीं है। वही न्याय दर्शन षोडश पदार्थो के निरूपण के साथ ही 'ईश्वर' का भी विवेचन करता है। न्यायमत में ईश्वर के अनुग्रह के बिना जीवन तो प्रमेय का यथार्थ ज्ञान का अभिज्ञान और जगत के दु:खों से निवृत्ति असंम्भव बताया गया है। ईश्वर इस जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार करने वाला माना है। इनकी दृष्टि ईश्वर असत पदार्थों से जगत की सृष्टि नहीं करता अपितु प्रत्युत परमाणुओं से करता है जो कि सूक्ष्मतम रूप में सर्वदा विद्यमान रहते हैं। न्यायमत में ईश्वर जगत का निमित्त कारण माना है न कि उपादान कारण। ईश्वर जीव मात्र का नियन्ता है, कर्मफल का दाता है तथा सुख-दु:खों का व्यवस्थापक है। उसके नियन्त्रण में रहकर ही जीव अपना कर्म सम्पादन कर जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त करता है। वैशेषिक दार्शनिक परम्परा में मनुष्य के बन्धन का हेतु धर्माधर्मरूप अपूर्व में रागद्वेष की उत्पत्ति के अनुरूप रागद्वेष से धर्माधर्म की प्रवृत्ति पायी जाती है। विहित कर्मो में रागमूलक प्रवृत्ति होती है, अतः याज्ञादिप्रवृत्ति धर्म को जन्म देती है। इसके विपरित निषिद्ध कर्मरूप हिंसादि में द्वेषजन्य प्रवृत्ति अधर्म का प्रसव करती है।[1] ये रागद्वेष संसार की अनुवृत्ति का कारण है। धर्माधर्मरूप अपूर्व तथा रागद्वेष का परस्पर कार्यकारणभाव है जिससे संसार अनवरत रूप से चलता रहता है।[2]

न्यायदर्शन में शरीर के पुनर्जन्म के सन्दर्भ में कहा है कि शरीर में जो वाचिक,मानसिक एवं कायिक प्रवृत्ति होती है उसको ही पूर्वकृत कर्म कहा गया है।[3] उस पूर्वकृत धर्माधर्म कर्म का फल आत्मा में समवेत रहता है। आत्मा में समवेत फल पुनर्जन्म के लिए भूतों को प्रेरित करता है जिससे अन्य शरीर की उत्पत्ति होती है।[4] इस प्रकार प्रवृत्ति कर्म से ही धर्माधर्मरूप संस्कार का जन्म होता है जो अन्य निमित्तों के सहकार से कालान्तर में शरीरादिरूप फल को उतपन्न करता है।[5] महर्षि गौतम के अनुसार पदार्थों के तत्वज्ञान से पुनर्जन्म प्रक्रिया का निरोध एवं मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया गया है। इनकी दृष्टि में पदार्थों के तत्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होती है। पदार्थो के तत्त्वज्ञान से ही वास्तविक ज्ञान की तरफ प्रवृत्ति, अशुभ कर्मो में प्रवृत्त न होना, शुभ कर्मो में प्रवृत्त होना, मोह से मुक्ति एवं दुखों से निवृत्ति सम्भव है। इसमें परमात्मा को सृष्टिकर्ता, निराकार, सर्वव्यापक और जीवात्मा को शरीर से

---

[1] इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः। -वै.सू ६/२/१४

विहिते कर्मणि रागनिबन्धना, निषिद्धेकर्मणि हिंसादौ द्वेषनिबन्धना प्रवृत्तिः। रागनिबन्धना यागादौ प्रवृत्तिधर्मं प्रसूते, द्वेषनोबन्धना हिंसादौ प्रवृत्तिधर्मम्। तावेतो रागद्वेषौ संसारमनुवर्तयतः। -उपस्कार

[2] न्यायलीलावती पृ.६५९-६४

[3] पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः। -न्यासूत्र ३/२/६०

[4] पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा तत् पूर्वकृतं कर्मोक्तम्। तस्य फलं तज्जनितौ धर्माधर्मौ। तत्फलस्यानुबन्ध आत्मसमवेतस्यावस्थानम्। तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्योत्पत्ति: शरीरस्य। -न्यासूत्र भाष्य ४/१/४९

[5] प्रवृत्त्या संस्कारो धर्माधर्मलक्षणो जन्यते। स जातो निमित्तान्तरानुगृहीतः कालान्तरे फलं निष्पादयति। न्यासूत्र भाष्य ४/१/४९

अलग एवं प्रकृति को अचेतन तथा सृष्टि का उपादान कारण माना गया है। न्याय दर्शन के मतानुसार शुभ-अशुभ कर्म करने से इसके संस्कार आत्मा में पड़ जाते है। वैशेषिक मतानुसार राग-द्वेष से धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति सुख-दु:ख को उत्पन्न करती है तथा ये सुख-दुख जीव के राग-द्वेष को उत्पन्न करते हैं। जिससे जन्म-मरण का चक्र चलायमान रहता है।[1] न्यायमुक्तावली में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि धर्मरूप अपूर्व स्वर्गादि समग्र सुखों तथा उनके साधन शरीरादि का कारण है। याज्ञादि कर्मो के व्यापार से धर्म की कल्पना की जा सकती है अन्यथा चिरविनष्ट एवं निर्व्यापार याज्ञादि की कालान्तरभावी स्वर्गादि के प्रति जनकता अनुपपन्न है। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि अवान्तरव्यापाररूप धर्म को उत्पन्न कर कर्म के नष्ट हो जाने पर भी स्वर्गादि फल की जनकता अव्याहृत रहती है।[2] नरकादि समस्त दु:खों एवं नारकीय शरीरादि का कारण अधर्मनामक अपूर्व है।[3] षड्दर्शन रहस्य में पं. रंगनाथ पाठक लिखते है कि "जब तक धर्माधर्म रूप प्रवृत्ति जन्य संस्कार बना रहेगा तब तक कर्मफल भोगने के लिए शरीर ग्रहण करना आवश्यक रहता है और कर्म फलों का वाहक की खोज अतिवाहक शरीर के रूप में हुई है। शरीर ग्रहण करने पर प्रतिकूल वेदनीय होने के कारण बाधनात्मक दु:ख का होना अनिवार्य रहता है। मिथ्या ज्ञान से दु:ख जीवन पर्यन्त अविच्छेदन - निरन्तर प्रवर्तमान होता है। यही संसार शब्द का वाच्य है। यह घड़ी की तरह निरन्तर अनुवृत्त होता रहता है। प्रवृत्ति ही पुन: आवृत्ति का कारण होती है।[4] महर्षि गौतम के अनुसार "मिथ्या ज्ञान से राग-द्वेष आदि दोष उत्पन्न होता है। इन दोषों से प्रवृत्ति होती है तथा प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दु:ख होता है।[5] न्याय और वैशेषिकों का मत है कि आत्मा व्यापक है। धर्म और अधर्म प्रवृत्तिजन्य संस्कार मन में निहित होते हैं। अत: जब तक आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा का पुनर्जन्म होता रहता है। न्याय-वैशेषिक

---

[1] वैशेषिक सूत्र ६/२/१४. भारतीय दर्शन की रूप रेखा पृ. २६२

[2] स्वर्गादिसकलसुखानां स्वर्गसाधनीभूतशरीरादीनां च साधनं धर्मः।...यागादिव्यापारतया धर्मः कल्प्यते, अन्यथा यागादीनां चिरविनष्टतया निर्व्यापारतया च कालान्तभाविस्वर्गजनकत्व न स्यात्। -न्यायमुक्तावली १६१-६४

[3] नरकादिसकलदु:खानां नारकीयशरीरादीनां च साधनमधर्मः।

[4] षड्दर्शन रहस्य पृ. १३५

[5] न्याय सूत्र १/१/२

दर्शन में जो सुख-दुःख उपलब्धि का ज्ञान कराने वाले करण को 'मन' कहा गया हैं।[1] अर्थात् जिस अतिरिन्द्रिय से सुख तथा दुःख अनुभूति होती है उसे मन कहते हैं। इन्द्रियाँ एक साथ ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकती। अतः मन इनका ज्ञापक हैं। इसको सुख-दुःखात्म अनुभूति प्रथमतः मन का आत्मा के साथ संयोग होने पर होती हैं।[2] यहाँ मन किसी विषय के ज्ञान प्रक्रिया में तभी प्रवृत्त करता है जब क्रमशः भौतिक विषय > इन्द्रिय > मन >बुद्धि > आत्मा में संयोग होता हो। मन तन्मनस्क (विषयाकारित) होने पर ही ज्ञान का कारण होता हैं।[3] मन के बिना यह ज्ञान प्रक्रिया सम्भव नहीं हैं। जब मन स्वभाव शून्य होता है तो वह अपने आत्मरुप में प्रतिष्ठित रहता हैं। इस अवस्था में इसको किसी भी प्रकार का सुख दुःख की अनुभुति नहीं होती।[4] मन बाह्य इन्द्रियों की सहायता से ही विषय को ग्रहण करता हैं। अतः मन ही एक मात्र ऐसा साधन है, जो सभी सुख दुःखात्मक तथा शान्त इत्यादि विषयों की उपलब्धि का कारण हैं। मन एक आन्तरिक ज्ञान का साधन है क्योंकि श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों के निर्व्यापार होने पर भी स्मृति की उत्पत्ति होती है किन्तु सुख दुखात्मक आत्मगुणों का ग्रहण बाह्य इन्द्रियों से सम्पन्न नहीं होता। उन विषय-विषयान्तरों की अनुभूति मन को होती हैं।[5] किन्तु शरीर मन की सकल चेष्टाओं का आश्रय, सभी इन्द्रियों का आधारस्थल और समस्त विषयभोगों का केन्द्र बिन्दु कहा गया है।[6] इन्द्रियों का आश्रय शरीर है, इसका अभिप्राय केवल बाह्य संयोग अथवा आधाराधेयभाव नहीं, अपितु इन्द्रियों का अनुग्राहक होना है।[7] आत्मा शरीर अधिष्टान के माध्यम से ही,सुख-दुःख का भोग कर सकता है। धर्म-अधर्मरूप अदृष्टवश आत्मा या जीव, सुख-दुःख भोगने के लिए विवश है और यह भोग शरीर में रहकर ही सम्भव है क्योंकि शरीर के माध्यम से ही आत्मा का चैतन्य प्रकट होता है और जीवन स्पन्दित होता है, अतः शरीर भोग का अधिष्ठान है । स्वरूपतः आत्मा नित्य और व्यापक है, किन्तु शरीर से संयुक्त होने पर इसके ज्ञान, प्रयत्न और चिकीर्षा सीमित हो जाते हैं। शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाने पर आत्मा को विषय-ज्ञान होता ही नहीं होता।[8] मन अतिवाहक शरीर के साथ जन्म-जन्मान्तर लोक- लोकान्तर गमन-पुर्नागम योनिज एवं अयोनिज

---

[1] साक्षात्कारे सुखादीनां करण मन उच्यते। -भाषा परिच्छेद

[2] आत्मेन्द्रियर्थ सन्निकर्षात् सुख दुःखे। -वैशेषिक सूत्र ५/१५

[3] आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोभावश्च मनसो लिङ्गम्। वै. सू ३/२/१

[4] तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः संयोगाः। वै. सू ५/२/१६

[5] श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनाद् बाह्यन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राह्यान्तरभावाच्चान्तः करणम्। प्रशस्तपाद भाष्य पृ-२२१

[6] चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। न्या. सू, १/१/११

[7] न्या.म, भाग २, पृ.४६

[8] अशरीराणामात्मना न विषयावबोधः। न्या. क. पृ.१४१

पार्थिव, जलीय,तैजस एवं वायव्य शरीर के माध्यम से करता रहता है। इसलिए आत्मारूप (अतिवाहक के माध्यम से) प्रथम एवं प्रमुख प्रमेय के भोगस्थान को शरीर[1] नामक दूसरा प्रमेय कहा गया है। शरीर वह अन्त्यावयवी है जो चेष्टा,भोग एवं इन्द्रियों का आश्रय है।[2] अब यहाँ एक रहस्यात्मक प्रश्न उठता है कि मन में प्रथम बार विषयों के उपभोग के प्रति भावना कैसे उत्पन्न होती है? इसके उत्तर में वैशेषिक शास्त्रों में कहा है कि अणुओं तथा मन की प्रथम क्रिया अदृष्ट द्वारा करायी जाती हैं। क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ में नोदन आघात आदि असम्भव रहते हैं। इसीलिए प्रथम कर्म कराने के लिए प्रेरक आघातादि की अपेक्षा रहती हैं। इसकी व्याख्या अदृष्ट के आधार पर ही होती हैं।[3] इस अतीन्द्रिय ज्ञान के साधन का प्रत्यक्ष प्रमाण से अभिज्ञान नहीं होता। यह अदृष्ट होने के कारण इसका ज्ञान अनुमान प्रमाण से सम्भव हैं। क्योंकि सुख का साक्षात्कार किसी कारण के द्वारा ही हो सकता है, वह कारण मन हैं। इन्द्रियां विषय के साक्षात्कार का विषयी कारण है, किन्तु मन विषयों के सुख-दुःखात्मक अनुभूति का कारण हैं।[4] शरीर के सभी व्यवहार मन के सम्पर्क में रहने पर ही निष्पन्न होते है। वैशेषिक दार्शनिक विचारधारा में धर्म की विवेचना करना ही उनका मुख्य लक्ष्य है।[5] यह धर्म क्या है इसे स्पष्ट करते हुए अगले सूत्र में कहा गया है कि जिससे ,लौकिक सुख एवं अलौकिक कल्याण की सिद्धि होवही धर्म है। ,[6] अभ्युदयनिःश्रेयस साधक इस धर्म का प्रथम साधन निःसन्देह यह शरीर ही है।[7] शरीर शब्द का लक्षण व्युत्पत्ति की दृष्टि से अर्थात जो प्रतिक्षण 'शीर्यते इति शरीरम्' उसी का नाम शरीर है। ,क्षीयमाण देह है[8] शास्त्रीय शब्दावली में कहा जाये तो नित्य आत्मा के भोग का आस्रय शरीर है अर्थात् बिना शरीर के आत्मा को विषयों का भोग नही हो सकताइसलिए शरीर भोगायतन है ,।[9] केवल भोग का आयतन या चेष्टा का आश्रय होने से हाथ पैर आदि शरीर नही कहे जा सकते[10] क्योंकि वे तो अवयवभूत हैं।

---

[1] तस्य भोगायतनं शरीरम्। न्या.भा, १/१/९

[2] शरीरमन्त्यावयवि चेष्टाभोगेन्द्रियाश्रयः। तार्किकरक्षा, १/२८

[3] अणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्। वै. सू ५/२/१३

[4] सुखसाक्षात्कारः सकरणकः। जन्य साक्षात्कारत्वात् चाक्षुषसाक्षात्कारवत इति अनुमानेन मनसः करणत्वसिद्धिः। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, मनोनिरूपणम् ८५, पृ. ३८७

[5] वै.सू. १/१/१

[6] वै,सू. १/१/२

[7] निःश्रेयसोपयोगो हि यः शरीरस्य दर्शितः। न्या.मं., भाग२. पृ.४६

[8] न्यायकोश, पृ८६८

[9] त.दी,पृ ५

[10] न्या,सू वृत्ति, विश्वनाथ १/१/११

अतः जो भोगायतन और अन्त्यावयवी है वही शरीर है।[1] न्यायकोश में व्यत्पत्ति की दृष्टि से शरीर का लक्षण-'शीर्यते इति शरीरम्' अर्थात् जो प्रतिक्षण क्षीयमाण देह है, उसी का नाम शरीर है।[2] दार्शनिक दृष्टि से जि नित्य आत्मा के भोग का आश्रय है, वह शरीर है। आत्मा इसी शरीर के माध्यम से विषयों का भोग करने के कारण इसे 'भोगायतन' कहा गया है।[3]अब यहां शंका उठ सकती है कि क्या हाथ, पैर आदि भोग का आयतन या चेष्टा का आश्रय होने से शरीर कहा जा सकता है? इसके उत्तर में शरीर नहीं कहा जा सकता,[4] क्योंकि वह तो अवयवभूत हैं। अतः जो भोगायतन और अन्त्यवयआवी है, वही शरीर है।[5]

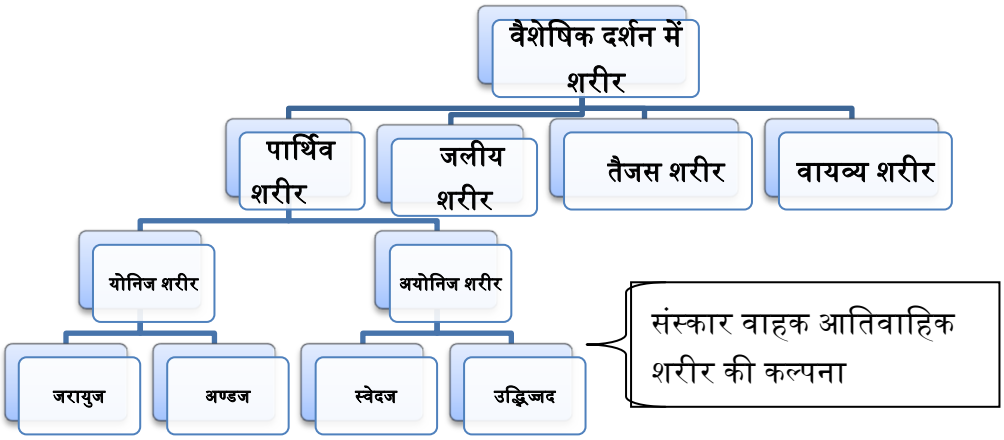

वैशेषिक दर्शन में स्वरूप की दृष्टि से शरीर का चतुर्विध विभाजन किया है- पार्थिव, जलीय,तैजस एवं वायव्य शरीर। इसमें पार्थिव शरीर को योनिज शरीर कहा गया है, जो कि पृथिवी-परमाणुओं से निर्मित माना गया है। इसमें योनिज को जरायुज एवं अण्डज दो प्रकार से तथा अयोनिज को स्वेदज तथा उद्भिज्जद दो प्रकार बताये गए हैं। इनकी दृष्टि में पार्थिव शरीर चार भेद माने गये हैं । मनुष्यों और चतुष्पदों के शरीर जरायुज जैं, पक्षियों और सरीसृपों के अण्डज, कृमिकीटादि के स्वेदज तथा तृणगुल्मादि के शरीर उद्भिज्ज हैं।[6] प्रशस्तपाद ने वृक्षादि को उद्भिज्ज शरीर की कोटी में न रखकर स्थावर विषय कहा है[7] किन्तु वृद्धि, क्षत, भग्न-संरोहण, प्राणवायुसंयोग तथा

[1] लक्षणावली, पृ.५

[2] न्यायकोश, पृ.८६८

[3] न्या. क, पृ. ५

[4] न्या.स.वृत्ति, विश्वनाथ, १/१/११

[5] लक्षणावली, पृ.५

[6] किरणा, पृ.५७-५८

[7] प्र.पा.भा, पृ.१९

आगम प्रमाण से यह स्पष्ट संकेतित होता है कि वृक्षादि भी भोगाधिष्ठान होने से शरीर के ही भेद हैं[1] यद्यपि वृक्षों में हिताहित-प्राप्ति तथा परिहार के अनुकूल चेष्टा तथा इन्द्रियाधारता स्पष्ट न होने से उनमें शरीरादि-व्यवहार नहीं होता, फिर भी इन्हें अयोनिज शरीर की कोटी में रखा गया है।[2] वैशेषिक दार्शनिक परम्परा के प्रसस्तपाद में स्पष्ट किया है कि जब अयोनिज शरीर धर्मसहित पार्थिव अणुओं से उत्पन्न होते हैं तो देवों और ऋषियों के शरीर बनते हैं तथा जब अधर्मसहित परमाणु इसके उपादान बनते हैं तो क्षुद्र जन्तुओं के यातनाशरीर उत्पन्न होते हैं।[3] अयोनिज शरीर देवर्षियों तथा क्षुद्र जन्तुओं के ही पार्थिव होते हैं और पार्थिव परमाणु ही उनके उपादान कारण होते हैं।[4] अयोनिज शरीर प्रयोजन से प्रेरित होकर उत्पन्न होते है, इसकी उत्पत्ति में पार्थिव अणु उपादान कारण होते, परमाणुओं का परस्पर संयोग इसका असमवायिकारण होता है तथा अदृष्ट या धर्माधर्म निमित्तकारण है। इसलिए अयोनिज शरीर योनिज शरीर के शुक्रशोणितजन्य साधारण जीवों के पार्थिव शरीरों से भिन्न होते हैं, इसके सन्दर्भ में श्रुति भी प्रमाण हैं।[5] कौण्डभट्ट के अनुसार अयोनिज शरीर प्रायः जलीय, तैजस, तथा वायव्य ही होते हैं। इनमें जलीय शरीर वरुणलोक में, तैजस शरीर वरुणलोक में एवं वायव्य शरीर वायुलोक में माने गए हैं। जिनमें प्रायः पार्थिव परमाणुओं के सहयोग से ही उपभोग करने की योग्यता आती है।[6] जिन कर्मों के फलो के उपभोग में गर्भवासादि दुःख का भोग करना होता है, उनके लिए योनिज शरीर की उत्पत्ति होती है अन्यथा अयोनिज की- यही शरीर के द्विविधत्व का आधारभूत हेतु संगत है।[7] वही न्याय दर्शन में शरीर की उत्पत्ति केवल परमाणुओं से नहीं होती, अपितु पूर्वजन्म में कृत पाप और पुण्य कर्मों के अनुसार निर्धारित होती है।[8] प्रत्येक शरीर् अपने कर्माशय के अनुरूप उत्कृष्ट एवं निकृष्ट उत्पन्न होते है।[9] भारतीय दार्शनिक परम्परा में मानुषादि देह को पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश- इन पाँचों तत्त्वों का सम्मिश्रण है या पाञ्चभौतिक है।[10] वहीं न्याय-वैशेषिक परम्परा में मानुषादि देह पार्थिव परमाणुओं से(समवायिकारण के रूप में) निर्मित्त माना है। न्याय-वैशेषिक में पञ्चभूतों की मानुषादि देह में

---

[1] उपस्कार, शंकर मिश्र(वै.सू,४/२/५) पृ.२८९

[2] प्रभा टीका, (न्या.सि.मु), पृ.६१

[3] प्र.पा.भा,पृ.१७-१८

[4] पदार्थदीपिका (सप्तपदार्थी की टीका), पृ.२

[5] व्योम, पृ.२२९

[6] व्योम, पृ.२७१

[7] किरणा. पृ.५६

[8] पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः। न्या.सू,३/२/६० तथा उस पर न्याय भाष्य

[9] प्र.पा.भा,पृ.२३४

[10] पञ्चभूतमयी तनुः। अमन उपनिषद्, १/१७

उपलब्धि सहकारी या उपष्टम्भक रूप में ही मानी गई है।[1] यह शरीर के उपादान या समवायिकारण नहीं हैं- उनका शरीर के साथ संयोग है और वह भी केवल तभी तक है जब तक शरीर में आत्मा रहता है, आत्मा के शरीर से विच्छेद हो जाने पर अन्य किसी भूत का संयोग नही रहता। मनुष्य के मृत शरीर में कोई विशेष पञ्चभौतिक गुण उपलब्ध नही होता, इसमें केवल पृथ्वी के विशेष गुण गन्ध आदि उपलब्ध होने के कारण पार्थिव शरीर कहलाता हैं।[2] मृत शरीर में इन्द्रियों की चेष्टा का अभाव पाया जाता है। सुप्त अथवा अचेतन अवस्था के शरीर को मृत इसलिए नही कहते क्योंकि उसमें चेष्टा के न होने पर भी एक विशेष प्रकार के प्रयत्न[3] के रहने से श्वास-उच्छवास तथा भुक्त आहार का परिणमन पाया जाता है अर्थात् चेष्टाश्रयत्व अथवा भोगयोग्यता के कारण शरीरत्व का व्यवहार होता रहता है।[4] न्यायदर्शन में पार्थिव शरीर को दुःखायतन होने के कारण में उसे साक्षात् दुःख भी कहा गया है।[5] अब यहां पर शंका उठ सकती है कि मनुष्य के पार्थिव शरीर के नष्ट हो जाने के बाद उसके पाप-पुण्य के संस्कारों का वाहक कौन होता है? सांख्य और वेदान्त परम्परा में लिंगशरीर एवं सूक्ष्मशरीर की अभिकल्पना के माध्यम से दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाया गया है। किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन में स्पष्टतः सूक्ष्मशरीर की अवधारणा दृष्टिगोचर नही होता। किन्तु पहली बार व्योमशिवाचार्य ने ही सूक्ष्म शरीर अथवा अन्तराभावशरीर के रूप में उसका संकेत किया है।[6] प्रशस्तपाद में भी सूक्ष्म दृष्टि से अन्वीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि वहा अप्रत्यय कर्म का वर्णन करते हुए जिस आतिवाहिक शरीर का उल्लेख किया है[7] उसी का आधार लेकर व्योमवतीकार और न्यायकन्दलीकार ने इसका निरूपण किया है जो इस प्रकार है – मृत स्थूल शरीर के ही समीप में एक अतिसूक्ष्म, उपलब्धि के सर्वथा अयोग्य आतिवाहिक शरीर की कल्पना की गई है जिसकी उत्पत्ति सक्रिय परमाणुओं के द्वारा द्वयणुकादि क्रम से होती है । इन परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति अदृष्ट होती है। यहां सूक्ष्म शरीर के लिए आतिवाहिक शरीर के इसलिए प्रयुक्त हुआ क्योंकि यह मन को मृत शरीर से छुड़ाकर स्वर्गादि देशों में अतिवहन करके ले जाता है।[8] प्रशस्तपाद भाष्य में मन को मनस्त्वजातिविशिष्ट हृदय माना हैं।[9] सप्तपदार्थी में शिवादित्य ने मन को मनस्त्वजाति विशिष्ट द्रव्य को स्पर्श शून्य

---

[1] न्याय.मं भाग२, पृ४७

[2] न्या.वा.टी. न्या.सू, ३/१/२८

[3] उपस्कार, पृ.३२१ (५//२/१६) तथा कारिका,१५३

[4] न्या.क,पृ.८२ तथा व्योम,पृ२२८

[5] न्या.सू,४/१/५५ पर न्या.भा

[6] Potter. K.H, EPI Vol 2nd, P.704 तथा व्योम,पृ.२०,५५९,६७६

[7] ततः शरीराद्बहिरपगतं ताभ्यामेव धर्माधर्माभ्यां समुत्पन्नेनातिवाहिकशरीरेण सम्बध्यते.....। प्र.पा.भा,पृ.२७२

[8] न्या.क.पृ.७३८-३९

[9] मनस्त्वयोगान्मनः। प्रशस्तपाद भाष्य पृ. २१६

माना हैं। इनके मत में इन्द्रिय साधनों द्वारा स्पर्शादि का विषय नहीं बनाया जा सकता। क्रिया को सम्पन्न करने वाला अधिकरण मात्र को मन कहा हैं।[1] मन एक हैं। वह अणु के रुप में प्रत्येक शरीर में विद्यमान रहता हैं।[2] इसकी सिद्धि इस आधार पर होती है कि किसी क्षण में क्रिया विशेष के लिए किया गया प्रयत्न सभी ज्ञान को एक साथ उतपन्न नहीं कर सकता।[3] यदि यह विभु परिणाम वाला होता तो मनुष्य द्वारा एक ही क्षण में पञ्चेन्द्रिय से ज्ञान प्रक्रिया सम्पन्न हो जानी चाहिए किन्तु मन का एक समय में सभी मूर्तद्रव्यों से संयोग नहीं होने से ज्ञान नहीं होता।[4] मन जब जिस इन्द्रिय विषय का ग्राहक बनता है वह उसी का ज्ञान कराता हैं। इस आधार पर मन का अणुत्व परिणाम सिद्ध होता हैं। मन जब आत्मा से संयुक्त रहा है तब सुख दुखात्मक रुपी विषयों का अभिज्ञान होता हैं। इस मन में आठ गुण अर्न्तविष्ठ रहते है- संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व और संस्कार।[5] अतिवाहक शरीर मन के साथ ही लोक-लोकान्तर भ्रमण करता रहता है। यह अपने अच्छे –बुरे कर्मों के अनुसार फलभोग के अनुरूप पार्थिव शरीर के साथ सम्बद्ध हो जाता है। क्योंकि अतिवाहक शरीर की मन से अतिरिक्त सत्ता स्वीकार कर लेते है तो वह स्वर्ग-नरकादि देशों में भोग करने की सिद्धि नही हो पायेगी। अतः अनुमान होता है कि मृत्यु के बाद और पुनः जन्म लेने से पहले मन में जो क्रिया उत्पन्न होती है, उस समय भी मन का किसी शरीर ले साथ सम्बन्ध अवश्य रहता है क्योंकि मन की यह क्रिया भी महाप्रलयकालिक क्रिया से भिन्न मन की ही क्रिया है। मन मोक्ष पर्यन्त अतिवाहक शरीर के साथ बना रहता है। इस सिद्धान्त को शास्त्ररूप शब्द प्रमाण का समर्थन भी प्राप्त है, इसीलिए कहा गया है- '**तत्संयोगार्थ कर्मोपसर्पणमिति**'[6] अर्थात् सद्यः उत्पन्न उस स्वर्गीय या नारकीय शरीर के साथ सम्बन्ध बनाने के लिए मन में उपसर्मण नाम की क्रिया मानी गई है।[7] इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन का सूक्ष्म दृष्टि से अनुशीलनात्म अध्ययन करने से इस परम्परा में सूक्ष्मशरीर की जगह अतिवाहक शरीर की अभिकल्पना परिलक्षित होती है, जो को मन से सम्बद्ध रहते हुए पाप-पुण्य युक्त संस्कारों का वाहक बनता है।

---

[1] मनस्त्वजातियोगस्पर्शशून्यं क्रियाधिकरणं मनः। सप्तपदार्थी

[2] अयौगपद्यात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहोच्यते। भाषा परिच्छेद

[3] प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्। वै. सू३/२/३

[4] यदि मनो विभु स्यात् तदा सर्वेन्द्रियसन्निकृष्टात् ततःसर्वेन्द्रियकमेंकमेंव ज्ञान स्यात्। उपष्कार भाष्य

[5] तस्या गुणाः संख्या-परिमाण-पृथकत्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-संस्काराः। प्रशस्तपाद भाष्य पृ. २२१

[6] प्र.पा.भा,पृ.२७२

[7] वैशेषिक दर्शन परिशीलन, डॉ शशिप्रभा कुमार, पृ.६१

शैव दर्शन में सूक्ष्म शरीर का पर्यालोचन :-

भारतीय ज्ञान परंपरा में चार्वाक दर्शन को छोड़कर प्रत्येक दार्शनिक परंपराओं ने सूक्ष्म शरीर की सत्ता को स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन में जहां सूक्ष्म शरीर अठारह तत्त्वों से मिलकर बना हुआ होता है वही वेदांत दर्शन में सूक्ष्मशरीर सत्तरह तत्त्वों से मिलकर बना हुआ होता है। शैव दर्शन में भी पुनर्जन्म की गुत्थियां सूक्ष्म शरीर के माध्यम से ही समझाई गई है। सूक्ष्म शरीर के माध्यम से ही व्यक्तियों के संस्कारों का एक जन्म से दूसरे जन्म में गमनागमन होता रहता है। यहां भिन्नता यह है कि शैव दर्शन में सूक्ष्म शरीर को आठ अष्टकों से मिलकर होने के कारण पोर्यष्टक कहा जाता है। शिव परंपरा के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शरीर के रहते हुए क्या व्यक्ति मुक्ति सम्भव है? क्या शरीर के रहते हुए व्यक्ति जीवन मुक्ति को प्राप्त कर सकता है? इसके समाधान के लिए शैव दर्शन में विस्तार से बताया गया है कि शरीर के रहते हुए व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरुप तथा शिव के स्वरूप का अभिज्ञान हो जाता है तो वह पूर्वगामी पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है।[1] जीवनमुक्त पुरुष में स्वरुप साक्षात्कार द्वारा आवरणहीन होकर शिवानंद प्रकाशित हो जाता है किंतु प्रारब्ध कर्मों का विपाक विक्षेप लाता है, अतः सांसारिक विषयों से सुख दुख आदि भी उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार जीवन मुक्ति सोपान मात्र है। परम मुक्ति या विदेह मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है। विदेहमुक्ति से पूर्व देहावस्था में रहते हुए शिवरूपता की उपलब्धि जीवन मुक्ति है। जिसके बिना परम मुक्ति की पात्रता प्राप्त नहीं हो सकती।[2] शाक्त दर्शन में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि जीवन से मुक्ति प्राप्त कर चुके व्यक्ति की पहचान करना कठिन कार्य है क्योंकि वह शरीर के रहते हुए भी शरीर से बहुत परे रहता है। विपाक प्राप्त पक्व कर्मों को प्राप्त प्रारब्ध कर्म कहा गया है जिस प्रकार छोड़ा हुआ बाण वेग पर्यंत गति समाप्त करके ही स्थित होता है उसी प्रकार प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगने के बाद ही शरीर पात संभव है। मनुष्य का सूक्ष्मशरीर तब तक ही बना रहता है जब तक उसके किए हुए कर्मों का भोग पूर्ण नहीं हो जाता। जिस तत्वज्ञानी ने

[1] देहाद्यवस्थायामपि पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिर्भवति। -प्रत्यभिज्ञाहृदय १२

[2] जीवन्मुक्ते स्वरूपसाक्षात्कारेण निवृत्तावरणतया शिवानन्दः प्रकाशते तथापि वैषयिकसुखदुःखादिकमपि विक्षेपवशाज्जायते। अतः परममुक्तिरेव परमः पुरूषार्थः। -शैप, पृ.१५३

अपनी आत्मा का वास्तविक स्वरुप का अभिज्ञान कर लिया है उसके लिए यह जगत भासित होता हुआ प्रतीत होता है, अर्थात् व्यक्त् स्वयं में आत्मा प्रतिति कर लेता है वही जीवनमुक्ति है।[1] एक ही काल में प्रत्येक लिङ्ग शरीर द्वारा सुखादि की पृथक उपलब्धि होती है। इस अणु जीव का सन्तान पहले से ही व्यवस्थित रहता है। [2] स्थूलशरीर को यहाँ कर्मादि से संबद्ध परमेश्वर को संसार का कारण माना गया है। इसमें पति (ईश्वर), पशु (जीव) तथा पाश (बंधन) ये तीन पदार्थ स्वीकार किए जाते है। पति से आशय शिव से है जो स्वतंत्र एवं चेतन है। पाश संसार है। पशु स्वतंत्र नहीं है। जो अणु नहीं है, क्षेत्रज्ञ आदि पर्यायवाची शब्दों से जिसका बोध हो , ये पशु निरन्तर पाश से ग्रसित है। पाश नाश पर शिवत्व प्राप्त होता है। पाश नाश अनादि मुक्त परमेश्वर की कृपा से होता है। मुक्त परमेश्वर का शरीर पांच मंत्रों का बना होता है। जीव[3] के तीन भेद विज्ञानाकल[4], प्रलयाकल[5] और सकलाकल[4] होते है। प्रलयकाल जीव-प्रलय के द्वारा इसमें कलादि (शरीर के प्रयोजक) का विनाश होता है। इसमें मल के साथ कर्म भी रहता है। यह दो प्रकार का है- *पक्वपाशद्वय :-* जिसके दो पाश परिपक्व हो गए हों। जब पाश परिपक्व हो जाते हैं तो भोग की हानि होती है तथा जीव मुक्त हो जाते हैं। अत: ये मोक्ष प्राप्त करते हैं। *तद्विलक्षण:-* जिसेक पाश परिपक्व न हुए हों। यह शरीर प्राप्त करके कर्म के वश में होकर नाना प्रकार के जन्म प्राप्त करता है। इस शरीर को पुर्यष्टक कहा गया है। तत्त्वप्रकाशकार भोजराज ने पुर्यष्टक का लक्षण दिया है-***"स्यात्पुर्यष्टकमन्तःकरणं धीकर्मकरणानि।"*** अर्थात् अन्त:करण(मन, बुद्धि, अहंकार तथा सात कलादि) धी अर्थात् बुद्धि के कर्म(पांच भूत,+ पांच तन्मात्र) और करण अर्थात् साधन(दस

---

[1] जीवन्मुक्तो हि दुर्लभ्यो विदेहो देहवानपि। -त्रिपुराणरहस्य, ज्ञानखण्ड २१/१०५

तत्र पक्वं तु यत् कर्म तदारब्धमितीर्यते। आवेगं मुक्तशरवत् तिष्टत्येव फलप्रदम्। -वही, २२/३२

एवं विदिततत्त्वस्य जगदेतावदीदृशम्। भासमानपि स्वात्ममात्रमेव न चेतरत्॥ - त्रिपुराणरहस्य, ज्ञानखण्ड २२/९८

[2] एकस्मिन्नेव काले यत् प्रतिलिङ्गं सुखादयः।

विभिन्ना उपलभ्यन्ते तेनाणुर्भिन्न इष्यते। - नरेश्वरपरीक्षा १/५२-५३

[3] पशुस्त्रिविधः-विज्ञानाकल-प्रलयाकल-सकलभेदात्।–सर्वदर्शनसंग्रह

[4] पशवस्त्रिविधा: प्रोक्ता विज्ञानप्रलयकेवलौ सकलः।

मलयुक्तस्त्रताद्यो मलकर्मयुतो द्वितीय: स्यात्।।-सर्लदर्शनसंग्रह

विज्ञानाकलनामैको द्वितीय प्रलयाकल:।

तृतीय: सकल: शास्त्रोउनुग्रहयस्त्रिविधोमत:।।-सर्वदर्शनसंग्रह

इन्द्रियां, क्योंकि यह ज्ञान व कर्म के साधन हैं)- इसे पुर्यष्टक कहते हैं। कलादि से तात्पर्य पुरूष की भोग क्रिया में अनिवार्य रूप से विद्यमान कला, काल , नियति, विद्या, राग, प्रकृति और गुण इन सात को उसी से उपलक्षित किया जाता है। इनमें काल भोगों की सीमा का परिच्छेद कलन है उसके कारण माया का प्रथम विकार काल को माना गया है, जो कि क्षण आदि प्रतीतियों से जाना जाता है।[1] यह तीन प्रकार का है- सृष्टिकाल, स्थितिकाल और संहारकाल। इनकी दृष्टि में काल को अनित्य माना गया है। नियति माया का दुसरा विकार है जो कि नियमन का कारण है।[2] अब यहां प्रश्न उठता है किसका नियमन करती है। इसके उत्तर में कहा गया है कि जो व्यक्ति दुष्कर्म करता है उसे अशुभ फलों से युक्त करना, सुकृतफल से अकर्त्ता को व्यावृत्त करना और उसके शरीरादि से अन्य पुरूष सम्बन्धि भोग न होने देना का नियमन करता है। नियति ही सुकृति पुरूष को सुकृत फलों से युक्त करना तथा दुष्कृत फलों से व्यावृत्त करके अन्य के कर्म-फलों से वियुक्त रखती है।[3] उदाहरण के लिए जिस प्रकार कृषक को कृर्षिफल से सम्बध करने में कर्म नियामक नही होता उसी प्रकार सुकृत और दुष्कृत कर्मो के फल से पुरूष को सम्बद्ध करने वह स्वयं नियामक नही हो सकता। कर्म से फल की दूरी रहते हुए भी नियति ही पुरूष को फलयुक्त करती है।[4] यह पुर्यष्ठक को पुनर्जन्म लेने वाले जीव को उसके कर्मो के साथ नियमन करने का कार्य नियति का है। कला आत्मा के साक्षात्काररूप चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाला तत्त्व है। यह आच्छादक मल की निवृत्ति को अभिव्यक्त करता है।[5] आत्मा के ज्ञान और क्रिया को चैतन्य शक्ति कहा जाता है। उस शक्ति को सम्पूर्ण रूप से अनावृत्त न करके कर्म के अनुसार अंशतः व्यक्त करने वाला तत्त्व कला है।[6] अर्थात कला जीव में जन्म-जन्मान्तर चैतन्य तत्त्व को अभिव्यक्त करने वाला तत्त्व है।

---

[1] भोगेयत्तापरिच्छेदात्मकस्य कलनस्य हेतुः कालो लवत्रुट्यादिप्रतीतिविशेष्यो मायायाः प्राथमिको विकारः। -शैव. पृ ९३-९४

[2] नियमनस्य कारणं तत्त्वं नियतिः। इयं च मायाया एव द्वितीयो विकारः। शैव. पृ.९६

[3] नियमनं तु दुष्कर्मकर्तुस्तत्फलेन योजनम्, सुकृतफलास्याकर्तृसम्बन्धव्यावर्तनम्, तच्छरीरादेः पुरूषान्तसम्बन्धि भोगाजननं च। इदमेव नियतितत्त्वे प्रमाणम्। -शैव.पृ.९६

[4] न कर्म स्वफलं पुंसां सम्बन्धयितुमर्हति।
कर्मत्वात् कृषिवत् तस्मान्नेह कर्म नियामकम्॥ -शैव. पृ.९८

[5] आत्मनो दृक्क्रियारूप-चैतन्याभिव्यञ्जकं तत्त्वं कला।
अभिव्यक्तिश्चाच्छादकमलनिवृत्तिः। शैव.पृ.९८

[6] चैतन्यं ज्ञत्व-कर्तृत्वरूपं तद्वलामात्मनः। कलया व्यज्यते तत् तु तस्यैव हि तिरस्कृतम्।
सर्वात्मना कला नैतच्चैतन्यं व्यञ्जयत्यणोः। किन्तु कर्मानुसारेण कला वृत्त्यैकदेशतः। - शैव.पृ.९९

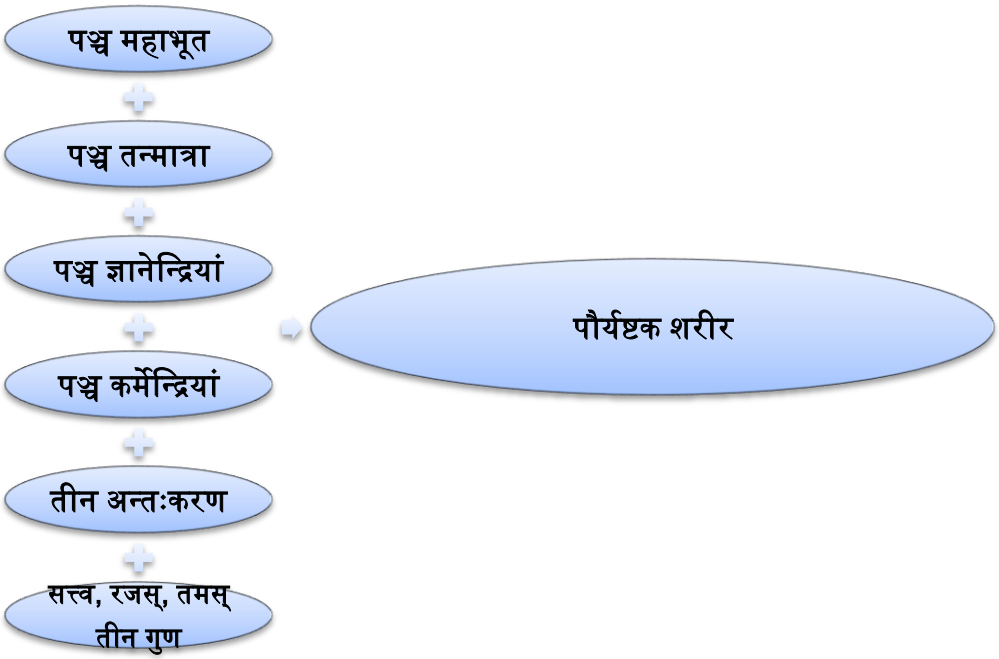

अघोरशिवाचार्य के अनुसार पुर्यष्टक शरीर का लक्षण-**"पुर्यष्टकं नाम प्रतिपुरूषं नियतः, सर्गादारभ्य कल्पान्तं मोक्षान्तं वा स्थितः पृथिव्यादिकलापर्यन्तास्त्रिंशत्त्वात्मक सूक्ष्मो देहः।"** अर्थात् पुर्यष्टक उस सूक्ष्म देह(सूक्ष्म शरीर) को कहते है जो प्रत्येक पुरूष के लिए नियत रहती हैं, सृष्टि के आरम्भ से लेकर कल्प के अंत तक या मोक्ष के अंत तक स्थिर रहता है और पृथ्वी आदि कलापर्यन्त तीस तत्त्वों से निर्मित होती है। श्रीमत कालोन्तर आगम में पुर्यष्टक का लक्षण इनसे भिन्न दिया गया है-**"शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गंधश्च पञ्चकम्। बुद्धिर्मनस्त्वहंकारः पुर्यष्टकमुदाहृतम्।"** अर्थात् शब्द, स्पर्श,रूप, रस और गंध इन पांच समूहों तथा बुद्धि, मन एवं अहंकार-ये मिलकर पुर्यष्टक है। पुर्यष्टक में पुरि= शरीरे, अष्टकम् ये दो शब्द हैं। इसका आशय है कि शरीर में आठ का ही अस्तित्व। किन्तु तीस तत्त्व भी पुर्यष्टक से अभिहित हैं। पञ्च महाभूत, पञ्च तन्मात्रा, पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, पञ्च कर्मेन्द्रियां तथा तीन अन्तःकरण- ये पाँच वर्ग और इनके कारणस्वरूप तीन गुण १ प्रधान-समस्त जगत का मूल कारण, २ प्रकृति, ३ कलादि,पांच का वर्ग) मिलाकर आठ वर्ग हो जाते हैं। इन्हें ही पौर्यष्टक (सूक्ष्म शरीर) कहा जाता हैं। पुर्यष्टक से युक्त तथा विशेष पुण्य करनेवाले कुछ लोगों पर दया करके महेश्वर अनन्त उन्हें इसी संसार से भुवनपति का पद देते हैं।[1] भगवान पशुपति की जड़ परिग्रह

[1] तथापि कथमस्य पुर्यष्टकत्वम् ? भूततन्मात्रबुद्धन्द्रिकर्मेन्द्रियान्तःकरणसंज्ञैः पञ्चभिवर्गे: चारब्धत्वादित्यविरोधः।तत्र पुर्ष्टकयुतान्विशिष्टपुण्यसम्पन्नान काश्चिदनुगृह्यभुवनपतित्वमत्र महेश्वरोऽनन्तः प्रच्छति। सर्वदर्शनसंग्रह

शक्ति को माया कहते है। इस माया के कारण वह कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त कार्य का उपादान है।यह उपादान होने के साथ-साथ मोहिनी (आकर्षक) भी होता है जिसके शरीरादि में आत्मा का भ्रम होता है।[1] जिससे कलादि पञ्चकञ्चुकों की अभिव्यक्ति से जीव का स्वभाव संसारी हो जाता है।[2] परमशिव की सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ क्रमशः संकोच ग्रहण करके कला,विद्या, राग, काल और नियतिरूप में भासित होता है। इनसे संकुचित पुरूष शक्तितहीन होकर संसारी कहा जाता है। परमशिव पञ्च कञ्चुकों के कारण संकुचित एवं शक्तिहीन होकर कर्मबद्ध संसारी जीव बन जाता है। संसारी जीव शक्ति के विकास करके वह पुनः शिवरूप को प्राप्त कर लेता है|[3]

कैवल्य दर्शन में शरीर का पर्यालोचन :-

भारतीय दार्शनिक परम्परा में केवल्य दर्शन का अपना एक विशिष्ट महत्पूर्ण स्थान है। इस दर्शन का प्रयोजन जगत् के कल्याण के लिये, धर्मो में निहित समान विचारधारा में सामजस्य को दर्शाना एवं उन्हे एकता के सूत्र में बंधना, संसारतापों से विदग्ध जनों की तुष्टि के लिये केवल्य दर्शनम् की स्वामी युक्तेश्वरजी ने मानव एवं ब्रह्माण्ड के पूर्णतया सर्वांगीण दृष्टिकोण के लिए एक ठोस आधार प्रस्तुत करते है। यह ज्ञान परम्परा अन्य दार्शनिक परम्पराओं की तरह पुनर्जन्म की अवधारणा में विश्वास रखता है। तथा पुनर्जन्म की अवधारणा को सूक्ष्म शरीर की अवधारणा के माध्यम से समझाया है। इनकी दृष्टि में सूक्ष्म शरीर सत्तरह तत्त्वों का बना होता है।[4] इस सूक्ष्म शरीर का मूल बीजादि कारन परम ब्रह्म है।[5] इस परम ब्रह्म से ही जड़ प्रकृति या सृष्टि प्रस्फुरण हुआ है। वह सर्वसामर्थ्यमान शक्ति (विकर्षण तथा उसके साथ स्वमेव रहने वाला आकर्षण या सर्वज्ञ प्रेम) स्पन्दन के रूप में व्यक्त होती है। ओम(प्रणव,शब्द,सर्वसामर्थ्यवान शक्ति की अभिव्यक्ति) से काल, देस एवं अणु की उत्पत्ति है। तात्त्विक दृष्टि से यह

---

[1] शैव, पृ.८८

[2] शैव, पृ.९३

[3] तथा स्रवकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्तयः संकोचं गृह्णाना यथाक्रमं कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भान्ति। तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते, स्वशक्तिविकासे तु शिव एव। - प्रत्यभिज्ञाह्रदयम् ९

[4] एतानि मनोबुद्धिभ्याम् सह सप्तदशसूक्ष्मागानि। लिंगशरीरस्य।-कैवल्य दर्शनम्,१०

[5] तत्र सर्वज्ञप्रेमबीजाश्चित् सर्वशक्तिबीजमानन्दश्च।- कैवल्य दर्शनम्,२

एक है किन्तु अविध्या के कारण व्यवहारिक दृष्टि से यह भिन्न-भिन्न है। कैवल्य दर्शन के अनुसार सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीरादि स्वयं में सर्वशक्तिमान परमपिता की अपनी सनातन प्रकृति की ही प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है, अतः उनसे अविभाजनीय है, बल्कि यह स्वयं में परमपिता ही है और उनके अतिरिक्त कुछ नही है। उदाहरण के लिये जैस दाहकता अग्नि से अविभाजनीय है और वह स्वयं अग्नि के अतिरिक्त और कुछ नही है। यह भेदात्मकता का प्रतिभास ईशवर की माया या अविध्या के कारण होता है।[1] इसी माया या अविध्या के कारण अणु (मनुष्य) को परम ब्रह्म के प्रकाश को मनुष्य की ग्रहण शक्ति से परे रखते है। अविद्या के कारण मनुष्य के मन में अज्ञानता का भाव भर जाता है, जिसके कारण मनुष्य को स्वयं अपनी आत्मा के बारे में कोई ज्ञान नही हो पाता है। जिसके फलस्वरूप स्थूल शरीर से अपना तदात्म स्थापित कर लेता है और जन्म-जन्मान्तर पुनर्जन्म के वाहक का माध्यम सूक्ष्म शरीर होता है।सूक्ष्म शरीर की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में कैवल्य दर्शन में मूल कारण माया या अविध्या को माना है। चित्त के प्रभाव में अणु चित्त बनता है। चित्त जब शुद्ध होता है तो उसे बुद्धि कहते है। बुद्धि के विपरित को मनस् कहते है जिसमें जीव अर्थात् अंहकार या पृथक अस्तित्त्व के भाव का वास् होता है।[2] इसे हम इस उदाहरण से समझ सकते है जिस प्रकार चुम्बकीय क्षेत्र में आकर लौह कण चुम्बकीत हो जाते है, उसी प्रकार चित्त अर्थात् पवित्र आत्मा या सर्वव्यापी प्रेम के सम्पर्क में आकर अविध्यारूपी अणु का शुद्धिकरण हो जाता है और इसमें चेतना या संवेदनशीलता आ जाती है, तब इसे महत् या चित्त कहते है। यह होने के कारण उसमें अपने पृथक अस्तित्त्व का भाव उतपन्न होता है। कैवल्य दर्शन के अनुसार सूक्ष्म शरीर त्रिगुणमय है। सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार चित्त में अहंकार प्रकट होने पर उसकी पाँच अभिव्यक्तियाँ होती है[3], अर्थात् पञ्च तत्त्व बनते है:- मध्य से एक, दो छोरो से तथा दोनों छोरों और मध्य के बीच के स्थानों से दो। ये पाँच विध्युत शक्तियाँ ही समस्त सृष्टि के सृजन के लिए कारणभूत है या समस्त सृष्टि का मूल है,

---

[1] तदेव जगत्कारणं माया ईश्वरस्य, तस्य व्यष्टिरविध्या।- कैवल्य दर्शनम्, ४

[2] चित्सकाशादणोर्महत्वं तच्चित्त्वं, तत्रसदध्यवसायः। सत्त्वं बुद्धिः ततस्तद्विपरीतं मनः।
चरमेऽभिमानोऽहंकारस्तदेव जीवः। कैवल्य दर्शनम्, ६

[3] तदहंकारचित्तविकारपंचतत्त्वानि। कैवल्य दर्शनम्, ७

इन्हें पंचतत्त्व कहते है। इसे ही पुरूष या ईश्वर पुत्र का कारण शरीर कहा जाता है।[1] ये पाँचो विधुत शक्तियाँ चित्त के ध्रुविकरण के कारण ध्रुवीत अवस्था में उत्पन्न होती है और चित्त त्रिगुणमयता से युक्त होता है। पंच विधुत शक्तियों में सत्त्व गुण की प्रधानता से पंच ज्ञानेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। यह मन तत्त्व के प्रभाव से आकर्षित होने के कारण मनोतत्त्व बनता है। पंच विधुत शक्तिया रजों गुण की प्राधान्यता के कारण कर्मेन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। तामसिक गुण की प्राबल्यता के कारण इन्द्रियों के पाँच विषय अर्थात् पञ्च तन्मात्रायें शब्द, स्पर्श,रस,रूप, तथा गंध की अभिव्यक्ति होती है।[2] इन सत्तरह तत्त्वों से मिलकर ईशवर पुत्र अर्थात् पुरूष का लिंग शरीर या सूक्ष्म शरीर बनता है।[3] उपरोक्त पाँच विषय जो तामस गुण की प्रबलता से उत्पन्न हुए थे इनके आपस में मिल जाते है तो जड़ पदार्थ के भाव को उत्पन्न करते है जिसका बोध हमें पाँच रूपों में होता है: क्षिति (पृथ्वी या ठोस), आप(जल या तरल), तेज(अग्नि), मरूत(वायु) तथा व्योम(आकाश)। इन्हीं से सूक्ष्म शरीर का आच्छादन बनता है जिसे हम स्थूल शरीर कहते है।[4] कैवल्य दर्शनम में चौबीस तत्त्वों के सृजन से ही जड़ भौतिक शरीर का निर्माण होता है।[5] सूक्ष्म शरीर की जन्म-जन्मान्तर जन्म लेने की प्रवृत्ति को प्रतिषेध करने के लिये अद्वैत सत् परम ब्रह्म नित्य, पूर्ण, अनादि, अनन्त[6] शुद्ध आत्म-स्वरूप के अभिज्ञान से ही सम्भव बताया गया है।[7]

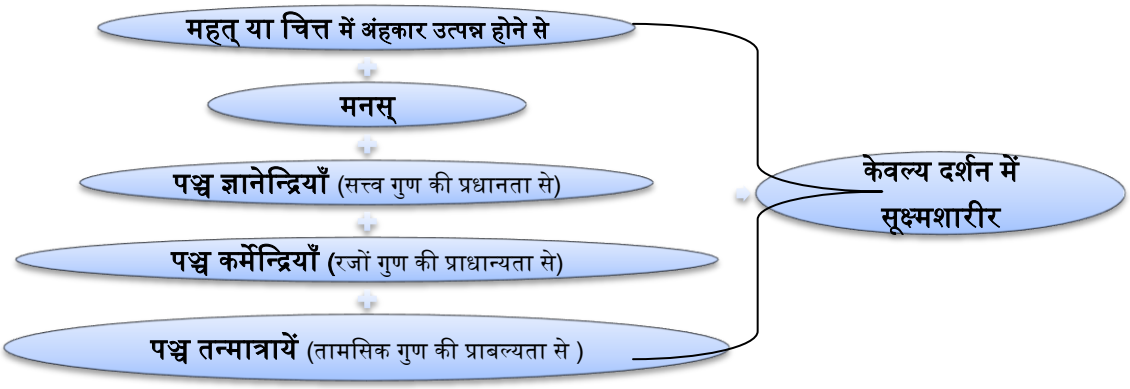

[1] तान्येव कारणशरीरं पुरूषस्य। - कैवल्य दर्शनम्, ८

[2] तेषां त्रिगुणेभ्यः पंचदश विषयेन्द्रियाणि। कैवल्य दर्शनम्, ९

[3] एतानि मनोबुद्धिभ्यां सह सप्तदशसूक्ष्मांगानि लिंशरीरस्य। कैवल्य दर्शनम्, १०

[4] ततः पञ्चतत्त्वानां स्थितिशीतलतामसिकविषयपञ्चतन्मात्राणा पञ्चीकरणेन स्थूलशरीररस्यांगानि जड़ीभूतपञ्चक्षित्यसेजो। कैवल्य दर्शनम्,११

[5] एतान्येव चतुर्विंशतिः तत्त्वानि। कैवल्य दर्शनम्, १२

[6] नित्यं पूर्णमनाध्यनन्तं ब्रह्म परम्। तदेवैकमेवाद्वैतं सत्। - कैवल्य दर्शनम्,१

[7] मुक्ति स्वरूपेऽवस्थानम्। - कैवल्य दर्शनम्,२

वेदान्त दर्शन में सूक्ष्मशरीर का पर्यालोचन

7. वेदान्त दर्शन में सूक्ष्मशरीर का पर्यालोचन 96

xi. परिचय :- 96

xii. अद्वैत वेदान्त दर्शन में सूक्ष्म शरीर का स्वरुप:- 105

xiii. सूक्ष्मशरीर:- 111

xiv. सूक्ष्मशरीर की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया: - 113

xv. स्थूल शरीर:- 119

xvi. सूक्ष्मशरीर एवं चेतन अवस्थायें :- 130

ङ. जाग्रतावस्था

च. स्वप्नावस्था

छ. सुषुप्ति अवस्था

ज. तुरीयावास्था

xvii. शरीर एवं पञ्चकोश :- 135

च. - अन्नमय कोष 135

छ. प्राणमय कोष 137

ज. मनो मय कोष 138

झ. विज्ञानं मय कोष 140

ञ. आनंदमय कोष 140

xviii. सूक्ष्मशरीर एवं कर्म सिद्धान्त :- 141

xix. सूक्ष्म शरीर एवं मोक्ष:- 147

xx. सूक्ष्म शरीर का ब्रह्म, आत्मा, माया, ईश्वर एवं जीव से सम्बन्ध:- 151

वेदान्त दर्शन में सूक्ष्मशरीर का पर्यालोचन

परिचय :-

भारतीय दर्शन में सूक्ष्मशरीर के दार्शनिक अध्ययन की अर्हतता समझने से पहले, दर्शन, शब्द का शाब्दीक स्चरूप समझ लेना ज्यादा अपेक्षित है। दृश्यते =ज्ञायते= विचार्यते अनेन इति दर्शनम्" अर्थात जिसके द्वारा देखा जाय जाना जाय अर्थात् सद् असद् वस्तु का विचार किया जाय, उसे दर्शन कहते है। किसी वस्तु के तात्त्विक अर्थात् सच्चे स्वरूप को जान लेना ही दर्शन शब्द का प्रयोजन माना गया है। यह दृश्यमान चराचर विश्व सत्य है या मिथ्या है, जड़ है या चेतन, प्रकाश है या अन्धार सुख है या दुःख आदि के द्वन्द से रहित है या सहित है, आधि-व्याधि- जरा और मरण की भीषण कथा की व्यथा से समन्वित है अथवा निरन्वित है, इत्यादि विषयों का विचार दर्शन शब्दार्थ के अन्तर्गत माना गया है।

भारतीय चिन्तन धारा में वेदान्त दर्शन जगमगाता स्वर्णकलश है- दर्शनाकाश का देदीप्यमान सूर्य है। वेदान्त की विषय वस्तु, इसके उद्देश्य, साहित्य और आचार्य परम्परा आदि पर गहन चिन्तन करने से पहले वेदान्त का अर्थ क्या है? किन-किन साहित्य परम्पराओं से यह समृद्ध हुआ है इत्यादि प्रश्नो का विशदरूप से वर्णन करना अपेक्षित है। वेदान्त का अर्थ है वेद का अन्त या सिद्धान्त। तात्पर्य यह है- 'वह शास्त्र जिसके लिए उपनिषद् ही प्रमाण है। वेदांत में जितनी बातों का उल्लेख है, उन सब का मूल उपनिषद् है। इसलिए वेदान्त शास्त्र के वे ही सिद्धान्त माननीय हैं, जिसके साधक उपनिषद् के वाक्य हैं। इन्हीं उपनिषदों को आधार बनाकर बादरायण मुनि ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की।' इन सूत्रों का मूल उपनिषदों में हैं। भारत के कई विद्वानों का मानना है कि उपनिषदों से ही भारतीय दर्शनिक विचारधाराओं का प्रस्फुटन हुआ है। वेदान्त ज्ञानयोग की एक शाखा है जो व्यक्ति को ज्ञान प्राप्ति की दिशा में उत्प्रेरित करता है। इसका मुख्य स्त्रोत उपनिषद है जो वेद ग्रंथो और अरण्यक ग्रंथों का सार समझे जाते हैं। उपनिषद् वैदिक साहित्य का अंतिम भाग है, इसीलिए इसको वेदान्त कहते हैं। कर्मकांड और उपासना का मुख्यत: वर्णन मंत्र और ब्राह्मणों में है, ज्ञान का विवेचन उपनिषदों में। 'वेदान्त' का शाब्दिक अर्थ है - 'वेदों का अंत' (अथवा सार)। वेदान्त की तीन शाखाएँ जो सबसे ज्यादा जानी जाती हैं वे हैं अद्वैत वेदांत, विशिष्ट

अद्वैत और द्वैत। आदि शंकराचार्य, रामानुज और श्री मध्वाचार्य जिनको क्रमश: इन तीनो शाखाओं का प्रवर्तक माना जाता है, इनके अलावा भी ज्ञानयोग की अन्य शाखाएँ हैं। ये शाखाएँ अपने प्रवर्तकों के नाम से जानी जाती हैं जिनमें भास्कर, वल्लभ, चैतन्य, निम्बारक, वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वर और विज्ञान भिक्षु. आधुनिक काल में जो प्रमुखवेदांती हुये हैं उनमें रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, अरविंद घोष, स्वामी शिवानंद और रमण महर्षि उल्लेखनीय हैं। ये आधुनिक विचारक अद्वैत वेदांत शाखा का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे वेदांतो के प्रवर्तकों ने भी अपने विचारों को भारत में भलिभाँति प्रचारित किया है परन्तु भारत के बाहर उन्हें बहुत कम जाना जाता है।

वेदान्त दर्शन का मूख्य प्रतिपाद्य-विषय वेदों के सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त ही 'वेदान्त' का प्रतिपाद्य हैं। उपनिषदों में इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, इसलिए वे 'वेदान्त' के ही पर्याय माने जाते हैं। परमात्मा का परम गुह्य ज्ञान वेदान्त के रूप में सर्वप्रथम उपनिषदों में ही प्रकट हुआ है। '**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था:..**'(मुण्डक.)। **'वेदान्ते परमं गुह्यम् पुराकल्पे प्रचोदितम्'** (श्वेताश्वतर) **'यो वेदादौ स्वर: प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठित:'** (महानारायण,) इत्यादि श्रुतिवचन उसी तथ्य का घोष करते हैं। इन श्रुति वचनों का सारांश इतना ही है कि संसार में जो चराचर कुछ भी दृश्यमान प्रतित हो रहा है और जहाँ तक हमारी इन्द्रियाँ जान सकती है एवं जहाँ तक बुद्धि की अनुमान करने की क्षमता है, उन सबका का एकमात्र मूलश्रोत 'परमब्रह्म' है। यह दर्शन चार अध्यायों एवं सोलह पादों में विभक्त है। इनका प्रतिपाद्य क्रमश: निम्नवत् है- **प्रथम अध्याय** में वेदान्त से संबंधित समस्त वाक्यों का मुख्य आशय प्रकट करके उन समस्त विचारों को समन्वित किया गया है, जो बाहर से देखने पर परस्पर भिन्न एवं अनेक स्थलों पर तो विरोधी भी प्रतीत होते हैं। प्रथम पाद में वे वाक्य दिये गये हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्टतया कथन है, द्वितीय में वे वाक्य हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्ट कथन नहीं है एवं अभिप्राय उसकी उपासना से है। तृतीय में वे वाक्य समाविष्ट हैं, जिनमें ज्ञान रूप में ब्रह्म का वर्णन है। चतुर्थ पाद में विविध प्रकार के विचारों एवं संदिग्ध भावों से पूर्ण वाक्यों पर विचार किया गया है। **द्वितीय अध्याय** का विषय 'अविरोध' है। इसके अन्तर्गत श्रुतियों की जो परस्पर विरोधी सम्मतियाँ हैं, उनका मूल आशय प्रकट करके उनके द्वारा अद्वैत सिद्धान्त की सिद्धि की गयी है। इसके साथ ही वैदिक मतों के अन्तर्गत सांख्य, वैशेषिक, पाशुपत आदि दर्शनों का एवं अवैदिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत जैन, बौद्ध आदि के दोषों एवं उनकी अयथार्थता को दर्शाया गया है। आगे चलकर लिंग शरीर, प्राण एवं इन्द्रियों के स्वरूप के

दिग्दर्शन के साथ-साथ पंचभूत एवं जीव से सम्बद्ध शंकाओं का निराकरण भी किया गया है। **तृतीय अध्याय** की विषय वस्तु साधना है। इसके अन्तर्गत प्रथमत: स्वर्गादि प्राप्ति के साधनों के दोष दिखाकर ज्ञान एवं विद्या के वास्तविक स्रोत्र परमात्मा की उपासना प्रतिपादित की गयी है, जिसके द्वारा जीव ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में कर्मकाण्ड सिद्धान्त के अनुसार मात्र अग्निहोत्र आदि पर्याप्त नहीं वरन् ज्ञान एवं भक्ति द्वारा ही आत्मा और परमात्मा का सान्निध्य सम्भव है। **चतुर्थ अध्याय** साधना का परिणाम होने से फलाध्याय है। इसके अन्तर्गत वायु, विद्युत एवं वरुण लोक से उच्च लोक-ब्रह्मलोक तक पहुँचने का वर्णन है, साथ ही जीव की मुक्ति, जीवनमुक्ति की मृत्यु एवं परलोक में उसकी गति आदि भी वर्णित है। अन्त में यह भी वर्णित है कि ब्रह्म की प्राप्ति होने से आत्मा के अधिष्ठान का माध्यम सूक्ष्म शरीर की स्थिति किस प्रकार की होती है, जिससे वह पुन: संसार में स्थूल शरीर के लिये पुनर्जन्म नही होता। अर्थात् व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप परमब्रह्म को पहचान लेता है यही मुक्ति और निर्वाण की अवस्था है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में ईश्वर, प्रकृति, जीव, मरणोत्तर दशाएँ, पुनर्जन्म, ज्ञान, कर्म, उपासना, बन्धन एवं मोक्षादि विषयों का प्रमुख रूप से विवेचन किया गया है।

ब्रह्मसूत्र- उपरिवर्णित विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्त का मूल ग्रन्थ उपनिषद् ही है। अत: यदा-कदा वेदान्त शब्द उपनिषद् का वाचक बनता दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदीय मूल वाक्यों के आधार पर ही बादरायण द्वारा अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादन हेतु ब्रह्मसूत्र सृजित किया गया। महर्षि पाणिनी द्वारा अष्टाध्यायी में उल्लेखित 'भिक्षुसूत्र' ही वस्तुत: ब्रह्मसूत्र है। संन्यासी, भिक्षु कहलाते हैं एवं उन्हीं के अध्ययन योग्य उपनिषदों पर आधारिक पराशर्य (पराशर पुत्र व्यास) द्वारा विरचित ब्रह्म सूत्र है, जो कि बहुत प्राचीन है। यही वेदांत दर्शन पूर्व मीमांसा के नाम से प्रख्यात है। महर्षि जैमिनि का मीमांसा दर्शन पूर्व मीमांसा कहलाता है, जो कि द्वादश अध्यायों में आबद्ध है। कहा जाता है कि जैमिनि द्वारा इन द्वादश अध्यायों के पश्चात् चार अध्यायों में संकर्षण काण्ड (देवता काण्ड) का सृजन किया था। जो अब अनुपलब्ध है, इस प्रकार मीमांसा षोडश अध्यायों में सम्पन्न हुआ है। उसी सिलसिले में चार अध्यायों में उत्तर मीमांसा या ब्रह्म-सूत्र का सृजन हुआ। इन दोनों ग्रन्थों में अनेक आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि बीस अध्यायों के रचनाकार कोई एक व्यक्ति थे, चाहे वे महर्षि जैमिनि हों अथवा बादरायण बादरि। यहां पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड एवं उत्तर मीमांसा में ज्ञानकाण्ड विवेचन किया गया है। उन दिनों

विद्यमान समस्त आचार्य पूर्व एवं मीमांसा के समान रूपेण विद्वान् थे। इसी कारण जिनके नामों का उल्लेख जैमिनीय सूत्र में है, उन्हीं का ब्रह्मसूत्र में भी है। भारतीय परम्परा की यह विशेषता रही है कि जिस तरह एक पेड़ की शाखाओं से एक विशाल वृक्ष का विकास हुआ है उसी तरह वेदान्त परम्परा की विभिन्न शाखाओं के माध्यम से वेदान्त दर्शन का विकास हुआ है।

विशिष्टाद्वैत वेदांत ग्यारवी शताब्दी में शंकर मत के विपरीत रामानुजाचार्य ने यह कहा कि ईश्वर (ब्रह्म) स्वतंत्र तत्त्व है परंतु जीव भी सत्य है, मिथ्या नहीं। ये जीव ईश्वर के साथ संबद्ध हैं। उनका यह संबंध भी अज्ञान के कारण नहीं है, वह वास्तविक है। मोक्ष होने पर भी जीव की स्वतंत्र सत्ता रहती है। भौतिक जगत् और जीव अलग अलग रूप से सत्य हैं परंतु ईश्वर की सत्यता इनकी सत्यता से विलक्षण है। ब्रह्म पूर्ण है, जगत् जड़ है, जीव अज्ञान और दु:ख से घिरा है। ये तीनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं क्योंकि जगत् और जीव ब्रह्म के शरीर हैं और ब्रह्म इनकी आत्मा तथा नियंता है। ब्रह्म से पृथक् इनका अस्तित्त्व नहीं है । जीव के सन्दर्भ में बताया गया है कि वह परमात्मा से अत्यन्त भिन्न है, भ्रान्त परब्रह्म है उपाधि से अवच्छिन ब्रह्म है एवं वह ब्रह्म का अंश है।[1] गीता में जीव को पुरूषोत्तम का अंश कहा गया है, अतः वह अंश है।[2] रामानुजाचार्य ने कहा है कि जिस प्रकार अग्नि या सूर्यादि का प्रभारूप प्रकाश उनका अंश है उसी प्रकार जीव ब्रह्म का विशेषरूप अंश है।[3] उदाहरण के लिए जैसे गोत्व, शुक्लत्व आदि विशेषण गवादि विशिष्ट पदार्थो के अंश है उसी प्रकार जीव ब्रह्म का विशेषणरूप अंश है।[4] जिस प्रकार शरीर शरीरी का अंश होता है उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश होता है।[5] जीव एवं परमात्मा समान नही होते क्योंकि प्रभा की अपेक्षा प्रभावान भिन्न होता है। प्रभातुल्य अंशरूप जीव से अंशी परमात्मा अर्थान्तर है। अर्थात् विशेषांशो से विशिष्ट तथा अद्वय होते हुए भी अंशी की सर्वोपरि पृथक सत्ता है।[6] जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न होने से नाना तथा अणुरूप है। यदि उसे ब्रह्म से परिच्छिन्न रूप माना जाय तो जीवों में परस्पर कर्म फल भोग का मिश्रण अवश्यंभावी है। भ्रान्त ब्रह्म जीववाद

---

[1] किमयं जीवः परस्मादत्यन्तभिन्नः उत परमेव ब्रह्म भ्रान्तम, उत ब्रह्मैवोपाध्यवच्छिन्नम्, अथ ब्रह्मांशः? इति संशय्यते। ब्र.सू श्रीभाष्य २/३/४२

[2] जीवस्य पुरूषोत्तमांशत्वे स्मर्यते। अतश्चायमंश। ब्रह्मसूत्र २/३/४४

[3] प्रकाशायिवज्जीवः परमात्मनोंशः यथाग्न्यादित्यादभौस्वतो भारूपः प्रकाशोंशो भवति। ब्रह्मसूत्र २/३/४५

[4] यथा गवाश्वशुक्लकृष्णानां गोत्वादिविशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशाः। -ब्रह्मसूत्र २/३/४५

[5] यथा वा देहिनो देव मनुष्यादर्देहोंशस्तद्वत्। ब्रह्मसूत्र २/३/४५

[6] यथाभूतो जीवो न तथाभूतः परः। यथैव हि प्रभायाः प्रभावानन्यथाभूतस्ततथा प्रभास्थानीयात स्वांशाज्जीवादंशो परोप्यर्थान्तभूतः। -ब्रह्मसूत्र २/३/४५

और उपहित ब्रह्मजीववाद में ब्रह्म को ही अज्ञान तथा उपाधि से अवच्छिन्न मानना होगा जिससे भोग व्यवस्था की व्याख्या नही हो सकती।[1] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट होता है कि जीव को पुरूषोत्तम का सनातन अंश माना गया है।[2] इस दार्शनिक परम्परा के अनुसार अद्वैत की जगह बहुत्व की कल्पना है परंतु ब्रह्म अनेक में एकता स्थापित करनेवाला एक तत्व है। बहुत्व से विशिष्ट अद्वय ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण इसे विशिष्टाद्वैत कहा जाता है। विशिष्टाद्वैत मत में भेदरहित ज्ञान असंभव माना गया है। इसीलिए शंकर का शुद्ध अद्वय ब्रह्म इस मत में ग्राह्य नहीं है। ब्रह्म सविशेष है और उसकी विशेषता इसमें है कि उसमें सभी सत् गुण विद्यामान हैं। अत: ब्रह्म वास्तव में शरीरी ईश्वर है। सभी वैयक्तिक आत्माएँ सत्य हैं और इन्हीं से ब्रह्म का शरीर निर्मित है।[3] ये ब्रह्म में, मोक्ष हाने पर, लीन नहीं होतीं; इनका अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। यही ब्रह्म प्रलय काल में सूक्ष्मभूत और आत्माओं के साथ कारण रूप में स्थित रहता है परंतु सृष्टिकाल में सूक्ष्म स्थूल रूप धारण कर लेता है तब इसे कार्य ब्रह्म अभिहित किया जाता है।

द्वैत वैदांत:- ११९७ ई. में द्वैत वेदांत का प्रचार मध्वाचार्य ने किया जिसमें पाँच भेदों को आधार माना जाता है। जीव ईश्वर, जीव जीव, जीव जगत्, ईश्वर जगत्, जगत् जगत् इनमें भेद स्वत: सिद्ध है। भेद के बिना वस्तु की स्थिति असंभव है। जगत् और जीव ईश्वर से पृथक् हैं किंतु ईश्वर द्वारा नियंत्रित हैं। सगुण ईश्वर जगत् का स्रष्टा, पालक और संहारक है। भक्ति से प्रसन्न होनेवाले ईश्वर के इशारे पर ही सृष्टि का खेल चलता है। यद्यपि जीव स्वभावत: ज्ञानमय और आनंदमय है परंतु शरीर, मन आदि के संसर्ग से इसे दु:ख भोगना पड़ता है। यह संसर्ग कर्मों के परिणामस्वरूप होता है। जीव ईश्वरनियंत्रित होने पर भी कर्ता और फलभोक्ता है। ईश्वर में नित्य प्रेम ही भक्ति है जिससे जीव मुक्त होकर, ईश्वर के समीप स्थित होकर, आनंदभोग करता है। भौतिक जगत् ईश्वर के अधीन है और ईश्वर की इच्छा से ही सृष्टि और प्रलय में यह क्रमश: स्थूल और सूक्ष्म अवस्था में स्थित होता है। रामानुज की तरह मध्व जीव और जगत् को ब्रह्म का शरीर नहीं मानते। ये स्वत:स्थित तत्व हैं। उनमें परस्पर भेद वास्तविक है। ईश्वर केवल इनका नियंत्रण

---

[1] जीवात्मनः प्रतिशरीरं भिन्नत्वादगुणत्वेन तत्र तत्रावच्छिन्नत्वाच्च भोगव्यतिकरः। अज्ञब्रह्मजीववाद उपाधिसम्बन्धिब्रह्मजीववादे चाज्ञानसम्बन्ध्युपाधिसम्बन्धि च ब्रह्मैवेति भोगव्यवस्था न सिध्यति। वेदान्तदीप २/३/४८

[2] उक्तस्वरूपः सनातनो ममांश एव सन्-जीवभूतः। -श्रीभाष्यवार्तिक २/३/१५०-१७८

[3] शरीर शरीरिणोर्विशेषण-विशेष्य-भूतयोः स्वरूप-स्वभावा-भेदेन च भेदक्षतेश्च मुख्यत्वात् विशिष्टवस्त्वेकदेशतया च विशेषणस्य परमात्मांशो जीवः। - वेदान्तदीप २/३/४२

करता है। इस दर्शन में ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, प्रकृति (भौतिक तत्व) उपादान कारण है। याज्ञवल्क्यस्मृति में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि एक आकाश घटादि में पृथक-पृथक दिखता है। एक आकाश अनेक जगह पर स्थित होता है- जैसे जलाशयों में सूर्य। उसी तरह प्रत्येक प्राणीयों में भूतात्मा एकधा और बहुधा दिखाई देता है उदाहरण के लिए एक चन्द्र स्वरूपतः एक एक और अलग प्रतिबिम्बों में बहुधा ज्ञेय बनता है।[1] जिस प्रकार बृस्पति ग्रह को चन्द्र का शतांश कहा जाता है उसी प्रकार भेद रहते हुए न्युनतावश जीव को ब्रह्म का अंश माना गया है।[2]

द्वैताद्वैत वेदांत:- निंबार्काचार्य ने जीव को ज्ञान स्वरूप तथा ज्ञान का आधार माना है। जीव और ज्ञान में धर्मी-धर्म-भाव-संबध अथवा भेदाभेद संबंध माना गया है। यही ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। ईश्वर जीव का नियंता, भर्ता और साक्षी है। भक्ति से ज्ञान का उदय होने पर संसार के दु:ख से मुक्त जीव ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करता है। अप्राकृत भूत से ईश्वर का शरीर तथा प्राकृत भूत से जगत् का निर्माण हुआ है। काल तीसरा भूत माना गया है। ईश्वर को कृष्ण राधा के रूप में माना गया है। जीव और भूत इसी के अंग हैं। यही उपादान और निमित कारण है। जीव-जगत् तथा ईश्वर में भेद भी है अभेद भी है। यदि जीव-जगत् तथा ईश्वर एक होते तो ईश्वर को भी जीव की तरह कष्ट भोगना पड़ता। यदि भिन्न होते तो ईश्वर सर्वव्यापी सर्वांतरात्मा कैसे कहलाता?

शुद्धाद्वैत वेदांत:- इसमें दु:ख आदि को ब्रह्म के धर्म माने गये है और पाप उसी का अंश है, परन्तु जिस प्रकार प्रकाश्य के दोष से प्रकाश दूर्षित हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म निर्दोष रहता है। दु:खादि धर्म अंश के ही होते है, अंशी के नही।[3] पुरूषोत्तम स्वामी ने कहा है कि भगवान अपनी लीला के लिए अनुभवार्थ जीवत्व प्रकट करते है, अतः जीव उनका साक्षात् अंश है। इसके माध्यम से वे प्रकृति जनित भोगों को अनुभव करते है एतदर्थ प्रकटित जीवरूप संसारी

---

[1] आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत्। तथात्मैको ह्यनेकस्थतो जलधारेष्ववांशुमाना। एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्। -याज्ञवल्क्यस्मृति ३/१४३-१४४

[2] शताशश्चन्द्रबिम्बस्य गुरूबिम्बं यथा तथा। भेदेपि न्यूनतामात्राज्जीवो ब्रह्मांश उच्यते। -न्यायामृताद्वैतसिद्धि –पृ.११८७

[3] दु:खादयोपि ब्रह्म धर्मा इति। अतो द्वैत-बुद्धया अंशस्यैव दुखित्वं न परस्य। अथवा प्रकाशः प्रकाश्य दोषेण यथा न दुष्टः। पापस्यापि तंदशत्वादिति। -ब्रह्मसूत्र-अणु २/३/४३

अंश मूलभूत जीव का अंश है। कहने का तात्पर्य यह है कि आनन्दयुक्त मूल जीव है किन्तु संसारी में आनन्दांश तिरोहित भगवान भोगों की विविधता का स्वयं अनुभव करता है।[1] वल्लभाचार्य ने इस परम्परा में ब्रह्म को स्वतंत्र तत्व माना है। सच्चिदानंद श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं और जीव तथा जगत् उनके अंश हैं। वही अणोरणीयान् तथा महतो महीयान् है। वह एक भी है, नाना भी है। ब्रह्म ही अपनी इच्छा से अपने आप को जीव और जगत् के नाना रूपों में प्रकट करता है। माया उसकी शक्ति है जिसी सहायता से वह एक से अनेक होता है परंतु अनेकत्व मिथ्या नहीं है। श्रीकृष्ण से जीव-जगत् की स्वभावत: उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति से श्रीकृष्ण में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। जीव-जगत् तथा ईश्वर का संबंध चिनगारी आग का सबंध है। ईश्वर के प्रति स्नेह भक्ति है। सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य लेकर ईश्वर में राग लगाना जीव का कर्तव्य है। ईश्वर के अनुग्रह से ही यह भक्ति प्राप्य है, भक्त होना जीव के अपने वश में नहीं है। ईश्वर जब प्रसन्न हो जाते हैं तो जीव को (अंश) अपने भीतर ले लेते हैं या अपने पास नित्यसुख का उपभोग करने के लिए रख लेते हैं। इस भक्तिमार्ग को पुष्टिमार्ग भी कहते हैं।[2]

अचिंत्य भेदाभेद वेदांत:- महाप्रभु चैतन्य ने इस संप्रदाय में अनंत गुणनिधान, सच्चिदानंद श्रीकृष्ण परब्रह्म माने गए हैं। ब्रह्म भेदातीत हैं। परंतु अपनी शक्ति से वह जीव और जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। ये ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न हैं। अपने आपमें वह निमित्त कारण है परंतु शक्ति से संपर्क होने के कारण वह उपादान कारण भी है। उसकी तटस्थशक्ति से जीवों का तथा मायाशक्ति से जगत् का निर्माण होता है। ब्रह्म के मायाश्रय और जीव के मायामोहित होने से भेद स्थिर है।[3] जीव अनंत और अणु रूप हैं। यह सूर्य की किरणों की तरह ईश्वर पर निर्भर हैं। संसार उसी का प्रकाश है अत: मिथ्या नहीं है। मोक्ष में जीव का अज्ञान नष्ट होता है पर संसार बना रहता है। सारी अभिलाषाओं को छोड़कर कृष्ण का अनुसेवन ही भक्ति है। वेदशास्त्रानुमोदित मार्ग से ईश्वरभक्ति के अनंतर जब जीव ईश्वर के रग में

---

[1] साक्षात् स्वक्रीडानुभवार्थ प्रकटितो जीवभावः सनातन पुरूषोत्तमांश एव साक्षात्। तद्द्वारा प्रकृत्युत्पादितभोगानुभवार्थं प्रकटितोशः सांसारिको जीवो मूलभूतजीवांशः। स स्वांश तत्र नयति तत्र तदिच्छा। - भगवद्गीता वल्लभभाष्य पर पुरूषोत्तम टीका २५/७

[2] जीवस्य ब्रह्मसम्बन्धि रूपमुच्यते। जीवो नाम ब्रह्मणोंश। विस्फुलिङ्गा इवाग्नेर्हि जड़जीवा विनिर्गताः। सर्वतः पाणिपादान्तात् सर्वतोक्षिशिरोमुखात्॥ निरिन्द्रयात् स्वरूपेणतादृशादति निश्चयः। संदशेन जड़ाः पूर्वं चिदंशेनेतरे अपि॥ अन्यधर्मतिरोभावान्मूलेच्छातोस्वतन्त्रिणः। इति ब्रह्मवादे अंशपक्ष एव। - अणु-ब्रह्मसूत्र २/३/४३

[3] मायाश्रयत्व मायामोहिततेत्वाभ्यां स्थिते तयोर्भेद तन्सजनस्यैवाभिधेत्वमायातम्। षट्संदर्भ, पृ.१२०

रँग जाता है तब वास्तविक भक्ति होती है जिसे रुचि या रागानुगा भक्ति कहते हैं। राधा की भक्ति सर्वोत्कृष्ट है। वृंदावन धाम में सर्वदा कृष्ण का आनंदपूर्ण प्रेम प्राप्त करना ही मोक्ष है।

अद्वैत वेदांत:- भारतीय परम्परा में अद्वैत उसे कहा गया है जिसकी अवगति द्विधा होती है वह द्वीत है और द्वीत के भाव को द्वैत कहा गया है[1]। जिस परा तत्त्व में द्वैतरूप द्विधाभाव नही रहता वह अद्वैत है[2]। ब्रह्म अद्वैत है उसे अपनी सत्ता के लिए किसी पर आश्रित रहने की अवश्यकता नही रहती है। जिस प्रकार समुद्र का तरंग होता है किन्तु तरंग का समुद्र नही कहा जा सकता, उसी प्रकार भेदनिवृत्ति होने पर भी जीव ब्रह्म का है। ब्रह्म वृत्ति की उपाधि से उपहित चैतन्य अपनी अंशता और ब्रह्म की अंशता का भान करते है।[3] जीवलोक में जीव सनातन ब्रह्मांश है जो प्रगतिगत मन और इन्द्रियों को वहन करता है।[4] ब्रह्मसूत्र में जीव को ब्रह्म का अंश माना गया है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार अग्नि के विस्फुलिंड्ग अंश के समान होने से लक्षणा द्वारा यह अंशता मान्य है क्योंकि अंश से रहित ईश्वर सादृश्यसम्बन्ध भी मिल जाता है क्योंकि अग्नि और चिनगारी में उष्णता के समान ईश्वर और जीव में चैतन्य गुण की समानता है। अतः दोनों में भेदाभेद के ज्ञान से अंशता का ज्ञान होता है।[5] अब यहां पर यह शंका उत्पन्न होती है कि जब एक ही तत्त्व को स्थापित करना है तब "एकत्व" का व्यवहार न करके "अद्वैत" क्यों कहा जाता है इसके दो कारण है- १) एकत्व संख्यावाचक है और संख्या द्रव्य न होकर गुण है। एक तत्त्व कहने से यह आशय निकलता है कि अनेक हो सकते है क्योंकि संख्या सापेक्ष रहती है। अतः भर्तृहरि ने इसके सन्दर्भ में कहा है कि पदार्थो के सम्बन्धरहित निरपेक्ष स्वरूपों में एकत्व, नानात्व, अस्तित्व एवं नास्तित्व की कल्पना करना असम्भव है।[6] इस

---

[1] द्विधेते द्वीतमित्याहुस्तद्भावो दैतमुच्यते। -बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक ४/३/१८०७

[2] न विद्यते द्वैतं द्विधाभावो यत्र तदद्वैतम्। -सिद्धान्तबिन्दु १०

[3]सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मायकीनस्त्वम्। सामुद्रो ति तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः। -षट्पदी

[4] ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ -ब्रह्मसूत्र २५/७

[5] जीवं ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाग्नेविस्फुलिङ्गा अंश इवांशः। न हि निरवयवस्य मुख्योशः संभवति चैतन्यं चाविशिष्टं जीवेश्वरयोः यथाग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्। अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः। ब्रह्मसूत्र २/३/४३

[6] नैकत्वं नापि नानात्वं न सत्त्वं नापि नास्तिता।

आत्मतत्त्वेषु भावानामसंसृष्टेषु विद्यते।– वाप ३/१/२१

परम्परा के मुख्य विद्वानों के अन्तर्गत **गौडपाद** (३०० ई.) तथा उनके अनुवर्ती आदि शंकराचार्य (७०० ई.) ब्रह्म को प्रधान मानकर जीव और जगत् को उससे अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार तत्त्व को उत्पत्ति और विनाश से रहित होना चाहिए। नाशवान् जगत तत्त्वशून्य है, जीव हमें जैसा व्यवहारिक जगत में जैसा दिखाई देता है वैसा तात्त्विक दृष्टि से नहीं है। जाग्रत और स्वप्नावस्थाओं में जीव जगत् में रहता है परंतु सुषुप्ति में जीव प्रपंच ज्ञानशून्य चेतनावस्था में रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जीव का शुद्ध रूप सुषुप्ति जैसा होना चाहिए। सुषुप्ति अवस्था अनित्य है अत: इससे परे तुरीयावस्था को जीव का शुद्ध रूप माना जाता है। इस अवस्था में नश्वर जगत् से कोई संबंध नहीं होता और जीव को पुन: नश्वर जगत् में प्रवेश भी नहीं करना पड़ता। यह तुरीयावस्था अभ्यास से प्राप्त होती है। ब्रह्म-जीव-जगत् में अभेद का ज्ञान उत्पन्न होने पर जगत् जीव में तथा जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। तीनों में वास्तविक अभेद होने पर भी अविद्या,माया अर्थात अज्ञान के कारण जीव अपने वास्त्विक स्वरूप को खोकर जगत् को अपने से पृथक् समझता लगता है । परंतु यह स्वप्नसंसार की तरह दृश्यमान जगत् भी जीव की कल्पना मात्र है। यहा भेद मात्र इतना ही है कि स्वप्न व्यक्तिगत कल्पना का परिणाम है जबकि जाग्रत अनुभव-समष्टि-गत महाकल्पना का। स्वप्नजगत् का ज्ञान होने पर दोनों में मिथ्यात्व सिद्ध है उसी तरह व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप का अभिज्ञान होने पर दृश्यजगत का मिथ्यात्व का प्रतिभान हो जाता है। वेदांत में जीव की सत्ता को जगत् का अंग होने के कारण पूर्णतः मिथ्या नहीं माना है। मिथ्यात्व का अनुभव करनेवाला जीव परम सत्य है। यदि हम जीव को मिथ्या मानते है तो सभी ज्ञान को मिथ्या मानना पडेगा किन्तु जिस रूप में जीव संसार में व्यवहार करता है उसका वह रूप अवश्य मिथ्या है। जीव की तुरीयावस्था भेदज्ञान शून्य शुद्धावस्था है।[1] ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का संबंध मिथ्या संबंध है। इनसे परे होकर जीव अपनी शुद्ध चेतनावस्था को प्राप्त होता है, जहाँ भेद लेश मात्र नही रहता, उसी अद्वैत अवस्था को ब्रह्म कहते हैं। इस परम्परा में विवर्त्तवाद सिद्धान्त के माध्यम से जगत के मिथ्ययता को एक उदाहरण से समझाने का प्रयास किया है -रस्सी में प्रतिभासित होने वाले सर्प की तरह यह जगत् न तो सत् है, न असत् है। सत् होता तो इसका कभी नाश न होता, असत् होता तो सुख, दु:ख का अनुभव न होता। अत: सत् असत् से विलक्षण अनिवर्चनीय अवस्था ही वास्तविक अवस्था हो सकती है। उपनिषदों में नेति नेति कहकर इसी अज्ञातावस्था का प्रतिपादन किया गया है। अज्ञान भाव रूप है क्योंकि इससे वस्तु के अस्तित्व की उपलब्धि होती है, यह अभाव रूप है, क्योंकि इसका वास्तविक रूप कुछ भी नहीं है। इसी अज्ञान को जगत् का कारण माना जाता है। अज्ञान का ब्रह्म के साथ क्या संबंध है, इसका सही उत्तर कठिन है परंतु ब्रह्म अपने शुद्ध निर्गुण रूप में अज्ञान विरहित है, किसी तरह वह भावाभाव विलक्षण अज्ञान से आवृत्त होकर सगुण ईश्वर कहलाने लगता है और इस तरह सृष्टिक्रम चालू हो जाता है। ईश्वर को

[1] परे व्यये सर्व एकीभवन्ति। मु.उ ३/२/७

अपने शुद्ध रूप का ज्ञान होता है परंतु जीव को अपने ब्रह्मरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधना के द्वारा ब्रह्मीभूत होना पड़ता है। जब जीव में 'तत्त्वमसि' का उपदेश सूनता है तो जीव अपने में 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करने लगता है। उस अवस्था में संपूर्ण जगत् को आत्ममय तथा अपने में सम्पूर्ण जगत् को देखता है क्योंकि उस समय उसके (ब्रह्म) के अतिरिक्त कोई तत्व नहीं होता। इसी अवस्था को तुरीयावस्था या मोक्ष कहते हैं।

अद्वैत वेदान्त दर्शन में सूक्ष्म शरीर का स्वरुप:-

वेदान्त दर्शन में सर्वेन्द्रिययुक्त मन प्राण से सयुक्त रहता है।[1] मन संयुक्त प्राण जीव के साथ संयुक्त रहता है। इस कारण श्रुति में बताया गया है कि जब जीवन का अन्तिम काल समुपस्थित होने पर प्राण समुह जीव के अभिमुख समागत होते है।[2] प्रश्नात्मक इस मायावी जगत में व्यक्तियों का व्यवहारिक जीवन का समय दूसरों की निन्दा, चुगली करने में गुजरता हुआ प्रतित होता है। हम हमेशा अपने आसपास या अन्य जानकार लोगों का दोषान्वेषण करके उनकी आलोचना करते रहने सम्पन्न होता है। एक-दूसरों को गलत सिद्ध करने में एवं अपने मत को स्थापित करने में हमारा व्यवहार सपन्न होता है। अब यहाँ शकां उत्पन्न होती है कि इस व्यवहार के पीछे कौनसी अदृष्ट शक्ति कार्य कर रही है? जब दूसरों को अपने मन के मुताबिक चलाने की इच्छा रखने वाले जब अपने को अन्तःदृष्टि से देखते हैं तो पता चलता है कि अपना शरीर एवं मन तो अपनी ही ईच्छानुसार चलते रहते हैं। हमारा अपने ही मन एवं शरीर पर नियन्त्रण नही है तो हम दूसरे शरीर पर कैसे नियन्त्रण स्थापित कर सकते है। इस तरह मनुष्य अपनी अनियन्त्रित ईच्छाओं के कारण युगों-युगों से दुःखी होता आ रहा है। यह संसार लम्बे समय से अनवरत रूप से बिना बदलाव के चलता आ रहा है किन्तु यहां बदलाव सिर्फ जीवों के स्थूल शरीर में होता है। क्यों मनुष्य हमेशा कुछ प्राप्त करने के लिए इधर-उधर भटकता रहता है? क्यों मानव को कहीं भी टिकाव नहीं आता? क्यों वह शारीरिक स्वास्थ्य ठिक होने पर भी भटकता रहता है? स्वस्थ होने पर भी उसके जीवन में अकेलापन क्यों अनुभव करता है? मनुष्य अपने अकेलेपन को पुरा करने के लिये भौतिक संसार विषयों के प्रति आसक्त हो जाता है, जिसके फलस्वरूप विषयों के घाव की छाप से अनेक बीमारियों इकट्ठी कर लेता है। इसके सन्दर्भ में बहुत-सी बातों को

[1] तच्च प्राणेन संयुज्यते। 'तन्मनः प्राणे' इत्युत्तराच्छब्दात्। वेदान्त दर्शन ४/२/३

[2] बृ. ४ अ, ३ ब्रा.

विस्तारपूर्वक रखा जा सकता है परन्तु ऎसा करना विषयान्तर हो जायेगा । अब मेरे लिये अपने विषय पर ध्यान केन्द्रित अपेक्षित है। जीवन क्या है? पहले हम सांसारिक विषयों को देखते हैं, प्रभावित होते हैं, फिर हमारे भीतर उनके प्रति इच्छा पैदा होती है, फिर उन्हें पाने की इच्छा हमारी इस जरूरत का रूप ले लेती है। यह जीवन-शैली ही हमारा जीवन बन जाती है। हमारी इन प्रतिक्रयाओं की शुरुआत हमारी इच्छाओं से होती है। इच्छा ने हमारे भीतर कहीं जन्म लिया। किसी सुन्दर वस्तु को देखकर मन तदनुरूप वस्तु अपेक्षा वाला हो जाता है, उसका कौन-सा स्थान होता है? हमारे अन्तःकरण में किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा भी बाद में बनेगी, पहले तो हमारे उससे प्रभावित होने की प्रक्रिया होती है। यह अदृश्य शक्ति कौन है जो हमें भोग-उपभोग करने के लिये प्रभावित करता रहता है। इस प्रभावित होने वाले के भीतर को नाम कुछ भी दें लें परन्तु एक बात स्पष्ट दिखायी देती है कि प्रभावित होने वाला यह पुर्जा हाड़-मांस का बना हुआ यह स्थूल शरीर नहीं सकता। हमारे भीतर कोई ऎसी सूक्ष्म शक्ति है जो हमें भौतिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए प्रभावित करती है। यह नितांत सत्य है कि सभी जीवधारियों का भौतिक अस्तित्व पदार्थमूलक है, अर्थात् उनके अस्तित्व की अनुभूति उनके दृश्य या **स्पृश्य शरीर** के माध्यम से ही होती है । क्या इस भौतिक शरीर से परे भी कोई ऐसी सत्ता है जो जीव के निर्जीव पदार्थों से भेद का आधार हो ? क्या कुछ ऐसा है जो जीव के दैहिक नाश के बाद भी बचा रहता है, जो स्वयं नष्ट नहीं होता है ? अनादि काल से मनुष्य इन प्रश्नों के उत्तर खोजता आ रहा है। वस्तुओं को देखकर, बातों को सुनकर अपने अन्दर क्रिया-प्रतिक्रिया की हलचल होती है। इन क्रिया-प्रतिक्रियाओं से इस बात का आंशिक अभिज्ञान हो जाता है कि हमारे भौतिक स्थूल शरीर में कोई आनन्दमय चेतन यानी सूक्ष्म का अस्तित्व स्पष्ट रूप से दिखाई देता हैं। यहां सूक्ष्म ही हमारे स्थूल शरीर का संचालन करता है। यह सूक्ष्म जो हमारे शरीर का स्वामी बना हुआ है, वह सूक्ष्म वृत्तियों वाला सूक्ष्म शरीर है। इससे भी जीव युक्त आत्मा जीवात्मा होती है। अलग-अलग जीवात्माओं पर अलग-अलग जीवनों को जीव के दौरान चढ़े हुए विचारों के सूक्ष्म संस्कार भी अलग-अलग होते हैं, इसीलिए अलग-अलग सूक्ष्म जीवात्माएं अपने-अपने तरीके से अलग-अलग प्रतिक्रियाएं देती हैं। यह स्थूल शरीर तो भीतर की प्रतिक्रिया के बाहर आने का साधन

मात्र होता है। प्रत्येक व्यक्ति की प्रति-प्रतिक्रिया अलग-अलग हैं जो कि अलग-अलग दिखाई देती है। प्रतिक्रियाओं का आधार सब में एक जैसा दिखाई देता है। जीवात्माओं की यह क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं जीवों के कर्म का कारण बनती हैं। जैसे कर्म भाव जीवात्माओं से स्थूल शरीर के माध्यम से स्वतन्त्र रूप से निकलते रहते है। यह कर्मों के संस्कार जीवों को विभिन्न योनियों में मिलने वाले फलों का आधार होते हैं। इस प्रकार कर्म जीवात्मा जीवों के जन्म का कारण है । जो व्यक्ति अच्छे-बुरे कर्म करता वह अपने ही कर्मों के अच्छे-बुरे फलों का भोग करता रहता है। वैदिक दर्शन के अनुसार परमात्मा, जीवात्माओं के मित्र के रूप में जीवात्माओं के भीतर ही विद्यमान रहकर जीवों के समस्त कार्य को संभव करवाता है।[1] ब्रह्मसूत्र में जीव एवं शरीर की कर्म फल व्यवस्था के सन्दर्भ में कहा गया है जीव की सभी शरीरादि में सन्तति नही होने से कर्मफल की व्यवस्था को लेकर अव्यवस्था नही होती।[2] सत्कर्म के फल की इच्छा और असत्कर्म की अनिच्छा का अभिसन्धान सब जीवों में रहता है। जीवों में अदृष्ट के अनुसार ही फलव्यवस्था है।[3] उदाहरण के लिए जिस प्रकार जलसूर्यक का उसी प्रकार जीव परमात्मा का आभास माना गया है। जो वास्तव में वस्तु एवं साक्षात् वस्तु दोनों ही नही है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार एक जलसूर्यक के कांपने पर दुसरा जलसूर्यक निष्कम्प रह सकता है उसी प्रकार एक जीव के कर्मफलभोग में दुसरे का सम्बन्ध नही होता। इस प्रकार जीवों में कर्म फल के मिश्रण की अव्यवस्था नहीं होती है।[4] जिस प्रकार घटादि के चलने पर आकाश जाता हुआ प्रतित होते हुए भी वस्तुतः अविचल रहता है और जिस प्रकार पात्र के कांपने से सूर्यप्रतिबिम्ब के कम्पित देखने पर भी सूर्यनिष्कम्प में अंशी ईश्वर निर्लिप्त रहता है। जीव की दुःख प्राप्ति अविद्याकृत होने से उपाधि के निरस्त होने पर जीवत्व हानि की दशा में जीव की ब्रह्मता का प्रतिपादन 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त वाक्यों से करते है।[5] 'माण्डूक्य' उपनिषद् में शरीर,

---

[1] प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्। ब्रह्मसूत्र २/३/५३

[2] असन्ततेश्चाव्यतिकरः। ब्रह्मसूत्र २/३/४९

[3] अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्। -ब्रह्मसूत्र २/३/५३

[4]आभास एव चैव जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः। न स एव साक्षात् नापि वस्त्वन्तरम्। अतश्च यथ नैकस्मिञ्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिञ्जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः। एवमव्यतिकर एव कर्मफलयोः। -ब्रह्मसूत्र शा.भा २/३/५०

[5] यथा चाकाशो घटादिषु गच्छसु गच्छन्निव विभाव्यमानोषि न परमार्थतो गच्छति, यथा चौदशरावादिकम्पनात् तद्गते सूर्यप्रतिबिम्बे कम्पमानेपि न तद्वान सूर्यः कम्पते एवमविद्या प्रत्युस्थापिते जीवाख्योंशे दुःखायमानेपि न तद्वाननीश्वरो दुःखायते। जीवस्यापि दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैव तथा चाविद्या निमित्त-जीवभाव-व्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्तास्तत्त्वमसीत्येवमादयः। ब्रह्मसूत्र २/३/४६,

आत्मा, तथा परमात्मा को क्रमशः घट (घड़ा), उसके भीतर सीमाबद्ध आकाश, और बाहर अनंत तक फैले आकाश से तुलना के माध्यम से समझाया गया है। गुरु द्वारा अपने जिज्ञासु शिष्य के समक्ष कही गयी बात अधोलिखित दो श्लोकों में अभिव्यक्त है:

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः ।

घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ।।

घटादीषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।

आकाशे प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि।[1]

अर्थात् जिस प्रकार घड़ों के निर्माण पर आकाश विभक्त हो जाता है और उसके अलगअलग भाग उन घड़ों - उनके भीतर का रिक्त स्थान बाहर क के अंदर सीमित हो जाते हैं और ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे कि े विस्तृत आकाश से भिन्न है, उसी प्रकार **आत्मा (परमात्मा)** पदार्थों के मिलन से जीव रूपों में प्रकट होता है । और घड़ों के टूटकर बिखर जाने पर जैसे उनके भीतर समाये हुए आकाशीय क्षेत्रों का बाह्याकाश से भेद मिट जाता है और वे पुनः बाह्याकाश के साथ एकाकार हो जाते हैं, ठीक वैसे ही **जीवात्मा**एं (सूक्ष्म शरीरादि)पदार्थों के संयोग से विमुक्त होकर परम आत्मा में विलीन हो जाते हैं । यहां पर यह बात ध्यान में रखा जाना चाहिए कि वैदिक दर्शन में यह अवधारणा प्रचलित है कि जीवधारी के दो प्रकार के शरीर होते हैं-एक **'स्थूल शरीर'** और दूसरा **'लिंग देह'** या **'सूक्ष्म शरीर'**। व्यवहारिक जगत में जीव के अस्तित्व का प्रतिभान उसके स्थूल शरीर के माध्यम से होता है। यह वह शरीर है जिसे वह मृत्यु के समय त्यागता है। वह प्रकृति से सूक्ष्म शरीर के माध्यम से बंधा रहता है। इस सूक्ष्म शरीर में **पंचमहाभूत)'क्षिति जल पावक गगन समीरा' अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश एवं वायु(** सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते है। मृत्यु के पश्चात् इसी का 'प्रेत' रूप में संसार के साथ बंधन बना रहता है; और इसी में जीव के संस्कार संचित रहते हैं । वस्तुतः घटाकाश की जो तुलना यहां प्रस्तुत है वह इस सूक्ष्म शरीर से संबंधित है, न कि स्थूल शरीर से। बन्धन की अवस्था में यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मृत्यु के चक्र में उलझा रहता और मोक्ष की अवस्था में जीवात्मा

भूतेषु तच्छ्रुतेः। वेदान्तदर्शनम् ४/२/५, बृ.४ अ., ५ ब्रा.

[1] माण्डूक्योपनिषद्, अद्वैतप्रकरण, श्लोक ३ एवं ४

इससे बंधन तोड़कर परमात्मा में प्रलीन हो जाता है। उपनिषदों में परम सत्य के लिए 'ब्रह्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह 'बृह्' धातु से बना है, जिसका अर्थ बढ़ना बाहर को फूटना' होता है। इस व्युत्पत्ति से उमड़ती, उफनती, अनवरत वृद्धि 'बृहत्तवम्' की व्यंजना होती है। विश्व आत्मा और उससे मिलने की आकांक्षा रखने वाली मनुष्य की आत्मा में जो मूल सम्बन्ध है, ब्रह्म शब्द उसका अभिव्यंजक है। जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती और निगल जाती है, जैसे पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुष से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से यह विश्व प्रकट होता है। ज्ञानेन्द्रियों के लिए ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, हाथ-पैर से हीन, अत्यन्त सूक्ष्म है किन्तु सम्पूर्ण भूतों का कारण होने से विवेकी लोग उसे सर्वत्र देखते हैं। जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूप वाले हजारों स्फुलिंग (चिनगारियाँ) निकलते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से अनेकों भाव प्रकट होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।[1]

अद्वैत वेदान्त दर्शन का मानना है कि ईश्वर सृष्टि की रचना केवल लीला के लिए करता हैं।[2]शंकराचार्य का कहना है कि सृष्टि रचना ईश्वर का स्वभाव हैं। जैसे मनुष्य के शरीर में श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं उसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश होता रहता हैं।[3] वेदान्तसार प्रकरण ग्रंथ में सदानन्द ने सृष्टि की प्रक्रिया के अन्तर्गत सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर का वर्णन किया हैं। उनके अनुसार, तमोगुणप्रधान किन्तु रजस् एवं सत्त्व की यत्किञ्चित् सत्ता से युक्त विक्षेप शक्ति सम्पन्न अज्ञानोपहित चैतन्य अर्थात् ब्रह्म ही सृष्टि का कारण हैं। उससे सर्वप्रथम सूक्ष्मतन्मात्रारुप आकाश की उत्पत्ति होती है क्रमश: आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से सूक्ष्मतन्मात्रारुप पृथ्वी की उत्पत्ति होती हैं।[4] इन्हीं से सूक्ष्मभूत अपञ्चीकृत आकाशादि से सूक्ष्मशरीर, पञ्चीकृतमहाभूत आदि की उत्पत्ति होती है तथा पञ्चीकृत महाभूतों से स्थूलशरीर उत्पन्न होते हैं। यह सूक्ष्मशरीर जो कि अपंचीकृत महाभूतों से बना

---

[1] http://upanishad.vishwahindusamaj.com/hindi/2008/01/4.html

[2] लोकवन्तु लीलाकैवल्यम्। ब्रह्मसूत्र-2.1,33

[3] यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोSनाभिसंधाय बाह्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यपेक्ष्य किञ्चित प्रयोजनान्तरं स्वभावदेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिभविष्यति। शा.भा.2.1,33

[4] तम:प्रधान विक्षेपशक्ति मदज्ञानोपहितचैतन्याकाश आकाशद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोदभ्य:पृथिवी चोत्पधते तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूतं इत्यादिश्रुते:।वेदान्तसार571

हुआ है और जिसे लिङ्गशरीर कहते है, वह प्रच्छन्न वासनायुक्त है। जीव को उनके पूर्वकर्मफलजनित सुख-दुःख का यह अनुभव कराने वाला है। अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण यह आत्मा की उपाधि है और अनाधि है।[1]

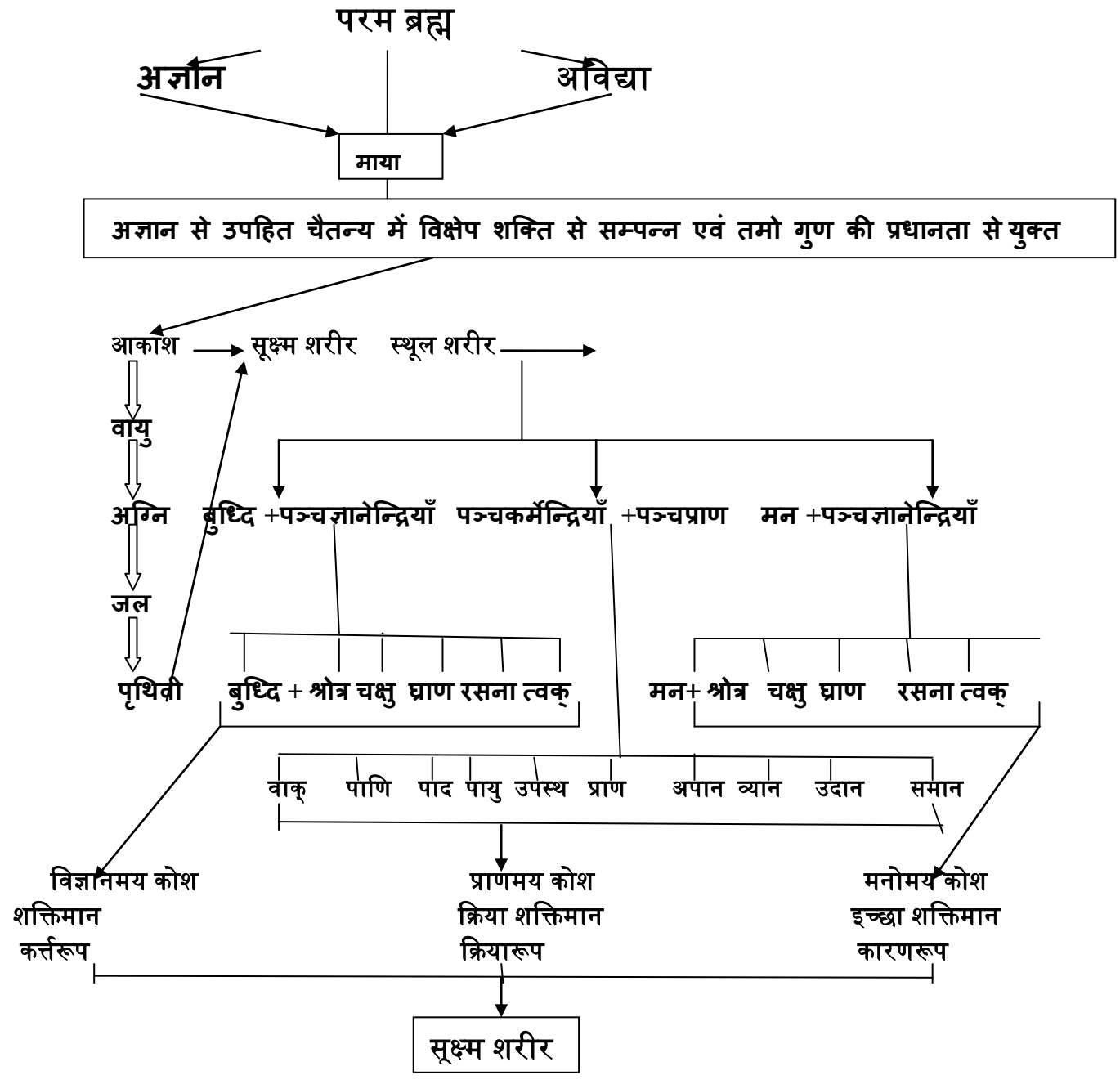

[1] इदं शरीरं अणु सूक्ष्मसंज्ञितं लिङ्गं त्वपञ्चीकृतभूतसम्भवम्।
सवासनं कर्मफलानुभावकं स्वाज्ञानतोऽनादिरूपाधिरात्मनः। -विवेकचूड़ामणि ९७

सूक्ष्मशरीरः-

सूक्ष्मभूत अपञ्चीकृत आकाशादि से सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति होती हैं। इसे किसी भी प्रकार से देख अथवा छू नहीं सकते, इसी कारण इसे सूक्ष्मशरीर कहा जाता हैं। इसका ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा होता हैं। इसका अपर नाम 'लिंगशरीर' भी हैं। इसे लिंग दो अर्थों में कहा जाता है- १.**लिंगयते ज्ञाप्यते यत् तत् लिंगम्-** इस व्युत्पत्ति से अर्थ है, जो लिंगित हो अर्थात् अनुमान प्रमाण से ज्ञात हो। २.**लिंगयते ज्ञाप्यते अनेन**- इस व्युत्पत्ति से अर्थ् है, अनुमापक शरीर अर्थात् यह शरीर आकाशादि सूक्ष्मभूतों का अनुमापक हैं। **लिंग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मा एभिरिति लिंगानि । शरीर-प्रतिष्ठात्वात्, धर्मादिद्वारेण शरीरसाधनत्वाद् वा शरीराणी । लिंगानि च तानि शरीराणी चेति लिंगशरीराणि**।अर्थात् जिसके द्वारा प्रत्यगात्मा के अस्तित्व का ज्ञापन हो, तथा धर्माधर्मादि के अर्जन से स्थूल शरीर की प्राप्ति हुई हो, उसे लिंगशरीर कहते हैं । दूसरे शब्दों में प्रत्यगात्मा की सत्ता का लिंग अर्थात् ज्ञापक होने के कारण ही सूक्ष्म शरीर लिंगशरीर कहलाता है । यह सूक्ष्म शरीर प्रत्यगात्मा की सत्ता का ज्ञापक किस प्रकार से है, इसे विद्वन्मनोरञ्जनी में रामतीर्थ ने इस प्रकार स्पष्ट किया है – **"विमतानीन्द्रियाणि प्राणश्च स्वातिरिक्तस्वानुगतचैतन्याधिष्ठानपूर्वकप्रवृत्तयोऽचेतनात्वाद्रथादिवत्" इति** । अर्थात् विवादास्पद इन्द्रियाँ और प्राण स्वयं अचेतन होने के कारण, अचेतन रथ इत्यादि की भाँति ही, स्वातिरिक्त किसी चेतन के द्वारा अधिष्ठित होकर ही प्रवत्तिशील होते हैं, अतः उनकी क्रिया या प्रवृत्ति इनसे भिन्न किसी चेतन तत्त्व का अनुमान कराते हैं । यह तत्त्व शरीरान्तर्गत स्थित होने से प्रत्यगात्मा कहा जाता है । अचेतन करण चेतन कर्ता के अभाव में क्रियाशील नहीं हो सकते, जैसे बढई के द्वारा चलाये जाने पर ही बसूला, आरी इत्यादि औजारों से लकड़ी काटने का कार्य सम्पन्न होता है, उसके अभाव में नहीं। वेदान्त परिभाषा में लिंग शरीर के सन्दर्भ में कहा गया हैं- **"पूर्वोक्तैरपञ्चीकृतैर्लिंगशरीरं परलोकयात्रानिर्वाहकं मोक्षपर्यन्तं स्थायी मनोबुद्धिभ्यामुपेतं ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चक-कर्मेन्द्रियपञ्चक-प्राणादि-पञ्चक-संयुक्तं जायते। तच्च द्विविधं-परमपरं च। तत्र परं हिरण्यगर्भ- लिंगशरीराणि, अपरमस्मदादिलिंगशरीरम्। तत्र हिरण्यगर्भलिंग शरीरं महत्तत्त्वम्, अस्मदादि-लिंगशरीरमहङ्कार इत्याख्यायते।"**[1] **अर्थात्** पूर्वोक्त अपञ्चीकृत सूक्ष्म भूतों के योग से ही परलोकगमनादि समस्त कार्यो का निर्वाहक(कर्तृ), मोक्ष तक स्थायी, लिंगशरीर उत्पन्न होता है।

[1] वेदान्तपरिभाषा, पृ.३४०-४१

यह लिंग शरीर मन, बुद्धि, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और पञ्च प्राणों से युक्त रहता है।(उक्तार्थ में मैत्रेयोपनिषद का प्रमाण देते है) इस कारण यह वचन है-पञ्च-प्राण,मन, बुद्धि और दस इन्द्रियों से युक्त एवं अपञ्चीकृत भूतों से बना हुआ यह सूक्ष्म शरीर भोग का साधन है। सदानन्द ने भी सूक्ष्मशरीर को १७ अवयवों से निर्मित लिंग शरीर कहा है- **सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिंगशरीराणि।**[1] पञ्चज्ञानेन्द्रियां, पञ्चकर्मेन्द्रियां, पञ्चवायु तथा बुद्धि एवं मन आदि ये सत्रह अवयव हैं। वेदान्त परिभाषा में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि – पूर्वोक्तैराञ्चीकृतैर्लिङ्गशरीरं परलोकयात्रानिर्वाहकं मोक्षपर्यन्तं स्थायि मनोबुद्धिभ्यामुपेतं ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चक-कर्मेन्द्रियपञ्चक-प्राणादिपञ्चक-संयुक्तं जायते। तदुक्तं- पञ्च-प्राण-मनोबुद्धि-दशेन्द्रिय-समन्वितम्। अपञ्चीकृत-भूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्। इति तच्च द्विविधं-परमपरं च। तत्र परं हिरण्यगर्भ- लिङ्गयतिप षरमस्मदादिलिङ्गशरीरम्। तत्र हिरण्यगर्भलिङ्ग शरीरं महत्तत्वम्, अस्स्मदादि लिङ्गशरीरमहङ्कार इत्याख्यायते।[2]

पञ्चदशीकार के अनुसार **बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैमनसा धिया। शरीरं सप्तदशाभि: सूक्ष्मं तल्लिंहमुच्यते॥**[3] वह लिंगशरीर पर-अपर भेद से दो प्रकार का स्वीकार किया है। इनमें हिरण्यगर्भ का लिंगशरीर 'पर' होता है जो कि व्यापक स्वरूप वाला होता है, इसे 'महत्तत्त्व' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है तथा दूसरा हम लोगों का शरीर 'अपर' लिंगशरीर होता है, जो कि अव्यापक परिसीमित स्वरूप वाला होता है। इस लिंग शरीर को अंहकार भी कहा जाता है। हिरण्य गर्भ से लिंग शरीर तथा स्थूल शरीर के उत्पत्ति समस्त कार्यो में परमेश्वर को साक्षात कर्त्ता कहा है।[4] वेदान्त परम्परा में आत्मा को शुद्ध, व्यापक एव निष्क्रिय होने के कारण उसका परलोक में गमन और वहाँ से पुनः आगमन होना सम्भव नही है। मनुष्य का स्थूल शरीर तो यही भस्म हो जाता है। इसलिए इसे गमनादि का वाहक नही मान सकते। इस कारण परलोक गमनादि की उपपत्ति लगाने के लिए मोक्ष तक स्थिर रहने वाले लिंग शरीर को स्वीकार करना पड़ेगा। यहां जो पर एवं अपर संज्ञाएँ बताई गई है उन्हें समष्टि एवं व्यष्टि कहते है। विवेकचूड़ाणि में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि वह त्रिगुणविशिष्ट अज्ञान (माया या अविद्या) को अव्यक्त कहा गया

---

[1] वेदान्तसार से,61

[2] वेदान्त परिभाषा ,पृ ३४१

[3] पञ्चदशी, १/२३

[4] तत्र परमेश्वरस्य पञ्चतन्मात्राद्युत्पत्तौ सम्तसशावयवोपेतलिंगशरीरोत्पत्तौ हिरण्यगर्भ-स्थूलशरीरोत्पत्तौ च साक्षात्कर्तृत्वम्।- वेदान्तपरिभाषा, पृ.३४३

है, जो आत्मा का कारण शरीर है उसे अन्य शरीर से विभक्त करने वाली अवस्था सुषुप्ति है। जिसमें सम्स्त इन्द्रियों एवं अन्तःकरणों की वृत्ति प्रलीन रहा करती है।[1] वेदान्तसार में इसके सन्दर्भ में कहा है कि अज्ञान समष्टिरूप माया ईश्वर की उपाधि है, जिसे अखिल प्रपञ्च का कारण होने से कारण शरीर कहा गया है। अज्ञान की व्यष्टि जीव की उपाधि है जो अंहकारादि का कारण होने से कारण शरीर आनन्दप्रचुर तथा कोश के समान आच्छादक होने से आनन्दमय कोष और समस्त स्थूल-सूक्ष्म रचना का लयस्थान होने से सुषुप्ति है, वही कारण शरीर है।[2]

सूक्ष्मशरीर की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया: -

सूक्ष्म शरीर की अभिव्यक्ति तात्त्विक दृष्टि से तब होती है जब परम परमेश्वर सृष्टि करते समय समस्तप्रपञ्च के स्वरूप का 'यह ऐसा है' इस प्रकार का आकलन कर लेता है, उसके अनन्तर 'मैं यह उत्पन्न करूँगा ऐसा संकल्प करता है। वह सत्य संकल्प होने से उसके संकल्प के अनुसार क्रमशः तमः प्रधान एवं विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से आग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी उत्पन्न होती है, उस अर्थात् सर्व-प्रसिद्ध इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ- इत्यादि श्रुति से यह बात प्रमाणित होती है । उन आकाश इत्यादि में जड़ता की अधिकता दिखाई पड़ने से उसके कारण अज्ञान में तमोगुण की प्रधानता मानी जाती है। उस समय अर्थात् सृष्टि-काल में उन आकाश इत्यादि में सत्त्व, रजस् तथा तमस् कारण में रहने वाले गुणों के न्यूनाधिक्य के अनुपात से उत्पन्न होते है (अर्थात् इनमें भी तमोगुण की अधिकता, तथा सत्त्व एवं रजोगुण की न्यूनता उत्पन्न हो जाती है) । ये आकाशादि ही सूक्ष्मभूत, तन्मात्र और अपञ्चीकृत कहे जाते हैं । इनसे सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल अर्थात् पञ्चीकृत महाभूत उत्पन्न होते हैं।[3] इन अपञ्चीकृत आकाशादिभूतों को ही 'शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा उत्पन्न होते है। इन्हे पञ्च तन्मात्रायें कहते है। उन भूतों में से आकाश का गुण शब्द है। किन्तु वायु के शब्द और स्पर्श दो गुण, तेज के शब्द,स्पर्श और रूप तीन गुण, जल के शब्द,स्पर्श, रूप

---

[1] अव्यक्तमेतत् त्रिगुणैर्निरूक्तं तत् कारणं नाम शरीरमात्मनः।
सुषुप्तिरेतस्य विभक्त्यवस्था प्रलीनसर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्तिः॥ वि.चू १२२

[2] ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणात् कारणशरीरम्। ....व्यष्टि...अहंकारादिकारणात्वात् कारणशरीरमानन्द-प्रचुरत्वात् कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिः। वेदान्तसार पृ.४७-४९

[3] तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाशः, आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतेः । तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य । तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते । एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते । एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते । वेदान्तसार,१९

और रस चार गुण तथा पृथ्वी शब्द,स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच गुण है। [1] यह अपञ्चीकृत भूत त्रिगुणात्मक माया के कार्य होने से त्रिगुणात्म रहते है।[2] सृष्टि में जड़ता का प्राधान्य होने के कारण ईश्वर को भी तमोगुण से युक्त विक्षेपशक्ति से उपहित माना जाता हैं। ये पांचों तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और व्यक्त नहीं होते, अत: इन्हें सूक्ष्मभूत या तन्मात्रा कहा जाता हैं। इन तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश से पृथक-पृथक पांच इन्द्रियों की उत्पत्ति होती हैं।[3] आकाश तन्मात्रा से श्रोत्र, वायु तन्मात्रा से स्पर्श, अग्नि तन्मात्रा से चक्षु, जल तन्मात्रा से जिह्वा तथा पृथ्वी तन्मात्रा से घ्राण इन्द्रिय की उत्पत्ति होती हैं। इन पांचों का निवास स्थान क्रमश: कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका में है और ये क्रमश: शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध का अनुभव कराती हैं।[4]आकाश तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश की समष्टि से बुद्धि और मन नाम की दो वृत्तियों की उत्पत्ति होती हैं। बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति[5] तथा मनस् संकल्प विकल्पात्मिका वृत्ति हैं।[6] चित्त का बुद्धि में और अहंकार का मन में अन्तर्भाव हैं।[7] ये सभी प्रकाशस्वरूप है अर्थात् बाह्य संसार का ज्ञान कराती है, अत: इनको सत्त्वगुण से उत्पन्न माना गया हैं।[8] आकाशादि के राजसिक अंश से इसी प्रकार से कर्मेन्द्रियों और प्राणों की उत्पत्ति होती हैं।[9] कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति आकाशादि तन्मात्राओं से पृथक-पृथक होती हैं।[1]

---

[1] अथ जगतो जन्मक्रमो निरूप्यते-तत्र सर्गाद्यकाले परमेश्वरः सृज्यमान-प्रपञ्च-हेतु-प्राणिकर्म-सहकृतोऽपरिमितानिरूपितशक्ति-विशेषविशिष्ट-मायासहितः सन्नामरूपात्मक-निखिल-प्रपञ्चं प्रथमं बुद्धावाकलय्येदं करिष्यामिति संकल्पयति,'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय(छा.६-२-३) इति सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय'(तै.२-६) इत्यादिश्रुतेः तत आकाशादीनि पञ्चभूतानि अपञ्चीकृतानि तन्मात्रपद प्रतिपाद्यानि उत्पद्यन्ते। तत्राकाशस्य शब्दो गुणः। वायोस्तु शब्दस्पर्शौ। तेजस्तु शब्द-स्पर्श-रूपाणि। अपां तु शब्द-स्पर्श-रूप-रसाः। पृथिव्यास्तु शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः। - वेदान्त परिभाषा, पृ ३३४-३३५

[2] इमानि भूतानि त्रिगुणमाया-कार्याणि त्रिगुणानि। वेदान्तपरिभाषा, पृ.३३७

[3] तेषु जाडयाधिक्यदर्शनात्तम: प्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्वरजस्तमांसि कारणगुणक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते। वेदान्तसार,58

[4] ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि।वेदान्तसार,63

[5] बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्त: करणवृत्ति:।वेदान्तसार,65

[6] मनोनाम संकल्पविक्लपात्कान्त:करणवृत्ति।वेदान्तसार,66

[7] अनयोरेव चित्ताहकांरयोन्तर्भाव:।वेदान्तसार,67

[8] एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते।वेदान्तसार,70

[9]. रजोऽशै: पञ्चभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियाणि तु।वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे।।पञ्चदशी।

[1] एतानि पुनराकाशादीनां रजोऽशेभ्यो व्यस्तेभ्य: पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। वेदान्तसार,76

रजोगुणप्रधान आकाश से वाक्, रजोगुणप्रधान वायु से पाणि (हाथ) , रजोगुणप्रधान अग्नि से पाद, रजोगुणप्रधान जल से मलविसर्जन करने वाली कर्मेन्द्रिय पायु और रजोगुणप्रधान पृथ्वी से जननेन्द्रिय उपस्थ की उत्पत्ति होती हैं। प्राणों की उत्पत्ति पांच तन्मात्राओं से होती हैं। प्राणवायु पांच है- प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान।[1] प्राण-वायु नासिका के अग्रभाग में रहने वाली है, सामने की ओर गमन करने वाली हैं।[2] अपान वायु गुदा आदि स्थानों में रहने वाली है, नीचे की ओर गमन करने वाली हैं।[3] व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में निवास करने वाली, सब ओर गमन करने वाली हैं।[4] उदान वायु कण्ठ में रहता हुआ जीवात्मा को उपर ले जाती हैं।[5] समान वायु उदर में रहती है जो कि भोजन का परिपाक एवं विभाग करती हैं।[6] वेदान्त दर्शन में पञ्चकर्मेन्द्रियों, पञ्चज्ञानेन्द्रियों, पञ्च प्राणों, मन एवं बुद्धि इन सभी सत्रह तत्वों के योग से सूक्ष्म शरीर बनता हैं। सूक्ष्मशरीर में सत्त्व गुण की प्रबलता की अपेक्षा रजस् एवं तमस् गुण की प्रधानता अधिक होती है।[7] इस जीव में रजोगुण एवं तमोगुण की प्रबलता होने के कारण जीवों बन्धन और बन्धन से सदा आवागमन होता है जिसके कारण वह लगातार दुःखों का अनुभव करता है।[8] आगे इस जीव के सन्दर्भ में कहा गया है कि यह जीव कर्म के अनुसार जन्म लेता है और कर्म के अनुसार इसकी मृत्यु होती है। इसके जन्म-मरण का प्रवाह कर्म का ही फल है।[9] जन्म-मरण के प्रवाह के सिवाय कर्म का ओर कोई विलक्षण(मुक्ति) फल नही है क्योंकि कर्म अज्ञान का कार्य है और यह अज्ञान से ही बढ़ता है।[1] शांकर भाष्य में इसके सन्दर्भ में कहा गया है-

---

[1] वायव: प्राणपानव्यानोदानसमाना:।।वेदान्तसार,77

[2] प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती।।वेदान्सार,78

[3] अपानो नामावाग्गमनवान् पाय्वादिस्यानवर्ती।।वेदान्तसार,79

[4] व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती।।वेदान्तसार,80

[5] उदानो नाम कण्ठस्थानीय उर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायु:।।वेदान्तसार81

[6] समानो नाम शरीरमध्यगतशितपीतान्नादिसमीकरणकर:।वेदान्तसार,82

[7] रजसस्तमसश्चैव प्राबल्यं सत्त्वहानतः।
जीवोपाद्यौ तथा जीवे तत्कार्यं बलवत्तरम्॥ -सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार-संग्रह, ५०८

[8] तेन बन्धोऽस्य जीवस्य संसारोऽपि च तष्कृतः।
सम्प्राप्तः सर्वदा यत्र दुःखं भूयः स ईक्षते। - सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार-संग्रह, ५०९

[9] कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते।
कर्मणः कार्यमेवैषा जन्तुमृत्युपरम्परा॥ - सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार-संग्रह, ४११

[1] नैतस्मात्कर्मणः कार्यमन्यदस्ति विलक्षणम्।
अज्ञानकार्यं तत्कर्म यतोऽज्ञानेन वर्धते। सर्ववेदान्त सिद्धान्त सार-संग्रह, ४१२

"**मुख्य तु सप्तदशकं प्रथितं हि लिंगम्।**"[1] अर्थात् मुख्यत: १७ तत्त्वों के मेल से ही लिंग शरीर बनता हैं। ये १७ अवयव है- **"पञ्चप्राणमनोबुद्धि दशेन्द्रियसमन्वितम्।**

अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्मागं भोगसाधनम्।।"

इन १७ अवयवों को तीन कोशों- विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश तथा प्राणमय कोश में वर्गीकृत किया गया हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं।[2] पञ्चज्ञानेन्द्रियों सहित मन को मनोमय कोश कहते हैं।[3] चिदात्मा तो स्वरूपतः कर्ता या भोक्ता नहीं है, किन्तु विज्ञानमय कोश से आवृत्त या अवच्छिन्न होकर कर्ता हो जाता है, और जो कर्ता है, उसे स्वकर्मों का भोग भी भोगना पड़ेगा जिसके लिए उसे इहलोक तथा परलोक में संसरण करने वाला जीव बनना पड़ता है। बुरे कर्मों का भोग प्रतिकूल वेदनीय होने से दुःख रूप तथा भले कर्मों का भोग अनुकूल वेदनीय होने से सुख रूप होता है । पञ्चकर्मेन्द्रियों एवं पञ्च प्राणों को प्राणमय कोश कहते हैं।[4] इनमें कर्मेन्द्रिय- वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ । ये कर्मेन्द्रियाँ आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के मैलित रजोगुण के अंश से क्रमशः अलग-अलग उत्पन्न होती है । अर्थात् आकाश-गत रजोगुण से वाक्, वायु-गय रजोगुण से पाणि, अग्निगत रजोगुण से पाद, जल-गय रजोगुण से पायु तथा पृथिवी गत रजोगुण से उपस्थ उत्पन्न होता है । पञ्च प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान ये पाँच वायु हैं । ऊर्ध्व गमन करने वाले तथा नासिका के अग्रभाग में रहने वाले वायु का नाम प्राण है । नीचे की ओर गमन करने वाले और पायु आदि स्थानों में रहने वाले वायु का नाम अपान है । चारों ओर गमन करने वाले तथा सारे शरीर में रहने वाले वायु का नाम व्यान है । कण्ठ में रहने वाले,ऊर्ध्व गमन करने वाले एवं मृत्यु के समय शरीर से उत्क्रमण करने वाले वायु का नाम उदान है । शरीर के भीतर गए हुए खाए-पिए अन्न-जल आदि का समीकरण अर्थात् रस, रुधिर, शुक्र आदि के रूप में परिणमन या परिपाक करने वाले वायु का नाम समान है।[5] कुछ लोग नाग,कूर्म,कृकल,देवदत्त, धनञ्जय नामक पाँच अन्य अर्थात् अतिरिक्त वायु मानते हैं । उनमें डकार-वमन कराने

---

[1] शांकर भाष्य से

[2] इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियै: सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। वेदान्तसार,72

[3] मनस्तु ज्ञानेन्द्रियै: सहितं सन्मनोमयकोशो भवति। वेदान्तसार,73

[4] इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियै:सहितं सत्प्राणमयकोशोभवति। वेदान्तसार,88

[5] कर्मेन्द्रियाणि वाक्यपाणिपादपायूपस्थाख्यानि । एतानि पुनराकाशादीनां रहोऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते । वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः । प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती । अपानो नामावाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्ती । व्यानो नाम विश्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती । उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः । समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः ॥ वेदान्तसार,२२

वाले वायु का नाम नाग है । उन्मीलन निमीलन उत्पन्न कराने वाले वायु का नाम कूर्म है । भूख उत्पन्न करने वाले वायु का नाम कृकल है । जम्भाई उत्पन्न करने वाले वायु का नाम देवदत्त है तथा शरीर की पुष्टि करने वाले वायु का नाम धनञ्जय है । कुछ अन्य लोगों के मत से इन पाँचों का पूर्वोक्त प्राणादि पञ्च वायुओं में ही अन्तर्भाव हो जाने से, प्राण आदि पाँच ही वायु हैं।[1] ये प्राणादि पञ्च वायु आकाश इत्यादि सूक्ष्म भूतों के सम्मिलित रजोगुणांश से उत्पन्न होते हैं । प्राणादि पञ्च वायुओं का यह समूह कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर प्राणमयकोश होता है । क्रियात्मक होने के कारण ही यह प्राणमयकोश सूक्ष्मभूतों के रजोगुणांश का कार्य माना जाता है।[2] इनमें से विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त है, अतः कर्त्ता कहलाता हैं। विज्ञानमयकोश को प्राणों में हृदय के भीतर रहने वाला ज्योति स्वरूप पुरुष कहने से उसकी चैतन्य से निकटता सुसिद्ध है । इसी से इसे कर्तारूप अर्थात् व्यावहारिक जीव कहा गया है।[3] इस कोश से युक्त चैतन्य जीव कहलाता हैं। मनोमयकोश इच्छाशक्तिसम्पन्न है, अत: विवेक का साधन कहलाता है। काम या इच्छा मन की प्रधान वृत्ति होने से, उसके सर्वाधिक सन्निकत होती है । इसी से मनोमयकोश को इच्छाशक्तिमान कहा गया है । मन की ज्ञान का साधन है, अतः मनोमयकोश की कारणरूपता सुस्पष्ट है । मन के न रहने पर आत्मा तथा विषयेन्द्रियसंयोग रहने पर भी विषय का ज्ञान नहीं होता, उसके रहने पर ही होता है। प्राणमय कोश गमनादि क्रियासम्पन्न है, अत: कार्यस्वरूप हैं। इसकी उत्पत्ति सूक्ष्मभूतों के मिलित रजोंऽशों से बताई हुई है। जब रजस् क्रियाशील होता है, प्रवृत्तिशील होता है, तब उससे उत्पन्न प्राण भला क्रियाशक्ति से युक्त होता हैं। श्रुतियों में वाक् और मन के संयोग से उत्पन्न होने से इसकी कार्यरूपता सिद्ध है।[4] स्वयोग्यता के आधार पर ही इनका क्रमश: कर्ता, करण तथा कार्य इन नामों से विभाग किया गया हैं। ये तीनों मिलकर ही सूक्ष्म शरीर कहलाते हैँ।[5] यहाँ पर समस्त सूक्ष्मशरीर एकत्व-ज्ञान के विषय होने से वन या जलाशय के समान समष्टि होते हैं और अनेकत्व-ज्ञान के विषय होने से वृक्ष या जलबिन्दु के समान व्यष्टि भी होते हैं । इन सूक्ष्म शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और प्राण कहा जाता है । सर्वत्र अर्थात् समस्त लिंग शरीरों में सूत्र के समान अनुस्यूत होने के कारण सूत्रात्मा

---

[1] केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति । तत्र नाग उदिगरणकरः । कूर्म उन्मीलनकरः । कृकलः क्षुत्करः । देवदत्तो जृम्भणकरः । धनञ्जय पोषणकरः । ऐतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित् ॥ वेदान्तसार,२३
कापिलमतानुसारिणः क्रियाभेदेनान्येऽपि पञ्च वायवः सन्तीति वदन्तीत्याह केचित्त्विति ।

[2] एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोऽशेभ्यो मिलितेभ्योः उत्पद्यते । इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति । अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोऽशकार्यत्वम् ॥ वेदान्तसार,२४

[3] योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः। बृहदारण्यकोपनिषद ४/२/७

[4] तौ मिथुनौ समैतां, ततः प्राणोऽजायत" इति श्रुतेः प्राणस्य वाङ्मनसयोर्मिथुनीभूतयोरुत्पत्तिश्रवणात् प्राणमयस्य कार्यरूपत्वं युक्तिमिति।
बृहदारण्यकोपनिषद श्रुति,१/५/१२

[5] एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान कर्तरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान करणरूपः। प्राणमय: क्रियाशक्तिमान कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं। सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते। वेदान्तसार,89

ज्ञानशक्ति से युक्त होने के कारण हिरण्यगर्भ तथा इच्छा एवं क्रियाशक्ति से युक्त होने के कारण प्राण कहा जाता है। अण्ड से उत्पन्न होने के कारण ही ब्रह्मा जी का एक नाम हिरण्यगर्भ भी है।[1] वह अण्ड भी इसी कारण से ब्रह्माण्ड कहा जाता है । भागवत, मनुस्मृति आदि के अनुसार परम पुरुष भगवान् नारायण के ध्यान या संकल्पमात्र से जल की उत्पत्ति हुई जिसमें उन्होने शक्तिरूप बीज डाल दिया । यही बीज सुवर्णमय अण्ड बन गया जिसमें से समस्त लोकों के पितामह ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए।[2] ज्ञानशक्ति से युक्त विज्ञानमय कोश ही हिरण्मय अण्ड है, उससे अवच्छिन्न या अपहित चैतन्य ही हिरण्यगर्भ है। सूत्रात्मा की उपाधिभूत यह सूक्ष्मशरीर-समष्टि स्थूल सृष्टि की अपेक्षा सूक्ष्म होने से सूक्ष्म-शरीर, विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय कोश, जागरण-काल की वासनाओं से युक्त होने के कारण 'स्वप्न' एवम् इसी कारण से 'स्थूल सृष्टि का लयस्थान' भी कही जाती है।[3] जागरण काल में अनुभूत विषयों की जो वासनाएं चित्त में प्रबल रूप से स्थान बना लेती हैं, वे ही स्वप्न को जन्म देती हैं । सूक्ष्मशरीर जागरणावस्था की वासनाओं से उत्पन्न होने के कारण 'स्वप्न' कहा गया है। इनकी व्यष्टि अर्थात् एक-एक सूक्ष्मशरीर से उपहित चैतन्य तेजोमय अन्तःकरण की उपाधि से विशिष्ट होने के कारण तैजस कहलाता है। ज्ञान का साधन होने के कारण अन्तःकरण तेजोमय कहा गया है । यद्यपि इसमें पाँच तत्त्व रहते हैं, तथापि अपने ज्ञान कार्य की अपेक्षा से तेजस् की प्रधानता होने कारण 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से यह 'तेजोमय' कहा गया है। इस तैजस की उपाधिभूत यह व्यष्टि स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण ही सूक्ष्मशरीर विज्ञानमय-मनोमय-प्राणमय से युक्त होने से कोशत्रय, जाग्रदवस्था की वासनाओं से युक्त होने से 'स्वप्न' और इसी स्वप्नरूपता के कारण 'स्थूल शरीर का लयस्थान' कही जाती है।[4] स्वप्नावस्था में ये दोनों सूत्रात्मा एवं तैजस, मन अर्थात् अन्तःकरण की सूक्ष्म वृत्तियों के द्वारा अर्थात् वासना द्वारा उपस्थित विषयों का अनुभव करते है। तैजस सूक्ष्म विषयों का भोग करने वाला है।[5] इस श्रुति वचन से (यह बात समर्थित-प्रमाणित होती है) । यहाँ भी समष्टि और व्यष्टि में, तथा उनसे उपहित सूत्रात्मा और तैजस में उसी तरह अभेद अर्थात् ऐक्य है, जैसे वन और वृक्षों मे, तथा वनाच्छादित और वृक्षावच्छिन्न आकाशों में अभेद होता है, अथवा जलाशय और उसके जलबिन्दुओं में, तथा जलाशय और जलबिन्दुओं में प्रतिबिम्बित आकाशों में अभेद

---

[1] हिरण्यगर्भः समवर्ततात्रे। ऋक. १०/१२१

[2] हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम। श्वेताश्व. ३/४

[3] अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिवषयतया वृक्षज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति । एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः, प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च । अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽतएव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते॥ वेदान्तसार,२६

[4] एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति, तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात् । अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरोपेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते॥ वेदान्तसार, २६

[5] माण्डूक्योपनिषद. ४

होता है । इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है।[1] यहां सूत्रात्मा की स्वप्नावस्था प्रलय के अनन्तर तथा स्थूल जगत् को उत्पत्ति के पूर्व की मध्यावस्था है । इसी प्रकार तैजस की स्वप्नावस्था सुषुप्ति एवं जागरण की मध्यावस्था है। निद्रादि से प्रभावित अन्तःकरण में अदृष्ट के द्वारा जागरित संस्कारों की सहायता से जो तदनुरूप वृत्तियाँ उठती हैं, वे ही अविद्या या अज्ञान के कारण विषयाकार हो जाती है । उन्हीं विषयों का उन वृत्तियों के द्वारा सूत्रात्मा और तैजस भोग का अनुभव प्राप्त करते हैं । वेदान्त दर्शन के अनुसार जीव, ईश्वर एवं ब्रह्म ये तीनों उपाधि भेद से पृथक-पृथक हैं किन्तु तत्त्वत: एक ही हैं। जीव का तीन तरह के शरीरों से संबंध होता है- कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर। सृष्टि के प्रारम्भ में जीव कारण शरीर का आश्रय लेकर विद्यमान रहता हैं। ब्रह्म जब शुद्ध सत्वप्रधान अज्ञान से आवृत होता है तो इसे ईश्वर, अव्यक्त, अंतर्यामी या जगत का कारण कहते हैं इसे ही "कारण शरीर" कहते हैं। आनंद का प्राचुर्य रहने से इसे आनंदमय कोश भी कहते हैं, प्रलयकाल में यह बना रहता हैं। सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर का यह लय स्थान होता हैं। द्वितीय- अनुमेय सूक्ष्म शरीर अपञ्चीकृत महाभूतों से निर्मित होता हैं। इसी के माध्यम से जीव सुख-दुख का भोग या अनुभव करता हैं। तृतीय- स्थूल शरीर आकाशादि सूक्ष्म भूतों के पञ्चीकरण प्रक्रिया के बाद आकाशादि स्थूल भूतों का निर्माण होता है, और ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती हैं। ब्रह्माण्ड में जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज यें चार प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं।

स्थूल शरीर:-

यह त्वचा, मांस, रक्त-वाहिनियों, मेदा. मज्जा और अस्थियों के समूह से युक्त तथा मल-मूत्र से भरा हुआ स्थूलशरीर कहलाता है।[2] जीव द्वारा ब्रह्माण्ड के समस्त बाह्य कार्य सम्पन्न करने का आश्रय स्थूलशरीर है।[3] यह उसी प्रकार का है जिस प्रकार घर में रहता हुआ व्यक्ति प्रतिदिन आजीविका कमाने बाहर जाकर शाम को घर लोटता है। अपने परिश्रम से इक्ठा की हुई उपादान सामग्री का उपभोग करके विश्राम लेता है। उसी प्रकार सूक्ष्मशरीर

---

[1] एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः प्रविविक्तभुक्तैजस इत्यादिश्रुतेः ।अत्रापि समष्टिव्यष्टयोस्तदुपहितसूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदाः । एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः॥ वेदान्तसार, २८

[2] त्वङ्मांसरूधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम्।
पूर्ण मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः। विवेकचूड़ाणि ८७

[3] सर्वोऽपि बाह्य संसारः पुरूषस्य यदाश्रयः।
विद्धि देहमिदं स्थूलं गृहवद्गृहमेधिनः॥ - विवेकचूड़ामणि -९०

सांसारिक विषयों का उपभोग करने के लिए स्थूलशरीर के घर में आवागमन लगा रहता है। जन्म, बुढापा और मरण आदि स्थूलशरीर के मूल धर्म है। स्थूलता आदि और बचपन इत्यादि इसी की विभिन्न अवस्थाएँ। वर्णाश्रम आदि के नियम भी इसी के लिए है। विभिन्न शरीर रोगों का आश्रय भी यही है और पूजा, मान, अपमान आदि विभिन्न प्रकार की सुख-दुःख सम्बन्धित यातनाएँ भी इसी शरीर को मिलती है।[1] पंचकोषों से निर्मित वह आकृति है, जिसमें सूक्ष्मशरीर में अधितिष्ठित आत्मा सांसारिक विषयों का भोग कर्मो के अनुसार जिसके माध्यम से भोगा जाता है, वह स्थूलशरीर है। स्थूल सृष्टि का निरूपण करने के लिए पहले पञ्चीकरण प्रक्रिया के द्वारा पहले स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती हैं, क्योंकि स्थूलभूतों से ही उत्पन्न होने वाले ब्रह्माण्ड के सात ऊर्ध्व-लोकों, सात अधो-लोकों तथा उनमें स्थूल शरीर वाले प्राणियों एवं उनके भोगों का वर्णन तभी सम्भव होगा जब पहले पञ्चीकरण प्रक्रिया होती है। पञ्चीकृत आकाशादि भूत ही स्थूलभूत हैं । आकाशादि पाँच सूक्ष्म भूतों में से प्रत्येक को दो समान भागों में विभक्त करके दस भागों में से प्रथम पाँच भागों में से प्रत्येक के चार-चार समान भाग करके, उन्हें अपने-अपने द्वितीय भागों को छोड़कर अन्य भूतों के द्वितीय अर्ध भागों में जोड़ देने को पञ्चीकरण कहा गया है।[2] "प्रत्येक भूत को दो भागों में विभक्त करके, फिर प्रथम आधे भाग को चार भागों में विभक्त करके, अपने से भिन्न चार भूतों के द्वितीय भागों में जोड़ देने से वे आकाशादि पञ्च सूक्ष्म भूत 'पञ्च' अर्थात् पञ्चात्मक हो जाते है।[3] अर्थात् पाँचों में १/२ भाग अपना तथा शेष १/२ (१/८+१/८+१/८+१/८=४/८=१/२) भाग अन्य चारों भूतों का होता है जिससे १/२+१/२ =१ महाभूत उत्पन्न होता है । आधे भाग को चार में विभाजित करने पर चार १/८ भाग होंते है।

सुरेश्वराचार्यकृत पञ्चीकरणवार्तिक में शंकराचार्य ने पञ्चीकरणम् प्रकरण का समर्थन किया है। इस पञ्चीकरण की अप्रामाणिकता की आशंका नहीं करनी चाहिए,क्योंकि त्रिवृत्करण की श्रुति (छा. ६/३/२) पञ्चीकरण की भी उपलक्षण या सूचक है। यहां त्रिवृत्करण से तात्पर्य यह है कि 'सत् नामक परम देवता ने ईक्षण किया कि मैं जीवात्मा रूप से तीनों तेज, जल तथा अन्न नामक देवताओं में अनुप्रविष्ट होकर नाम और रूप की अभिव्यक्ति करूँ, उनमें से एक-एक देवता को त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ । उस परम देवता ने इन तीनों देवताओं में जीव-रूप से प्रवेश करके नाम और रूप की अभिव्यक्ति की । इस त्रिवृत्करण-श्रुति से पञ्चीकरण रूप लक्षित या ज्ञापित होता है। क्योंकि

---

[1] स्थूलस्य सम्भवजरामरणानि धर्माः स्थौल्यादयो बहुविधाः शिशुताद्यवस्थाः।
वर्णाश्रमादिनियमा बहुधाऽमयाः स्युः पूजावमानबहुमानमुखा विशेषाः॥ -विवेकचूड़ामणि

[2] स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि । पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकैकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेष् प्राथमिकान् पञ्च भागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णा भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम् । वेदान्तसार, २९

[3] द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते' इति ॥ -पञ्चदशी १/१७

छान्दोग्य के उक्त प्रकरण में केवल तेजस्, जल एवं प्रुथिवी- इन तीन की ही चर्चा हुई है । इसलिए तीन की अपेक्षा से त्रिवृत्करण का वर्णन या प्रतिपादन हुआ है।[1] ऐसी वस्तु-स्थिति में जहाँ पाँचों का वर्णन हुआ है जैसे, तैत्तिरीय आदि में, वहाँ पर पञ्चीकरण को तर्क-संगत रूप से श्रुति का अभिप्रेत या अभीष्ट समझना चाहिए। इसलिए इसके सन्दर्भ में शंका नही करनी चाहिए। पाँचों महाभूतों में पाँचों के ही समान भाग रहने पर भी, उनमें अपने-अपने भाग का आधिक्य या भूयस्त्व होने कारण उस-उस नाम से व्यवहार होता है।[2] इस नियम से उनका 'आकाश' इत्यादि नाम सम्भव होता है । उस समय अर्थात् पञ्चीकरण के बाद आकाश में उसका गुण शब्द प्रकट होता है, वायु में शब्द और स्पर्श; तेजस् में शब्द, स्पर्श और रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रसा और गन्ध प्रकट होते हैं।[3] सृष्टि-प्रक्रिया के फलस्वरूप तमोगुणयुक्त पञ्चीकृत भूतों से भूमि, अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल- इन सात अधोलोकों की अर्थात ब्रह्माण्ड[4] की एवं चार जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज –इन चतुर्विध शरीरों की उत्पत्ति हुई। इनमें से जो जरायु से उत्पन्न हुए अर्थात उदर में रही झिल्ली में उत्पन्न वाले आदि के शरीरों को जरायुज कहते है। उदाहरण के लिए पशु एव मनुष्यादि का शरीर। अण्ड से उत्पन्न होने वाले पक्षी-सर्प आदि के शरीर अण्डज कहते है। घर्म अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले जू, मक्खी आदि कीटकों के शरीर को 'स्वेदज' कहते है। भूमि को भेदकर ऊपर आने वाले वृक्षादि के शरीरों को उद्भिज्ज कहते है। पापकर्म का फल भोगने के लिए वृक्षादि का शरीर भी भोग का आयतन है, इसलिए उसको भी शरीर शब्द से कहा गया है[5]। यहाँ भी चार प्रकार के स्थूल शरीर क्रमशः एकत्व तथा अनेकत्व की बुद्धि के विषय होने से, वन या जलाशय के समान समष्टि, एवं वृक्ष या जलबिन्दु के समान व्यष्टि भी होते हैं । इन स्थूल शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य सभी नरों

---

[1] "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति॥ तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति । सेयं देवता इमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्॥ - छान्दोग्य. के ६/३/२-३

[2] ब्रह्मसूत्र २/४/२२

[3] अस्याप्रामाण्यं नाशंकनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात् । पञ्चानां पञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः' इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति । तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च ॥ वेदान्तसार, ३०

[4] एत एव स्वावरणभूतलोकालोकपर्वत-तद्बाह्यपृथिवी-तद्बाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्दमित्युच्यते। विद्वन्मनोरञ्जनी, पृ.११०

[5] एवं तमोगुणयुक्तेभ्यः पञ्चीकृतभूतेभ्यो भूम्यन्तरिक्ष-स्वर्महर्जनस्तपः सत्यात्मकस्योर्ध्वलोकसप्तकस्य
अतलवितलसुतलतलातलरसातलमहातलपातालाख्याधोलोकसप्तकस्य ब्रह्माण्डस्य जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाख्य चतुर्विध-स्थूलशरीराणामुत्पत्तिः। तत्र जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्य-पश्वादिशरीराणि। अण्डजानि अण्डेभ्यो जातानि पक्षि-पन्नगादिशरीराणि। स्वेदजानि स्वेदाज्जातानि यूकामशकादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि वृक्षादीनि। वृक्षादीनामपि पापफल-भोगायतनत्वेन शरीरत्वम्। वेदान्तपरिभाषा, पृ.३४१

का अभिमानी होने वैश्वानर[1] और विविध रूपों से विराजमान होने से एवं समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होने से इसे विराट् कहा जाता है। यह समष्टि इस वैश्वानर या विराट् का स्थूल शरीर है । अन्न का विकार होने तथा कोश की तरह आत्मा का आच्छादक होने से यह अन्नमय कोश और स्थूल भोगों का आयतन होने से स्थूलशरीर तथा जाग्रत कहा जाता है।[2] इन्द्रियों के द्वारा भोगों की उपलब्धि होने से इसे जाग्रत कहा जाता है। क्योंकि जाग्रदवस्था में ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती है। इन स्थूल शरीरों की व्यष्टि अर्थात् एक-एक स्थूल शरीर में उपहित चैतन्य सूक्ष्म शरीर के अभिमान का बिना परित्याग किए स्थूल शरीर आदि में प्रविष्ट होने के कारण 'विश्व' कहा जाता है। प्रस्तुत स्थल में सूक्ष्मशरीर का अर्थ है- कारण शरीर और स्थूलशरीर का अर्थ है लिंगशरीर, क्योंकि वह कारणशरीर की अपेक्षा स्थूल है । वह लिंगशरीर है आदि में जिस परम स्थूल शरीर के, उस परम स्थूल अन्नमय शरीर में प्रवेश करने वाला होने से इस अवस्था के चेतन की विश्व संज्ञा है जो इस कारण से सार्थक है । क्योंकि विश्व संज्ञा तो तभी सार्थक होगी जब चेतन आत्मा कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल सभी शरीरों का अभिमान करने वाला हो। विद्वन्मनोरञ्जनी से उद्धृत सन्दर्भ की **'सर्वशरीरप्रवेष्टृत्वेन स्थूलभोगायतनाभिमानिनो विश्व इति संज्ञा'** इस अन्तिम पंक्ति में यही बात स्पष्ट रूप से कथित है । इस प्रकार विश्व शब्द का प्रस्तुत सन्दर्भ में 'सर्व' और 'प्रवेष्टा' दोनों ही अर्थ गृहीत होने से व्यष्टि-स्थूलशरीरोपहित चैतन्य की 'विश्व' संज्ञा सर्वथा संगत हो जाती है। इस विश्व की भी उपाधिभूत यह व्यष्टि स्थूलशरीर अन्न का विकार होने के कारण (तथा कोश के समान आत्मा का आच्छादक होने के कारण) अन्नमय कोश और (स्थूलभोगों का आयतन या आधार होने के कारण) जाग्रत कहा जाता है।[3] जाग्रत अवस्था में ये दोनों विश्व और वैश्वानर दिक्-वायु-सूर्य-वरुण-अश्विनी कुमारों के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण नामक पाँच इन्द्रियों से क्रमशः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, इन पाँच स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं । ये दोनों अग्नि-इन्द्र-विष्णु-यम-प्रजापति के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ नामक पाँच इन्द्रियों से क्रमशः वचन-ग्रहण-गमन-मलत्याग-भोगसुख, इन स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं । तथा ये दोनों चन्द्र-चतुर्मुख-शंकर-अच्युत नामक देवों से नियन्त्रित मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त नामक चार अन्तरिन्द्रियों से क्रमशः संकल्प-निश्चय-गर्व-स्मरण, इन सभी स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं । जाग्रदवस्था जिसका स्थान है और जो बाह्य विषयों का ज्ञान या प्रकाश करने वाला है। यह वैश्वानर स्थूल विषयों का भोक्ता है। यह सात (द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश,

---

[1] सर्वप्राणिनिकायेष्वहमित्यभिमानवत्त्वाद् वैश्वानरत्वम्। -सुबोधिनि व्याख्याकार नृसिंह सरस्वती

[2] अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिः, वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति । एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडित्युच्यते सर्वनरभिमानित्वाद् विविधं राजमानत्वाच्च । अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः, स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं, जाग्रदिति च व्यपदिश्यते॥ वेदान्तसार, ३२

[3] एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात् । अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारात्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते ॥ वेदान्तसार, ३३

अन्न, पृथिवी और आहवनीय अग्नि) अंगों वाला है । यह उन्नीस मुखों वाला है । 'मुख' का अर्थ है द्वार जिनसे इसे विषयों की उपलब्धि होती है । ये द्वार हैं- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, ये चार अन्तरिन्द्रिय या अन्तःकरण। इत्यादि श्रुति से यह बात प्रमाणित होती है।[1] यहाँ पर भी स्थूल शरीरों की व्यष्टि और समष्टि में, तथा उनसे उपहित विश्व और वैश्वानर में, पूर्ववत् वैसे ही अभेद है जैसे, वन एवं वृक्ष तथा उनसे अवच्छिन्न आकाशों अथवा जलाशय और जलबिन्दु तथा उनमें प्रतिबिम्बित आकाशों में । इस प्रकार पञ्चीकृत पाँच भूतों से स्थूल प्रपञ्च स्थूलशरीरादि की उत्पत्ति होती है।[2] अत्यन्त स्थूल बुद्धि वालों का कहना है कि "आत्मा ही पुत्र के रूप में जन्म लेती है" इत्यादि श्रुति से, अपने ही समान अपने पुत्र पर प्रेम देखे जाने से, और पुत्र के पुष्ट होने अथवा नष्ट होने पर मैं ही पुष्ट हुआ अथवा नष्ट हुआ- इस प्रकार की अनुभूति होने से पुत्र ही आत्मा है।[3] बुद्धि के नीचे-ऊँचे विकास-स्तर के कारण कभी पुत्र स्थूलशरीर, कभी इन्द्रिय, कभी प्राण, कभी मन, कभी बुद्धि और कभी जगत् का साक्षी चैतन्य ही प्रत्यगात्मा कहा जाता है । वस्तुतः ये मत विभिन्न बौद्धिक स्तरों के परिचायक हैं । इसी प्रत्यगात्मा को स्थूल मति वाले पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ मानते हैं । औरस पुत्र के प्रति पिता का अनन्य स्नेह होने से तथा उसके सुख-दुःख में पिता की उसके समान ही अनुभूति होने से, पुत्रादि अनात्म वस्तु को ही आत्मा मानना प्रस्तुत प्रकरण का आदि एवं सबसे स्थूल मत है । तैत्तिरीय इत्यादि उपनिषदों में तत्तद मतों को प्रस्तुत करने का प्रयोजन अरुन्धती-न्याय से सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व प्रत्यगात्मा के स्वरूप का ज्ञान करना है । स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम का क्रमिक ज्ञान सर्वथा मनोवैज्ञानिक है । जीवन और जगत् के स्थूल भौतिक पदार्थों में आसक्त मानव-मन एक बारंगी ही सूक्ष्मतम तत्त्व को ग्रहण नहीं कर सकता। मनुष्य़ अपने पाप दोषों के अनुसार शरीर की कोटियों का निर्धारण होता है। हिन्दू मान्यताओं में कही चौरासी लाख प्रकार की योनियां बतलाई गई है, जिसमें मनुष्य शरीर एक समस्त योनियों में श्रेष्ठतम् और सर्वोत्तम योनि कही गई है। यह शरीर देवताओं के लिए भी दुर्लभ होता है। यह शरीर मोक्ष प्राप्त करने का साधन है। इस मनुष्यरूपी स्थूल शरीर से जो परम ब्रह्म जो स्वमं का शुद्ध चेतन्य स्वरूप का अभिज्ञान नही करता। जीव विभिन्न लोकों में भी जन्म-जन्मातर कर्मफल भोग हेतु पुनर्जन्म लेता रहता है। वह माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री तथा धन-दौलत की ममता, आसक्ति तथा ईच्छाओं में फँस जाता है और इन्हीं में

---

[1] माण्डूक्य. ३

[2] तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धान्, अग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन, क्रमाद्वचनादानगमनविसर्गानन्दाश्चचतुर्मुखशंकरच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्धहंकारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्संकल्पनिश्चयाहंकार्यचैतांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतः 'जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः' इत्यादिश्रुतेः । अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्ट्योस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजल-वत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः । एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः॥ वेदान्तसार, ३४

[3] अतिप्राकृतस्तु- आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः, स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्, पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति। वेदान्तसार,पृ.३८

अपना अपनत्व स्थापित कर लेता है। जब सृष्टि-प्रक्रिया के फलस्वरूप जीवात्मा जब सांसारिक भू-मण्डल पर आता है तो वह तब तक निर्विकार, निर्विकल्प, निराकार रूप में सर्वत्र स्वच्छन्द गति से विचरण करता रहता है जब तक कि वह किसी सूक्ष्म आकृति के रूप को धारण नहीं कर लेता। यह आत्म ज्योति जैसे ही किसी स्थूल विषय से सम्बंधित होती है, वैसे ही इन दोनों रूपों (आत्म ज्योति और स्थूल शरीर) से अलग एक तृतीय रूप धारण करती है अथवा तीसरे रूप में परिवर्तित हो जाती है जो सूक्ष्म आकृति या सूक्ष्म शरीर या जीव है। यह सूक्ष्मशरीर आत्मा और स्थूल शरीर के बीच योजक प्रतिनिधित्व का कार्य करता है। सूक्ष्मशरीर आत्मा का अधिष्ठान है जिसके माध्यम से वह जन्म-जन्मान्तर स्थूल शरीर के माध्यम से विषयों का भोग करता रहता है। यह सूक्ष्मशरीर कर्मानुसार यह नये-नये स्थूल शरीरों को धारण करता हुआ नाना विधि-विधानों से युक्त होकर कर्म करता रहता है तथा उसके पाप-पुण्य के अनुसार स्थूल सुख-दुःखादि फलों को भोगता रहता है। योनियों की प्राप्ति कर्म एवं संस्कारों के आधार पर होती रहती है। जिसका जैसा कर्म एवं संस्कार होता है उसको वैसी ही योनि की प्राप्ति होती है। जन्म-मरण का यह चक्र तब तक चलता रहेगा, जब तक मनुष्य स्थूल शरीर के माध्यम से परमतत्त्वम् रूपी ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप का अभिज्ञान नही कर लेता। अब यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि जनम-मरण रूप चक्र से क्या तात्पर्य है? इसे समझना अपेक्षित है । जब सूक्ष्म शरीर द्वारा स्थूल शरीर का धारण किया जाना जन्म है तथा स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म रूप से सूक्ष्म जगत् में विचरण करना मरण (मृत्यु) है। बार-बार सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म शरीरों के रूप में परिवर्तित होते रहना जनम-मरण रूप चक्र है। जन्म के सनदर्भ में दूसरी शंका उत्पन्न होती है कि फिर यह सृष्टि चक्र क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है कि चेतन आत्मा और शक्ति के द्वारा जीव और वस्तु रूप में परिवर्तित होकर आपसी सहयोग के माध्यम से कर्म करते और भोग भोगते हुये बार-बार कारण-सूक्ष्म-स्थूल तत्पश्चात स्थूल-सूक्ष्म-कारण आकृतियों (शरीरों और वस्तुओं) में परिवर्तित होते रहना ही सृष्टि चक्र है। यहां प्रश्न उठता है आत्मा का स्थूलशरीर के सन्दर्भ में क्या महत्व है? इसके सन्दर्भ में कहा गया है की आत्मा जीवनपर्यन्त स्थूलशरीर में ही, सत्त्वगुण-प्रधान मन में, बुद्धि-गुफा में, अव्यक्त(कारणशरीर में), आकाश में परम प्रकाशमय आत्मा उच्चाकाशस्थित सूर्य की भांति इस सम्पूर्ण विश्व को अपने तेज से दैदीप्यमान करता हुआ प्रकाशित होता रहता है। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य आकाश में स्थित ही इस वैविध्यपूर्ण समस्त जगत को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा अपने ह्रदयाकाश में स्थित हमारे अन्तरंग अनुभवों को प्रकाशित करता है। सूर्य के अभाव में संसार की वस्तुएँ

दृश्यमान नही होती, उसी प्रकार स्थूलशरीर में ध्यान आत्म-चेतन्य पर केन्द्रित किये बिना हम सांसारिक विषयों से सम्पर्क नही स्थापित कर सकते[1]। आत्मा स्थूलशरीर के स्वरूप, उसके कर्म, उसकी विभिन्न अवस्थाओं का साक्षी है। जो किसी वस्तु का साक्षी हो वह किसी का दृश्य नही बन सकता। द्रष्टा सदैव दृश्य से भिन्न होता है। अतः आत्मा शरीर से विलक्षण है और शरीर आत्मा नही है[2]। यह स्थूलशरीर मांस से लिपटा हुआ और मल से भरा हुआ हड्डियों का ढाँचा है, जो प्रति क्षण गन्दा अपवित्र रहता है, वह आत्मा नही हो सकता।[3] अतः स्थूलशरीर के व्यवहारिक विषयों के उपभोग के लिए आत्मा का महत्त्व है। सृष्टि प्रलय के सन्दर्भ में कहा गया है जब पृथ्वी का लय जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का जीवाहंकार में, जीवाहंकार का हिरण्यगर्भाहंकार में और उसका अविद्या में प्रलय क्रम समझना चाहिये।[4] इसी प्रकार ज्ञान की निवृत्ति होने पर कारण शरीर, सूक्ष्मशरीर तथा स्थूलशरीर के तात्त्विक-प्रणाली का लय होता है। सृष्टि रचना पाँच स्थूल तत्त्वों से होने के कारण उन पाँच पदार्थ -तत्त्वों को जानने-देखने-समझने और पहचान कर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सहयोगार्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ मानव शरीर में नियत हुई, जिसके माध्यम से मनुष्य वास्तविक ज्ञान के अनुसार यथोचित कार्य सम्पन्न करते हुये भोगों का उपभोग करते हुए अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर सके। मनुष्य के स्थूलशरीर की जिन पाँच तत्त्वों से रचना होती है, उन पाँच तत्त्वों के अपने-अपने विषय, जो तत्त्वों में ही सूक्ष्म रूप में निहित रहते हैं, वे शरीर के अन्तर्गत अपने-अपने लिए स्व-स्थान सुरक्षित कर लेते हैं। जिसके माध्यम से स्थूलशरीर बाह्य पञ्च तत्त्वों से निर्मित्त सांसारिक विषयओं को तदाकारित होकर अपनी सामर्थ्यानुसार सम्पर्क स्थापित कर लेता है। जिनके माध्यम से विषयों का ग्रहण होता है वे इन्द्रियाँ कहलाती है। ये इंद्रियाँ दो प्रकार की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के रूप में रहते हुये भी दोनों आपस में सम्बंधित होती हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल और

---

[1] अत्रैव सत्त्वात्मनि धी गुहायामव्याकृताकाश उशत्प्रकाशः।
आकाश उद्भै रविवत्प्रकाशते स्वतेजसा विश्वमिदं प्रकाशयन्॥ -विवेकचूडामणि,१३२

[2] देहतध्दर्मतत्कर्मतदवस्थादिसाक्षिणः
सत एव स्वतः सिद्धं तद्वैलक्षण्यमात्मनः॥ -विवेकचूडामणि, १५७

[3] शल्यराशिर्मांसलिप्तो मलपूर्णोऽतिकश्मलः।
कथं भवेदयं वेत्ता स्वयमेतद्विलक्षणः॥ विवेकचूडामणि,१५८

[4] तथा च पृथिव्या अप्सु, अपां तेजसि, तेजसो वायौ, वायोराकेश, आकाशस्य जीवाहंकारे, तस्य हिरण्यगर्भाहङ्कारे, तस्य चाविद्यामित्येवंरूपाः प्रलयाः।
वेदान्तपरिभाषा, पृ.१४१

पृथ्वी – पाँच प्रकार के पदार्थ-तत्त्वों से ही सृष्टि रूप विराट शरीर तथा शरीर रूप स्वराट शरीर की रचना होती है। जो ब्रह्माण्ड और पिण्ड नामों से भी सुना व जाना जाता है। जिसके द्वारा इन पाँच पदार्थ-तत्त्वों की जानकारी और पहचान होती है, वही सूक्ष्म-तत्त्व अथवा विषय है। विषयों के माध्यम से पदार्थ-तत्त्वों तथा उससे उत्पन्न वस्तुओं को जानने और पहचानने हेतु गर्भ स्थित हिरण्य में जिन अंगों की रचना हुई, वही उस विषय की ज्ञानेन्द्रिय कहलाई। दूसरे शब्दों में पाँच पदार्थ-तत्त्वों जिससे स्वराट एवं विराट शरीरों की रचना होती है, पाँचों का अपना-अपना विषय होता है, जिसके द्वारा स्वराट शरीर और विराट शरीर सम्बंधित होते हैं। चूँकि स्वराट शरीर, विराट शरीर की एक इकाई मात्र होती है और विराट शरीर ऐसे असंख्य इकाइयों का संयुक्त रूप होता है, इसलिए स्वराट शरीर के अन्तर्गत कमियों की पूर्ति हेतु विराट शरीर द्वारा विषयों के माध्यम से सम्बन्ध कायम रखने हेतु गर्भ स्थित 'हिरण्य' में जिन-जिन विषयों के लिए जो-जो स्थान नियत हुये, उसमें से 'ज्ञान' (जानकारी और पहचान करने) सम्बन्धी स्थानों को ज्ञानेन्द्रिय और कर्म करने वाले स्थान या अंगों को कर्मेन्द्रिय कहा गया। पाँचों पदार्थ-तत्त्वों हेतु पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों की रचना हुई। पाँच पदार्थ-तत्त्व जिस क्रम से विराट शरीर रूप सृष्टि में उत्पन्न हुये थे, ठीक उसी क्रम में उसी गुण-स्वभाव से स्वराट-शरीर रूप मानव शरीर वाले 'हिरण्य' में भी उत्पन्न हुआ, जिससे कि बिना किसी व्यवधान के स्वराट और विराट शरीरों में निहित पाँचों तत्त्व आसानी से मिल एवं व्यवहरित हो सकें। सर्वप्रथम आकाश-तत्त्व की उत्पत्ति हुई जिसका सूक्ष्म रूप या विषय 'शब्द' है। आकाश को जानने हेतु शब्द को जानना जरूरी है। अर्थात् शब्द के बिना आकाश तत्त्व को हम जान ही नहीं सकते हैं क्योंकि यह मात्र एक गुण स्वभाव वाला होता है और वह गुण-स्वभाव 'शब्द' ही है। राग, द्वेष, लज्जा, भय और मोह आदि ये पाँच गुण इसी आकाश तत्त्व से ही सम्बंधित हैं। ये आकाश तत्त्व के विषय नहीं हैं। विषय तो 'शब्द' है। यही कारण है कि 'हिरण्य-गर्भ' में सर्वप्रथम श्रोतेन्द्रियें की रचना हुई, जिसके माध्यम से विराट शरीर के अन्तर्गत विशालकाय रूप में स्थित आकाश तत्त्व से सम्बन्ध कायम रहे, उसके बाद इसी क्रम से वायु तत्त्व से सम्बन्ध हेतु स्पर्श के लिए त्वचा की उत्पत्ति हुई, फिर अग्नि-तत्त्व से सम्बन्ध रखने हेतु 'रूप' को देखने के लिए 'चक्षु' (आँख) की उत्पत्ति हुई, फिर जल-तत्त्व से सम्बन्ध हेतु जल-तत्त्व के विषय 'रस' को परखने के लिए 'रसना' (जिह्वा) की उत्पत्ति हुई और अन्त में पृथ्वी-तत्त्व से सम्बन्ध कायम रखने के लिए पृथ्वी-तत्त्व के विषय गन्ध को समझने हेतु घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई। शरीर-तन्त्र

एक अति जटिल रचना है। इस पञ्चभौतिक शरीर के अन्तर्गत ही अनन्त सृष्टि या ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुएं, यन्त्र, तारे, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, गृह, देवता इत्यादि वस्तुएं हैं प्रतीकात्मक रूप में प्रत्येक शरीर के अन्तर्गत ही नियत हुए हैं। शरीर-तन्त्र और सृष्टि-तन्त्र दोनों की उत्पत्ति या रचना एक समान वस्तुओं और पद्धतियों से ही होती है। वह वस्तु या पदार्थ 'जड़' और 'चेतन' तथा वह पद्धति 'गुण' और 'दोष' है। इन्ही जड़ और चेतन रूपी दो वस्तुओं तथा गुण और दोष रूपी दो पद्धतियों से ही शरीर-तन्त्र तथा सृष्टि-तन्त्र की भी उत्पत्ति या रचना होती है। यहां ज्ञानेन्द्रियों का कार्य, सृष्टि के अन्तर्गत निहित पाँच पदार्थ-तत्त्वों तथा उनसे निर्मित वस्तुओं कि यथार्थ जानकारी और पहचान कर उसका प्रतिवेदन (Report) जीवात्मा को सुपुर्द करते रहना है। जिसके आधार पर जीवात्मा मन अथवा बुद्धि को, जिसके क्षेत्र से सम्बंधित प्रतिवेदन (रिपोर्ट) होता है, उसको क्रियान्वयन हेतु सुपुर्द करती है, उसके बाद जिसको सुपुर्द होता है वह मन या बुद्धि कर्मेन्द्रियों के माध्यम से प्रतिवेदन (रिपोर्ट) तथा जीवात्मा के निर्देशन अनुसार कार्य करवाता है। इस प्रकार कार्यों के क्रियान्वयन हेतु मन और बुद्धि के साधन रूप में जिन अंगों की रचना हुई, उन्हे ही कर्मेन्द्रियाँ कहा जाता है। ये कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच ही होती हैं। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की संयुक्त रूप में बनी आकृति ही शरीर है। यहां पर क्रमानुसार सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया है गर्भ स्थित 'हिरण्य' में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हो जाने के बाद वह हिरण्य ही मानव शरीर के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार हिरण्य से शरीर रूप में परिवर्तित होने में कुल तीन माह के करीब समय निर्धारित किया है। यहां शका उठ सकती है कि गर्भ स्थित शरीर शेष छः महीने बिना अन्न व जल के किस प्रकार कायम रहता है ? कौन उसकी रक्षा करता है ?गर्भ-स्थित शरीर-रचना जब पूरी हो जाती है, तब उस शरीर को हवा, पानी, अन्न आदि कौन देता है ? कैसे देता है ? शेष छः महीनों को शरीर किस प्रकार व्यतीत करता है ?

भारतीय ज्ञान परम्परा में जीव, जीवात्मा तथा आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी गुहय, अतिगुहय तथा परमगुहय विषयों सम्बन्धी यथार्थता और स्पष्टता के साथ भारतीय ऋषि-महर्षि और सन्त-महात्माओं आदि ने समाज को दिया है। गर्भ स्थित सन्तान (शरीर) के विषय बताया जा रहा है वह संस्कृति-प्रधान रहते हुये अकाट्य वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है। नार-पुरइन अथवा एरिअर – नार-पुरइन कमल-नाल और कमल-पत्ता 'पुरइन-

पात' जैसी ही गर्भस्थ-शरीर के नाभि-कमल स्थित एक नाड़ी होती है। यह रेडियो, टेलीविजन सेट, रैकेट, रडार आदि यन्त्रों के अन्तर्गत 'एरिअर' जैसी ही होती है, दूसरे शब्दों में यह परम आकाश रूप परमधाम रूप शक्ति और आत्म सत्ता-सामर्थ्य प्रेषण-केन्द्र (Power and Soul supply station) से शक्ति और आत्म-सत्ता-सामर्थ्य को ग्रहण करने हेतु एरियर रूप नाड़ी ही नार-पुरइन है। जिस प्रकार रेडियो, टेलीविजन सेट, रैकेट, राडार आदि में एरियर जो कार्य करता है, ठीक वही कार्य गर्भस्थ-शरीर के नाभि-कमल स्थित नार-पुरइन भी करती है। नाभि-कमल स्थित नार-पुरइन का एक मात्र कार्य 'आत्म-ज्योति' रूप 'शब्द-शक्ति' या 'आत्म-शक्ति-सत्ता-सामर्थ्य' को पकड़ना और कुण्डलिनी-शक्ति को सुपुर्द करना होता है। नार-पुरइन का एकमात्र कार्य 'शक्ति और आत्म-सत्ता-सामर्थ्य प्रेषण केन्द्र से 'आत्म-ज्योति' या शब्द-शक्ति या ब्रह्म-शक्ति या शिव-शक्ति या दिव्य-ज्योति या नूरे-इलाही या अलिमे-नूर या आसमानी-रोशनी या डिवाइन-लाइट अथवा ब्रह्म-तेज को पकड़कर कुण्डलिनी के अन्तर्गत स्थित 'अहम्' शब्द रूप जीव से सम्बंधित करना या कराना होता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म से जीव का सम्बन्ध स्थापित कराने वाले ब्रह्म-नाल का एकमात्र कार्य 'अहम्' शब्द रूप जीव को 'सः' शब्द रूप आत्म-ज्योति से जोड़ना होता है। जीवात्मा का जन्म और पुनर्जन्म इस जीवन रूपी सरिता के दो तट हैं। वहीं इन दोनों के बीच की कुछ अवधि प्रत्यक्ष शरीर की रूप-रेखा से दूर रहती हैं। जीव की यही अवस्था प्रेत योनी कहलाती है। इस योनी के क्या मूलभूत कारण और ज्योतिषीय योग हैं और किस-किस ग्रह स्थिति में जीव ऊपर के किन-किन लोकों की यात्रा करता है। यह सब जीव के कर्मों के अनुसार निर्धारित होता है। जीव की मरणासन्न व मरणोपरांत गति के सन्दर्भ में कहा गया है- **'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते**।[1]' अर्थात् जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मरता है, जीवात्मा नहीं मरता। मरणासन्न मनुष्य को बड़ी बैचेनी, पीड़ा और छटपटाहट होती है, क्योंकि सब नाड़ियों से प्राण खिंचकर एक जगह एकत्रित होता है। प्राण निकलने का समय जब बिल्कुल पास आ जाता है तो व्यक्ति मूर्छित हो जाता है, अचेतन अवस्था में ही प्राण उसके शरीर से बाहर निकलते हैं। मरते समय वाक् (वाणी) आदि इंद्रियां मन में स्थित होती हैं, मन प्राण में और प्राण तेज में (तेज से तात्पर्य है पंच सूक्ष्म भूत समुदाय) तथा तेज जीवात्मा में स्थित होता है। जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के साथ

[1] छा.उ. 6/11/3

इस स्थूल शरीर से निकल जाता है ऐसा छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है। आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी शरीर के बीजभूत पांचों तत्वों का सूक्ष्म स्वरूप ही सूक्ष्म शरीर कहा गया है। भारतीय योगी सूक्ष्म शरीर का रंग शुभ्र ज्योति स्वरूप (सफेद) मानते हैं। ब्रह्मवेत्ता योगी के प्राण ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकलते हैं, जबकि साधारण मनुष्य के प्राण मुख, आंख, कान या नाक से और पापी लोगों के प्राण मल-मूत्र मार्ग से बाहर निकलते हैं। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार 'वह प्राण उदानवायु के सहारे जीवात्मा को उसके संकल्पानुसार भिन्न-भिन्न लोकों (योनियों)' में ले जाता है। जीव अपने साथ धन-दौलत तो नहीं किंतु ज्ञान, पाप-पुण्य कर्मों के संस्कार अवश्य ही ले जाता है। यह सूक्ष्म शरीर ठीक स्थूल शरीर की ही बनावट का होता है। वायु रूप होने के कारण भारहीन होता है। मृतक को बड़ा आश्चर्य लगता है कि मेरा शरीर कितना हल्का हो गया है।

पुराणों के अनुसार जब भी किसी मनुष्य की मृत्यु होती है और जीवात्मा शरीर को त्यागकर यात्रा प्रारंभ करती है तब इस दौरान उसे तीन प्रकार के मार्ग मिलते हैं। उस आत्मा को किस मार्ग पर चलाया जाएगा यह केवल उसके कर्मों पर निर्भर करता है। ये तीन मार्ग हैं- अर्चि मार्ग,धूम मार्ग एवं उत्पत्ति-विनाश मार्ग। अर्चि मार्ग ब्रह्मलोक और देवलोक की यात्रा के लिए होता है, वहीं धूममार्ग पितृलोक की यात्रा पर ले जाता है और उत्पत्ति-विनाश मार्ग नरक की यात्रा के लिए है। हालांकि सभी मार्ग से गई जीवात्माओं को कुछ काल भिन्न-भिन्न लोक में रहने के बाद पुन: मृत्युलोक में आना पड़ता है। अधिकतर आत्माओं को यहीं जन्म लेना और यहीं मरकर पुन: जन्म लेना होता है। यजुर्वेद में कहा गया है कि शरीर छोड़ने के पश्चात, जिन्होंने तप-ध्यान किया है वे ब्रह्मलोक चले जाते हैं अर्थात ब्रह्मलीन हो जाते हैं। कुछ सत्कर्म करने वाले भक्तजन स्वर्ग चले जाते हैं स्वर्ग अर्थात वे देव बन जाते हैं। राक्षसी कर्म करने वाले कुछ प्रेत योनि में अनंतकाल तक भटकते रहते हैं और कुछ पुन: धरती पर जन्म ले लेते हैं। कुछ व्यक्ति द्वारा अपनी इच्छा से शरीर त्यागना आसान है लेकिन इच्छा से शरीर धारण करना मुश्किल। फिर भी जो व्यक्ति इच्छा से शरीर छोड़ना सीख जाता है वह इच्छानुसार जन्म भी ले सकता है। इच्छा-मृत्यु शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत में मिलता है जिसका अर्थ अपनी मर्जी से मृत्यु का वरण यानी शरीर का त्याग कर देना। भीष्म पितामह ने तीरों की सेज पर लेटकर अपनी इच्छा से मौत को बुलाया था। शास्त्र अनुसार जीव स्वयं अपनी इच्छा, भाव और

कर्म से संस्कारों के वशीभूत होकर जन्म ग्रहण करता है। लेकिन यह इच्छाभाव उसके जीवनपर्यंत किए गए कर्म और भोगे गए दुख- सुख से उपजते हैं जिसका उसे भी ज्ञान नहीं होता। ये बीज रूप में मृत्य के साथ चले जाते हैं और व्यक्ति फिर वहीं जन्म लेता है जैसे कि उसका पिछला जन्म निर्धारित करता है। इसे समझना बहुत आसान है यह बिल्कुल गणित के प्रश्न जैसा है जिसे हल किया जा सकता है। अधिकतर लोग प्रकृति के इसी नियम से बंधे रहकर जन्म लेते हैं। लेकिन बहुत कम ही लोग हैं, जो जन्म लेने का स्थान चयन करके ही जन्म लेते हैं। शंकराचार्य को परकाय प्रवेश सिद्धि प्राप्त थी। ऐसे व्यक्ति ही अपनी इच्छा से कहीं पर भी जन्म ले सकता है। किसी के भी गर्भ में प्रवेश कर सकता है।

सूक्ष्मशरीर एवं चेतन अवस्थायें :-

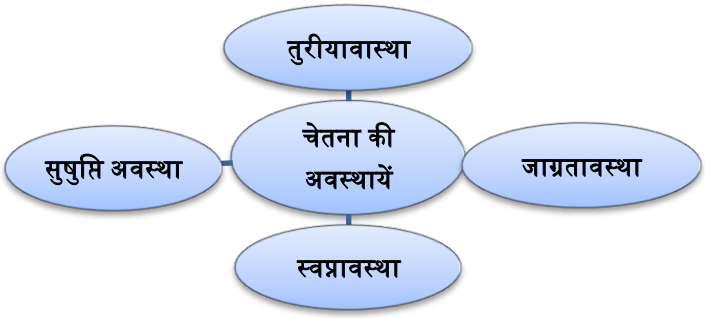

वेदान्त परम्परा में जीव या अपर लिंग शरीर की चार अवस्थाओं के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है जो कि निम्न प्रकार से है-

जाग्रतावस्था – जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर का अभिमानी जीव 'विश्व' कहलाता है[1]। यह घटपटादि ज्ञान से युक्त रहता है। इस अवस्था में आत्मा अन्नमयकोश में आबद्ध रहता है। सुरेश्वराचार्य ने इसके सन्दर्भ में जाग्रत अवस्था में केवल अज्ञान एवं अन्तःकरण ही नही अपितु समस्त ज्ञानेन्द्रिया एवं कर्मेन्द्रिया भी स्वाधिष्ठित देवताओं के अनुग्रह से अपने विषय ग्रहण करती है। तथा स्थूल शरीर सर्वथा सचेष्ट रहता है। इस अवस्था में अपरोक्ष तथा परोक्ष सभी प्रकार का ज्ञान, अपने में पूर्ण है, क्योंकि वही प्रमाण, प्रमेय तथा फल इन तीनों का विविक्त उपाधियों से आत्मा का अर्थविशेष से सम्बन्ध होता है, तब चक्षुरादि इन्द्रियों से स्थूल अर्थो का ग्रहण करता हुआ जीव स्थूल विशेष देह

[1] बाह्यान्तःकरणेवं देवतानुग्रहान्वितैः।
स्वस्व च विषयज्ञानं तज्जागरितमुच्यते।– सुरेश्वराचार्य, पंचीकरणवार्तिक, वा.२९, पृ.२६

के ऐक्यारोप को प्राप्त करता है[1]। जीव या सूक्ष्म शरीर का क्रियाशील रूप में शरीर में कायम (स्थित) रहना ही जाग्रतावस्था है। जीव की क्रियाशीलता ही इन्द्रियों की क्रियाशीलता के रूप में आभासित होती है।

स्वप्नावस्था- जीव या सूक्ष्म शरीर का पुनर्वापसी की अवस्था में रहते हुये क्रियाशील अवस्था में शरीर से बाहर रहना ही जीव की स्वप्नवास्था है। स्वप्न अवस्था का तैजस सूक्ष्मशरीररूप कार्य से उपहित रहता है तथा मूल अज्ञानव्यष्टि का कारणशरीर भी उपहित रहता है। अतः इसे कार्य-कारण बद्ध माना गया है, माण्डुक्य में उसे 'एकोनविंशतिमुख' तैजस कहा गया है जिसके उन्नीस मुखों में अन्तःकरण चतुष्ट्य, इन्द्रियदशक तथा प्राणपञ्चक सम्मिलित है।[2] स्वप्न मन की कल्पना या बुद्धि का विवर्त नहीं है अपितु जीव का स्थूल शरीर से क्रियाशील रूप में अलग रहना ही स्वप्न है। मनुष्य का जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर के माध्यम से विविध प्रकार के भोगों का उपभोग करता है वह स्वप्नकालीन भोगों को उत्पन्न करने वाले कर्मो का उदय जाता है, तब सूक्ष्मशरीर जाग्रत अवस्था से स्वप्नावस्था में संचार करता हुआ, स्वप्नावस्था का अनुभव करता है।[3] इस अवस्था में सूक्ष्मशरीर सूक्ष्म विषयों का भोग करता है। स्वप्नावस्था में सूक्ष्मशरीर प्राणमय,मनोमय एवं विज्ञानमय कोशों में आबद्ध रहता है। आनन्दगिरि के अनुसार बाह्येन्द्रियों के उपसंहृत होने पर जागरित वासना के अनुसार मन का जाग्रतकालिक विषयों के आयताकार में अवभासन स्वप्न है।[4] इस स्वप्नावस्था के सूक्ष्मशरीराभिमानी जीव को 'तेजस्' कहा जाता है।[5] आचार्य शंकर के अनुसार इस अवस्था में आत्मा स्वयं ही विशुद्ध ज्योतिस्वरूप होता है, अर्थात् बाह्य आध्यात्मिक भूत एवं भौतिक संसर्ग से रहित ज्योति होता है।[6]

सुषुप्ति अवस्था- जिस अवस्था में सब प्रकार की प्रतीति प्रशान्त हो जाती है और अन्तःकरण सूक्ष्म बीज-रूप से शेष रहता है, वही सुषुप्ति अवस्था है।[1] कारण शरीर की प्रवृत्ति सत्त्व, रजस् एवं तमस् त्रिगुणात्मक बताई गई है,

---

[1] आनन्दगिरि, न्याय निर्णय,१/१/८ पृ.११४

[2] कार्यकारणबद्धौ ताविष्यते विश्वतैजसो।

प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः। -मांका, मांउ ७/११

[3] जाग्रतफल प्रयोगस्य पद्यकर्म प्रहीयते।

व्युन्धास्यस्वप्रधानः सत्स्वप्नमायांसमीक्षते। -बृह.उप.भा.वा, २/१/२/९

[4] माण्डूक्यगौड़पादभाष्यव्याख्या, ४/८/७, बृ. शां.भा,२/१/१८

[5] मा.का, १/४, पंचीकरवार्तिक, ३८, पृ.३२

[6] बृ.उप शां.भा, ४/३/९,पृ९२९

[1] सर्वप्रकारप्रमितिप्रशान्तिबीजात्मनावस्थितिरेव बुद्धेः।

किन्तु यह तीनों गुण अव्यक्त स्वरूप में ही उसमें विद्यमान रहते है। जब व्यक्ति जाग्रत अवस्था से सुषुप्त अवस्था में अपने को समेट लेता है, तब कहा जाता है कि वह सुषुप्त अवस्था है। इस अवस्था में जीव को 'सुषुप्ताभिमानी की संज्ञा दी जाती है। इस अवस्था में सम्पूर्ण कार्यो का लय देखा जाता है।[1] सुषुप्तावस्था की आत्मव्यष्टि को प्राज्ञ नाम से सम्बोधित किया जाता है जो अज्ञानव्यष्टि से उपहित रहता है किन्तु उसमें स्थूल-सूक्ष्मशरीरों तथा विषयों का ग्रहण नहीं होता और साथ ही वह आत्मतत्त्वरूप को नही जानता, अतः उसे तत्त्वग्रहण बीजभाव या कारणशरीर से ग्रहीत या उपहित कहा गया है। जिसमें अन्यथाग्रहण की सम्भावना नही रहती क्योंकि बाह्य विषयों के ग्रहण के साधन वहा निष्क्रिय हो जाते है। माण्डुक्य उपनिषद् में इसे '**चैतोमुख प्राज्ञ**' कहा गया है जिसमें चित्त अज्ञानरूप कारण का अर्थ देता है। इसमें धर्म, अधर्म एवं पूर्व संस्कार सभी कारणरूप में विद्यमान रहते है। यही कारण है कि शयन से उठे हुए व्यक्ति को सुख और दुःख का अनुभव नही होता एवं स्मरण की अनुपपत्ति नही होती। निद्रा अवस्था में सभी कार्यो का लय हो जाता है, यह अनुभव सिद्ध है। 'सुषुप्तिकाले सकले विलिने' इत्यादि का श्रुति प्रमाण है। अब यहां पर शका उत्पन्न होती है कि निद्रावस्था में सबके साथ धर्म-अधर्म आदि का लय जो जाता है तो जाग्रत हुए पुरूष को पूर्व सुख-दुःखों का अनुभव कैसे हो सकेगा? इसके समाधान करते हुए कहा गया कि निद्रा में धर्म, अधर्म और पूर्वानुभवों के संस्कार का आत्यान्तिक लय नही होता, जैसे वृक्ष बीज में रहता है, वैसे वे सब कारण में स्थित रहते है, इसी से वह निद्रित पुरूष कहलाता है। धर्माधर्मादि रूप क्रमशः सुख-दुःख को भोगता है, और पूर्वसंस्कारों के जाग्रत होने पर उसे पूर्वानूभुत विषयों का स्मरण भी होता है। अब यहां शंका उठती है कि निद्रा में समस्त कार्यो के साथ अन्तःकरण का भी लय हो जाता है क्या? यदि ऎसा स्वीकार कर लेने पर सुषुप्त पुरूष की श्वासोच्छवासादि क्रियाएँ सम्पन्न नही हो पायेगी, क्योंकि सभी व्यापार मन के अधीन है। जीव या सूक्ष्म शरीर का पुनः वापसी की अवस्था में रहते हुये स्थूल शरीर से बाहर क्रियाहीन अवस्था में रहना ही सुषुप्ति अवस्था है। इस शंका के समाधान के लिए कहा गया है कि वस्तुतः सुषुप्त पुरूष के श्वासोच्छवास का लय होता है। क्योंकि सुप्त पुरूष को किसी प्रकार की कोई प्रतिती नही हुआ करती। किन्तु अगर जाग्रत पुरूषों को उसके प्राणादि क्रिया की जो प्रतिती होती है, वह उस पुरूष के शरीर प्रतीति के

सुषुप्तिरेतस्य किल प्रतीतिः किंचिन्नचेद्यीति जगत्प्रसिद्धेः॥ -विवेकचूडामणि,१२१

[1] अव्यक्तमेतत्त्रिगुणैनिरूक्तं तत्कारणं नाम शरीरमात्मनः।
सुषुप्तिरेतस्य विभक्त्यवस्था प्रलीन सर्वेन्द्रिय बुद्धिवृत्तिः॥ विवेकचूडामणि-१२०

तुल्य ही भ्रमरूप है, अर्थात् जैसे निद्रा में पुरूष को यह मेरी शरीर' इत्यादि कारण शरीर का ज्ञान नही होने से उसकी दृष्टि में शरीरादिकों का भी अभाव होने के कारण ही अन्य लोगों का उसका शरीर दिखाई पड़ने पर भी वह भ्रम है। यहा शंका उत्पन्न होती है कि क्या सुषुप्तावस्था में स्थूल शरीर में प्राणों का अभाव रहता है? यदि हाँ कहने पर सुषुप्त निद्रा अवस्था और प्राणवियोगरूप मृत्यु, यह दोनों समान कहे जायेगें ? इसक सामाधान करते हुए कहा गया है कि सुप्त पुरूष का लिंग शरीर संस्काररूप से यही इसी लोक में रहता है, किन्तु मृत स्थूल पुरूष का लिंगशरीर स्वर्ग-नरकादि परलोक में रहता है, इस कारण इन दोनों में भेद है।निद्रा भी एक पुरूष का प्रलय होने से, एक पुरूष का प्रलय होने पर भी वह दूसरे को ज्ञात नही हो पाता।[1] अब यहां पर वेदान्त परिभाषा में यह शंका उठाई गई कि यह मानने पर सुषुप्त या निद्रित पुरूष और मृत पुरूष में क्या कोई अन्तर रहता है क्या? उत्तर में कहते है कि यह शंका नही की जा सकती क्योंकि सुप्त मनुष्य की लिंग शरीर संस्काररूप में रहता है किन्तु मृत-पुरूष का लिंग शरीर अन्य लोक-लोकान्तर में रहता है।[2] यही दोनों में अन्तर है। यहां पर प्रश्न उठता है कि व्यवहार में होने वाले श्वासोच्छवासादि ज्ञान को मिथ्याज्ञान कैसे कह सकते है? इसके समाधान के लिए क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति के भेद से अन्तःकरण की दो शक्तियाँ होती है। उनमें से ज्ञानशक्ति विशिष्ट अन्तःकरण का सुषुप्तावस्था में लय होता है न कि क्रियाशक्तिविशिष्ट शक्ति का। इस कारण क्रियाशक्तिमत् अन्तःकरण उसमें विद्यमान रहता है तथा प्राणादिक्रियायें भी स्वरूपतः होती रहती है[3]। अतः उसकी प्रतिती होती है। किन्तु यहां शंका उठती है कि यह मानने का आधार क्या है? इसके उत्तर में श्रुतियां आधारस्वरूप प्रस्तुत है।'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न किञ्चन वेद' अर्थात् प्राज्ञ आत्मा के साथ तादात्म्य को पाया हुआ यह जीव कुछ भी नही जानता।[1] यह नित्य सुषुप्तावस्था ही प्रलय है। आचार्य शंकर इसे सम्प्रसाद कहते है, क्योंकि स्थूल शरीर जाग्रत अवस्था में शरीर और इन्द्रियों सैकड़ो विषयों व्यापारिक सम्बन्ध से

---

[1] तत्र नित्यः-सुषुप्तिः, तस्याः सकलकार्य-प्रलयरूपत्वात्। धर्माधर्मपूर्वसंस्काराणां च तदा कारणात्मनाऽवस्थानम्। तेन सुषुप्तोत्थितस्य न सुखदुःखाद्यनुभवानुपपत्तिः। ना वा स्मरणानुपपत्ति। न च सुषुप्तावन्तःकरणस्य विनाशे तदधीनप्राणादिक्रियाऽनुपपत्तिः। वस्तुतः श्वासाद्यभावेऽपि तदुपलब्धेः पुरूषान्तरविभ्रममात्रत्वात् सुषुप्तशरीरोपलम्भवत्। -वेदान्तपरिभाषा, पृ.३४३-४४

[2] न चैवं सुप्तस्य परेतादविशेषः। सुप्तस्य हि लिंगशरीरं संस्कारात्मनाऽत्रैव वर्तते, परेतस्य तु लोकान्तरे इति वैलक्षण्यात्। वेदान्तपरिभाषा, पृ.३४५

[3] अन्तःकरणस्य द्वे शक्ति-ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिश्चेति। तत्र ज्ञानशक्तिविशिष्टान्तःकरणस्य सुषुप्तौ विनाशः, न क्रियाशक्तिविशिष्टस्येति प्राणाद्यवस्थानमविरूद्धम्। यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति, अथास्मिन प्राण एवैकधा भवति, अथैन वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति,(कौ.२-३) "सता तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति'(छा.६/१) इत्यादि श्रुतिरूक्तसुषुप्तौ मानम्। वेदान्तपरिभाषा पृ३४५

[1] कौ. ३-२

हुए क्लेश से सुषुप्त अवस्था में प्रसन्नता होने के कारण इसे 'सम्प्रसाद' कहते है।[1] सुषुप्तावस्था में जो आत्मा को स्वरूप का अज्ञान रहता है वहीं आनन्दमयकोश एवं कारण शरीर होता है।[2]

तुरीयावास्था- जीव या सूक्ष्म शरीर का साधना या ध्यान आदि के माध्यम से आत्मा या कारण शरीर से मिलकर स्थूल शरीर से बाहर एकाकार अवस्था में स्थित रहना ही तुरीयावस्था है। यह साधना सिद्धि की अवस्था होती है। यह सबसे भिन्न एवं सबका अधिष्ठान है। इस अवस्था में उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं का एकीकरण होता है। यह तीनों अवस्थाओं से उपर एवं पंचकोशातीत है।[3] सभी दुःखों की निवृत्ति का कारण अविनाशी सर्वेश्वर तुरीय एवं व्यापक अवस्था है। वह परमात्मा सभी भावों में अद्वैत बन्धन मुक्त स्वरूप वाला है।[4] विचार जीव या सूक्ष्म शरीर के कार्य करने के एकमात्र माध्यम हैं। किसी भी विषय के सन्दर्भ में यह गुणमय है या दोषमय चिन्तन वाला विचार हो सकता है। कोई विचार या उसका कार्य दो भागों में विभाजित हुआ है- गुण विभाग के विचार या कार्य तथा दोषमय विचार या कार्य। गुणमय विचार- वे विचार या चिन्तन-मनन जो हमें असत्य से सत्य की ओर, ऐंद्रिक मात्र सुख या दुख से चेतन आनंदमय स्थिति की ओर, क्षणिक सुख-शान्ति से शाश्वत शान्ति आनन्द की ओर तथा जड़ से चेतन और चेतन से परमतत्त्वम् रूपी ब्रह्म की ओर उठाने वाले विचार या उसके कार्य ही गुणमय या गुणविभागीय विचार हैं। दोषमय विचार- वे विचार या चिन्तन-मनन जो हमें सत्य से असत्य की ओर, आनंदमय स्थिति से ऐंद्रिक व सांसारिक सुख-दुख की ओर, शाश्वत् शान्ति एवं आनन्द से क्षणिक सुख की ओर तथा परमात्मा से चेतन आत्मा एवं चेतन आत्मा से जड़ की ओर गिराने वाले विचार दोषमय विचार हैं। इन्हीं दोनों विचारों के संस्कार से सूक्ष्म शरीर प्रभावित होता है और आगे स्थूल शरीर के सभी कार्य इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति मात्र है। गुणमय भाव कार्य हमें बुराई से अच्छाई की तरफ चलना-करना-कराना, भोगना इत्यादि का कारण होता है। दोषमय भाव कार्य हमें अच्छाई से बुराई की तरफ ले जाने वाला होता है।

---

[1] एतस्मिन सम्प्रसादे सम्यक् प्रसीदत्यस्मिन्निति, जागरिते....इतयतः सुषुप्तं सम्प्रसादः उच्यते। बृ.उ. शां.भा,४/३/१५

[2] स्वरूपाज्ञानमानन्दमयकोशः। तत् कारणशरीरम्। -पैङ्गलोपनिषद २/४

[3] त्रयणां विश्वादीनां पूर्व-पूर्वप्रविलापनेन तुरीयत्व प्रतिपर्त्तिः।–माण्डूक्योपनिषद् भाष्य,१२

[4] निवृतेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।

अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यौ विभुः स्मृतः। -माकां १/१०

शरीर एवं पञ्चकोश :-

भारतीय दार्शनिक ग्रंथों में एक तथ्य बार बार आता हैं की साधक को पञ्च कोष की यात्रा करना हैं या साधक को एक एक करके पञ्च कोष की यात्रा पूरी करनी ही पड़ती हैं। ये पञ्च कोष क्या हैं? इनका क्या उदेश्य है? और इनकी स्थिति कहाँ हैं? इन जटिल प्रश्नों गुत्थियों पर सामान्य नव-साधक अनिर्णीत की स्थिति में पँहुच जाता हैं। या तो वह इन नूतन शब्दों को जानता नहीं या फिर इनके अर्थो के बिना अवगत हुए यात्रा प्रारंभ कर देता है। समान्यतः कोष से तात्पर्य आवरण या शरीर होता हैं। अब यहां शंका उत्पन्न होती है कि क्या इस शरीर के अन्दर भी दूसरे कोई शरीर की सत्ता विध्यमान होती हैं? इसके उत्तर में भारतीय मनीषियों ने हाँ में दिया है। जीव पँच-कोषों में आविष्ट रहता है। इस स्थूल शरीर के में अन्तविष्ट रहने वाला दूसरा शरीर जिसे सूक्ष्म शरीर या कारण शरीर नाम दिया है। इस तरह वेदान्त परम्परा में तीन शरीरों का स्पष्टतः वर्गीकरण मिलता है - स्थूल ,सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर। इसी तरह शास्त्र परम्परा में पञ्च कोशों के माध्यम से तीनों शरीरों विस्तृत वर्णन मिलता है। इन पञ्च कोशों का निम्न प्रकार से वर्णन किया जा रहा है-- अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनो मय कोष, विज्ञानं मय कोष एवं आनंदमय कोष।

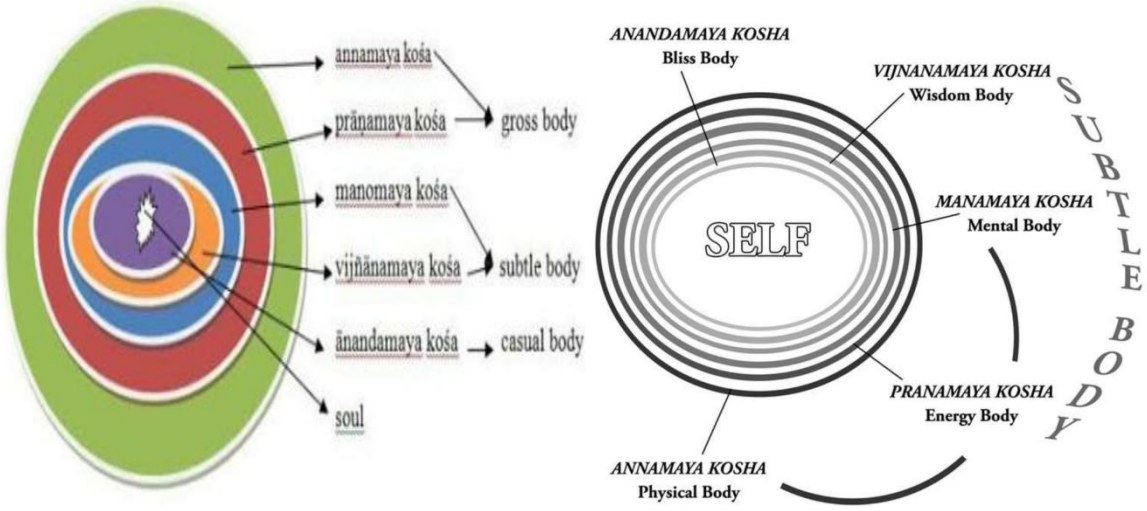

अन्नमय कोश – जिसका नाम ही प्रदर्शित करता हैं कि अन्नमय जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्य्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। इस स्थूलशरीर के निर्माण में अन्न की विशेष भूमिका होती हैं। अर्थात् यह शरीर स्त्री के रज

और पुरुष वीर्य के माध्यम से ही इसका निर्माण हुआ हैं। इसका तात्पर्य यह है कि हमें जो अपना शरीर दिखाई दे रहा हैं वह अन्नमय कोष है, क्योंकि यह अन्न से बना हुआ है। यह अन्न से ही जीवन धारण करता है और अन्न के बिना यह नष्ट हो जाता है। इस अन्नमय स्थूलशरीर को स्वयं-प्रकाश, नित्य, शुद्ध आत्मा कभी भी नही कहा जा सकता, क्योंकि यह अनित्य घटको से बना हुआ है[1]। हमें जो बाह्यगत व्याधियां होती है, वह यही शरीर ही सहन करता हैं। हमारे शरीर की अवस्थाओं का जो प्रभाव होता है, वह इसी शरीर पर होता है। बालय-अवस्था युवा, प्रौढ़ एवं वर्द्धावस्था का प्रभाव इस अन्नमय शरीर पर ही अपना प्रभाव डालते हैं। आध्यात्मिक यात्रा भी इसी शरीर के माध्यम से प्रारंभ एवं सम्पन्न होती हैं। अन्नमयकोश ऐसे पदार्थों का बना है जो आँखों से देखा और हाथों से छुआ जा सकता है। अन्नमयकोश के दो भाग किये गये हैं- **एक** प्रत्यक्ष अर्थात् स्थूल, **दूसरा** परोक्ष अर्थात् सूक्ष्म, दोनों को मिलाकर ही एक पूर्ण शरीर बनता है। पंचकोश की ध्यान धारणा में जिस अन्नमयकोश का ऊहापोह किया गया है, वह सूक्ष्म शरीर है, उसे जीवन शरीर कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। अध्यात्म शास्त्र में इसी सूक्ष्म शरीर को प्रधान माना गया है और अन्नमयकोश के नाम से इसी की चर्चा की गई है। यह अन्नमय कोश के भोग के लिये स्थूल शरीर धारण करता है। यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का मध्य केन्द्र नाभि में स्थित बतलाया गया है। स्थूल शरीर को जीवित रखने वाली ऊष्मा और रक्त की गर्मी जो सञ्चार का कारण है और रोगों से लड़ती है, उत्साह स्फूर्ति प्रदान करती है, यही ओजस् है। जब व्यक्ति ध्यान धारणा में श्रद्धा और सङ्कल्प के साथ भावना करता है तो वह इसका अनुभव करता है कि सूक्ष्म शरीर के माध्यम से जीवित स्थूल शरीर में ओजस् का उभार और व्यक्तित्व में सक्रियता बढ़ जाना, उदासी दूर हो जाना तथा नव जीवन का सञ्चार होना इसी के माध्यम से होता है। यह अन्नमय स्थूलशरीर का अस्तित्त्व जन्म से पूर्व और जन्म के पश्चयात नही रहता। यह थोड़े समय के लिए अस्तित्त्ववान बना रहता है। इसके गुण-धर्म क्षणिक एवं परिवर्तनशील है, क्योंकि यह अनेक तत्त्वों का संघात और जड़ है। यह घट के समान दृश्य-विषय है एवं विकारों का साक्षी होने के कारण यह नित्य आत्मा नही हो सकता।[1]

---

[1] देहोऽयमन्नमयस्तु कोशश्चान्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः।
त्वक् चर्ममांसरूधिरास्थिपुरीष राशिर्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यशुद्धः॥ विवेकचूडामणि, १५४

[1] पूर्व जनेरधिमृतेरपि नायमस्ति जातक्षणः क्षणगुणोऽनियतस्वभावः।
नैको जडश्च घटवत्परिदृश्यमानः स्वात्मा कथं भवति भावविकारवेत्ता। -विवेकचूडामणि, १५५

प्राणमय कोश:- पंचकर्मेन्द्रियाँ और पंचप्राणों से मिलकर जीवनयुक्त प्राणमयकोश गठित होता है। जिससे व्याप्त होकर अन्नमय स्थूलशरीर अपनी समस्त क्रियायें सम्पन्न करता है।[1] प्राणमय कोश को आत्मा नही कह सकते क्योंकि यह अन्ततः मुख्य प्राण वायु का एक विकार है। वायु की भाँति यह स्थूलशरीर के अन्दर जाता है और बाहर आता है। इसको न तो स्वयं का न दूसरे का किसी का सुख-दुःख या इष्ट-अनिष्ट का भान होता है। यह सिर्फ अपनी सत्ता के लिए सूक्ष्मशरीर पर निर्भर रहता है[2]। मानव शरीर में मुख्यतः ५ प्राण तथा सूक्ष्मतः १० प्राण होंते हैं। इन प्राणों के अलग अलग नाम और उतने ही विशेषता युक्त इनके कार्य होते हैं शरीर के बिभिन्न भाग में स्थित होते है। दूसरा प्राणमय जिसमें निम्न पञ्चविध प्राण समाविष्ट हैं- प्राण अर्थात् जो भीतर से बाहर आता है, अपान जो बाहर से भीतर जाता है, समान जो नाभिस्थ होकर शरीर में सर्वत्र रस पहुँचाता है, उदान जिससे कण्ठस्थ अन्नपान खींचा जाता है और बल पराक्रम होता है तथा व्यान जिससे सब शरीर में चेष्टादि कर्म जीव करता है। जीवित मनुष्य में आँका जाने वाला विद्युत् प्रवाह, तेजोवलय एवं शरीर के अन्दर एवं बाह्य क्षेत्र में फैली हुई जैव विद्युत् की परिधि को प्राणमय कोश कहते हैं। शारीरिक स्फूर्ति और मानसिक उत्साह की विशेषता प्राण विद्युत् के स्तर और अनुपात पर निर्भर रहती है। चेहरे पर चमक, आँखों में तेज, मन में उमंग, स्वभाव में साहस एवं प्रवृत्तियों में पराक्रम इसी विद्युत्प्रवाह का उपयुक्त मात्रा में होना है। इसे ही प्रतिभा अथवा तेजस् कहते हैं। शरीर के इर्द-गिर्द फैला हुआ विद्युत् प्रकाश तेजोवलय कहलाता है। यही प्राण विश्वप्राण के रूप में समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसे पात्रता के अनुरूप जितना अभीष्ट है, प्राप्त कर सकते हैं। **ध्यान धारणा समाधि** के माध्यम से अनुभव करने पर हमें प्रतित होता है कि हमारे शरीर के कण- कण में, नस- नस में, रोम- रोम में विशिष्ट शक्ति का प्रवाह गतिशील हो रहा है। आत्मसत्ता प्राण विद्युत् से ओत- प्रोत एवं आलोकित हो रही है। यह दिव्य विद्युत् प्रतिभा बनकर व्यक्तित्व को प्रभावशाली, पराक्रम और साहस का जागरण कर रही है।

---

[1] कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितोऽयं प्राणो भवेत्प्राणमययस्तु कोशः।
येनात्मवानन्नमयोऽनुपूर्णः प्रवर्ततेऽसौ सकल क्रियासु॥–विवेकचूडामणि,१६५

[2] नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो गन्ताऽऽगन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः।
यस्मात्किञ्चित्कापि न वेत्तीष्टमनिष्टं स्वं वान्यं वा किञ्चन नित्यं परतन्त्रः। -विवेकचूडामणि,१६६

मनोमय कोश:- तीसरा मनोमय जिसमें मन के साथ अहंकार, वाक्, पाद्, पाणि, पायु, उपस्थ पञ्च कर्म्मेन्द्रियाँ एवं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ से मिलकर मनोमय कोश बनता हैं जो 'मैं' और 'मेरे' (अहं और मम) तथा नाना प्रकार के वस्तु-विकल्प का प्रमुख कारण है। इस जगत में विभिन्न नाम-भेदात्मक दृष्टियों प्रलक्षित हो रही है उसके पीछे शक्तिशाली मनोमय कोश की शक्ति कार्य कर रही है। मनोमय कोश अपने पूर्व वाले अर्थात् प्राणमय कोश को आवृत किये हुए है[1]। पञ्च ज्ञानेन्द्रियरूपी होताओं द्वारा विषयरूपी घृत की आहुतियो से बढाया हुआ और अनेकानेक वासनारूपी ईंधन से प्रज्वलित होता हुआ यह मनोमय कोश रूपी यज्ञाग्नि सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च को वहन कर लेता है। अर्थात व्यक्ति के अन्तःस्वरूपी यज्ञ-कुण्ड में डाली जाने वाली आहुतीयाँ शब्द-स्पर्शादि विभिन्न विषय हैं। इस अग्नि के लिए ईंधन 'वासनाएँ' है जो विचार-विक्षेप की लपटों में पहले ही दग्ध हो रही है। जिस तरह पहले से धधकती अग्नि में आहुतीयाँ पड़ती है तो लपटें बहुत ऊँची उठती है और जीवन रूपी भवन तक भस्मभूत कर देती है, अर्थात् जीवन की पूरी शक्ति समाप्त कर देता है। वासनारूपी ईंधन के कारण मनोमय कोश निरन्तर प्रज्वलित रहता है[2]। मनोमय कोश को सूक्ष्मशरीर से अभिहित किया जाता है। मन की गति सर्वाधिक हैं। मन के माध्यम सूक्ष्म शरीर ब्रह्माण्ड में कहीं भी आया जा सकता हैं। सुख दुःख स्नेह मोह सभी इसी शरीर के आवरण के कारण मनोमय शरीर (सूक्ष्म शरीर) को अनुभव होते हैं।विचार बुद्धि, विवेकशीलता मनोमय कोश पूरी विचारसत्ता का क्षेत्र है। इसमें चेतन, अचेतन एवं उच्च चेतन की तीनों ही परतों का समावेश है। इसमें मन, बुद्धि और चित्त तीनों का संगम है। मन कल्पना करता है। बुद्धि विवेचना करती और निर्णय पर पहुँचाती है। चित्त में अभ्यास के आधार पर वे आदतें बनती हैं, जिन्हें संस्कार भी कहा जाता है। इन तीनों का मिला हुआ स्वरूप मनोमय कोश है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार वायु मेघ को लाती है और पुनः छिन्न-भिन्न कर देती है। ऍसे ही मनोमय सूक्ष्म शरीर के कारण विषयसक्ति के कारण बन्धन तथा आत्मानुभूति के कारण मोक्ष का कारण बनता है।[1] यह मनोमय महाव्याघ्र सांसारिक विषय-भोगरूपी

---

[1] ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात् कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः।
संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयांस्तपूर्वकोशमभिपूर्य विजृम्भते यः।–विवेकचूडामणि, १६७

[2] पञ्चेन्द्रियैः पञ्चभिरेव होतृभिः। प्रचीयमानो विषयाज्यधारया॥
जाज्वल्यमानो बहुवासनेन्धनैः। मनोमयाग्निर्बहति प्रपञ्चम्॥ विवेकचूडामणि,१६८

[1] वायुनाऽऽनीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते।
मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते। विवेकचूडामणि,१७२

जगल में उपभोगार्थ घूम रहा है। जिन्हें मोक्ष की तीव्र आकांक्षा है ऎसे साधूजन को मन के अनुसार आचरण नही करना चाहिए[1]। यहां शंका उठना स्वभाविक है कि मनोमय कोश और आत्मा क्या एक ही है या अलग-अलग? इस शंका निवारण करते हुए कहा गया है कि यह दोनों एक हो ही नही सकते, क्योंकि जिसका आदि है उसका अन्त भी निश्चय है, मनोमय कोश का स्वभाव भी ऎसा है। यह परिवर्तनशील है, सुख-दुःख व क्लेश से युक्त है, ज्ञान का विषय है। दृष्टा ज्ञान का विषय नही हो सकता। अतः आत्मा और मनोमय कोश भिन्न-भिन्न है।[2] सूक्ष्मशरीर अपनी पूर्व वासनाओं से परिचालित होकर जब अनित्य स्थूलशरीर सांसारिक विषयी जगत में कर्म करता हुआ कर्मो के फलों का उपभोग करता है। यह सूक्ष्मशरीर पूर्व वासनाओं के अनुसार कर्म करने और उनका फल भोगने हेतु उच्च एवं निम्न कोटीयों की योनियों में जन्म लेता रहता है[3]। मनोमय कोश का प्रवेश द्वार आज्ञाचक्र (भ्रूर मध्य) है। आज्ञाचक्र जिसे तृतीय नेत्र अथवा दूरदर्शिता कह सकते हैं, इसका जागरण एवं उन्मीलन करना मनोमय कोश की ध्यान धारणा का उद्देश्य है। आज्ञाचक्र की संगति शरीर शास्त्री पिट्यूटरी एवं पीनियल ग्रन्थियों के साथ करते हैं।व्यक्ति चेतना में उच्चस्तरीय प्रखरता उत्पन्न करने के लिए बह्मचेतना के समावेश की आवश्यकता पड़ती है। ध्यान धारणादि से ब्रह्मसत्ता की भावना करने से ब्रह्म का शुद्ध प्रकाश आज्ञाचक्र, मस्तिष्क क्षेत्र से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त,मनोमय कोश में फैल रहा है। आत्मसत्ता का समूचा चिन्तन, क्षेत्र, मनोमय कोश ब्रह्म की ज्योति एवं ऊर्जा से भर देता है। आत्मसत्ता की स्थिति ज्योति पुञ्ज एवं ज्योति पिण्ड बनने जैसी हो रही है। दृश्य में ज्योति का स्वरूप भावानुभूति में प्रज्ञा बन जाता है। ब्रह्म-ज्योति के मनोमय कोश में प्रवेश करने का अर्थ है कि चेतना का प्रज्ञावान् बनना, ऋतम्भरा से- भूमा से आलोकित एवं ओतप्रोत होना, प्रज्ञा- विवेक, सन्तुलन की चमक मस्तिष्क के हर कण में प्रविष्ट हो जाती है और संकल्पों में दृढ़ता आ जाती है[1]।

---

[1] मनो नाम महाव्याघ्रो विषयारण्यभूमिषु।
चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः॥ विवेकचूड़ामणि,१७६

[2] मनोमयो नापि भवेत्परात्मा। ह्याद्यन्तवत्त्वात्परिणामिभावात्।
दुःखात्मकत्वाद्विषयत्वहेतोः। द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्टः। -विवेकचूडामणि,१८३

[3]अनादिकालोऽयमहंस्वभावो जीवः समस्तव्यवहारवोढा।
करोति कर्माण्यपि पूर्ववासनः पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि॥
भुङ्क्ते विचित्रास्वपि योनिषु वज्रज्ञायाति निर्यात्यध ऊर्ध्वमेषः। -विवेकचूडामणि, १८६-६७

[1] विवेकवैराग्यगुणातिरेकाच्छुद्धत्वमासाद्य मनो विमुक्त्यै।
भवत्यतो बुद्धिमतो मुमुक्षोस्तभ्यों दृढाभ्यां भवितव्यमग्रे॥ -विवेकचूडामणि,१७५

विज्ञानमय कोश:- अहंकार ओर बुद्धि इस शरीर के आधारभुत तत्व हैं मतलब जीव आत्मा को जो अहंकार ओर बुद्धित्ता प्रदान करके में उसका योग दान हैं , यही शरीर ,जीव आत्मा को अहंकार देती हैं । अपने कर्तव्य का गुण ओर अभिमानं की मैं कुछ हूँ सब इसका का ही परिणाम हैं। विज्ञानमय कोश चेतन की तरह है जिसे अतीन्द्रिय- क्षमता एवं भाव संवेदना के रूप में जाना जाता है। विज्ञानमय और आनन्दमय कोश का सम्बन्ध सूक्ष्म जगत् से ब्रह्मचेतना से है। सहानुभूति की संवेदना, सहृदयता और सज्जनता का सम्बन्ध हृदय से है। यही हृदय एवं भाव संस्थान अध्यात्म शास्त्र में विज्ञानमय कोश कहलाता है। परिष्कृत हृदय- चक्र में उत्पन्न चुम्बकत्व ही दैवी तत्त्वों को सूक्ष्म जगत् से आकर्षित करता और आत्मसत्ता में भर लेने की प्रक्रियाएँ सम्पन्न करता है। श्रद्धा जितनी परिपक्व होगी- दिव्य लोक से अनुपम वरदान खिंचते चले आएँगे। अतीन्द्रिय क्षमता, दिव्य दृष्टि, सूक्ष्म जगत् से अपने प्रभाव-पराक्रम पुरुषार्थ द्वारा अवतरित होता है। विज्ञानमय कोश में ब्रह्म प्रकाश का प्रवेश 'दीप्ति' के रूप में माना गया है। दीप्ति प्रकाश की वह दिव्य धारा है, जिसमें प्रेरणा एवं आगे बढ़ने की शक्ति भी भरी रहती है, ऐसी क्षमता को वर्चस् कहते हैं। यह प्रेरणा से ऊँची चीज है। प्रेरणा से दिशा प्रोत्साहन देने जैसा भाव टपकता है, किन्तु वर्चस् में वह चमक है जो धकेलने, घसीटने, फेंकने, उछालने की भी सामर्थ्य रखती है। नस- नस में रोम- रोम में दीप्ति का सञ्चार, दीप्ति का प्रभाव, दिव्य भाव संवेदनाओं और अतीन्द्रिय ज्ञान के रूप में होता है। दीप्ति की प्रेरणा से सद्भावनाओं का अभिवर्धन होता है और सहृदयता जैसी सत्प्रवृत्तियाँ उभर कर आती हैं, ऐसी आस्था अन्तःकरण में सुदृढ़ अवस्था में होनी चाहिए। स्वयं को असीम सत्ता में व्याप्त फैला हुआ अनुभव करें। सहृदयता, श्रद्धा, दिव्य ज्ञान का विकास और स्नेह करुणा जैसी संवेदनाओं से रोमांच का शरीर में बोध हो रहा है।[1]

आनन्दमय कोश:- यह जीवात्मा (कारण शरीर) पर चढ़ा हुआ पहला कोष हैं, अर्थात सबसे पहले इसका आवरण होगा फिर क्रमशः विज्ञानं मय कोष, मनोमय कोष का , प्राणमय कोष तथा अन्नमय कोष का आवरण होता है। इसे आनन्दमय शरीर के नाम से जाना जाता है क्योंकि इसमें आनंदता प्रदानता होने के कारण अभिहित किया

---

[1] देहादिनिष्ठाश्रमधर्मकर्म गुणाभिमानं सततं ममेति।
विज्ञानकोशोऽयमतिप्रकाशः प्रकृष्टसान्निध्यवशात्परात्मनः॥
अतो भवत्येष उपाधिरस्य यदात्मधीः संसरति भ्रमेण।। विवेकचूडामणि,१८८

जाता है। आनंद तत्त्व को वास्तव में प्रभाषित करना कठिन हैं। सामान तौर पर हम अपनी लौकिक भाषा में कहे तो हमारी प्रसन्नता या सुख का कोई एक प्रकार का विशेश। आनन्दमय कोश चेतना का वह स्तर है, जिनमें उसे अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति होती रहती है। आत्मबोध के दो पक्ष हैं-१)अपनी ब्राह्मी चेतना, बह्म सत्ता का भान होने से आत्मसत्ता में संव्याप्त परमात्मा का दर्शन होता है। २) संसार के प्राणियों और पदार्थों के साथ अपने वास्तविक सम्बन्धों का तत्त्वज्ञान भी हो जाता है। इस कोश के परिष्कृत होने पर एक आनन्द भरी मस्ती छाई रहती है। ईश्वर इच्छा मानकर प्रखरकर्त्तव्य- परायण; किन्तु नितान्त वैरागी की तरह काम करते हैं। स्थितप्रज्ञ की स्थिति आ जाती है। आनन्दमय कोश की ध्यान धारणा से व्यक्तित्व में ऐसे परिवर्तन आरम्भ होते हैं, जिसके सहारे क्रमिक गति से बढ़ते हुए धरती पर रहने वाले देवता के रूप में आदर्श जीवनयापन कर सकने का सौभाग्य मिलता है। अब यहाँ पर शंका उत्पन्न होती है कि यह पञ्चकोष क्या दोष है जिसके कारण इनको पार करना अपेक्षित है? वास्तव में यदि हम देखें तो जीवात्मा क्या हैं? एक इश्वर का अंश और ईश्वर में अहंकार , सुख दुःख होता हैं क्या ? उत्तर में कदापि नहीं, तो यह ईश्वर रूपी जीवात्मा को बिभिन्न प्रकार के कोष रूपी जाल में आबाधित कर के रख देती है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जीवात्मा इन सबसे पृथक् है। वह इन कोषो के अन्दर छिपा हुआ है, और इन कोशरूपी पर्दों के दूर हो जाने पर परम तत्त्व का ज्ञान दर्शन सुलभ हो जाता है। भारतीय ज्ञान परम्परा में आध्यात्म का उदेश्य तो स्वयं के स्वरूप को जानना अर्थात् अपने वास्तविक स्वरुप का परिचय प्राप्त करना ही हैं। मनुष्य इन पँच-कोषों के आवरण को पार करते हुए अपने अन्तिम साध्य शुद्ध चेतन्य स्वरूप परम ब्रह्म का अभिज्ञान कर लेता है

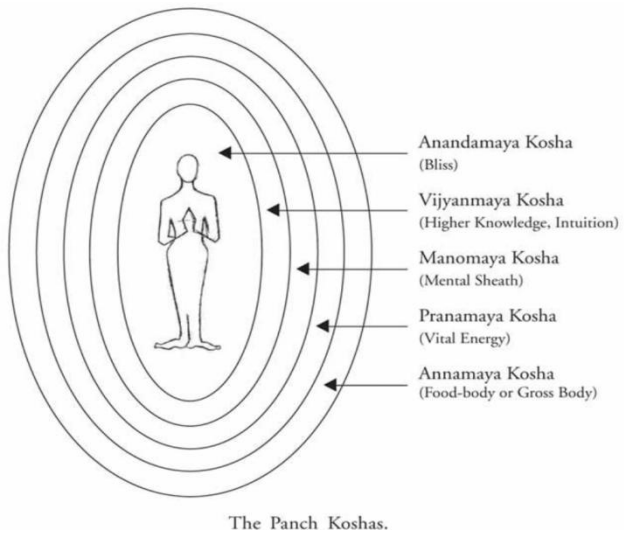

The Panch Koshas.

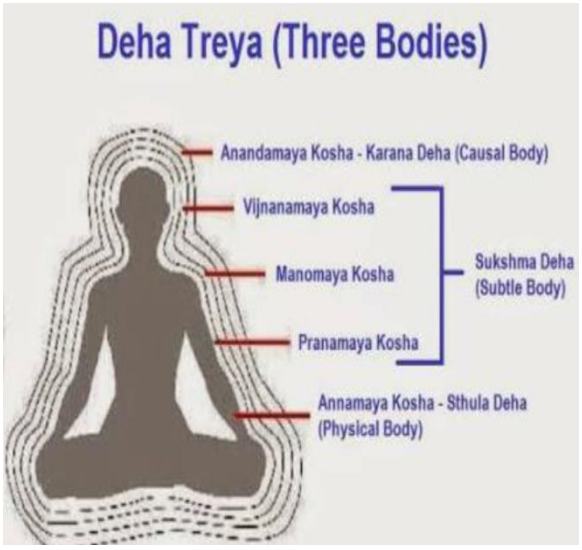

सूक्ष्मशरीर एवं कर्म सिद्धान्त :-

भारतीय दार्शनिक परम्परा में जहां एक ओर शरीर को नश्वर माना गया है वहीं दूसरी तरफ आत्मा नित्य अमर माना गया है। अब यहा पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि आत्मा नित्य अमर है तो जन्म और मृत्यु किसकी होती है? क्योंकि आत्मा तो नित्य है यदि आत्मा का जन्म मरण होता है तो आत्मा की नित्यता की अवधारणा खण्डित हो जायेगी। शरीर तो पहले से ही मरणधर्मा है, इसलिए इसकी नित्यता का प्रश्न नही उठता। जब भारतीय दाशनिक परम्परा कर्म की अवधारणा का प्रतिपादन करती है । जिसके अनुसार मनुष्यों को कर्म का फल अवश्य मिलता है चाहे वह इस जन्म में मिले या अगले जन्म में। अब हमारे सम्मूख जटिल दार्शनिक प्रश्न उठता है कि कर्मफल कैसे मिलता है। यह एक जीवन से दूसरे जीवन में कैसे जाता है? इस बिन्दु पर भारतीय दर्शन में गम्भीर रूप से चिन्तन किया गया है। मीमांसा दर्शन में यह मान्यता है कि हर कर्म एक अदृश्य शक्ति को जन्म देता है जिसे "अपूर्व अथवा "अद्रष्ट कहा जाता है। मनुष्य के जीवन भर के कृत्य, धर्म और अधर्म, इस में संचित होते रहते हैं। समय आने पर तथा परिस्थिति अनुकूल होने पर यह 'अपूर्व शक्ति फल के रूप में जीव में परिलक्षित होती है। इस शक्ति को देखा नहीं जा सकता किन्तु उस के प्रभाव लक्षित होते हैं। जिस प्रकार अग्नि का प्रभाव प्रकट होता है यधपि वह दिखाई नहीं देता। न्याय तथा सांख्य दर्शन इस शक्ति को अग्नि का गुण ही मानते हैं किन्तु मीमांसा के लिये यह अपने में विशिष्ट पदार्थ है। किसी भी कर्म से एक संस्कार उत्पन्न होता है जो जीव में ही वास करता है। उन का जीव के साथ तदात्मय हो जाता है अर्थात वह एक हो जाते हैं। उस के साथ ही यह एक शरीर से दूसरे में जाता है तथा अपना प्रभाव प्रस्तुत करता है। अपना फल देने के पश्चात यह समाप्त हो जाता है। एक बार इन सब का प्रभाव समाप्त हो जाने पर जीवात्मा मुक्त हो जाती है। कुछ मीमांसकों द्वारा इस शक्ति को नियति भी कहा गया है और कुछ के द्वारा विधि। पर यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने कार्य के द्वारा ही इसे उत्पन्न करता है। जैन मत के अनुसार आत्मा असीमित है किन्तु शरीर के अनुरूप है और विकसित अथवा संकुचित हो सकती है। आत्मा अपने में पवित्र है। इसलिये कर्मो के संस्कार कार्मण शरीर के माध्यम से वाहित होते है। इस के साथ कर्म के अंश चिपक जाते हैं। मुक्त होने के लिये मनुष्य को सब से पहले समस्त कर्म का संवार करना चाहिये। इस के पश्चात उसे पूर्व कर्मो - प्रारब्ध कर्म - की निर्झरता अर्थात उन का फल समाप्त करने के लिये कार्य करना चाहिये। यह प्रायशिचत के माध्यम से हो सकता है। इस से न केवल नये कर्म आते नहीं हैं वरण पुराने कर्मों को भी समाप्त किया जा सकता है। मनुष्य को सभी कर्मों से ऊपर उठना

चाहिये। यहाँ तक कि अंतिम पड़ाव में खाने पीने तक को छोड़ देना चाहिये। भगवद्गीता में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि यज्ञ के निमित्त किये हुए कर्म लोक बन्धन का कारण नही होता है।[1] अतः व्यक्ति को आसक्ति से रहित होकर यज्ञ के निमित्त कर्म करने चाहिए। यथार्थ कर्म का आचरण करते हुए पुरूष का समग्र शुभाशुभ फल विलीन हो जाता है।[2] अनासक्त भाव से कर्म का आचरण कर से ही व्यक्ति को परम तत्त्व की प्राप्ति होती है।[3] शास्त्र विधि से शरीर के निवारणार्थ किया गया कर्म मनुष्य के लिए पाप उत्पन्न नही करता।[4]

बौद्ध परम्परा सूक्ष्म शरीर के जगह आलय विज्ञान के माध्यम से कर्मो के संस्कारों प्रवाह मानता है। जब तक मनुष्य चार आर्य सत्यों के अनुसरण के माध्यम कर्मों के संस्कारों निरोध नही कर लेता तब तक व्यक्ति के आत्यान्ति दुःख की निवृत्ति नही हो सकती। व्यवहारिक जगत में दुःखों से निवृत्ति के लिये बौद्ध दार्शनिकों ने विस्तृत रूप से विचार किया है। हीनयान मत के अनुसार जब तृष्णा तथा इच्छायें समाप्त हो जाती है तो सब समाप्त हो जाता है जिस प्रकार तेल समाप्त हो जाने पर दिये की रोशनी समाप्त हो जाती है। शून्यवाद के अनुसार कुछ है ही नहीं है तो कुछ समाप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जीवन विचारों का पुंज है और वह क्षणिक हैं। इन की श्रृंखला है। प्रत्येक क्षण दूसरे को जन्म दे कर समाप्त हो जाता है। जब यह क्रम समाप्त हो जाता है तो वह निर्वाण की स्थिति होती है। तब तक यह श्रृंखला एक जन्म से दूसरे जन्म तक चलती रहती है। महायान के अनुसार भी ऐसी ही श्रृंखला रहती है किन्तु अच्छे कर्म तथा सही ज्ञान से जन्म मृत्यु के बन्धन से छुटकारा मिलता है तथा मनुष्य शनैः शनैः ऊपर की ओर बढ़ता है। बौद्धिसत्व के स्तर पर पता चलता है कि समस्त वाह्य जगत मिथ्या है और केवन मन ही सत्य है। वेदान्त परम्परा में भी सूक्ष्म शरीर को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने पर बल दिया गया है। यह जगत मिथ्या है। सत्य अविद्या के कारण छिपा है। वेदान्त में ज्ञान की प्राप्ति पर बल दिया गया है। सदकर्मो से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान प्राप्त हो जाने पर इस जगत के मिथ्या होने का भान होता है। कर्मफल अवश्य मिलता है। यह एक जन्म से दूसरे में जाता है। वेदान्त में नरकादि अनिष्ट फल के जनक ब्रह्महत्या, सुरापानादि कर्मो को निषिद्ध कर्म कहा गया

---

[1] यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकाऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचार।। -भगवद्गीता ३/९

[2] गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ -भगवद्गीता ४/२३

[3] तस्मादसक्तः सतत कार्य समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरूषः। -भगवद्गीता ३/१९

[4] शरीरं केवलं कर्म कुर्वन नाप्नोति किल्विषम।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ -भगवद्गीता ६/२४

है।[1] इस परम्परा में पूर्ण रूप से कर्म को निषिद्ध भी नही माना गया। इसमें यह भी बताया गया है कि कर्म न करने पर जो प्रत्यवाय के जनक कर्मो को नित्य वर्ग में लिया जाता है जिनके करने पर दरित का क्षय होता है। सन्धयोपासनादि कर्म इस वर्ग में आते है। ये कर्म करने पर कोई फल नही देते किन्तु नहीं करने से भविष्य में दुष्परिणामदायक होते है।[2] कर्म के बन्धन से मुक्ति के लिए मार्कण्डेयपुराण में कहा गया है कि मनुष्य जब पुण्यापुण्य कर्मो के उपभोग, कर्त्तव्य मानकर नित्य कर्मो का आचरण निष्काम कर्म, अपूर्व कर्मो के असंचय तथा पूर्वार्जित कर्मो(प्रारब्ध) के क्षय (भोग द्वारा नाश) से कर्मबन्धन एवं पुनः पुनः शरीर की प्राप्ति नही होती।[3] वेदान्त दर्शन की दृष्टि में आत्मा परमात्मा का ही अंश है। यह निर्लिप्त है। ऐसे में कर्म भी इस के साथ कैसे जुड़ सकते हैं। इस के समाधान के लिये सूक्ष्म शरीर(जीवात्मा) की कल्पना की गई है। कर्मफल इस अणुजीव के साथ वास करते हैं और यह आत्मा के साथ ही दूसरे शरीर में जा कर अपना फल देता है। निष्काम कर्म से फल की उत्पत्ति नहीं होती है। कर्मफल की समाप्ति पर जीवात्मा शेष नहीं रहता है। कारण शरीर ब्रह्मा में ही लीन हो जाता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि जीव पुनः पुनः इन लोकों में भोगार्थ आता रहता है।[4] जीव के लिए द्यौ लोक है | औषधियाँ और जल, वन आदि सब मिलकर जीव के लिए धन की रक्षा करती हैं। पृथिवी से लेकर द्यौ पर्यन्त जो भी जन्य पदार्थ हैं, सारे जीव के लिए हैं। यदि यह इनका सदुपयोग करेगा, तो ये इसके लिए धन = प्रीतिसाधन हैं ; दुरुपयोग से यही निधन = मृत्यु साधन बन जायेगे।[1] मनुष्य जो क्रिया करता है उसकी प्रतिक्रिया कर्मफल भोगने के रूप में होती है। वेदान्त परम्परा में सर्वव्यापी आत्मा का जीवात्माओं से क्या सम्बन्ध है? इस विषय में विभिन्न मत हैं. शंकर यह मानते हैं कि सर्वव्यापी आत्मा जीवात्मा से अभिन्न है। रामानुज कहते हैं कि जीवात्मा सर्वव्यापी आत्मा से शाश्वत रूप से अभिन्न है और भिन्न भी है। मध्व के अनुसार जीवात्मा सर्वव्यापी आत्मा से शाश्वत रूप से भिन्न है। जीव को, एक प्रकार से, ईश्वर ने अपने रूप के अनुरूप और अपने सदृश रचा है। परन्तु सृष्ट के नाते उसका अपना रूप है। जीव के बिना न तो बन्धन

---

[1] निषिद्धानि नरकाधनिष्टसाधनानि ब्रह्महननादीनि। वेदान्तसार पृ.१३

[2] नित्यानि अकरणे प्रत्यवायसाधनानि (करणे च दुरितहरणेष्टसाधनानि) सन्धावन्दनादीनि। वेदान्तसार पृ.२१४

[3] उपभोगेन पुण्यानामपुण्यानां च पार्थिव। कर्त्तव्यमिति नित्यानामकारणात् तथा।
असंचयादयपूर्वस्य क्षयात् पूर्वार्जितस्य च। कर्मणो बन्धं नाप्नोति शरीरं च पुनः पुनः। -मार्कण्डेयपुराण

[4] आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ऋग्वेद 10|177|3||

[1] इन्द्राय द्याव ओषधीरूतापो रयिं रक्षन्ति जीरयो वनानि। ऋग्वेद 3|51|5||

हो सकता है और न मुक्ति। आधुनिक विज्ञान भी मानता है कि मनुष्य सजीव सत्ताओं की शृंखला की एक कड़ी है, अनेक में से एक है। विज्ञान यह भी मानता है कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। इसी को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मनुष्य जो क्रिया करता है उसकी प्रतिक्रिया कर्मफल भोगने के रूप में होती है। जीवात्मा(सूक्ष्म शरीर) ही उपनिषदों के अनुसार कर्मफल भोगता है और कर्म ही उसे बन्धन में डालते हैं। कठोपनिषद् जब यह कहती है कि परमेश्वर कर्मों का फल भोगता है, तो उसका संकेत यह होता है कि हम ईश्वर के प्रतिरूप और छवियाँ हैं, और जब हम अपने कर्मों का फल भोगते हैं तो वह भी भोगता है।[1] इसी उपनिषद् के अनुसार आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि और मन को लगाम समझना चाहिए। विवेकी पुरुष इन्द्रियों को घोड़े बतलाते हैं तथा उनके घोड़े रूप से कल्पित किये जाने पर विषयों को उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं किन्तु जो बुद्धि रूप सारथि सर्वदा अविवेकी एवं असंयत चित्त से युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ दुष्ट और बेकाबू घोड़ों के समान व्यवहार करती हैं। इसके विपरीत जो बुद्धि रूप सारथि कुशल और सर्वदा समाहित चित्त से युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं जैसे सारथि के अधीन अच्छे घोड़े. जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धि-सारथि से युक्त और मन को वश में रखने वाला होता है, वह संसारमार्ग से पार होकर उस परमपद को प्राप्त कर लेता है। आत्मा की एकता से जीवात्माओं के भेद असंगत नहीं हो जाते हैं। विभिन्न जीवात्माएँ 'बुद्धि' के साथ अपने संयोग के कारण भिन्न रहती हैं और इसलिए उनके कर्म के फल अलग-अलग होते हैं (बुद्धिभेदेन शेक्तृभेदात्). प्रत्येक मानव-शरीर में अमरता और मृत्यु दोनों के तत्त्व स्थित हैं। भ्रम के पालन से हम मृत्यु प्राप्त करते हैं, सत्य के पालन से हम अमरता प्राप्त करते हैं। प्रत्येक जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह चाहे जैसा कर्म करे, यह उसकी स्वतन्त्रता है। अपने विवेक, ज्ञान, बल, साधन, इच्छा व स्थिति के अनुसार ही कर्म करता है परन्तु अपनी इच्छानुसार वह फल भोगने भोगने के लिए परतन्त्रत कहा गया है।[1] यदि कोई सोचता है कि मनुष्यों के दुष्कर्म ऊपर आकाश को उड़ते हैं और तब कोई हाथ उनका लेखा-जोखा ईश्वर की पट्टियों पर लिखता है, और ईश्वर, उन्हें पढ़-पढ़ कर, संसार का न्याय करता है तो वह बहुत बड़े भ्रम में है। ईश्वर आनन्द का स्रष्टा है और ऐसा शासक है जहाँ उसे

[1] कठोपनिषद् १-३-१

[1] अष्टा. 1/4/54

स्वयं दण्ड देने की आवश्यकता नहीं रहती है। प्रत्येक अन्याय किसी सकाम कर्म के कारण उत्पन्न होता है। कर्म की प्रतिक्रिया अन्यायी को दण्ड देती है। सूक्ष्मशरीर के माध्यम से पुनर्जन्म कर्मों की अव्यवस्थित व्यवस्था को व्यवस्थित करने का अवसर प्रदान करती है। मनुष्य अच्छे कामों से अच्छा और बुरे कामों से बुरा बनता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि मनुष्य खेती की तरह पकता (वृद्ध होकर मर जाता) है और खेती की भाँति फिर उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य किस तरह मरता है और पुन: जन्म लेता है इसे बृहदारण्यक उपनिषद् में कई उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार जोंक जब घास की लम्बी पत्ती के अन्तिम सिरे पर पहुँच जाती है तो वह सहारे के लिए कोई और स्थान खोज लेती है और फिर अपने को उसकी ओर खींचती है, उसी प्रकार यह सूक्ष्मशरीर इस स्थूलशरीर के अन्त पर पहुँच कर सहारे के लिए कोई और स्थान खोज लेता है और अपने को उसकी ओर खींचता है। आत्मा जो प्राणों में बुद्धिवृत्तियों के भीतर रहने वाला विज्ञानमय ज्योतिस्वरूप पुरुष है, वह इस लोक और परलोक दोनों में संचार करता है। जिस प्रकार सुनार सुवर्ण का भाग लेकर दूसरे नवीन और कल्याणतर (अधिक सुन्दर) रूप की रचना करता है, उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर इस शरीर को नष्ट कर कोई और नवीन एवं अधिक सुन्दर रूप धारण कर लेता है। मनुष्य जब तक सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता तब तक पुनर्जन्म ही उसकी नियति है। सत्कर्मों से वह अपने क्रमिक विकास को आगे बढ़ाता है और सत्य के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है[1]. अर्थात् ज्ञानाग्नि से सभी कर्मो को भस्म हो जाते है इसके बाद किसी भी जीव का पुनर्जन्म नही होता।[2] मुण्डकोपनिषद में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि विद्या की उत्पत्ति एवं अविद्या की निवृत्ति होने पर जीव को अपने स्वरूप का बोध होना ही मुक्ति है। मुक्ति प्राप्त होने पर जीव का जीवत्व नष्ट होने से जीव का बन्धन नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अविद्यावश जब तक रज्जु का सर्परूपेण ज्ञान होता है तब तक सर्पजन्य भयादि बन्धन बने रहते है। जब हमें वास्तविक रूप में रज्जु का ज्ञान होता है तो भ्रान्तीकालीन सर्प के नष्ट हो जाने पर तज्जन्य भयादि बन्धन भी स्वतः नष्ट होने पर जीव के सुख-दुःखादि बन्धन नष्ट हो जाते है।[3] इस प्रकार बन्धन और मोक्ष का व्यवहार भी मायिक है।[1]

---

[1] http://upanishad.vishwahindusamaj.com/hindi/2008/01/17.html

[2] ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मात् कुरूतेऽर्जुन। भगवद्गीता ४/३७

[3] मुण्डकोपनिषद् २/२/८

सूक्ष्म शरीर एवं मोक्ष:-

वेदान्त परम्परा का परम लक्ष्य मोक्ष है। जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति को हम काल की अधीनता से मुक्ति भी कह सकते हैं। यह कर्म की अधीनता से मुक्ति भी है। मुक्त आत्मा के कर्म चाहे वे अच्छे हों या बुरे, उस पर कोई प्रभाव नहीं डालते हैं। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार जिस प्रकार जल कमल की पत्ती पर नहीं ठहरता उसी प्रकार कर्म उससे चिपकते नहीं हैं। जिस प्रकार सरकंडे की डंडी आग में भस्म हो जाती है, उसी प्रकार उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं। चन्द्रमा जिस प्रकार ग्रहण के बाद पूरा-पूरा बाहर आ जाता है, उसी प्रकार मुक्त आत्मा अपने को मृत्यु के बन्धन से स्वतन्त्र कर लेता है। मुक्ति बन्धन का नाश है और बन्धन अज्ञान की उपज है। अज्ञान ज्ञान से नष्ट होता है कर्मों से नहीं। ज्ञान हमें उस स्थिति पर ले जाता है जहाँ कामना शान्त हो जाती है, जहाँ सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, जहाँ आत्मा ही अकेली कामना होती है। मुक्त आत्मा की वही स्थिति होती है जो कि एक अन्धे की दृष्टि प्राप्त कर लेने पर होती है। जब हम शाश्वत सत्य, ब्रह्म या आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तो कर्मों का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता. आचार में स्थित होते हुए भी वह धर्म और अधर्म से परे होता है, अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात्।[1] जब हम जगत् से अधिक विराट, अधिक गहरी और अधिक मौलिक किसी सत्ता से भिज्ञ हो जाते हैं, तो हम क्षेत्रीयता से ऊपर उठ जाते हैं और पूरे दृश्य को देखने लगते हैं. हमारी आत्मा समस्त जगत् को व्याप्त कर लेती है। अनन्त को जान लेने से हम ईश्वर, जगत् और जीव के सच्चे स्वरूप को समझ लेते हैं। वस्तुत: आध्यात्मिक ज्ञान जगत् को नहीं मिटाता है बल्कि उसके सम्बन्ध में हमारे अज्ञान को मिटा देता है।[2] मोक्ष का साधन ज्ञान है क्योंकि सूक्ष्म शरीर के बन्धनरूप आज्ञान के की निवृत्ति ज्ञान से होती है[3]। मोक्ष ज्ञान का विषय ब्रह्म और आत्मा का एकत्व है।[4] मोक्ष साधन ज्ञान अपरोक्ष होता है क्योंकि परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष भ्रम का निवर्तक नही हो सकता।

---

[1] बन्धमोक्षोपदेशादिव्यवहारोऽपि मायया। मानसोल्लास २/५६

[1] कठोपनिषद् १/२/१४

[2] http://upanishad.vishwahindusamaj.com/hindi/2008/01/19.html

[3] स च (मोक्षः) ज्ञानैकसाध्यः...अज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानैकसाध्यत्वात्।– वेदान्त परिभाषा पृ.३५५

[4] तच्च ज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यगोचरम्। वेदान्त परिभाषा पृ.३५५

प्रमातृत्वादि का अभिमान भ्रमरूप अपरोक्ष है जिसकी निवृत्ति अपरोक्ष से संगत है।[1] जो जीव अपवर्ग प्राप्त कर लेता है उसके सभी करण (इन्द्र्यादि), शरीर व्यवहार ज्ञान तथा कर्म की वासना का सम्पर्क इस प्रकार छूट जाता है कि स्वयंसवेदन तथा परसंवेदन के उदय का कोई कारण सम्भावना शेष नही होती, सूक्ष्म शरीर के माध्यम से स्थूल शरीर का ग्रहण नही होता।[2] जीव को अपना वास्तविक स्वरूप का अभिज्ञान होने पर स्थूल शरीरादि से रहित जीव को सत्यसंकल्पता आदि सभी ईश्वरीय कल्याण गुण प्राप्त होते है किन्तु विश्वधारकत्व, सर्वकर्तृत्व आदि गुण जीव को ही प्राप्त नही मिलते। इस प्रकार परमात्मा और प्रत्यगात्मा में साम्य उपलब्ध हो जाता है[3] जैसा कि श्रुति वचन है- **"यदा पश्यः पश्यते रूक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरूषं ब्रह्मयोनिम्।**

तदा विद्वान् पुण्येपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।[1]"

अर्थात ज्ञाता जीव सर्वकर्त्ता, वेदकरण तथा ज्योतिर्मय ब्रह्म का दर्शन कर लेता है तब वह जीव पुण्य और पाप से मुक्त एवं निष्कलुषित होकर परमतत्त्व से साम्य प्राप्त कर करता है। इसके सन्दर्भ में भगवद्गीता में भी कहा गया है- **"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः"** अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही जीव ब्रह्म का साम्य पा सकता है। विवेकचूडामणि में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि जब विद्वान पुरूष सत् और असत् का विवेक करके , अपने ज्ञान को अन्तदृष्टि से सत्य सम्यक रूप से जानकर और स्वयं अपने आत्मा को अखण्डबोध-रूप का अनुभव करके पूरी तरह मुक्त होकर परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है।[1] इसे एक उदाहरण के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है- जिस प्रकार अग्नि में पुटपाक विधि से शोधित हुआ सोना मल (खोटेपन इत्यादि दोष को) को त्यागकर अपनी

---

[1] तच्च ज्ञानमपरोक्षरूपम्। परोक्षत्वे अपरोक्षभ्रमनिवर्तकत्वानुपपत्तेः। वेदान्त परिभाषा.पृ.३५५

[2] निर्धूत-निखिल-करण-कलेवर-ज्ञानकर्मवासनानुबन्धस्यापवृक्तस्य न खलु स्वपर-संवेदनोदय-निमित्तं किचित् संभाव्यते। - न्यासि,पृ ६३९ पर आत्मसिद्धि का उद्धरण

[3] आर्विभूतस्वरूपस्य जीवस्याप्यशरीरिणः। जगद्विधरणत्वादि-गुण नैव भवन्ति हि।
सत्यकामत्वप्रभृतिगुणा एव हि केवलम्। जीवस्तथा भवत्येव रूपसम्पस्स्यनन्तरम्।
साम्यं तयोः श्रूयते च परात्म-प्रत्यगात्मनोः। मुक्तौ संसारिणां तेषां तत्साम्यापत्तिलक्षणम्।
इदं ज्ञानमुपाश्रित्येत्यादिवाक्ये हि स्मर्यते। - श्रीभाष्यवार्तिक १/३/६९-७३

[1] मुंउ ३/१/३

[1] इत्थंविपश्चित्सदसद्विभज्य निश्चित्य तत्त्वं निजबोधदृष्टया।
ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डबोधं तेभ्यो विमुक्तः स्वयमेव शाम्यति॥ -विवेकचूडामणि, ३५३

स्वभाविक कान्ति को प्राप्त करता है, उसी प्रकार जीवात्मा स्थूलशरीर मनो-ध्यान के माध्यम से सत्, रजस् तथा तमस् के मल को त्यागकर अपने शुद्ध ब्रह्म आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है ,वही सूक्ष्मशरीर की मुक्त अवस्था है।[1] इस अवस्था को जीवात्मा स्थूलशरीर के माध्यम से मनोध्यान के सतत अभ्यास करने से निर्विकल्पक समाधि में ब्रह्म में लीन हुआ जीव अद्वितीय ब्रह्मरस का अनुभव करता है।[2] यह स्थूल शरीर असत्, अनित्य एवं आसक्त स्वभाव है। इसकी देह के साथ तादात्म्य रखने वाली बुद्धि के कारण जन्मादि दुःख निकलते रहते है। यदि मन से स्थूलशरीर का तादात्म्य भाव नष्ट हो जाय तो शरीर का पुनर्जन्म नही होगा।[3]

शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति होना है।[4] आत्मा या ब्रह्म नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्दस्वरूप है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है और इसके विपरीत मोक्ष को आत्मा का स्वरूप ज्ञान माना गया है। यह प्रपञ्च का विरामरूप शान्त एवं शिवं अद्वैत है जिसे तुरीय माना गया है। यही आत्मा जानने योग्य है।[1] ब्रह्म व मोक्ष की एकरूपता को बताते हुए आचार्य शंकर का कहना है कि जिस प्रकार भगवान् बुद्ध के अनुसार अद्वैत परमतत्व और निर्वाण को एक ही माना गया है, उसी प्रकार ब्रह्म और मोक्ष को भी एक ही माना गया है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जो व्यक्ति ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।[2] आचार्य शंकर के मत में ज्ञान, मोक्ष और ब्रह्म पर्यायवाची शब्द हैं और ये सभी एक ही परमतत्त्व को द्योतित करते हैं। ज्ञान का तात्पर्य है अज्ञान का नाश तथा ब्रह्म से अभिन्न होने की अनुभूति। यह ज्ञान ही मोक्ष है और यही ब्रह्म भी है। भाष्य में कहा गया है कि अविद्या-निवृत्ति और ब्रह्मभाव या मोक्ष में कार्यान्तर नहीं है।[3] आत्मज्ञान मोक्ष को कार्य के रूप में भी उत्पन्न नहीं करता, अपितु मोक्ष- प्रतिबन्धरूप अविद्या की निवृत्तिमात्र ही आत्मज्ञान का फल

---

[1] यथा सुवर्णं पुटपाकशोधितं त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं ध्यानेन सन्त्यज्य समेति तत्त्वम॥ विवेकचूडामणि, ३६२

[2] निरन्तराभ्यासवशात्तदित्थं मनो ब्रह्माणि लीयते यदा।
तदा समाधिः सविकल्पवर्जितः स्वतोऽद्वयानन्दरसानुभावकः। विवेकचूडामणि, ३६३

[3] देहात्मधीरेव नृणामसद्धियां जन्मादिदुःखप्रभवस्य बीजम्।
यतस्ततस्त्वं जहि तां प्रयत्नात्त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवाशा॥ -विवेकचूडामणि, १६४

[4] ब्रह्मसूत्र भाष्य 1/1/4

[1] प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते। स आत्मा स विज्ञेय। -माण्डुक्योपनिषद ७

[2] ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भक्ति।- मुण्डकोपनिषद्, 3/2/9

[3] श्रुतयों मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति।– शा.भाष्य0, 1/1/4

माना गया है।[1] ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्तिमात्र है जो कि ज्ञान के प्रकाश द्वारा होती है, जिस प्रकार प्रकाश द्वारा अंधकार की निवृत्ति होती है। मोक्ष की प्राप्ति के ज्ञान को भी भी अविद्याजन्य बताया गया है और कहा गया है कि मोक्ष किस अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति नहीं है; मोक्ष आत्मभाव है जो सदा प्राप्त है। शंकराचार्य ने मोक्ष के तीन लक्षण बताये हैं- मोक्ष अविद्या-निवृत्ति है, (अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः), मोक्ष ब्रह्मभाव या ब्रह्मसाक्षात्कार है (ब्रह्मभावश्च मोक्षः) एवं मोक्ष नित्य अशरीरत्व है। अविद्या वह शक्ति है जो जीव को ब्रह्म से पृथक भासित कराती है अन्यथा पारमार्थिक एकत्व ही व्यवस्थित है।[2] (नित्यशरीरत्वं मोक्षाख्याम्) इनमें पहले दोनों लक्षणों को एक बताते हुए इनका निरूपण किया जा चुका है। तीसरे लक्षण के अनुसार मोक्ष स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों प्रकार के शरीरों के सम्बन्ध में अत्यन्त रहित नित्य आत्मस्वरूप का अनुभव है। प्रस्तुत लक्षण में अशरीर का अर्थ शरीर रहित नहीं है, अपितु शरीर-सम्बंध रहित है। इस आधार पर कह सकते है कि शंकराचार्य जीवन्मुक्ति का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करते हैं। आचार्य शंकर ने मोक्ष के स्वरूप का अत्यन्त सुन्दर निरूपण इस प्रकार किया है- यह पारमार्थिक सत् कूटस्थनित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सब प्रकार के विचारों से रहित है, नित्यतृप्त है, निरवयव है, स्वयंज्योतिःस्वभाव है, यह सुखःदुःखरूपी कार्यों सहित धर्म और अधर्म नामक शुभाशुभ कर्मों से अस्पृष्ट है, यह कालत्रयातीत है, यह अशरीतत्व मोक्ष कहलाता है।[1] आचार्य शंकर के इस मोक्ष-निरूपण की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है- मोक्ष पारमार्थिक सत् है। बन्धन और मोक्ष अविद्याकृत होने से सापेक्ष और मिथ्या हैं, किन्तु परब्रह्म या परमात्मत्व के रूप में मोक्ष पारमार्थिक सत् है। यहाँ आचार्य शंकर को बन्धन सापेक्ष मोक्ष अभिप्रेत नहीं है। आचार्य के अनुसार ब्रह्म ही मोक्ष अर्थात् नित्य मुक्त परमार्थ है। यह कूटस्थ- नित्य है क्योंकि इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन, परिणाम या विकार सम्भव नहीं है, यह मोक्ष परिणामि-नित्य नहीं है क्योंकि किसी भी प्रकार का परिणाम इसकी नैसर्गिक शुद्धता को नष्ट कर सकता है। यह अनन्त और सर्वव्यापी भूतवस्तु है। यह कार्यकारणभाव के परे है क्योंकि

---

[1] मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेव आत्माज्ञानस्य फलम्। -शा.भाष्य, 1/1/4

[2] अतः पृथड़ नास्ति जगत् परमात्मनः पृथक् प्रतीतिस्तुमृषा गुणाहिवत्। -वि.चू २३७

[1] इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्, सर्वव्यापी, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिः स्वभावम्, यत्र कार्येण, कालत्रयं, नोपावर्तेत, तदेतत् अशरीरत्वं मोक्षाख्याम्।
-शा.भाष्य, 1/1/4

यह सब प्रकार के विकारों से रहित है। यह नित्यतृप्त है अर्थात् आप्तकाम है तथा नित्य अखण्डानन्द है। यह ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान अथवा वेदक-वेद्य-वेदना की त्रिपुटी के पार है, अतः इसका ज्ञान और आनन्द स्वसम्वेद्य नही है। यह स्वयं शुद्ध चैतन्य और आनन्दस्वरूप है। यह अद्वैत निरवयव और अखण्ड है। यह स्वयं ज्योति या स्वप्रकाश है। यह स्वतः सिद्ध है। यह दिक्कालातीत है। यह अविद्या धर्म व अधर्म रूपी कर्म, सुख दुःखरूपी फल, और शरीरेन्द्रियविषयादि के सर्वथा अस्पृष्ट है। यह लौकिक सुख-दुःखातीत है। इसका आनन्द लौकिक सुख नहीं है। मोक्ष कार्य का उत्पाद्य नहीं है। मोक्ष को किसी कारण विशेष द्वारा उत्पन्न कार्य भी नहीं माना जा सकता। मोक्ष न तो कर्म का फल है और न ही उपासना का फल है। मोक्ष को कार्य या उत्पाद्य मानने पर वह निश्चित रूप से अनित्य होगा। मोक्ष में विश्वास रखने वाले सभी व्यक्ति मोक्ष को नित्य मानते हैं।[1] मोक्ष नित्य आनन्द है और लौकिक (सांसारिक) तथा पारलौकिक (स्वर्गिक) सुखों से भिन्न एवं अत्यन्त उत्कृष्ट है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त दर्शन में मोक्ष के लिए सुख शब्द का प्रयोग न करके शंकराचार्य ने आनन्द शब्द का प्रयोग किया है। आनन्द तुरिय अवस्था में प्रपञ्च रहित समस्त दुःखों की निवृत्ति हो जाने से परमेश्वरत्व एवं प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है।

सूक्ष्म शरीर का ब्रह्म, आत्मा, माया, ईश्वर एवं जीव से सम्बन्ध:-

भारतीय परम्परा में प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि ब्रह्म, अविद्या (माया), ईश्वर, जीव एवं सूक्ष्म शरीर में क्या सम्बन्ध है। क्या इनकी सत्ता एक ही है या भिन्न-भिन्न ? यदि एक है तो भिन्न सत्ता क्यों स्वीकार की गई है? एक ही सत्ता से इन सब का प्रतिभान क्यों नही कर लिया जाता? इनकी अलग-अलग सत्ता मानने के पीछे क्या प्रयोजन है? इत्यादि जटिल दार्शनिक प्रश्नों की गुत्थियों का निराकरण वेदान्त परम्परा में किया गया है। उपनिषदों में इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि – जगत का मूल तत्त्व क्या है/कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर में उपनिषदों में ब्रह्म' से दिया गया है। अर्थात् ब्रह्म ही वह मूलभूत तत्त्व है जिससे यह समस्त जगत का उद्भव हुआ है – "बृहति बृहंति बृह्म" अर्थात् बढ़ा हुआ है, बढ़ता है इसलिये ब्रह्म कहलाता है। यदि समस्त भूत जगत् ब्रह्म की ही सृष्टि है तब

[1] नित्यश्च मोक्षः सर्वमोक्षवादिभिरुपगम्यते।–शा.भाष्य, 1/1/4

तार्किक रूप से हममें भी जो मूल तत्त्व है वह भी ब्रह्म ही होगा। इसीलिये उपनिषदों में ब्रह्म एवं आत्मा को एक बतलाया गया है। इसी की अनुभूति को आत्मानुभूति या ब्रह्मानुभूति भी कहा गया है।[1] इन्होनें ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, अविकारी, चित् ब्रह्म को ही जगत का मूल कारण माना है। विवेकचूडामणि में ब्रह्म के सन्दर्भ में कहा गया है- **"नित्याद्वयाखण्ड-चिदेकरूपो बुद्धयादि-साक्षी सदसद्विलक्षणः।**

अहंपद-प्रत्यय-लक्षितार्थः प्रत्यक् सदानन्दघनः परात्मा।" [2]

अर्थात् ब्रह्म प्रत्यक्तत्त्वरूप सच्चिदान्द परमात्मा है जो नित्य, अद्वय, अखण्ड, चैतन्यरूप, मूर्त्तामूर्त्त पदार्थों से विलक्षण तथा बुद्धि आदि का साक्षी है। महावाक्य के ब्रह्मपद का लक्ष्यार्थ भी प्राकृत ब्रह्म न होकर निरूपाधि परमात्मा होता है। यह सत्य अनन्त ज्ञान स्वरूप है।[3] ब्रह्म निश्चय ही दिव्य, अमूर्त, बाहर-भीतर विद्यमान, अजन्मा, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध तथा अपने सम्पूर्ण विकारों से श्रेष्ठ है। ब्रह्म से ही प्राण उत्पन्न होता है तथा इससे ही मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सारे संसार को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, अग्नि आदि सब उसी के प्रकाश से प्रकाशमान हैं। यह अमृत ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं-बायीं ओर है तथा ब्रह्म ही नीचे-ऊपर फैला हुआ है। यह सारा जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है। वह महान् दिव्य और अचिन्त्य रूप है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर भासमान होता है तथा दूर से भी दूर और इस शरीर में अत्यन्त समीप भी है। वह चेतनावान् प्राणियों में इस शरीर के भीतर उनकी बुद्धि रूप गुहा में छिपा हुआ है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि "जिससे ये सत्ताएँ जन्मी हैं, जिसमें जन्म लेने के बाद रहती हैं और जिसमें अपनी मृत्यु के बाद चली जाती हैं, वह ब्रह्म है। यह निश्चित रूप से घोषणा करती है कि ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है, अनन्त है **(**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**)**। आनन्द ब्रह्म है (आनन्दो ब्रहनेति) आनन्द से ही सब जीव पैदा होते हैं और आनन्द में ही फिर समा जाते हैं।[1] ब्रह्म ही सृष्टि का कारण है ऐसा कहने से यह मालूम पड़ता है कि ब्रह्म की सत्ता कार्यकरण अनुमान के आधार पर सिद्ध की - गई है। परन्तु यह बात नहीं है। ब्रह्म जगत का कारण है। यह ज्ञान हमको श्रुति से ज्ञात होता है। अतः श्रुति ही प्रमाण

---

[1] यदाप्नोति यदादत्ति यदत्ति यच्चास्य सन्ततो भवम् ....
तस्माद् इति आत्मा कीर्त्यते।।(सन्धि विच्छेद कृत) शांकरभाष्य

[2] विचू ३५३

[3] सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तैउ २/१

[1] http://upanishad.vishwahindusamaj.com/hindi/2008/01/5.html

है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि तर्क के लिए शास्त्र परम्परा में कोई स्थान नहीं है। श्रुत्यनुकूल तर्को को वेदांत में स्वीकृती प्रदान करता है। स्वतंत्र रूप से ब्रह्मज्ञान कराने का सामर्थ्य तर्क में नहीं होता है, क्योंकि ब्रह्म निर्गुण है। इसलिए तर्क और श्रुति में विरोध नही होता है। श्रुतियों में जगत को ब्रह्म का विवर्त रूप माना है, अर्थात् अविद्या या माया के कारण आभास मात्र है। अविद्या को ज्ञान का अभाव मात्र नहीं समझना चाहिए। वह भाव तो नहीं है। यह भाव और अभाव से भिन्न होने के कारण इसे अनिर्वचनीय कहा गया है। इसके कारण ही वस्तुए मिथ्या दिखाई पड़ती है, जैसे रज्जु के स्थान पर सर्पाभास। इसी प्रकार ब्रह्म भी अज्ञान के कारण जगतवत् दिखाई पड़ता है।

शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म ही एक अद्वितीय सत्ता है। उसमें सजातीय, विजातीय या स्वगत कोई भेद नही है। जीव अपने वास्तविक रूप में ब्रह्म ही है। जगत् मायामय आभास मात्र है अत: ब्रह्म के अतिरिक्त कहीं भी कुछ नही है। इस सिद्धान्त में परमतत्व को ब्रह्म कहते है। वह सत् , चित् और आनन्द स्वरूप है। ये उसके स्वरूप लक्षण है। शुद्ध चेतना ही ब्रह्म है। वह अनादि, अनन्त और नित्य होने के कारण सत् है। वह पूर्ण होनें के कारण आनन्दस्वरूप है। सत् और चित् दोनो आनन्द के अंतर्गत आ जाते है। ये तीन नही एक है। सत् , चित् और आनन्द किसी पदार्थ के धर्म या गुण नहीं है। ब्रह्म जगत का कारण भी है। यह उसका तटस्थ लक्षण है। तटस्थ लक्षण वस्तु के आगन्तुक और परिणामी धर्मों का वर्णन करता है। ब्रह्म से ही जगत की उत्पत्ति होती है, उसी में स्थित रहता है और उसी में विलीन हो जाता है। ब्रह्म इस जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण है।[1]

[1] अव्यक्तात्तु परः पुरूषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्त्वं च गच्छति। -कठोपनिषद् २/३/८

कार्य - कारण नियम में शंकराचार्य का मत विवर्तवाद कहलाता है। जब किसी द्रव में वास्तविक विकार उत्पन्न होने से किसी कार्य की उत्पत्ति होती है तो उसे परिणामवाद कहते है। यह सांख्य मत है। जब किसी द्रव में विकार का आभास हो किन्तु वस्तुत: न हो तो उससे उत्पन्न कार्य का नियम विवर्तवाद कहलाता है। शंकराचार्य इसी सिद्धान्त को स्वीकार करते है। इसके अनुसार आदि कारण ब्रह्म में विकार उत्पन्न हुए बिना ही जगत् की रचना होती है, जैसे रस्सी से सर्प उत्पन्न हो। इस प्रकार की रचना भ्रान्ति ही कही जा सकती है। इस भ्रान्ति को शंकराचार्य माया कहते है। कठोपनिषद में माया का जीव एवं ईश्वर के साथ सम्बन्ध दिखाया गया है।[1]

माया ईश्वर की शक्ति है।[2] श्वेताश्वरोपनिषद् में माया, मायाम्, मायिनम्, मायी और माययाा शब्दों का उपयोग मिलता है।[3] इस माया की उपाधि के कारण ब्रह्म ही ईश्वर कहलाता है। ईश्वर अपनी अनिवर्चनीय माया से जड़ - चेतन जगत् की रचना करता है। जीव इस जगत् को सत्य समझकर माया से मोहित होते है और भ्रम मे पड़ते है। जीवों का भ्रम ही अविद्या कहलाता है। अविद्या के कारण सत्य-स्वरूप ब्रह्म का अनुभव नही हो पाता अपितु उसके स्थान पर मिथ्या जगत् ही सत्य प्रतीत होता है। जीव की यह अविद्या दूर हो सकती है। श्रुति प्रमाण प्राप्त होने पर और उस पर भली भाँति विचार करने से अविद्या नष्ट हो जाती है। अविद्या से मुक्त जीव अपने आपको ब्रह्म ही पाता है। माया की उपाधि से रहित ईश्वर और अविद्या की उपाधि से रहित जीव अपने मूल में ब्रह्म ही है।[4]

जगत के कारण के रूप में उसे ईश्वर कहा जाता है। मायोपहित ब्रह्म ही ईश्वर है। यह ईश्वर का तटस्थ लक्षण है। तटस्थ से लक्षण तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्म का अंग न होते हुए भी ब्रह्म की ओर संकेत करे। जगत ब्रह्म पर आश्रित है, किन्तु ब्रह्म जगत पर किसी भी प्रकार आश्रित नहीं है, वह स्वतंत्र है। जगत का कारण प्रकृति, अणु या स्वभाव में से कोई नहीं हो सकता। उपनिषदों में भी इसके सन्दर्भ में कहा है कि ब्रह्म वह है जो जगत की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है। जगत की सृष्टि आदि के लिए ब्रह्म को किसी अन्य तत्त्व की आवश्यकत की अपेक्षा नही रहती। इसलिए ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण भी कहा गया है। इस जगत की रचना ब्रह्म स्वयं उदभासित नही करता

नैव वाचा न मनसां प्रासुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ कठोपनिषद् २/३/१२

[1] कै०उ० १/१२-१३

[2] गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद् -१७

[3] श्वे०उ०माया-१-१०/ मायाम्, मायिनाम्-४-१०/ मायी, माययाा-४-९

[4] अनिवृत्तेपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम्।

बुद्धो ब्रह्माद्वय बोद्धं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः॥ -पदं ४/४०

अपितु जगत की रचना ब्रह्माश्रित माया से होती है। वेदान्त की परम्परा में माया की कोई स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं की गई है, यह मिथ्या मात्र है। यह सृष्टि वास्तविक नहीं है, इसे माया जनित कहा गया है।

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या माया एवं अविद्या अलग-अलग है या एक है? यदि एक ही है तो क्यों नही एक शब्द से इसका भान नही करते? इस शंका के समाधान में भारतीय दार्शनिक परम्परा ने माया एव अविद्या एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते है। अविद्या या माया के कारण ही जहाँ कोई भी नामरूपता एवं भेदात्मकता नहीं है, वहाँ माया के कारण भेदात्मकता एवं नामरूप का आभास होता है। यह परिवर्तन वास्तविक नहीं बल्कि आभास मात्र है। **अविद्या** शब्द का प्रयोग माया के अर्थ में होता है। भ्रम एवं अज्ञान भी इसके पर्याय है। यह चेतनता की स्थिति तो हो सकती है, लेकिन इसमें जिस वस्तु का ज्ञान होता है, वह मिथ्या होती है। सांसारिक जीव अहंकार अविद्याग्रस्त होने के कारण जगत् को सत्य मान लेता है और अपने वास्तविक रूप, ब्रह्म या आत्मा[1] का अनुभव नहीं कर पाता। एक सत्य को अनेक रूपों में देखना एवं मैं, तू, तेरा, मेरा, यह, वह, इत्यादि का भ्रम उसे अविद्या के कारण होता है। वास्तविक स्वरूप को नहीं जानने का कारण अज्ञान है जो विचार के प्रभाव से युक्त रहता है। अयोग्य रीति से विचार करने के पश्चात आत्मा के नास्तित्व अप्रत्यय व्यवहार है जिसका कारण अज्ञान की आवरण शक्ति है। सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर में चिदभास से बनने वाले आत्मतत्त्वाभिमान का कारण अज्ञान की विक्षेप शक्ति है जिससे कर्तृत्वादि के अभिमान का संसार नामक शोक आत्मा को बद्ध बनाता है विक्षेप से पूर्व ही अज्ञान तथा आवरण विद्यमान रहता है किंतु स्थूल शरीर की जागृत अवस्था सूक्ष्म शरीर की स्वप्न अवस्था आत्मा की न होकर विक्षेप की ही होती है। विक्षेप की उत्पत्ति से पूर्व विक्षेप का संस्कार बना रहता है।[2] इसके सन्दर्भ में वेदान्तसार में कहा भी गया है- **" तत्र प्रतिबिम्बं चैतन्यमपि यथा दीपप्रथा आदित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभूता भवति तथा स्वयंप्रकाशमानप्रत्यगभिन्न –परब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत् स्वोपाधिभूताखण्ड-चित्तवृत्तेर्बाधितत्वाद्**

---

[1] *शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं स आत्मा स विज्ञेयः।।* माण्डूक्योपनिषत्, ७

[2] न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम्। विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम्॥
अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ विपरीतव्यवहृतिरावृतेः कार्यमिष्यते।
देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः। कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योस्य बन्धकः।
अज्ञानमावृततिश्चैते विक्षेपात् प्राक् प्रसिध्यतः। यद्यप्यथाप्यवस्थेते विक्षेपस्यैव नाप्मनः॥
अस्त्येवतदवस्थात्वमाविरूद्ध विक्षेप संस्कृति॥ -पंद ७/३४-३९

दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखयमात्रत्ववत् प्रत्यगभिन्न-परब्रह्ममात्रं भवति।"[1] अर्थात जिस प्रकार दीपक की प्रभा सूर्य-प्रभा को दीप्त करने में असमर्थ तथा अभिभूत हो जाती है उसी प्रकार बुदिवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य स्वयंप्रकाश एवं प्रत्येक चैतन्यरूप पर ब्रह्म को प्रकाशित करने में अशक्त तथा अभिभूत होकर उपाधिरूप अखंड चित्तवृत्ति के बाधित हो जाने से उसी प्रकार परब्रह्म हो जाती है जिस प्रकार अभाव में मुख-प्रतिबिम्ब मुख मात्र रह जाता है। आचार्य शंकर के अनुसार प्रथम देखी हुई वस्तु की स्मृतिछाया को दूसरी वस्तु पर आरोपित करना भ्रम या अध्यास है। रस्सी में साँप का भ्रम इसी अविद्या के कारण होता है। इसी प्रकार माया या अविद्या आत्मा में अनात्म वस्तु का आरोप करती है। आचार्य शंकर के अनुसार इस तरह के अध्यास को अविद्या कहते हैं। संसार के सारा आचार व्यवहार एवं संबंध अविद्याग्रस्त संसार में ही संभव है। अतः यह संसार व्यवहार रूप से ही सत्य है परमार्थतः वह मिथ्या है । माया की कल्पना ऋग्वेद के लगभग २० मन्त्रों में हुआ है।[1] यह इंद्र की शक्ति मानी गई है, जिससे वह विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। उपनिषदों में इन्हें ब्रह्म की शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। किंतु इसे ईश्वर की शक्ति के रूप में अद्वैत वेदांत में भी स्वीकार किया गया है। माया अचितद्य तत्त्व है, इसलिए ब्रह्म से उसका संबंध नहीं हो सकता। अविद्या भी माया की समानधर्मिणी है। यदि माया सर्वदेशीय भ्रम का कारण है तो अविद्या व्यक्तिगत भ्रम का करण है। दूसरे शब्दों में समष्टि रूप में अविद्या माया है और माया व्यष्टि रूप में अविद्या है। शुक्ति में रजत का आभास या रस्सी में साँप का भ्रम उत्पन्न होने पर हम अधिष्ठान के मूल रूप का नहीं देख पाते।

वेदान्त दर्शन में माया के स्वरूप का विशद विवेचन किया गया है। माया शब्द का प्रयोग एक से अधिक अर्थों में होता है। सामान्यतः हम व्यवहार में जब हम किसी को आश्चर्यचकित कर देनेवाली घटना को देखते हैं, तो उसे ईश्वर की माया कह देते हैं। यहाँ माया का अर्थ शक्ति है। उदाहरण के लिए जादूगर अपनी चतुराई से पदार्थों को विपरीत रूप में दिखाता है, पदार्थों के अभाव में भी उन्हें दिखा देता है। यह उसकी माया है। यहां माया से तात्पर्य मिथ्या ज्ञान से है। मिथ्या ज्ञान दो प्रकार का है भ्रम और मतिभ्रम। भ्रम में ज्ञान का विषय विद्यमान है परंतु -- वास्तविक रूप में दिखाता नहीं, मतिभ्रम में बाहर कुछ होता ही नही, हम कल्पना को प्रत्यक्ष ज्ञान समझ लेते हैं। व्यवहारिक जगत में सामान्य जन कभी न कभी भ्रम या मतिभ्रम का शिकार होता है, कभी द्रष्टा और दृष्ट के मध्य अज्ञान का परदा पड़ जाता है। कभी वातावरण मिथ्या ज्ञान का कारण हो जाता है तो इसे अविद्या कहते है। माया

---

[1] वेदान्तसार पृ.९९-१००

[1] ऋ०वे १/८०/७

व्यापक अविद्या है जिसमें सभी मनुष्य फँसे हैं। कुछ विचारक इसे भ्रम के रूप में देखते हैं, कुछ मतिभ्रम के रूप में। ब्रह्मसूत्र में माया शब्द केवल एक बार आया है यह प्रयोग- **मायामात्रं तु कात्स्र्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्** के अन्तर्गत हुआ है।[1] इस सूत्र में माया का प्रयोग स्वप्निल सरपंच के मिथ्यात्व के लिए किया गया है।

वेदान्त परम्परा में मायावाद का प्रसिद्ध विवरण है **'ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या'**। इस व्यवस्था में जीवात्मा का स्थान कहाँ है ? यह भी जगत् का अंश है, ज्ञाता नहीं, आप आभास है। ब्रह्म माया से आप्त होता है और अपने शुद्ध स्वरूप को छोड़कर ईश्वर बन जाता है। ईश्वर, जीव और बाह्म पदार्थ, प्राप्त ब्रह्म के ही तीन प्रकाशन हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त तो कुछ ही नहीं है। यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि यह सारा खेल होता क्यों है? ब्रह्मसूत्र में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि ब्रह्म लीला के लिए माया के माध्यम से यह खेल रचता है,दूसरे शब्दों में कहा जाय तो माया एक परदा है जो शुद्ध ब्रह्म को ढक देती है। पहले विचार के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है, दूसरे के अनुसार उसकी अशक्ति की प्रतीक है।

शंकराचार्य के पूर्ववर्ती साहित्य में गौड़पाद आचार्य की कृति मांडूक्यकारिका में अजातिवाद के सिद्धांत के समर्थन के लिए मायावाद सिद्धांत प्रतिपादन तीन प्रमुख सिद्धांतों के अंतर्गत किया गया है। (१) आत्मा अपनी माया के द्वारा आत्मा में भेदों की कल्पना करता है।[1] आत्मा में कर्तृत्वादी व्यवस्था की साधिका यही माया है।[2] (२) माया के द्वारा पारमार्थिक अद्वैत सत्य भी द्वैतावस्था को प्राप्त हो जाता है।[3] (३) समस्त द्वैत प्रपंच चित्त का ही विस्तार है।[4] इनकी दृष्टि में माया के द्वारा आत्मा में भेद कल्पना एवं द्वैत स्थिति संभव है। चित्त में भी द्वैत का विकास-क्रम माया के द्वारा ही सुबोध्य है।[5]

---

[1] ब्र.सू ३/२/३

[1] मा०का० २/१२

[2] आनन्दगिरी टीका, मा०का०पृ.४१७, पाणी विलास मुद्रण यन्त्रालय

[3] मा०का० ३/१९

[4] मा०का ७२

[5] Mind in this Sense is the ground of the World , as Conditioned by maya. –Dr mahadevan Gaudapada P.151

गौड़पाद कारिकाओं के आरंभ में उदाहरणों के माध्यम से समझाने का प्रयास करता है कि जैसे हमें स्वप्न में जो कुछ दिखाई देता है, वह शरीर के अंदर ही स्थित होता है, वहाँ उसके लिये पर्याप्त स्थान नहीं। स्वप्न देखनेवाला स्वप्न में दूर के स्थानों में जाकर दृश्य देखता है, परंतु जो काल या समय इसमें लगता है वह उन स्थानों में पहुँचने के लिये पर्याप्त नहीं और जागने पर वह वहाँ विद्यमान नहीं होता। देश के संकोच के कारण हमें मानना पड़ता है कि स्वप्न में देखे हुए पदार्थ वस्तुगत अस्तित्व नहीं रखते, काल का संकोच भी बताता है कि स्वप्न के दृश्य वास्तविक नहीं। इसी सन्दर्भ को आगे बढाते हुए गोडपाद कहते है कि स्वप्न और जागृत अवस्थाओं में कोई भेद नहीं, दानों एक समान अस्थिर हैं। वर्तमान प्रतीति से पूर्व का अभाव स्वीकृत है, इसके पीछे आने वाले अनुभव का भाव अभी हुआ नहीं; जो आदि और अंत में नहीं है, वह वर्तमान में भी वैसा ही है देखे जाते हैं जिस प्रकार स्वप्न और माया", जैसे गंधर्वनगर दिखता है, उसी तरह विद्वानों ने वेदांत में इस जगत् को देखा है। गौड़पाद के तर्क में दो भाग हैं- १) स्वप्न के दृश्य मिथ्या हैं, क्योंकि उनके लिये पर्याप्त देश और काल विद्यमान नहीं। २) स्वप्न तथा जागरण अवस्थाओं में मौलिक भेद नहीं स्वप्न में देश और काल को अपर्याप्त कहने में गौड़पाद जागरण के अनुभव को मापक और कसौटी मान रहा है। उसकी यह प्रतिज्ञा कि स्वप्न और जागरण में कोई मौलिक भेद नहीं, इस से खंडित हो जाती है। अब यहां यह शंका उत्पन्न होती है कि जागरण और स्वप्न में क्या कोई मूल अन्तर है? गोडपाद ने इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित तीन बिन्दुओं के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है- १.) जागरण का अनुभव मूल है, स्वप्न का अनुभव उसकी नकल है। जन्म का अंधा स्वप्न में देख नहीं सकता, बहरा सुन नहीं सकता। २.स्वप्न में चित्रों का संयोग अनिर्णीत होता है, जागरण में यह निर्णीत भी होता है। स्वप्न कल्पना का खेल है, इसमें बुद्धि काम नहीं करती। स्वप्न रूपक और कल्पना की भाषा का प्रयोग करता है, जागरण में प्रत्ययों की भाषा प्रयुक्त होती है। ३.स्वप्न में प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी दुनिया में विचरता है, जागरण में हम साझी दुनिया मे रहते हैं। इस दूसरी दुनिया में व्यवस्था प्रमुख है। प्रतिदिन भ्रमण में अनेक पदार्थों को एक ही क्रम में स्थित देखता हूँ, मेरे साथी भी उन्हें उसी क्रम में देखते हैं; दूसरी ओर कोई दो मनुष्य एक ही स्वप्न नहीं देखते, न ही एक मनुष्य के स्वप्न एक दूसरे को दुहराते हैं। यह सब माया शक्ति विवर्त का आभास मात्र है। विद्वानों ने माया का शाब्दिक अर्थ भ्रम लिया है किन्तु माया भ्रम न होकर भ्रम पैदा करने वाला

तत्त्व है। एक वस्तु में दूसरे का भ्रम जैसे रस्सी को सांप समझना तथा रेगिस्तान में पानी की प्रतीति जिसे मृगमरीचिका का भान होना उसी तरह यह सृष्टि माया ही है अर्थात इसके कारण ही ब्रह्म जगत के रूप में प्रतिभान होता है। यह सत् भी है और असत भी है। व्यवहार में यह सत् जैसी दिखायी देती है किन्तु यह यथार्थ में असत है। इसे ठीक ठीक शब्दों व्याख्या नहीं करने के कारन इसे अनिर्वचनीय कहा गया है। यह माया व्यक्त भी है और अव्यक्त भी है। इस माया को जड़, अज्ञान, असत, अविद्या भी कहा है। अज्ञान को न सत् कह सकते हैं न अस (माया)त क्योंकि अज्ञान भाव रूप है इसलिये उसका अस्तित्व है। अज्ञान को सत् भी नहीं कह सकते क्योंकि इसकी सत्ता यथार्थ नहीं है, इसलिए इसे अनिर्वचनीय कहा है।[1] चित्तसुखाचार्य ने विज्ञान के संदर्भ में कहा है कि जो अनादि एवं भावरूप होते हुए विवेक ज्ञान से जिसका विलय हो जाता है, वह अज्ञान है।[2] यह त्रिगुणात्मकसत्व रज तम- का रूप है। यह ज्ञान का विरोधी तत्त्व है अर्थात् ज्ञान होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है (माया)। माया और ब्रह्म कोई अलग-अलग स्वत्रन्त्र सत्ता नही है अपितु ब्रह्म की शक्ति है। माया के विशुद्ध सत्त्व में प्रतिविम्बित ब्रह्म, ईश्वर कहलाता है तथा अज्ञान में प्रतिविम्बित ब्रह्म, जीव कहलाता है। जीव के सन्दर्भ में कहा गया है कि –

"जीवो नामान्तः करणावच्छिन्नं चैतन्यम्।
तत्साक्षि तु अन्तःकरणोपहितंचैतन्यम्।"[3]

अर्थात अन्तःकरण विशेषण से विशिष्ट चैतन्य जीव है और अन्तःकरण उपाधि से उपहित चैतन्य जीव साक्षी है। इसके लिए कहा भी गया है- "**अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना"[4]** अर्थात यह जीव साक्षी शारीर भेद से भिन्न है। अज्ञान को शुद्ध ब्रह्म ज्ञान प्रकाशित करता अतः उसे महान उपाधि होने के कारण इसे महत् भी कहा गया है वेदान्त परिभाषा में लिंग शरीर के सन्दर्भ में कहा गया हैं- **"पूर्वोक्तैरपञ्चीकृतैर्लिंगशरीरं परलोकयात्रानिर्वाहकं मोक्षपर्यन्तं स्थायी मनोबुद्धिभ्यामुपेतं ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चक-कर्मेन्द्रियपञ्चक-प्राणादि-पञ्चक-संयुक्तं जायते। तच्च द्विविधं-परमपरं च। तत्र परं हिरण्यगर्भ- लिंगशरीराणि, अपरमस्मदादिलिंगशरीरम्। तत्र हिरण्यगर्भलिंग शरीरं महत्तत्त्वम्, अस्मदादि-**

---

[1] अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किचिदिति वदन्ति। अहमज्ञ इत्याद्यनुभवाद् देवात्मशक्तिम् स्वगुणैर्निगूढम् (श्वे.उ.१/३) इत्यादिश्रुतेश्च। वेदान्तसार, पृ.३९-४२

[2] अनादि भावरूपं यद विज्ञानेन विलीयते।
तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षणं सम्प्रचक्षते। -तत्त्वप्रदीपिका १/९,१७

[3] वेदान्त परिभाषा, पृ ७९

[4] वेदान्त परिभाषा पृ. ८२

लिंगशरीरमहङ्कार इत्याख्यायते।"[1] अर्थात् पूर्वोक्त अपञ्चीकृत सूक्ष्म भूतों के योग से ही परलोकगमनादि समस्त कार्यो का निर्वाहक(कर्तृ), मोक्ष तक स्थायी, लिंगशरीर उत्पन्न होता है। यह लिंग शरीर मन, बुद्धि, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और पञ्च प्राणों से युक्त रहता है।(उक्तार्थ में मैत्रेयोपनिषद का प्रमाण देते है) इस कारण यह वचन है- पञ्च-प्राण,मन, बुद्धि और दस इन्द्रियों से युक्त एवं अपञ्चीकृत भूतों से बना हुआ यह सूक्ष्म शरीर भोग का साधन है। वह लिंगशरीर पर-अपर भेद से दो प्रकार का स्वीकार किया है। इनमें हिरण्यगर्भ का लिंगशरीर 'पर' होता है जो कि व्यापक स्वरूप वाला होता है, इसे 'महत्तत्त्व' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है तथा दूसरा हम लोगों का शरीर 'अपर' लिंगशरीर होता है, जो कि अव्यापक परिसीमित स्वरूप वाला होता है। इस लिंग शरीर को अंहकार भी कहा जाता है। हिरण्य गर्भ से लिंग शरीर तथा स्थूल शरीर के उत्पत्ति समस्त कार्यो में परमेश्वर को साक्षात कर्त्ता कहा है।[1] परमेश्वर तीन मूर्त्तियों की उत्पत्ति करता है-पाँच तन्मात्राओं की, लिंगशरीर और हिरण्यगर्भ नामक आदि जीव की। बाद की समस्त सृष्टि हिरण्यगर्भ द्वारा परमेश्वर ही उत्पन्न करता है[2]। आदि श्रुति इसके सन्दर्भ में प्रमाण है। यह माया (अविद्या) परमात्मा की शक्ति है जिससे यह सारा जगत उत्पन्न हुआ है। माया उपाधि से चैतन्य को ईश्वर साक्षी कहते है जो उपाधि के एक होने से एक होता है।[3] इसके कार्य से ही हमको इसका अनुमान हो पाता है कि ब्रह्म से उत्पन्न यह ब्रह्म को आच्छादित किये हुए है श्रुतियों को इसके सन्दर्भ में प्रमाण समझना चाहिये। माया (अविद्या) की दो शक्तियां है- १. आवरण एवं २. विक्षेप। आवरण का अर्थ है पर्दा , जो दृष्टि में अवरोधक कारण बन जाये। जिस प्रकार छोटा भी बादल देखने वाले व्यक्ति के दृष्टिपथ को ढक लेने के कारण, अनेक योजनों तक विस्तीर्ण सूर्य-मण्डल को ढक सा लेता है, उसी प्रकार अज्ञान परिमित होते हुए भी प्रमाता की बुद्धि को ढक लेने के कारण अपरिमित एवं असंसारी आत्मा को ढक सा लेता है । उदाहरण के लिए जिस प्रकार अत्यन्त मूढ व्यक्ति, बादल से अपनी दृष्टिपथ के ढक जाने पर, सूर्य को बादल से ढका हुआ अतंश्च निस्तेज या प्रकाशहीन समझता है, उसी प्रकार मूढ पुरुष को दृष्टि से जो आत्मा बन्धन में पड़ा हुआ सा प्रतीत होती है, वह नित्य-ज्ञान स्वरूप (आत्मा) मैं हूँ का

---

[1] वेदान्तपरिभाषा, पृ.३४०-४१

[1] तत्र परमेश्वरस्य पञ्चतन्मात्राद्युत्पत्तौ सम्तसशावयवोपेतलिंगशरीरोत्पत्तौ हिरण्यगर्भ-स्थूलशरीरोत्पत्तौ च साक्षात्कर्तृत्वम्।- वेदान्तपरिभाषा, पृ.३४३

[2] हिरण्यगर्भो नाम मूर्तित्रयादन्यः प्रथमो जीवः। वेदान्तपरिभाषा,

[3] ईश्वरसाक्षि तु मायोपहितं चैतन्यम्। तच्चैकम्। तदुपाधिभूत-मायाया एकत्वात्। वेदान्त परिभाषा, पृ.८३

प्रतिभान करने लगता है।[1] इस दृष्टान्त पक्ष में मेघ सूर्यमण्डल की अपेक्षा सर्वथा परिच्छिन्न अर्थात् परिमित या सीमित है । इसीलिए यहां कहा गया कि मेघ को ढकता हुआ सा लगता है, वस्तुतः ढक नहीं सकता है, क्योंकि सूर्यमण्डल से बहुत ही छोटा, सीमित है । फिर भी मेघ के आ जाने पर सूर्यमण्डल दिखाई क्यों नहीं पड़ता? क्योंकि जिस दृष्टि से वह देखा जाता है, उसके एवं सूर्य के बीच रास्ते में वह आ जाता है।

दृष्टान्त पक्ष में भी नित्यज्योति-स्वरूप,सदैव प्रकाशमान आत्मा यदि जीव को दिखाई नहीं पड़ता तो क्यों? जीवहत आत्म-विषयक अज्ञान के कारण। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चूँकि जीव के स्वरूप-भूत सर्वव्यापी-विभु आत्मा के विषय में उसकी दृष्टि को अज्ञान आवृत-आच्छादित कर लेता है, इसीलिए सर्वप्रकाशक एवं स्वयं प्रकाश होने पर भी वह जीव को दिखाई नहीं पड़ता । इस दृष्टान्त-गत मेघ के सादृश्य से तत्स्थानीय अज्ञान को भी सर्वव्यापी आत्मा की अपेक्षा से परिच्छिन्न परिमित कहा गया है। तमस् प्रभाव के कारण वास्तविकता स्वरूप दिखाई नहीं देता हो उदाहरण के लिए बादल का एक टुकड़ा पृथ्वी से कई गुने बड़े सूर्य को ढक लेता है उसी प्रकार माया की आवरण शक्ति सीमित होते हुए भी परम आत्मा के ज्ञान हेतु अवरोधक बन जाती है। परम तत्त्व को जानने वाली बुद्धि अज्ञान या माया के कारण आत्मतत्त्व का अभिज्ञान नही कर पाती है, तब रजस् अपनी क्रीडा करता है जिसके कारण मन विजृम्भण करता है अर्थात् कल्पनाओं का, अनुमानों का प्रक्षेपण करता है। माया की दूसरी विक्षेप शक्ति है जो कि भ्रम पैदा करती है। यह विज्ञानमय कोश में स्थित बतया गया है। इससे ही संसार के सभी व्यवहार सम्पन्न होते है। विक्षेप शक्ति ही जीवन की सभी शरीर की अवस्थाएं तथा कारण शारीर से ब्रह्मांड तक संसार की रचना का हेतु है। विक्षेप शक्ति के कारण जीवात्मा (सूक्ष्मशरीर) को अन्ततः दुःख होता है।[1] क्योंकि तमोगुण से निष्पन्न हुआ कारण शरीर में अज्ञान, आलस्य, जड़ता, निद्रा, प्रमाद, मूढता आदि तमोगुण के धर्म है । इनके बन्धन में बन्धा हुआ जीव को कभी भी वास्तविक ज्ञान नही हो पाता, जिसके कारण जीव निद्रालुवत्, स्तम्भवत् या जड़वत बना रहता है।[2] जैसे अपने अज्ञान से ढकी हुई रस्से में सर्प की सम्भावना होती है, वैसे ही अज्ञान की इस आवरणशक्ति से आच्छन्न आत्मा में कर्ता होने, भोक्ता होने तथा सुख-दुःख-मोह रूप तुच्छ संसार से युक्त होने की उदभावना सम्भव हो पाती है। उसी प्रकार अज्ञान अपने द्वारा हुए आत्मा द्वारा में अपनी विक्षेप शक्ति से आकाश

---

[1] हस्तामलकस्तोत्र १०

[1] अभावना वा विपरीतभावनाऽसंभावना विप्रतिपत्तिरस्याः।

संसर्गयुक्तं न विमुञ्चति ध्रुवं विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम्। -विवेकचूडामणि, ११५

[2] अज्ञानमालस्यजडत्वनिद्राप्रमादमूढत्वमुखास्तमोगुणाः।

एतैः प्रयुक्तो नहि वेत्ति किंचिन्निद्रालुवत्स्तम्भवदेव तिष्ठति। -विवेकचूडामणि, ११६

आदि कार्य की उदभावना करता है। विक्षेप शक्ति से सूक्ष्मशरीर से लेकर स्थूल ब्रह्माण्ड पर्यन्त समस्त जगत की सृष्टि करता है।[1] आवरण शक्ति से आत्मा के वास्तविक अर्थात् सत-चित्-आनन्द स्वरूप को ढक लेने के कारण अज्ञान की इस शक्ति को आवरण शक्ति कहते हैं । अंग्रेजी भाषा में इसका अनुवाद Concealing power किया जाता है । इस शक्ति से वस्तु के स्वरूप के ढक लिए जाने पर ही उसके स्थान में उनसे भिन्न रूप की कल्पना सम्भव हो पाती है, और जिस शक्ति से इस भिन्न रूप की सम्भावना होती है वह अज्ञान की विक्षेप शक्ति कहलाती है, क्योंकि एक स्थान से दूसरे की कल्पना, दूसरे का रख दिया जाना ही तो विक्षेप है, और जिसके कारण यह विक्षेप हो, जो यह विक्षेप करे वह विक्षेप शक्ति है । संस्कृत की ज्षिप् धातु का अर्थ रखना, स्थापित करना, फेंकना आदि होता है, इसलिए विक्षेप शक्ति को अंग्रेजी में projecting power या power of projection कहा जाता है। आवरण के बिना ज्ञान नही हो सकता ,इसे गौडपाद ने आवरणच्युति कहा है।[1] शकराचार्य ने कामाअवरण को ज्ञानावरण कहा है- काम ज्ञान का आवरण है।[2] अज्ञान का मूल कारण आवरण है क्योंकि काम उसी की उपज है। गीता में विवेक का आवरण माना गया है।[3] यह मूल आवरण शक्ति अविद्या या माया तमोगुणी रूप है। विवेकचुडामणि में आवरण नामक तमोगुण की शाक्ति से वस्तु अन्यथा भासित होती है । आवरण संसार का मूल मूल कारण है जिससे विक्षेप शक्ति को प्रसार मिलता है। यहाँ अध्यास को ही आवरण माना गया है जिसे सामान्यतः अविद्या कहते है। आवरण से ज्ञान का तिरोधान होने के कारण अतत् में तद्बुद्धि जन्म लेती है जिससे प्रपञ्च व्यवहारसत्ता प्रतीतिगम्य बनता है जो विक्षेप शक्ति का कार्य है।[4] इस विक्षेप शक्ति के कारण तमोमूढ पुरूष को अवस्तु में वस्तुबुद्धि की प्रतिती होती है, जैसे रस्सी में सर्प प्रतिती। अविवेक के अभाव से यह अयथार्थ प्रतिती जन्म लेती है।[5] यहाँ व्यवहारिक प्रतीतियों के लिये प्रातिभाषिक प्रतीति को दृष्टान्त बनाया गया है जिससे स्पष्ट है कि शाकर वेदान्त में दोनों एक ही अविद्या की उपज है – एक को मूलाविद्या और दूसरी को तूलाविद्या नाम दिया है।

---

[1] विक्षेपपशक्तिस्तु यथा रज्जवज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयति एवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति । तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तम् –'विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत' इति ॥ वेदान्तसार,१७

[1] मांका ४/९७

[2] भगवद्गीता ३/४०

[3] गीता ५/१५

[4] एषावृतिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेन्यथा।
सैषा निदानं पुरूषस्य संसृतेर्विक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः। -विचु ११५

[5] अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा।
विवेकाभावाद् वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा॥ विचु १४०

विद्यारण्य स्वामी ने "दशमस्त्वमसि" के जीव के दृष्टान्त जीव की अवस्थाओं के सन्दर्भ में कहा है कि-पहले जीव को आत्मविषक अज्ञान, फिर आवरण, तदन्तर विक्षेप- ये तीन बन्धनकारी है। आत्मा का आचार्योपदेश द्वारा परोक्ष ज्ञान प्राप्त कर स्वयं विचार कर अपरोक्षज्ञान मोक्षकारण है जिससे की शोक की निवृत्ति होती है। बन्धन और मोक्ष की व्यव्स्था इन्ही सात अवस्थाओं पर अवलम्बित रहती है।[1] जैसे "मैं नही जानता " इस उदासीन व्यवहार का कारण अज्ञान है क्योंकि इस अवस्था में विचाररूप ज्ञान का प्रागभाव रहता है। तदन्तर अशास्त्रीय पद्धति से विचार कर के विपरित व्यवहार चलता है कि आत्मा नही है क्योंकि उसका भान नही होता।[1] द्वितीय अवस्था आवरण की कही जाती है। यहा यह दृष्टव्य है कि व्यवहारिक ज्ञान में भी आवरण की स्थिति देखी जाती है-'दशमस्त्वम'सि" इसका उदाहरण है। माया और अविद्या का सामान्यतः एक ही अज्ञान अर्थ में प्रयोग होता है। किन्तु विक्षेप की प्रधानता में माया का और आवरण की प्रधानता में अविद्या का व्यवहार विरूद्ध नही है।[2] यहाँ माया और अविद्या में भिन्नता को स्पष्ट कर देना अपेक्षित है। जहाँ ईशवरेच्छाधीन अज्ञान जहां विक्षेपकारण है वहाँ माया का व्यवहार होता है तथा जहाँ तत्त्व का आच्छादन करने वाला अज्ञान स्वतन्त्र विवक्षित है वहाँ अविद्या का व्यवहार होता है।[3] आगे वेदान्त-सार में अज्ञान की शक्ति के सन्दर्भ में कहा गया है कि जैसे अल्प मेघ अनेकयोजन विस्तृत सूर्य-मण्डल का पिधान न होकर दृष्टा के नेत्र का आच्छादन होता है फिर भी उसे प्रतित होता है कि सूर्य ढक गया है। इसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अपरिच्छिन्न एवं असंसारी आत्मा को मानो आच्छादित करता है, यद्यपि दृष्टा की बुद्धि आवृत्त होती है। यही अज्ञान की आवरण शक्ति है[4] उदाहरण के लिए जिस प्रकार अज्ञान से आवृत्त रज्जु में सर्पत्व की प्रतिती देखी जाती है उसी प्रकार आवरण शक्ति से आत्मा के कर्तत्वादि की संभावना देखी जाती है।[5] आवरण एवं विक्षेप

---

[1] अज्ञानमावृतिस्तद्वद् विक्षेपश्च परोक्षधी:। अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरङ्कशा।
सप्तावस्था इमाः सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ। बन्धमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बन्धकृतः स्मृताः॥–पदं/९/३३-३४

[1] न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम्। विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम्॥
अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ। विपरितव्यवह्रतिरावृतेः कार्यमिष्यते॥ पदं ९/३५-३६

[2] क्वचिद् विक्षेपप्राधान्येनावरणाप्राधान्येन च मायाविद्योर्भेदे तद्व्हारो न विरूध्यते। -सदसं, पृ.४४९

[3] माया विक्षिपदज्ञानमीशेच्छावशवर्ति वा।
अविद्याच्चादयत् तत्त्वं स्वातन्त्र्यानुविधायि वा। -सदसं, पृ.४४९

[4] आवरणशक्तिस्तावदल्पोपि मेघोनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नमपि आत्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्।–वेदान्तसार,पृ.३७

[5] अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखमोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि संभाव्यते यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्वां सर्पत्वभावना। -वेदान्तसार,३८

नामक दोनों शक्तियों से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य अपनी प्रधानता से जगत् का निमित्त कारण, एवं अपनी उपाधि की प्रधानता से उपादान कारण होता है। जैसे, मकड़ी अपने जाले के प्रति अपनी प्रधानता से निमित्त कारण तथा अपने शरीर की प्रधानता से उपादान-कारण होती है। यहाँ इसके कहने का तात्पर्य यह है कि आवरणभंग से वस्तुतत्त्व का प्रत्यक्ष होता है। प्रातिभासिक आवरण के अभिभव से व्यवहारिक तथा व्यवहारिक आवरण के अभिभव से आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान अभिव्यक्ति पाता है। दोनों स्थलों में आवरण तत्त्वज्ञान का रोधक माना गया है। प्रातिभासिक स्थलों में व्यष्टिजीव की और व्यवहारिक में समष्टि की अविद्या का आवरण रहता है। जीव की अवधारणा आवरण शक्ति का परिणाम है। व्यवहारिक जगत् दृष्टिगोचर होने वाले विषय-वस्तु को अन्तःकरणवृत्ति और चिदाभास व्याप्त करते है। वृत्ति द्वारा अज्ञान आवरण भंग होने के अनन्तर जो विषयाकार चिदाभास स्फुरित होता है वही घटादि-प्रत्यक्ष कहा जाता है।[1] अविद्या आवरण के समाप्त हो जाने पर चिदाभास और चित् का अद्वैत घटित होता है उसे ही मोक्ष की अवस्था कहते है।

वेदान्त परम्परा में यह माना गया है कि अविद्या की अनेक प्रकार की आवरण शक्ति ब्रह्म ज्ञान को आवृत कर लेती है जिससे जीव का बन्धन में चला जाता है। यह आवरण के भंग होने पर जीव का मोक्ष सम्भव है।[2] और यह आवरण की निवृत्ति सम्यक आत्म-ज्ञान में प्रवृत्ति होने से होती है। अर्थात सम्यक आत्म-ज्ञान होने से सूक्ष्मशरीर या जीवात्मा के विक्षेप शक्ति के कारण मिथ्या ज्ञान से जनित समस्त प्रकार के दुःखों का नाश हो जाता है।[3] जीव वास्तव में ब्रह्म ही है, इसके अतिरिक्त वह ओर कुछ नहीं है। शरीर धारण के कारण वह भिन्न प्रतीत होता है। वेदान्त परम्परा में शरीर के तीन प्रकार परिगणित है स्थूल शरीर , सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। अनादि कर्म प्रवाह के अधीन होकर कर्मफल को भोगने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। कर्म अविद्या के कारण होते हैं। अतः शरीर धारण अविद्या के कारण होता है। शरीर धारण करने के कारण जीव स्वयं में कर्तृत्वभिमान एवं भोक्तत्वभिमान से युक्त हो जाता है, जिसके कारण वह बन्धन में फँस जाता है। जीवात्मा युक्त स्थूल शरीर के अस्तित्व के अवस्था में रहते अविद्या के समूल नाश नही कर लेता तब तक सूक्ष्म शरीर की मुक्ति सम्भव नही है। अविद्या के कारण शुद्ध ब्रह्म जीवात्मा नानात्व रूप में स्वीकार किये गये है। यह प्रस्थान उपाधिभेद से जीव भेद

---

[1] बुद्धि-तत्स्थ-चिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्॥ - पंद ७/९९

[2] अन्येत्वेकैवाविद्या। तस्या एवाविद्याया जीवभेदेन ब्रह्मज्ञानं तस्य ब्रह्मस्वरूपावरणशक्ति-विशिष्टाविद्यानाशः।– वेदान्त-परिभाषा, पृ३७३

[3] आवरणस्य निवृत्तिर्भवति हि सम्यक्पदार्थ दर्शनतः।
मिथ्याज्ञानविनाशस्तद्विक्षेपजनित दुःखनिवृत्तिः॥ -विवेकचूडामणि, ३४८

स्वीकार किये गये है।[1] उदाहरण के लिए जिस प्रकार एक घटाकाश के धुलिका व्याप्त होने पर अन्य घटाकाश मलिन नहीं होता उसी प्रकार जीवन में सुख दुख की विविधता पाई जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कंचुकादि घटवत् है जिनमें संकुचित या कंचुकित आत्मा जीववैविध्य प्राप्त करता है। सभी उपाधियों के सुख-दुःखादि विविध होते हैं किंतु उनमें संकर नहीं होता।[2]

योगराजविवृत्ति में इसके संदर्भ में कहा गया है कि सभी जीव रूप पुरुष एकमात्र एवं चिन्मात्र है। इस परमार्थ के होते हुए भी परमेश्वरीय माया शक्ति द्वारा आणव, मायीय एवं प्राकृत एवं कोशत्रयन के वेष्टन से वे जीव अपने पूर्ण व्यापक एवं चिदान्दरूप घनीभूत एकत्व के स्वरूप का त्याग करके परिमित स्वरूप लेता है। इसलिए एकमात्र चैतन्यरूप होते हुए भी स्वगत कोशत्रय के विच्छेकदोष से घटाकाश एवं पटाकाश के समान परस्पर भिन्न रहते हैं। वस्तुतः पंचकंचुकरूप म्येव कोश द्वारा किया हुआ विच्छेद ही जीव रूप से व्यवहार लेता है। अन्य द्वैतपरक दर्शनों में जिस प्रकार जीव पुरूष आत्मा तथा अणु शब्दों के भेदाधीन व्यवहार चलते हैं।[1]

यहा पर प्रश्न उठता है कि क्या एक कारण से अनेक कार्य उत्पन्न हो सकते है क्या? अर्थात् एक विक्षेप शक्ति के आवरण से नानात्व जीव या कारण शरीर , कारण शरीर से सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर की अभिव्यक्ति सम्भव है क्या? इस प्रश्न के समाधान के लिये अद्वैत ज्ञान परम्परा कार्य-कारण भाव के विषय में आवरण प्रणाली को अपनाते हुए इसका समाधान करते है कि एक कार्य के साथ अनेक कार्य नही हो सकते, अतः कारण कार्य को उत्पन्न करता हुआ पूर्वोत्पन्न कार्य का तिरोधान करता है। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्व कार्य का पर-कार्य आवरण बन जाता है।[2] ऐसा ही हमें कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर में देखना

---

[1] एतद्दोषपरिहाराय.... अविद्यानानात्वमङ्गीकर्तव्यम्।–वेदान्त-परिभाषा, पृ.३७२

[2] एकस्मिन घटगगने रजसा व्याप्तं भवन्ति चान्यानि।
मलिनानि तद्वदेते जीवाः सुखदुःखभेदजुवः। -परमार्थसार ३७

[1] अभी जीवः पुरूषा एकचिन्मात्रपरमार्थां अपि पारमेश्वर्या मायाशक्त्या आणवमायीयप्राकृतकोशत्रयावेष्यनेन पूर्णं व्यापि चिदानन्दैकघनं स्वरूपमनस्त्य परिमिता येनैकचैतन्यात्मात्मानोपि स्वगतकोशत्रययययविच्छेददौरात्म्यात् परस्परं भिन्नाश्चेति घटपटाद्याकाशवत्। इत्थं मायीयकोशकृतो विच्छेद एव जीवतया व्यवह्रियते। -योगराजवृत्ति

[2] सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत् पूर्वोत्पन्नस्यात्मकार्यस्यातिरोधानं कुर्वत् कार्यान्तरमुत्पादयति। एकस्मिन् कारणे युगपदनेककार्यविरोधात्। बृउ- शांभा १/२/१

चाहिये। शंकराचार्य इसके सन्दर्भ में कहते है कि उत्पत्ति से पूर्व आवृत्त रहने वाला कारण और जो आवृत्त रहने वाला कार्य दोनों विद्यमान माने गये है| क्योंकि कारण के होने पर सत् कार्य का जन्म देखा जाता है तथा कारणाभाव में कार्याभाव रहता है।[1] उतन्न कार्य की अभिव्यक्ति हेतु प्रकाशादि द्वारा अन्धकार को दूर किया जाता है। अनुत्पन्न को व्यक्त करने हेतु निरास हेतु प्रयोग होते हैं जिसके फलस्वरूप कार्य प्रकाश प्राप्त होता है और नाना विषय बनते है। वेदान्त परम्परा में आवरण शक्ति एवं विक्षेप शक्ति के माध्यम से समष्टि तथा व्यष्टि जगत् की व्याखाया पञ्चकोषों की व्यवस्था के द्वारा समझाया है जो कि उपाधिरूप आवरण है। व्यष्टि से ज्ञान का आवरण हो जाता है क्योंकि कोशो के आवरण से ज्ञान तथा कर्म की शक्ति परिच्छिन्न रहती है।

वेदान्तसार के प्रतिपाद सदानन्द जी ने इसके सस्दर्भ में विचार व्यक्त किया है कि अज्ञान (माया या अविद्या की) समष्टि बुद्धि से एकत्वबुद्धि तथा व्यष्टि बुद्धि के आशय से अनेकत्वबुद्धि के व्यवहार में आता है। जिस प्रकार वृक्षों की समष्टि वन तथा जलों की समष्टि जलाशय है उसी प्रकार नाना रूपों प्रतिभासित होने वाला जीवोपाधिरूप सूक्ष्म शरीर अज्ञानों की समष्टि के अभिप्राय से एकत्व का व्यवहार होता है जिसमें अजा प्रकृति को एक कहा गया है।[1] यह उपाधिसमष्टि मोह रहित होने से उत्कृष्ट एवं विशुद्ध सत्त्व गुण प्रधान है। उससे उपहित चैतन्य सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व तथा सर्वनियामकत्व आदि गुणों के कारण अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत् कारण तथा ईश्वर कहा जाता है। श्रुति प्रमाण से यह सिद्ध हो चुका है कि यह सभी अज्ञान-व्यष्टियों का भासक होने से वह सर्वज्ञ है।[2] यही सभी का कारण है अर्थात् यही कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर का कारण है। ईश्वर की यह समष्टि (मायोपाधि) अखिल सृष्टि का कारण होने से इसे कारण शरीर भी कहते है जो कि आनन्दप्रधान एवं कोशवत आवरण होने से आनन्दमय कोश अभिकथित है। जब सभी विषय विरत हो जाने पर सुषुप्ति, स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीरादि प्रपञ्च का लय स्थान कहलाता है।[3] जिस प्रकार वन या जलाशय की व्यष्टि का आशय लेने पर बहुसंख्यक वृक्ष एवं जल व्यहार में आते है उसी प्रकार अज्ञान

---

[1] येनावृतं कारणेन यच्चावृतं कार्यं प्रागुत्पत्तेस्तदुभयमासित्... कार्यस्य हि सतों जायमानस्य कारणे सत्युत्पत्तिदर्शनादसति चादर्शनात्। - बृउ- शांभा १/२/१

[1] इदमज्ञान समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथा ही यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रावेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रावेण जलाशय इति, तथानानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगतज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः। अजामेकाम्(श्वेउ ४/५) इति श्रुतः।– वेदान्तसार, पृ.४३

[2] इयं समष्टिरूत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। तदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेशवरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकम्व्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते। सकलाज्ञानावभसकत्वादस्य सर्वज्ञत्वम्। यः सर्वज्ञः स सर्वविद्(मुंउ १/१/९) इति श्रुतेः। वेदान्तसार, पृ.४४-४६

[3] ईस्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरम्, आनन्दप्रचुरत्वात् कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः। सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिः, अत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते। वेदान्तसार, पृ४७

को व्यष्टि के आशय से लिया जाय तो अनेक उपाधियों का प्रति जीव अर्थात् सूक्ष्म शरीर का व्यहार होता है।[1] यह मोहात्मक होने से उपाधिव्यष्टि (अज्ञानव्यष्टि) रजोगुण एव तमोगुण से मलिन-सत्त्वप्रधान है(सकलुष है)। इस से उपहित चैतन्य के अल्पज्ञत्व तथा अनीश्वरत्वादि गुण हैं, अतः वह प्रज्ञः कहा जाता है क्योंकि वह किसी एक ही ज्ञान का एक काल में अवभासक होता है। प्राज्ञ नाम की एक सार्थकता यह है कि अस्पष्ट उपाधि के कारण वह अतिप्रकाशक नहीं होता। अहंकारादि का कारण होने से वह व्यष्टि कारण शरीर, आनन्दप्रचुर एवं कोशवत् आच्छादक होने से आनन्दमयकोश तथा सभी विषय से उपरत होने से सुषुप्ति है, इसलिए इसे स्थूल शारीर तथा सूक्ष्म शरीरों का लय स्थान भी कहते है अर्थात् सूक्ष्म शरीर की अभिव्यक्ति का कारण यही है[1]। उस सुषुप्त अवस्था में आनन्दमयकोश से उपहित ईश्वर एवं प्राज्ञ चैतन्य प्रकाशित अतिसूक्ष्म चित्तरूप अज्ञानवृत्तियों से आनन्द का अनुभव करते है अर्थात् ईश्वर द्रष्टा तथा प्राज्ञ भोक्ता का रूप रखता है। श्रुति प्रमाण के अतिरिक्त स्मृति से भी यह सिद्ध होता है क्योंकि पुरूष जागरण में स्मरण करता है कि मैं सुखपूर्वक सोया और सोते समय कुछ भी नही जान पाया। यहां यह आनन्द की स्मृति होती है तथा कुछ नही जान पाने से अज्ञानवृत्ति का भी परामर्श स्पष्ट होता है।[2] अतः यहा ईशवर की संज्ञा आनन्दमय कोश से अवच्छिन्न समष्टि की है जो सामान्यतः देशकालातीत ज्ञान का अधिष्टान होने से सर्वज्ञ है। उसका व्यापक चैतन्य सभी व्यष्टियों को व्याप्त कर नियमन करता रहता है, इसलिए वह अन्तर्यामी एवं प्रेरक है। व्यष्टिरूप आनन्दमय पुरूष व्यष्टिगत आनन्दस्वरूप का ही अनुभव कर पाता है। इसे वेदान्तसार में एक उदाहरण के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है कि जिस प्रकार वन-वृक्ष का जलाशयजल में अभेद रहता है उसी प्रकार आनन्दमय कोश की समष्टि-व्यष्टि में अभेद है। इनसे उपहित ईश्वर तथा प्राज्ञ में भी उसी प्रकार अभेद है जिस प्रकार वनवृक्षावच्छिन्न आकाशों में अथवा जलाशयजलगत प्रतिबिम्बाकाशों में अभेद है।[3] यहां वनवृक्ष की तुलना से अवच्छेदवाद एवं जलाशयजल की उपमा से प्रतिबिम्बवाद की ओर इंगित किया गया है। यहां जीव और ईश्वर में भेद एवं समन्वय को उधृत किया गया है।

---

[1] यथा व्यष्टयभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति, यथा अज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (ऋ ६/४७/१८) इत्यादिश्रुतेः। वेदान्तसार, पृ.४८-४९

[1] इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते, एकज्ञानावभासकत्वात्। अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयानतिप्रकाशकत्वात्। अस्यापीययमहंकारादिकारणत्वात् कारणशरीरम्, आनन्दप्रचुरत्वात् कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिः, अत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरलयस्थानमिति चोच्यते। -वेदान्त सार, पृ.४८-४९

[2] तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः। आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः(मांउ ५) इत्यादिश्रुतेः। सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषमित्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च। वेदान्तसार, पृ.४०-४२

[3] अनयोः समष्टिव्यष्टयोर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वा अभेदः। एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशयजलगतप्रतिबिम्बाकाशयोरिव वा अभेदः। एष सर्वेश्वरः(मांउ ६) इत्यादिश्रुतेः। वेदान्तसार, पृ. ५३

जीव और ईश्वर में व्यावहारिक दृष्टि से भेद है। जीव बद्ध है, ईश्वर नित्यमुक्त है। मुक्त होने पर भी जीव को नित्यमुक्त नहीं कहा जा सकता। नित्यमुक्त होने के कारण ही ईश्वर श्रुति का जनक या आदिगुरु कहा जाता है। ईश्वर को मायोपहित कहा गया है, क्योंकि माया विक्षेप प्रधान होने के कारण और ईश्वर के अधीन होने के कारण ईश्वर के ज्ञान का आवरण नहीं करती। परन्तु जीव को अज्ञानोपहित कहा गया है, क्योंकि अज्ञान द्वारा जीव का स्वरूप ढक जाता है। अज्ञान के कारण जीव अपने स्वरूप को भूल कर अपने को कर्त्ताभोक्ता समझता है। इसी से उसको बार - शरीर धारण है जब वह मिलता बार संसार में आना पड़ता है। यही बंधन है। इस बंधन से छुटकारा तभी शरीर के रहते हुए भी ज्ञान के हो जाने पर जीव मुक्त हो सकता है, क्योंकि शरीर तभी तक बंधन है, जब तक जीव अपने को आत्मा रूप को न जानकर अपने को शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के रूप में समझता है। जिसके कारण कालानुसार तीन शरीर प्राप्त होते हैं - स्थूल, सूक्ष्म और कारण। स्थूल शरीर स्थूल पंचभूतों से, सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म पंचभूतों से और कारण शरीर तीन गुणों से बना है। कारण और सूक्ष्म शरीर में तादात्म्य रखने वाली आत्मचेतना जीव भाव को प्राप्त होती है। वह जीव जब तक स्थूल शरीर में रहता है, उसमें जीव का जीवन भासित होता है। उस शरीर को छोड़कर जब जीव चला जाता है तो शरीर मृत हो जाता है और पंचभूतों में मिल जाता है। जीव अपने कर्मानुसार एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में चला जाता है। अशुभ कर्मों से दु:ख और शुभ कर्मों से सुख प्राप्त होता है। दु:खमय जीवन नरक और सुख की अधिकता ही स्वर्ग है। अहंता ममता, राग द्वेष , ज्ञान अज्ञान, हर्ष विषाद, आदि द्वन्द्वों में पड़ा जीव जन्म-मरण का कष्ट पाता रहता है। उससे छूटने का उपाय आत्मज्ञान है। यह आत्म ज्ञान विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता दृढ होने पर शास्त्र और गुरु कृपा से जीव को आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है। ज्ञानी जीव कर्मबंधन से छूटकर शुद्ध चेतन स्वरुप हो जाता है और वह ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है। यही मुक्ति या ब्रह्मनिर्वाण है। उपनिषदों के "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य इसी अवस्था का वर्णन करते है। उदाहरण के लिए मकड़ी जिस ताने-बाने से अपना जाला बुनती है, वह कहीं बाहर से नहीं अपितु अपने शरीर से ही प्रकट करती है । भीतर से निकली लाला(लार) ही बाहर आकर सूखकर ताने-बाने के सूत की आकृति धारण करके जाल बन जाती है । लाला स्वयं ही निकालती है, अतः जाल के प्रति वह स्वयं निमित्त कारण है ।। मुण्दकोपनिषद् में लूत के इस दृष्टान्त से ईश्वर को जगत् का निमित्तोपादानोभ्य कारण मानने का सिद्धान्त इस प्रकार कथित है-

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।

यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥[1]

इस मन्त्र में दिये गये तीन दृष्टान्तों में से केवल ऊर्णावाभि अर्थात् मकड़ी का दृष्टान्त उभयविध होने में सटीक है, शेष पृथिवी तथा पुरुष उसका शरीर क्रमशः ओषधि और केश-लोम की उत्पत्ति में उपादान होने के दृष्टान्त हैं । उत्पन्न करके फिर स्वेच्छया अपने भीतर समेट लेने में भी मकड़ी का ही दृष्टान्त सटीक जै । ईश्वर भी मकडी की तरह अपने द्वारा की गई सृष्टि का निमित्त और उपादान दोनों ही प्रकार का कारण है, तथा स्वेच्छया उसे करके फिर अपने में विलीन कर लेता है । सृष्टि-प्रलय की क्रिया में ईश्वर स्वतन्त्र है, कुम्हार इत्यादि की तरह परतन्त्र और परापेक्षी नहीं । न्याय-वैशेषिक के अनुसार ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं । उपादान कारण तो नित्य परमाणु है जो पृथिवी, जल इत्यादि पञ्चभूतों के सूक्ष्मतम अविनाशी अंश है । इसी प्रकार सांख्य मत में जगत् का उपादान कारण प्रकृति है और उसका निमित्त कारण प्रकृति तथा पुरुष का संयोग है । योगदर्शन में भी सांख्य जैसी ही मान्यता है । यद्यपि वह ईश्वरवादी दर्शन है, तथापि जगत् की सृष्टि में उसकी कोई उपयोगिता इस दर्शन में नहीं दिखाई पड़ती । शांकर वेदान्त के अनुसार तो सृष्टि-प्रलय कार्य में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं है जिसकी वह सहायता लेगा। सत्यता यह है कि जगत् की सृष्टि के लिए ब्रह्म में अज्ञान की भी कल्पना की जाती है, वह जगत् जो वेदान्त की दृष्टि से वस्तुतः ब्रह्म से पृथक् नही मानता। सूर्य की किरणों के सम्पर्क से चमकती हुई बलुही भूमि में प्रतीयमान जल उस भूमि से पृथक कहीं है क्या? रस्सी में प्रतीयमान सर्प की उससे पृथक् अपनी कोई सत्ता नहीं होती । इसी प्रकार ब्रह्म रूप अधिष्ठान में प्रतीयमान जगत् की उससे पृथक् कोई सत्ता नहीं है । वेदान्त जगत को 'विवर्त'- असत् या काल्पनिक परिणाम- की संज्ञा देता है। जिस अज्ञान की दृष्टि से जगत् है, सृष्टि है, उसी के अनुरोध से वेदान्त-श्रुतियाँ उसके कारण रूप से ब्रह्म में अज्ञान की कल्पना करती हैं । उसकी दृष्टि से वस्तुतः न तो उतपत्ति है, न प्रलय है, न कोई बन्धन में है, न कोई बन्धन से मुक्त होने की इच्छा से साधना करता है और न ही कोई मुक्त होता है।[1] ईश्वर की जगत्-कारणता का प्रतिपादन करने के अनन्तर उससे उत्पन्न होने वाले जगत् रूप कार्य की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कहते हैं – "**तमः प्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यादाकाशः, आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतेः । तेषु**

---

[1] मुण्डकोपनिषद १/१/७

[1] न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।

न मुमुक्षर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ मा. का. २/३२

जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य । तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते । एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते । एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते।"

अर्थात् तमः प्रधान एवं विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से आग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी उत्पन्न होती है, उस अर्थात् सर्व-प्रसिद्ध इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ- इत्यादि श्रुति से यह बात प्रमाणित होती है । उन आकाश इत्यादि में जड़ता की अधिकता दिखाई पड़ने से उसके कारण अज्ञान में तमोगुण की प्रधानता मानी जाती है । उस समय अर्थात् सृष्टि-काल में उन आकाश इत्यादि में सत्त्व, रजस् तथा तमस् कारण में रहने वाले गुणों के न्यूनाधिक्य के अनुपात से उत्पन्न होते है (अर्थात् इनमें भी तमोगुण की अधिकता, तथा सत्त्व एवं रजोगुण की न्यूनता उत्पन्न हो जाती है) । ये आकाशादि ही सूक्ष्मभूत, तन्मात्र और अपञ्चीकृत कहे जाते हैं । इनसे सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल अर्थात् पञ्चीकृत महाभूत उत्पन्न होते हैं । यहां रामतीर्थ ने जाड्याधिक्यदर्शनात् के सन्दर्भ में कहा है कि आधिक्य शब्द से भूतों और उनके कार्यों में चैतन्य की भी कुछ अनुवृत्ति या उपस्थिति सूचित होती है ।"जगत् के समस्त पदार्थों में रहने वाले अस्तित्व, प्रकाशन या स्फुरण, प्रियत्व, रूप तथा नाम- इन पाँच धर्मों में से प्रथम तीन अर्थात् सत्ता, चैतन्य तथा आनन्द स्पष्ट ही ब्रह्म के तथा शेष दो अर्थात् नाम और रूप तमः प्रधान अज्ञान या माया के प्रतीक हैं।[1] 'आकाशः सम्भूत' से तात्पर्य पृथिवी, जल इत्यादि अन्य चारों की तरह की आकाश की भी उत्पन्न होता है 'कारणगुणप्रक्रमे' के सन्दर्भ में रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरञ्जनी टीका में कहा है- **'कारणस्याव्यक्तस्य ये गुणाः सत्त्वादयस्तेषां प्रक्रमेण तान् गुणानरभ्य यथाकार्यक्रमं सत्त्वादिगुणाः सहैव कार्यस्तेषूत्पद्यन्त इत्यर्थः**"। अर्थात् अव्याकृत अवस्था में अज्ञान में सत्त्वादि गुणों का जो प्रक्रम अर्थात् न्यूनाधिक्य या तारतम्य होता है, उसी के अनुसार आकाशादि कार्यों में भी ये गुण उत्पन्न हो जाते है । जैसे-जैसे आकाश इत्यादि कार्य उत्पन्न होते हैं, वैसे-वैसे उन कार्यों के साथ उनके कारण-भूत अज्ञान में रहने वाले सत्त्वादि तीनों गुण भी न्यूनाधिकता के अनुपात से उत्पन्न होते हैं। अज्ञान में तमस् की प्रधानता तथा सत्त्व-रजस् की न्यूनता रहती है। इसी के अनुसार आकाश इत्यादि कार्यों में भी तमस् की अधिकता तथा सत्त्व–रजस् की न्यूनता रहती है । अव्याकृत अज्ञान से जिन आकाश आदि की उत्पत्ति कही गयी है, वे सूक्ष्मभूत हैं जिन्हें अन्यत्र तन्मात्र भी कहते हैं । ये भूत अपञ्चीकृत अवस्था के होने के कारण सूक्ष्म होते हैं ,स्थूल नहीं । स्थूलता तो पञ्चीकृत अर्थात् पाँचों के परस्पर मिश्रण के अनन्तर ही आती है, तभी वे महाभूत कहे जाते है। इसी से वेदान्त में जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति नाम की दो प्रकार की मुक्ति मानी गयी हैं। ज्ञान हो जाने के बाद भी प्रारब्ध भोग के लिए शरीर कुम्हार के चक्र के समान पूर्वप्रेरित गति के कारण

[1] वाक्यसुधा, २०

चलता रहता है। शरीर छूटने पर ज्ञानी विदेह मुक्ति प्राप्त करता है। यह तब तक चलता रहेगा जब तक मनुष्य को ज्ञान नही हो जाता। आचार्य शंकर जीवन में ज्ञान को अद्वैत ज्ञान की परम साधना मानते हैं, क्योंकि ज्ञान समस्त कर्मों को जलाकर भस्म कर देता है। सृष्टि का विवेचन करते समय कि इसकी उत्पत्ति कैसे होती है? वे इसका मूल कारण ब्रह्म को मानते हैं। वह ब्रह्म अपनी 'माया' शक्ति के सहयोग से इस सृष्टि का निर्माण करता है, ऐसी उनकी धारणा है। लेकिन यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि शक्ति और शक्तिमान एक ही हैं। दोनों में कोई अंतर नहीं है। इस प्रकार सृष्टि के विवेचन से एक बात और भी स्पष्ट होती है कि परमात्मा को सर्वव्यापक कहना भी भूल है, क्योंकि वह सर्वरूप है। वह अनेकरूप हो गया, 'यह अनेकता है ही नहीं', 'मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ' अद्धैत मत का यह कथन संकेत करता है कि जीव ही ब्रह्म है अन्य नही।[1]

यहां शंका उत्पन्न हो सकती है ज्ञान क्या है एवं इसे प्राप्ति का साधन है। वेदांत में वास्तविकता एवं भ्रम को ठीक ठीक जानने को ज्ञान कहा गया है। फलतब्रह्म और अविद्या का ज्ञान ही **विद्या** कहा जाता है। अद्वैत वेदांत में ज्ञान ही मोक्ष का साधन माना गया है, अतएव विद्या इस साधन का एक अनिवार्य अंग है। विद्या का मूल अर्थ है सत्य का ज्ञान, परमार्थ तत्व का ज्ञान या आत्मज्ञान। अद्वैत वेदांत में परमार्थ तत्व या सत्य मात्र ब्रह्म को स्वीकार किया गया है। ब्रह्म एव आत्मा में कोई अंतर नहीं है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। अस्तु, विद्या को विशिष्ट रूप से आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या भी कह सकते हैं। विद्या के दो रूप कहे गए हैं - **अपरा विद्या**, जो निम्न केटि की विद्या मानी गई है, सगुण ज्ञान से संबंध रखती है। इससे मोक्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता। मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र साधन **पराविद्या** है। इसी को आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। अविद्याग्रसत जीवन से मुक्ति पाने के लिए एवं अपने रूप का साक्षात्कार करने के लिए परा विद्या के अंग हैं। यदि अपना विद्या प्रथम सोपान है, तो परा विद्या द्वितीय सोपान है। साधन चतुष्टय से प्रारंभ करके, मुमुक्षु **श्रवण**, **मनन** एवं **निधिध्यासन**। यह त्रिविध मानसिक क्रियाओं का क्रमिक नियमन करता है। वह वाक्य का श्रवण करने के बाद "तत्वमसि", मनन की प्रक्रिया से गुजरते

[1] ज्ञानमिति च देहेन्द्रियनिग्रह सदरूपासनश्रवणमननिदिध्यासनैर्यद्यद्दृग्दृश्यस्चरूपं सर्वान्तरस्थं सर्वसमघटपदादिपदार्थ इवाविकारं विकारेषु चैतन्यं विना किचिन्नास्तीति साक्षात्कारानुभवो ज्ञानम्। अज्ञानमिति च रज्जौ सर्वभ्रान्तिरिवाद्वितीये सर्वानुस्यते सर्वमये ब्रह्मणि देवतिर्यङ्नस्थावर स्त्रीपुरूषवर्णाश्रमबन्धमोक्षोपाधिनानात्म-भेदकल्पितं ज्ञानमज्ञानम्। -निरालम्बोपनिषद् २३-२४

हुए, ध्यान या समाधि अवस्था में प्रवेश कर जाता है, जहाँ उसे का बोध हो उठता है। यही ज्ञान परा "मैं ही ब्रह्म हूँ" विद्या कहलाता है। ज्ञान प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम ज्ञान का अधिकारी होना आवश्यक है। अधिकारी वही होता है, जिसमें निम्नलिखित चार गुण हों– नित्यानित्यवस्तु विवेक, इहामुत्रविराग फलभोग ,शमदमादि एवं मुमुक्षत्व । इन गुणों से युक्त होकर जब जिज्ञासु गुरु का उपदेश सुनता है, तब उसे ज्ञान हो जाता है। कभी श्रवण मात्र से ज्ञान हो जाता है परन्तु वह असाधारण जीवों को ही होता है। साधारण जीव श्रवण के उपरान्त मनन करते हैं। मनन से ब्रह्म के विषय में या आत्मा के विषय में या ब्रह्मात्मैक्य के विषय में जो बौद्धिक शंकाएं होती हैं, उनको दूर किया जाता है और जब बुद्धि शंकामुक्त होकर स्थिर हो जाती है तभी ध्यान या निधिध्यासन सम्भव होता है। कर्म से अविद्या का नाश नहीं होता, क्योंकि कर्म स्वयं अविद्याजन्य है। कर्म और उपासना से बुद्धि शुद्ध होकर ज्ञान के योग्य होती है। इसी से इन दोनों की उपयोगिता तो मानी गई है, परन्तु मुक्ति ज्ञान या अविद्या नाश से ही होती है।[1] मुक्ति के उपरान्त कर्म और उपासना की आवश्यकता नहीं रहती। फिर भी मुक्त पुरुष जनकल्याण के लिए या ईश्वरादेश - की पूर्ति के लिए कर्म कर सकता है।

माण्डूक्य उपनिषद् में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि आत्मा ही ब्रह्म है। वह यह आत्मा चार पादों वाला है. यह उपनिषद् चेतना की चार अवस्थाओं – जाग्रत, स्वप्न, प्रगाढ़ निद्रा और प्रकाशमय चेतन का विश्लेषण कर यह प्रतिपादित करती है कि इनमें से अन्तिम शेष तीन का आधार है। आत्मा का प्रथम पाद 'वैश्वानर' है जो जाग्रत् अवस्था या ब्रह्म के प्रकटीभूत रूप को दर्शाता है। इस अवस्था में आत्मा स्थूल विषयों का भोक्ता है। स्वप्न जिसका स्थान है तथा जो अन्त:प्रज्ञ है और सूक्ष्म विषयों का भोक्ता है, वह तैजस आत्मा का दूसरा पाद है। जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष किसी भोग की इच्छा नहीं करता और न स्वप्न ही देखता है उसे सुषुप्ति कहते हैं. वह सुषुप्ति जिसका स्थान है तथा जो एकभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय, आनन्द का भोक्ता और चेतनारूप मुख वाला है वह प्राज्ञ ही आत्मा का तीसरा पाद है। अपने स्वरूप में स्थित यह प्राज्ञ ही सर्वेश्वर है, सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है और समस्त जीवों की उत्पत्ति तथा लय का स्थान होने के कारण यह सबका कारण भी है। विभु विश्व बहिष्प्रज्ञ है, तैजस

[1] अविद्याध्यस्तानि हि कर्माणि तत्समुच्छेदे विद्यया समुच्छिन्नान्येव भवन्ति। तद्विपाकस्यवकाश एव नास्त्यद्वैतमातत्त्वं पश्यतः। भेददर्शनत्वात् तस्य। - ब्र.सि,पृ१९९

अन्त:प्रज्ञ है तथा प्राज्ञ घनप्रज्ञ (प्रज्ञानघन) है। इस प्रकार एक ही आत्मा तीन प्रकार से कहा जाता है। विश्व सर्वदा स्थूल पदार्थों को ही भोगने वाला है, तैजस सूक्ष्म पदार्थों का भोक्ता है तथा प्राज्ञ आनन्द को भोगने वाला है। यह सुनिश्चित बात है कि जो पदार्थ विद्यमान होते हैं उन्हीं सबकी उत्पत्ति हुआ करती है। बीजात्मक प्राण ही सबकी उत्पत्ति करता है और चेतनात्मक पुरुष चैतन्य के आभासभूत जीवों को अलग-अलग प्रकट करता है. सृष्टि के विषय में विचार करने वाले दूसरे लोग भगवान् की विभूति को ही जगत् की उत्पत्ति मानते हैं तथा दूसरे लोगों द्वारा यह सृष्टि स्वप्न और माया के समान मानी गयी है। कोई-कोई सृष्टि के विषय में ऐसा निश्चय रखते हैं कि 'प्रभु की इच्छा ही सृष्टि है'. काल के विषय में विचार करने वाले ज्योतिषी लोग काल से ही जीवों की उत्पत्ति मानते हैं. कुछ लोग 'सृष्टि भोग के लिए है' ऐसा मानते हैं और कुछ 'क्रीडा' के लिए है' ऐसा समझते हैं। परन्तु वास्तव में तो यह भगवान् का स्वभाव ही है। क्योंकि पूर्णकाम को इच्छा ही क्या हो सकती है। आत्मा का चौथा पाद सम्पूर्ण शब्द प्रवृत्ति के निमित्त से रहित है। अत: शब्द से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता. अत: आत्मा के चौथे पाद 'तुरीय' के स्वरूप का वर्णन करना कठिन है. फिर भी विवेकीजन तुरीय को ऐसा मानते हैं कि वह न अन्त:प्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयत: (अन्तर्बहि:) प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। बल्कि अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, एकात्म प्रत्ययसार, प्रपंच का उपशम, शान्त, शिव और अद्वैत् रूप है. वही आत्मा है, वही साक्षात् जानने योग्य है. तुरीय आत्मा सब प्रकार के दु:खों की निवृत्ति में समर्थ है[1]

आचार्य शंकर ने माया , अविद्या , अध्यास , अध्यारोप , भ्रान्ति , विवर्त , भ्रम , नामरूप , अव्यक्त, मूलप्रकृति आदि शब्दों का एक हि अर्थों मे प्रयोग किया है। यहां पर यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि माया का आश्रय स्थल कहाँ रहता है। इस शंका समाधान करते आचार्य ने बताया है कि माया ब्रह्म में निवास करती है। माया का आश्रय ब्रह्म ही है। यदि माया का आश्रय ब्रह्म है तो ब्रह्म माया से प्रभावित क्यों नही होता? इस शंका समाधान करते हुए एक उदाहरण के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है जैसे जादूगर जादू की प्रवीणता से स्वयं प्रभावित नहीं करता उसी तरह ब्रह्म प्रभावित नही होता। ब्रह्म अनादि है उसी प्रकार उसमे निवास करने वाली माया भी

[1] http://upanishad.vishwahindusamaj.com/hindi/2008/01/10.html

अनादि है ,दोनो में तादात्म्य सम्बन्ध है। माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके आधार पर वह विश्व का निर्माण करता है। माया के कारण ही निष्क्रीय ब्रह्म सक्रीय हो जाता है। माया सहित ब्रह्म ही ईश्वर है। सांख्य दर्शन की प्रकृति के समान ही माया भी त्रिगुणात्मक, भौतिक ,अचेतन एवं जड़ है। माया को प्रकृति भी कहते है। यह त्रिगुणात्मक है। सत्व, रज और तम ये तीनों इसके गुण है। सत्व गुण सौम्य है, इसमें शान्ति प्रसन्नता, ज्ञान और वैराग्य है। रजोगुण घोर है, इसमें तृष्णा, कर्मभोग और दु:ख है। तमोगुण में जड़ता और मूढ़ता है। इन तीनों गुणो के अति सूक्ष्म मिश्रण से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी का आर्विभाव हुआ। इन सब में तीनों गुणों का होना स्वाभाविक है। सूक्ष्म पंचभूतों के सत्त्वांश से पञ्च ज्ञानेन्द्रियों और अन्त:करण उत्पन्न हुए और उनके रजवांश से पाँच कर्मेन्द्रियाँ और प्राण उत्पन्न हुए। जब उनके तमसांश का पंचीकरण होता है तब स्थूल पंचमहाभूत बनते है , जगत् की रचना होती है और चराचर प्राणियों के शरीर निर्मित होते है। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् मायाकृत है। माया मोक्ष प्राप्ति मे बाधक है क्योंकि मोक्ष प्राप्ति तभी संभव हो सकती है जब अविद्या का जो कि माया का ही रूप है का अंत हो जाए।

जीव ब्रह्म ही है किन्तु वह अविद्या के कारण वह खुद को बंधन ग्रस्त पाता है। माया अपने आवरण शक्ति की वजह से ब्रह्म को ढक लेती है और विक्षेप शक्ति के कारण उसके स्थान पर नाना रूपात्मक जगत की प्रतीति कराती है। सत्य पर पर्दा डालना और असत्य को प्रस्थापित करना माया के दो मुख्य कार्य हैं। माया अध्यास (superimposition) रूप है। जहाँ जो वस्तु नहीं है वहाँ उस वस्तु को कल्पित करना अध्यास कहा जाता है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार रस्सी मे साँप का आरोपण होता है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में जगत अध्यासित होता है । दूसरा माया ब्रह्म का विवर्त मात्र है जो व्यावहारिक जगत मे दिख पड़ता है वह ब्रह्म का विवर्त्त मात्र है। तीसरा माया ब्रह्म की शक्ति है जिसके आधार पर वह नाना रूपात्मक जगत का खेल प्रदर्शन करता है। चौथा माया अनिर्वचनीय है क्योंकि माया ना हि सत् है ना ही असत्, ना ही दोनों। पांचवा माया का आश्रय स्थल ब्रह्म है किन्तु ब्रह्म माया की अपूर्णता से अछूता रहता है। छठा माया अस्थायी है, इसका अंत ज्ञान से हो जाता है। जैसे ज्ञान होता है प्रकाश के आने से सर्प का अंत हो जाता है और मात्र रस्सी शेष रह जाता है। सातवां माया अव्यक्त और भौतिक है। आठवां माया अनादि है ,उसी से जगत की सृष्टि होती है। ईश्वर की शक्ति होने से माया ईश्वर के समान अनादि है।

नौवां माया भावरूप है (निषेधात्मक नहीं) क्योकि माया के द्वारा हि ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व का प्रदर्शन करता है एवं माया के कारण विश्व प्रस्थापित होता हुआ प्रतित होता है।

इसी सन्दर्भ में शंकराचार्य ने जीवन की तीन दृष्टियों का उल्लेख करते हुए बताया है कि- प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक। आकाश की तल - मलिनता मरुस्थल का जल आदि मिथ्या होने पर भी अज्ञान के कारण सत्य भासित होते है। इसे प्रातिभासिक सत्य कहते हैं। जीव को अज्ञान की अवस्था में जगत् सत्य भासित होता है और उसे परमात्मा का अनुभव नहीं होता। यह व्यावहारिक सत्य है। ज्ञान उदय होने पर जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य अनुभव में आ जाता है। यह पारमार्थिक सत्य है। इस दृष्टि से सर्वत्र एक ब्रह्म ही है। उसके अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि में ईश्वर, जीव और जगत् तीनों है। ईश्वर जगत् की रचना करता है और जीव के शुभाशुभ कर्मों का फल देता है। जीव ईश्वर के अधीन रहकर शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता है और पुनर्जन्म के चक्र में पड़ता है। आत्मा और ब्रह्म की एकता अथवा अभिन्नत्व दिखाने के लिए उपनिषदों ने कहा है- 'तत्वमसी' (तुम वही हो)। इसी कारण से ज्ञान होने पर 'सोऽहमस्मि' मैं वही हूँ का अनुभव होता है। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर स्वप्न में सूक्ष्म शरीर और सुषुप्ति में कारण शरीर रहता है। सुषुप्ति में चेतना भी रहती है, परन्तु विषयों का ज्ञान न होने के कारण जान पड़ता है कि सुषुप्ति में चेतना नहीं रहती। यदि सुषुप्ति में चेतना न होती तो जागने पर कैसे हम कहते कि सुखपूर्वक सोया? वहाँ चेतना साक्षीरूप या शुद्ध चैतन्य रूप है। परन्तु सुषुप्ति में अज्ञान रहता है। इसी से शुद्ध चेतना के रहते हुए भी सुषुप्ति मुक्ति से भिन्न है मुक्ति की अवस्था में अज्ञान का नाश हो जाता है। शुद्ध चैतन्य रूप होने के कारण ही कहा गया है कि आत्मा एक है और ब्रह्मस्वरूप है। चेतना का विभाजन नहीं हो सकता है। जीवात्मा अनेक हैं, परन्तु आत्मा एक है, यह दिखाने के लिए उपमाओं का प्रयोग होता है। जैसे आकाश एक है परन्तु सीमित होने के कारण घट या घटाकाश अनेक दिखाई पड़ता है, अथवा सूर्य एक है, किन्तु उसकी परछाई अनेक स्थलों में दिखाई पड़ने से वह अनेक दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार यद्यपि आत्मा एक है फिर भी माया या अविद्या के कारण अनेक दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए उदाहरण के लिए जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने पुत्र के लिए पिता, पत्नी के लिए पति, रेल में यात्रा करने पर यात्री, उपासना करने पर भक्त, मांग कर खाने पर भिखारी आदि कहलाता है। यह

व्यक्ति की उपाधियां हैं जिससे उसको विभिन्न नाम दे दिये गये हैं। किंतु वास्तव में वह व्यक्ति तो एक ही है। इसी प्रकार माया की उपाधि के कारण उसे 'ईश्वर' कहा जाता है। वह इसी मायाशक्ति से सृष्टि की रचना करता है, वह इस माया का अधिपति व स्वामी है जो उसी के संकल्प के अनुसार नियम व अनुशासन में रह कर कार्य करती है इसलिए ईश्वर को सर्वेसर्वा माना जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म की वही चेतना शक्ति शरीर में 'आत्मा' कहलाती है। शरीर से आबद्ध होने के कारण ही उसे 'आत्मा' कह दिया जाता है। जिस प्रकार समुद्र के जल और कुएं के जल में कोई अंतर नहीं है, घटाकाश और महाकाश में कोई अंतर नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म की वही चेतनाशक्ति शरीर में आत्मा है। यह आत्म-चेतना जब माया-शक्ति रूपी अज्ञान से आवृत्त होती है, तो वह ईश्वर और आत्मा में भेद करती है तथा अपने को जीव कहने लगती है। जब इस अज्ञान का आवरण हट जाता है, तभी अनुभव होता है कि जीव,आत्मा, ईश्वर और ब्रह्म एक ही चेतन तत्त्व है।

ईशावास्योपनिषद् के अनुसार जगत् में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है। भगवान् पूर्ण हैं और चूँकि वे पूरी तरह अखण्ड हैं, अतएव उनके सारे उद्भव, तथा यह व्यवहार जगत् पूर्ण के रूप में परिपूर्ण है। पूर्ण से जो कुछ उत्पन्न होता है वह भी अपने में पूर्ण होता है। (ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते. पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते) ब्रह्म अपनी पूर्णता को खोये बिना जगत् का आधार है। सभी विशेषताओं से रहित होते हुए भी ब्रह्म जगत् का मूल कारण है। यदि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु से अलग टिक नहीं सकती तो दूसरी वस्तु उसका सार होती है। कारण का कार्य से पहले होना तर्कसिद्ध है। जिस प्रकार पृथिवी की वनस्पतियों को पृथिवी से अलग करके देखना अज्ञान का द्योतक है वैसे ही जगत् को परमेश्वर से अलग करके स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में देखना अज्ञान का कार्य है। जगत् ईश्वर की, सक्रिय प्रभु की रचना है.जगत् ईश्वर में और ईश्वर जगत् में समाया हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म को 'तज्जलान्' कहा गया है, अर्थात् वह (तत्) जो जगत् को जन्म देता है (ज), अपने में लीन कर लेता है (ला) और कायम रखता है (अन्) जगत् ब्रह्म में से आता है और ब्रह्म में लौट जाता है। जगत् ईश्वर की माया की शक्ति द्वारा रचा गया है, पर व्यक्तिगत आत्मा को माया ने अविद्या या अज्ञान में बाँध रखा है। 'प्रकृति' को ईश्वर की माया कहा गया है।

गौड़पाद ने अपनी कारिकाओं के माध्यम से जिस सिद्धांत को बीजरूप में प्रकट किया, उसे परवर्ती आचार्य परम्परा के विद्वान शंकराचार्य ने अपने ग्रंथों में विस्तृत रूप से समझाकर विश्वजनमानस के सम्मुख प्रस्तुत किया। कारिका के माध्यम से उन्होंने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसे 'अजातिवाद' कहते हैं। अजातिवाद सिद्धांत को उन्होनें ४८ वीं कारिका में बताया हैं कि कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता। यहां शंका उत्पन्न हो सकती है क्यों उत्पन्न नही हो सकता ? इसके समाधान में कहा गया कि उसका कोई कारण नहीं होता है। जिस प्रकार अजन्मा ब्रह्म में किसी की उत्पत्ति नहीं होती इसलिए वह सर्वोत्तम सत्य है[1] किन्तु सृष्टि की वास्तविकता के सन्दर्भ में श्रुतियों में सृष्टि विषयक वाक्यों का अर्थ नही किया गया है। क्योंकि वाक्य भविष्यद् वत्ति से गौण हैं।[1] वास्तव में श्रुतियां अजातिवाद का ही उपदेश करती है। इसका हमें उपनिषदों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि **'नेह नानास्ति किंचन', -'नेति-नेति'** तथा **'नायं कुतश्चिन्न बभुव कश्चित्'** इत्यादि। इसी प्रकार तर्कत: भी यह कहा जा सकता है कि असत् (आकाशकुसुम) की तो किसी भी प्रकार उत्पत्ति नहीं हो सकती। उत्पत्ति सत्-रूप की ही हो सकती है, किन्तु उसकी उत्पत्ति मायाजन्य से हो सकती है, तात्त्विक दृष्टि से नहीं। तत्त्व को भी उत्पन्न नही किया जा सकता। यथार्थतः तत्त्व को एक दूसरे तत्त्व से उत्पन्न नही किया जा सकता है और न उसकी उत्पत्ति असत् से हो सकती है। माया से जब तक मन का स्पन्दन होता रहता है, तब तक वह द्वैत प्रतिभासित होता है[2] किन्तु जब वह अपने भाव को प्राप्ति होता है, तब हमें द्वैत की उपलब्धि नहीं होती है।[3] इसी प्रसंग में गौड़पाद ने अपने भाव तथा अस्पर्श-योग का वर्णन किया है।[4] ब्रह्म की प्राप्ति चित्त के लय हो जाने पर या मन का नाश हो जाने से होती है। ब्रह्म प्राप्ति का साधन अस्पर्श योग है, जिसका अर्थ है मायाजन्य जगत का सर्वथा अछूता रहना, अस्पष्ट रहना या माया का हट जाना है।

---

[1] न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥ मांडुक्योपनिषद ४/४८ गौडपादभाष्य

[1] न हि सावयवं घटादि कदेशेन स्फुटनधर्मि नित्यं दृष्टं लोके इत्यर्थः। विदीर्णं च स्यादेकदेशेनाजं नित्यं चेत्येतत् विप्रतिषिद्धं तैरभिधीयत इत्यभिप्रायः॥
कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते । जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् ॥ मांडुक्योपनिषद ५/११-१२, गौडपादभाष्य

[2] न हि वन्ध्यापुत्रो मायया तवतो वा जायते। तस्मादत्रासद्वादो दूरत वानुपपन्न इत्यर्थः॥ यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः । तथा जाग्रद्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ॥ मांडुक्योपनिषद ४/२९, गौडपादभाष्य

[3] अत व अभयः विक्रियाभावात्॥ ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ॥ मांडुक्योपनिषद ४/३८

[4] अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिणाम् । योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥ मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिणाम् । दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥ मांडुक्योपनिषद ४/३९-४१ गौडपादभाष्य

वेदान्त परम्परा में सृष्टि के विषय में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न मतों का प्रस्फुटन हुआ है। कोई काल से सृष्टि का सृजन मानता हैं, कोई भगवान के संकल्प से, कोई परिणामवाद से मानता हैं तो कोई आरम्भवादी का समर्थक है। किंतु गौड़पाद के सिद्धांतानुसार जगत की उत्पत्ति होती ही नहीं है। इनकी दृष्टि में अखण्ड चिदघन सत्ता ही मोहवंश प्रपञ्चवत भास रही है। यही बात आचार्य इन शब्दों में कहते हैं-

"मनोदृश्यमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थ:।

मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥"[1]

अर्थात् यह जितना 'द्वैत' है वह सब मन का ही दृश्य है। परमार्थत: तो अद्वैत ही है, क्योंकि मन के मननशून्य हो जाने पर द्वैत की उपलब्धि नहीं होती। आचार्य इसके सन्दर्भ कहा है-

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक:।

न मुमुक्षर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥"[1]

अर्थात् सत्, असत् अथवा सदसत् से किसी भी प्रकार से प्रपञ्च की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। पारमार्थिक दृष्टि से इनकी न उत्पत्ति है, न प्रलय है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है अर्थात अद्वैत की अवस्था में है। पारमार्थिक दृष्टि से हम इनमें न द्वित्व स्थापित कर सकते है नही बहुत्व की सत्ता स्वीकार कर सकते है। इनकी दृष्टि में अद्वैत मत के विरुद्ध कल्पनाओं का अधिष्ठान, सर्वगत, असंग, अप्रमेय और अविकारी आत्मतत्त्व है वही एक मात्र सत् वस्तु हैं। माया के कारण रज्जू में सर्प, शुक्ति में रजत और सुवर्ण में आभूषणादि की प्रतिती के समान उस सर्वसंगशून्य परम तत्त्व के निर्विशेष चित्तत्त्व में ही समस्त चराचर पदार्थों की प्रतीति हो रही है। गोडपाद ने अपने अद्वैत प्रकरण में तर्क और दृष्टांत की सहायता से अद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ उन्होनें आत्मा की तुलना आकाश से की है। इसे वह सून्दर उदाहरण से समझाने का प्रयास किया है जैसे आकाश सर्वव्यापी, समान, अविकारी तथा एक है, वैसे ही आत्मा है। जीव घटाकाश के समान है न कि आत्मा का विकार या अवयव।[2] जैसे घट

---

[1] मांडुक्योपनिषद ४/३१ गौडपादभाष्य

[1] मांडुक्योपनिषद ४/,३२ गौडपादभाष्य

[2] इत च वैतथ्यं जाग्रद्दृश्यानां भेदानाम् आद्यन्तयोरभावात्, यदादावन्ते च नास्ति वस्तु मृगतृ॑ष्णकादि, तन्मध्येऽपि नास्तीति निचितं लोके; तथेमे जाग्रद्दृश्या भेदाः आद्यन्तयोरभावात् वितथ्ो॑रेव मृगतृ॑ष्णकादिभिः सदृशत्वाद्वितथा व; तथापि अवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्मविद्धि॥ सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते । तस्मदाद्यन्तदकवेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ मांडुक्योपनिषद ३/,७ गौडपादभाष्य

के फूट जाने पर घटाकाश और बाह्यकाश की एकता या अद्वैत स्पष्ट हो जाता है, वैसे ही अज्ञान के नष्ट हो जाने पर आत्मा, जीव और ब्रह्म में अद्वैत स्पष्ट हो जाती है। कारण शरीर,सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरादि संघात मायाजन्य स्वप्न के समान हैं। श्रुति में उत्पत्ति बोधक वाक्य गौण हैं।[1] मृत्तिका, लौह, विस्फुलिंग आदि के उदाहरण ब्रह्म और जीव में अद्वैत दिखाने के लिए इनका प्रतिपादन हुआ है। अद्वैत तत्त्व तो केवल ज्ञानगम्य माना गया है। मताविशेष पर आग्रह करने के कारण द्वैतवादियों का आपस में विरोध होता है, उनसे अद्वैतवाद का क्या विरोध हो सकता है, जबकि अद्वैतवाद के लिए सभी प्रकार के भेद मिथ्या हैं।[1] द्वैत तो व्यवहार क्षेत्र का विषय है और वह केवल माया के कारण आभासित होता है। आत्मा का न जन्म है, न मृत्यु है और आत्मा एक है। किसी भी वस्तु का जन्म माया से हो सकता है, तात्त्विक दृष्टि से नहीं है।[2]

रामानुज की दृष्टी में यदि ब्रह्म एक विशिष्ट है, जिसमें जीव और जगत् विशेषण रूप से स्थित हैं तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इनका पारस्परिक संबंध किस प्रकार का है? इसकी व्याख्या के लिए रामानुज देहात्म भाव की सहायता लेते हैं। ब्रह्म आत्मा या केन्द्रीभूत तत्व है। जीव और जगत् ब्रह्म के देह हैं। ब्रह्म, जीव और जगत् तीनों सत्य हैं, भिन्न हैं, परन्तु केवल ब्रह्म स्वाधीन है तथा जीव और जगत् ब्रह्मधीन एवं ब्रह्म नियंत्रित हैं। जीव और जगत् किस अर्थ में ब्रह्म के देह हैं, यह स्पष्ट करने के लिए रामानुज देह की निम्नलिखित परिभाषा देते हैं- 'देह वह द्रव्य है, जिसे एक चेतन आत्मा अपने प्रयोजन हेतु धारण करती है, नियंत्रित करती है, कार्य में प्रवृत्त करती है और जो पूर्णतया उस आत्मा के अधीनस्थ रहती है।' इस दृष्टि से समस्त जीव- जगत् ब्रह्म के देह हैं , क्योंकि वे ब्रह्म पर आधारित,

---

[1] यद्युक्तितः श्रुतित च निर्धारितं जीवस्य परस्य चात्मनोऽनन्यत्वम् अभेदेन प्रशस्यते स्तूयते शास्त्रोण व्यासादिभि च, यच्च सर्वप्राणिसाधारणं स्वाभाविकं शास्त्रबहिमुखैः कुताककैर्विरचितं नानात्वदर्शनं निन्द्यते, ' न तु तद्वितीयमस्ति ' ' द्वितीयाद्वै भयं भवति ' ' उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति ' ' इदं सव यदयमात्मा ' ' मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ' इत्येवमादिवाक्यैरन्यै च ब्रह्मविोद्भिः यच्चैतत्, तदैवं हि समञ्जसम् ज्ववबोधं न्याय्यमित्यर्थः। यास्तु तार्किकपरिकल्पिताः कुदृष्टयः, ताः अनृज्व्यो निरूप्यमाणा न घटनां प्राञ्चन्तीत्यभिप्रायः॥ जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम् । भविष्यद्वृया गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ॥ मांडुक्योपनिषद ४/,१४ गौडपादभाष्य

[1] उपासना उपदिष्टा इयं तदथÈ मन्दमध्यमदृष्ट्याश्रमाद्यथा कर्माणि च। न चात्मैक वाद्वितीय इति निर्ि चतोत्तमदृष्टयर्थम्। दयालुना वेदेनानुकम्पया सन्मार्गगाः सन्तः कथमिमामुत्तमामेकत्वदृोंष्ट प्राप्नुयुरिति, ' यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ' ' तत्त्वमसि ' ' आत्मैवेदं सर्वम् ' इत्यादिश्रुतिभ्यः॥ स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् । परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ॥ मांडुक्योपनिषद ४/,१७ गौडपादभाष्य

[2] उपायस्योपेयनिष्ठतामजानत उपायत्वेन व्याख्यातस्य उपेयवद्ग्राह्यता मा भूदिति अग्राह्यभावेन हेतुना कारणेन निनुत इत्यर्थः। तत चैवमुपायस्योपेयनिष्ठतामेव जानत उपेयस्य च नित्यैकरूपत्वमिति तस्य सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्वं प्रकाशते स्वयमेव॥ सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तवतः । तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥ मांडुक्योपनिषद ४/,२७ गौडपादभाष्य

ब्रह्म के द्वारा नियंत्रित एवं ब्रह्म के अधीनस्थ रहते हैं। ब्रह्म और जीव-जगत् के इस विशिष्ट संबंध को रामानुज अपृथक्सिद्ध के नाम से पुकारते हैं, जिसमें पूर्ण तादात्म्य और पूर्ण भेद दोनों का निषेध किया गया है। विशिष्ट वेदान्त परम्परा में जीव की नित्य तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठा स्वीकार की है । इसलिए आवरण के सन्दर्भ में अद्वैत वेदान्त परम्परा सम्म्मत अर्थ पर सहमत नही है। इसके सन्दर्भ में रामानुज ने कहा है कि अज्ञान से ज्ञानविरोधि पूर्वकर्म का और आवृत्त से संकुचित का अर्थ आता है जिससे अनुभवनीय प्रारब्ध कर्म द्वारा ज्ञान के द्वारा देवादि के विविध देहों (शरीरों का) का संयोग मिलता है और उन देहों में आत्माभिमानरूप मौह उत्पन्न हो जाता है। उस आत्माभिमानवासना द्वारा विपरित आत्माभिमान और तद्नुसार कर्मो का जन्म होता है।[1] कर्मो के अनुसार स्थूल देह फलों का उपभोग करता है।

तात्पर्यचन्द्रिका टीका में वेदान्तदेशिक ने विष्णुपुराण का उद्धरण देकर भाष्यार्थ के अनुसार क्षेत्रशक्ति तथा क्षेत्रज्ञशक्ति की अपेक्षा कर्म की तृतीय शक्ति क्षेत्रशक्ति होती है जिससे क्षेत्रज्ञशक्ति या जीव की स्वरूप शक्ति आवृत होकर निरन्तर एवं विविध सांसारिक ताप (दुःख) प्राप्त करता है। अर्थात् सूक्ष्म शरीर के से युक्त होकर जन्म-जन्मान्तर पुनर्जन्म लेता रहता है। कर्मशक्ति द्वारा तिरोहित होने से क्षेत्रज्ञशक्ति विविध प्राणियों में तारतम्य से विविधता लेती है अर्थात कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मशक्ति के अनुसार जीव युक्त सूक्ष्म शरीर की योनियां निर्धारित होती है।[2] इन प्रत्येक जीवों में बुद्धि (ज्ञान) प्रत्येक पुरूष के लिये नियत रहता है। बुद्धि में यह आत्मा का स्वरूप न होकर इसका नित्य धर्म है। इसका स्वभाव सभी विषयों को ग्रहण करने का होता है किन्तु संसारदशा में कर्म द्वारा संकुचित होने से कर्मानुरूप तारत्म्य लेती है जिससे उसका प्रसार संकुचित होकर इन्दियों के अधिन हो जाता है और बुद्धि के विषय इन्द्रियानुसार नियत होते हैं। बुद्धि स्वरूपतः नित्य है परन्तु प्रसार में इन्द्रियों तथा विषयों के भेद के कारण उत्पत्ति एवं नाश का व्यवहार चलता रहता है।[3]

---

[1] अज्ञानेनावृतं ज्ञानं ज्ञानविरोधिना पूर्वपूर्वकर्मणा स्वफलानुभवयोग्यत्वायास्य ज्ञानमावृतं संकुचितम्। तेन ज्ञानावरणरूपेण कर्मणा देवादिदेहसंयोगः तत्तदात्माभिमानरूपमोहश्च जायते। ततश्च तथाविधात्माभिमानवासना, तदुचितकर्मवासना च। वासनातो विपरीतात्माभिमानः कर्मारम्भश्चोपपद्यते।– गीता-रामानुजभाष्य ५/१५

[2] अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते। यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप सर्वथा॥
संसारतापानखिलानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान्। तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता।
सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन वर्तते। विपु ६/८/६१-६३

[3] न्यासि, पृ.५१३

सामानाधिकरण्य सिद्धान्त के आधार पर ही रामानुज उपनिषदों के 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों की व्याख्या करते हैं। इसमें 'त्वं' शब्द, जो साधारणत। जीव के लिए आता है वस्तु ब्रह्म का बोधक है, जो जीव में अंतर्यामी रूप से स्थित है और जिसका जीव अंश रूप है। 'तत्' शब्द भी ब्रह्म का ही द्योतक है, परन्तु यह उसके उस पक्ष का ही द्योतक है, जो जगत् का कारण रूप है। इस तरह इस महावाक्य में ब्रह्म के दो पृथक पक्षों की एकता का निरूपण है। इसका फलितार्थ यह है कि यद्यपि जीव जगत वास्तविक एवं भिन्न है, तथापि जिस ब्रह्म में अंतर्भूत हैं, वह एक ही हैं उपनिषदो में अनेक जगह ब्रह्म के स्थान पर वैश्वानर शब्द के प्रयोग से प्रामाणित होता है कि सभी जीवों का आत्मा परब्रह्म ही है। इसके सन्दर्भ में वेदान्तदीप में कहा भी गया है- **"ब्रह्मशब्दस्थाने सर्वत्र वैश्वानरशब्दप्रयोगाच्च वैश्वानर आत्मा सर्वेषां जीवानामात्मभूतं परं ब्रह्मैवेति विज्ञायते।"**[1] ईश्वर का जीव से स्वरूपतः तादात्म्य मानने पर दुःखादि दोषों का ब्रह्म पर आरोप होगा। शरीर तथा शरीरी के रूप में तादात्म्य मानने में कोई दोष नही तथा दोनों पदों का सामानाधिकरण्य मुख्यार्थ या वाच्य है।[2] यह सब उसके शरीर के प्रकार है , अतः सर्वरूप होने से ब्रह्म का अभेद सिद्ध होता है और चित्त तथा से विलक्षण एवं संकर रहीत होने से भेद प्रमाणित है। इससे 'अहं ब्रह्मास्मि' का समानाधिकरण्य शरीर तथा शरीरों के अभेद को लेकर मान्य होता है।[3]

रामानुज से पूर्व शंकर ने एकत्व एवं नानात्व को परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले मानकर विशुद्ध चैतन्य के एकत्व को ही चरम तत्व के रूप में स्वीकार किया था और पारस्परिक दृष्टि से जगत् के नानात्व को मिथ्या घोषित कर दिया था। रामानुज ने शंकर द्वारा प्रतिपादित निर्विशैषाद्वैत के इन आधारभूत सिद्धांतों का सबल प्रतिवाद कर कि चरम तत्व निर्विशेष चिन्मात्र है तथा नानात्वमय जगत् मायाजनित एवं मिथ्या है, वेदान्त की सगुणवादी धारा को तार्किक आधार पर पुष्ट करने का प्रयास किया है। एक चरम तत्व किस तरह नानात्वमय जगत् से अपृथक रूपेण संबंधित होता है और किस तरह वह अनेक बिन्दुओं में व्यक्त होते हुए भी एकत्व को बनाये रख सकता है, इस मान्यता का समाधान रामानुज व्याकरण में प्रयुक्त सामानाधिकरण्य के सिद्धांत की सहायता से करते हैं। उन्होंने

---

[1] वेदान्तदीप १/२/२५

[2] ईश्वरस्य स्वरूपेण तादात्म्यवर्णने स्यादयं दोषः, आत्मशरीरभावेन तु तादात्म्यप्रतिपादने न कश्चिद् दोषः। सामानाधिकरण्यं च मुख्यवृत्तम्। वेदार्थसंग्रह, पृ.३४

[3] सर्वशरीरतया सर्वप्रकारं ब्रह्मैवावस्थितमिति अभेदः समर्थितः अचिद्वस्तुनश्चिद्वस्तुनश्चेश्वरस्य च स्वरूप-स्वभाववैलक्षण्यादसंकराच्च भेदः समर्थितः। वेदार्थसंग्रह, पृ. १३९-४०

अद्वैत के एकत्व में ही अनुस्युत भेद का सजीव तत्व स्वीकार किया, जिसमें नानात्व को एकत्व का विरोधी नहीं बल्कि विशेषण माना गया। जिस तरह एक वाक्य में भिन्नार्थक शब्दों का समुच्चय एकीकृत हो एकार्थ का द्योतक होता है, उसी तरह एकत्व और नानात्व मिलकर एक समन्वयात्मक एकता में समाविष्ट होते हैं। इस सिद्धांत के द्वारा रामानुज न केवल ब्रह्म एवं जीव जगत् के संबंध की ही व्याख्या करते हैं, अपितु इसके साथ साथ ब्रह्म के सविशेष स्वरूप तथा जीव जगत् की वास्तविकता की भी सिद्धि करते हैं। रामानुज द्वारा मान्य इस अपृथक्सिद्ध संबंध को अंगीय एकता की अवधारणा से समझा जा सकता है, जिसमें ब्रह्म प्रधान तत्व है और जीव जगत् उस पर आश्रित गौण तत्व है। एकता की इस अवधारणा को 'नीलकमल' इस संयुक्त पद के अर्थ बोध से जाना जा सकता है। यहाँ- 'नील' गुण 'कमल' द्रव्य से भिन्न है, लेकिन साथ ही 'नील' गुण अपने अस्तित्व के लिए 'कमल' पर आश्रित है और उससे पृथक उसका अस्तित्व नहीं है। कमल नामक पदार्थ को इस अर्थ में एकत्व कहा गया है कि उसमें नीलत्व का गुण अंतर्भूत है। नील गुण और कमल द्रव्य में वास्तविक भेद है। मात्र आभास रूप नहीं, पर यह भेद बाह्य न होकर आंतरिक है।

वेदान्त दार्शनिक परम्परा में जगत की तात्त्विक स्थिति के बारे में मायावाद एवं लीलावाद की दो पृथक एवं पूर्णत: विरोधी परम्पराएं प्रचलित रही हैं। इन दोनों परम्पराओं में मौलिक भेद सत्ता के प्रति दृष्टिकोण में है। अर्थात् दोनों यह मानते हैं कि सृष्टि प्रक्रिया का मूल सृजन की इच्छा है और उस इच्छा को चरमतत्त्व (ब्रह्म) पर आरोपित एवं मिथ्या माना गया है जबकि लीलावाद में उसे ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति एवं वास्तविक माना गया है। इन दोनों विचारधार्रओं के अनुसार जगत् ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है, जहाँ एक में वह आभास मात्र है जबकि दूसरे में वास्तविक। रामानुजाचार्य मायावाद का प्रबल प्रतिवाद कर लीलावाद का समर्थन करते हुए जगत् के प्रति वास्तवलक्षी दृष्टिकोण अपनाते हैं। वे जगत् को उतना ही वास्तविक मानते हैं, जितना की ब्रह्म है। ब्रह्म जगत की सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण है। किन्तु इस प्रक्रिया में ब्रह्म निर्विकार रहता है। क्रिया शक्ति उसकी सत्ता या स्वरूप में बाधा नहीं पहुँचाती। प्रलय की अवस्था में चित् और अचित् अव्यक्त रूप में ब्रह्म में रहते हैं। ब्रह्म को इस अवस्था में 'कारण-ब्रह्म' कहते हैं। जब सृष्टि होती है, तब ब्रह्म में चित् एवं अचित् व्यक्त रूप में प्रकट होते हैं। इस अवस्था को कार्य ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म अपनी दोनों विशिष्ट अवस्थाओं में अद्वैत रूप में है। यहां पर भेद मात्र इतना ही है कि पहले में अद्वैत एकविध है वहीं दूसरे में अनेकविध हो जाता है। दोनों अवस्थाएं समान रूप से सत्य हैं।

अद्वैत वेदांत परम्परा में सत्ता के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया गया है, उसमें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ब्रह्म एकमेव सत्ता है तो वैविध्यमय जगत की, जिसका हम अनुभव करते हैं उसकी कैसे व्याख्या की जाये? इस शंका के निवारणार्थ मायावाद की अवधारणा को आधार मानकर शंका का समाधान किया गया किन्तु माया अपने आप में अनिर्वचनीय है। यहां यह एकत्व और नानात्व के विरोध को दूर करने के लिए इस अवधारणा का प्रस्फुटन हुआ। किन्तु स्वयं इसमें सत् और असत् के निषेध का आत्मविरोध है। रामानुज सत्ता के प्रति सजीव दृष्टिकोण रखते हैं। अत: उनके लिए एकत्व और नानात्व के समन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता। वे इन दोनों को विभक्त न मानकर मात्र पृथक या एक ही तत्त्व के दो पक्ष मानते हैं। उनके मतानुसार एकमेव सत्ता अपने सविशेष स्वरूप में जगत के नाना चराचर तत्त्वों का अंग के रूप में समावेश कर लेती हैं। तार्किक दृष्टि से यह आवश्यक भी है कि यदि ब्रह्म में अभिव्यक्ति को स्वीकार कर लिया जाये, चाहे वह अभिव्यक्ति आरोपित हो या वास्तविक, तो उन नाना रूपों को भी ब्रह्म में स्वीकार करना पड़ेगा, जिनमें ब्रह्म की अभिव्यक्ति हुई है। अद्वैतवादी इस अभिव्यक्त नानात्व को मिथ्या घोषित करते हैं और मायावाद का प्रवर्तन करते हैं, जो रामानुज को पूर्णत: श्रुति, युक्ति एवं अनुभव के साक्ष्य के विपरीत लगता है। उनहोनें सात तर्कों के आधार पर मायावाद का खंडन करने का प्रयास किया है जो कि निम्नलिखित प्रकार से है- **आश्रयानुपपत्ति:-** रामानुज यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि जिस अविद्या या अज्ञान से संसार की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति हुई है, उसका आधार क्या है? यदि यह कहा जाये कि वह जीवाश्रित है, तो यहां प्रश्न उठता है कि जब जीव स्वयं अविद्या का कार्य है तो फिर जो कारण है, वह कार्य पर कैसे निर्भर रह सकता है? इस शंका के समाधान में यह कहा जाये कि अविद्या ब्रह्माश्रित है,फिर इससे शंका उत्पन्न होती है कि ब्रह्म को विशुद्ध चैतन्य कैसे कह सकते हैं और न अविद्या को एक पृथक स्वाश्रयी तत्त्व माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने से अद्वैत सिद्धांत का खण्डन होता है। **तिरोधानानुपपत्ति:-** अद्वैत के अनुसार अविद्या ब्रह्म को आच्छादित कर अध्यारोपण द्वारा जगत को अभिव्यक्त करती है। किन्तु इससे यहां यह शंका उठती है कि ब्रह्म, जो प्रकाश है, अध्यारोप का अधिष्ठान वह विषय कैसे हो सकता है्? फिर भी उसे ऐसा मान लिया जाय तो इससे ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व की हानि होगी। **स्वरूपानुपपत्ति:-** यदि हम अविद्या की सत्ता और उसमें अध्यारोप की क्षमता स्वीकार कर लेते है तो यहां यह शंका उपस्थित होती है कि उसका स्वरूप क्या है्? उसके स्वरूप को न तो सत् माना जा सकता है और न ही असत्। अद्वैतवादी उसे सत् मानते ही नहीं है और न ही उसे असत् माना है। यदि ऐसा मान

लिया जाता है तो यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या वह सत् (दृशि) रूप में असत् है या चित् (दृष्टा) रूप में असत् है? वह सत् रूप में असत् नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म ही सत् है और वह नित्य है। यदि उसे चित् रूप में असत् माना जाये तो सत् चित् (ब्रह्म) के अलावा असत् चित् की कल्पना करनी होगी। इसके अलावा इस प्रस्थापना में अनवस्था दोष होगा, क्योंकि यदि असत् जगत के कारण के रूप में अविद्या को माना जाए और अविद्या स्वयं भी असत् हो तो इसके भी कारण के रूप में किसी अन्य सत् तत्व को मानना पड़ेगा। यदि इस दोष के निवारण हेतु यह माना जाए कि सत् चित् जो स्वयं ब्रह्म है, अविद्या है तो इसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्म स्वयं ही कारण है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म से अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व की सत्ता को स्वीकार करना पड़ेगा। फिर ब्रह्म शाश्वत होने से उसका कार्यरूप जगत भी शाश्वत होगा। अत: अविद्या को ब्रह्म से पृथक तथा सत् माने बिना जगत की व्याख्या नहीं हो सकती। **अनिर्वचनीयानुपपत्ति:-** अविद्या को न तो सत् और न ही असत् मानते हुए अद्वैत वेदान्ति उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। इसके स्वरूप को वे भावरूप अज्ञान मानते हैं। परन्तु ऐसा कहने का कुछ अर्थ नहीं निकलता। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव है। तब फिर वह भावरूप कैसे माना जा सकता है। अविद्या का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष और न अनुमान होता है। कोई भी अनुभव भ्रामक नहीं होता है। भ्रम में भी अर्धज्ञान ही होता है। उसे अज्ञान नहीं कहा जा सकता। इस तरह न तो सिद्धांतत: और न व्यवहार से अविद्या की सिद्धि होती है। **प्रमाणानुपपत्ति:-** अविद्या की सिद्धि के लिए शास्त्रों में भी कोई प्रमाण नहीं है। प्रकृति को 'माया' कहकर उपनिषदों ने उल्लेख किया है, परन्तु वहाँ माया का तात्पर्य अज्ञान नहीं बल्कि ब्रह्म की विशिष्ट शक्ति है। निवर्तकानुपपत्ति:- अविद्या का कोई निवर्तक नहीं हो सकता, क्योंकि अद्वैतवादियों के अनुसार निर्विशेष ज्ञान ही अविद्या का निवारण कर सकता है।ऐसा ज्ञान कदापि संभव नहीं, क्योंकि सभी ज्ञान अनिवार्यत: सविशेष होते हैं। **निवर्त्यापपत्ति:-** माया का निवारण भी संभव नहीं है, क्योंकि वह भाव रूप है और भाव रूप सत्ता का कभी विनाश नहीं हो सकता। इस प्रकार उपर्युक्त सात आधारों पर मायावाद का खंडन करते हुए रामानुजाचार्य जी ने सृष्टि को वास्तविक ,जगत के पदार्थो को परिणामी हैं, नश्वर एवं मिथ्यात्व को अस्वीकार करके प्रतिपादन किया है।

मध्वाचार्य के मतानुसार सगुण और सविशेष निरपेक्ष सत् सर्वगुण संपन्न ब्रह्म को ही परम तत्त्व माना है। इनकी दृष्टि में परब्रह्म के इन्होनें विष्णु, नारायण, हरि, परमेश्वर, ईश्वर, वासुदेव, परमात्मा इत्यादि नामों से अभिहित किया है। परम ब्रह्म चैतन्य स्वरूप है, निर्गुणता का अभाव, उपादान कारण से रहित एवं जगत का निमित्त कारण है। जीवों (कारण शरीरादि) और जगत की प्रतीति स्वतन्त्र ब्रह्म के अधीन है अर्थात् जीव-जगत परतन्त्र है।

इनकी दृष्टि में जगत की उत्पत्ति, संहार नियमन, ज्ञान आवरण, बन्ध तथा मोक्ष के कर्त्ता के रूप में विष्णु को माना हैं, जो कि शरीरी होते हुए भी नित्य तथा स्वतंत्र हैं। परमात्मा की शक्ति के रूप में इन्होनें लक्ष्मी को स्वीकार किया है, जो कि भगवान की भांति नित्य मुक्ता है और दिव्य विग्रहधारिणी होने के कारण अक्षरा है। मध्वाचार्य जी ने शंकराचार्य के मायावाद का खंडन करते हुए कहा कि जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार एक साथ नहीं रह सकते है, उसी प्रकार सच्चिदानंद परम-ब्रह्म का अविद्या से प्रभावित होना तर्कसंगत नही है्। अविद्या को सत् स्वीकार मरने पर अद्वैत सिद्धांत स्वतः खण्डित हो जाता है तथा अविद्या को असत् मान लिया जाता है तो उसका कुछ भी प्रभाव कैसे पड़ सकता है। इनकी दृष्टि में जीव और ब्रह्म से भिन्न-भिन्न है किन्तु अंश होने के कारण यह अंशी पर अवलम्बित है। जीव में भी सत्, चित् तथा आनन्द का निवास होता है। किन्तु उसे यह सब ब्रह्म से ही प्राप्त होता है। ब्रह्म स्वतंत्र है, जीव परतंत्र है। जगत में प्रत्येक जीव अपना पृथक व्यक्तित्व एव अस्तितत्त्व बनाए रखता है। परम ब्रह्म के साथ चैतन्य अंश को लेकर ही उससे जीव की एकता प्रतिपादित की गई है, किन्तु समस्त गुणों के आधार पर दोनों में पृथकत्व सिद्ध किया गया है। इसके सन्दर्भ में ब्रह्मसूत्र में कहा गया है – **"तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्रज्ञावत्"**[1] अर्थात् गुणाधिक्य के कारण जीव को ब्रह्म कहा जाता है, जो कि लाक्षणिक है। इसके अतिरिक्त उपनिषद वाक्य भी ब्रह्म का मुख्यार्थ ही देता है|[2] जीव शरीर के संयोग से जन्म एवं शरीर के वियोग से मरण को प्राप्त होता है। उपाधि की उत्पत्ति और सम्पर्क के कारण जीव सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण करता है। जीव की दो उपाधियां स्वीकार की गई हैं- स्वरूपोपाधि और बाह्योपाधि। स्वरूपोपाधि जीव से अलग नहीं है, किन्तु बाह्या उपाधियां सूक्ष्म स्थूल शरीर हैं। इनके मत में जगत की उ्त्पत्ति ईश्वर की इच्छा से होती है, जीव की इच्छा से नहीं। जीव प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न है किन्तु वह कभी ब्रह्म से अभिन्न नहीं रह सकता। जीव अज्ञान, मोह अत्यादि दोषों ग्रस्त रहता है। इनके अभिमत में मोक्ष चार प्रकार का है- कर्मक्षय, उत्क्रांति, अर्चिरादि मार्ग और भोग। भोग भी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य भेद से चार प्रकार का होता है। मध्वाचार्य की दृष्टि में वैकुण्ठ प्राप्ति यानी विष्णु के लोक और रूप की प्राप्ति ही मोक्ष है।

---

[1] ब्रसू २/३/२९

[2] तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म। तैउ ३/१

चैतन्य के अनुसार जगत की सृष्टि ब्रह्म की अविद्या अथवा माया शक्ति के द्वारा होती है। माया को ब्रह्म की परिणाम शक्ति कहा गया है। इसके सन्दर्भ में कहा गया है "**तत्र सा मायाख्या परिणाम शक्तिश्च द्विविधा वर्ण्यते, निमित्ताशो माया उपादानांश: प्रधानम् इति। तत्र केवला शक्तिर्निमित्तम्, तद व्यूहमयी तूपादानमिति विवेक:।**[1] ब्रह्म की परिणाम शक्ति के निमित्तांश को निमित्त माया और उपादानांश को उपादार्नामाया भी कहा गया है। निमित्त माया के काल, दैव, कर्म और स्वभाव के चार भेद बताये गए हैं और उपादान भाषा में द्रव्य, क्षेत्र, प्राण, आत्मन् और विकार का समावेश माना गया है। यह जगत ईश्वर से भिन्न होते हुए भी उसके अधीन होने के कारण अभिन्न है। जगत 'भ्रम' नहीं अपितु 'सत्य' है। प्रकृति और माया को चैतन्य सम्प्रदाय में अभिन्न माना गया है। अत: प्रकृति को ब्रह्म की शक्ति कहा गया है। प्रलय काल में भी प्रकृति की स्थिति सूक्ष्म रूप में बनी रहती है। अत: प्रपंच ब्रह्म से न तो पूर्णतया भिन्न है और न ही अभिन्न। वस्तुत: इनकी भिन्नाभिन्नतात्मकता अचिन्त्य हैं- **"स्वरूपाधभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद भेद:, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिमतोभेदाभेददांवंर्गीकृतो तौ च अचिन्त्यौ**।"[1] चैतन्य जगत को न तो शाश्वत मानते हैं और न ही मिथ्या। यदि जगत नित्य माना जाये तो कार्यकारण सम्बन्धों की अवस्थिति नहीं मानी जा सकती। यदि जगत को मिथ्या माना जाये तो मिथ्या से मिथ्या की उत्पत्ति मानना असंगत ही है। अत: चैतन्य का यह विचार है कि जगत अपने मूल (निमित्त कारण) में अव्यक्त रूप से रहता है, उस अवस्था में वह नित्य है किन्तु व्यक्तावस्था में वह अनित्य है।

इस सम्प्रदाय के अनुसार जीव की ब्रह्म से पृथक सत्ता स्वीकार की है, जो की अणु परिणाम वाला है। जीव स्वभाव से सत्व, रजस् एवं तमस् तीनों गुणों से युक्त होता हैं। ब्रह्म प्रलय प्रक्रिया के अनन्तर 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा से जीव की पुष्टि करता है। जीव का वास्तविक शुद्ध स्वरूप को माया के आवरण के कारण विस्मृत जाता है। उदाहरण के लिये जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य से पृथक अपना अस्तित्व नही रखती है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से पृथक नहीं है। इनकी दृष्टि में जीव की अभिव्यक्ति के समय पृथक सत्ता को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता अर्थात जीव ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, आभास मात्र नहीं है। जीव स्थूल शरीर के माध्यम से भक्ति साधना के द्वारा आत्म-स्वरूप का अभिज्ञान कर सकता है। जीव भी अणु चैतन्य है, वह नित्य है। आचार्य बलदेव विद्याभूषण के मतानुसार

---

[1]भागवत संख्या ११,२४,१९

[1] स्वमते अचिन्त्यभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्। भागवत्सन्दर्भस्य सर्वसंवादिनी, पृष्ठ 23

ईश्वर, जीव, प्रकृति और काल ये चार पदार्थ नित्य हैं। इन चारों पदार्थो में से अन्तिम तीन ईश्वर के अधीन रहते हैं। इसलिए कारण जीव को ईश्वर की 'शक्ति' तथा ब्रह्म को 'शक्तिमान' भी कहा गया है। आचार्य चैतन्य ने जीवतत्त्व को शक्ति और कृष्ण तत्त्व को शक्तिमान कहा है। जीव दो प्रकार के होते हैं,नित्य मुक्त जीव और नित्य संसारी जीव। मुक्त जीव के सन्दर्भ में मुण्डकोपनिष में कहा गया है जिस प्रकार नामरूप छोडकर बहती हुई समुद्र में अस्त कर लेती है,उसी प्रकार ब्रह्मज्ञ जीव नामरूप को छोड़कर दिव्य परम पुरूष को प्राप्त करता है।[1] यहां संसारी जीव से तात्पर्य सूक्ष्म एव स्थूल शरीर से है।

वल्लभाचार्य के मत में जगत की उत्पत्ति के संदर्भ में ब्रह्म के तीन रूपों को स्वीकार किया है- आधिभौतिक पर-ब्रह्म, आध्यात्मिक अक्षर-ब्रह्म एवं आधिभौतिक जगत-ब्रह्म। इनके अभिमत में ब्रह्म रमण करने की इच्छा से जीव और जड़ का आविर्भाव करता है। इस व्यहार में उसके द्वारा खेल खेलने में माया की अपेक्षा इच्छा ही प्राधान्य रहती है। उदाहरण के लिये जिस प्रकार एक ही सर्प कुण्डल आदि बनाकर अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है, किन्तु सर्प और उसके कुण्डलादि रूप उससे भिन्न नही है, उसी प्रकार ब्रह्म अनेक रूपों में स्फुरित होते हुए भी शुद्धतः अद्वैत रूप उसकी सत्ता विद्यमान रहती है। ब्रह्म का दूसरा रूप अक्षर ब्रह्म है, जो कि सत्, चित् तथा आनन्दमय है। पर ब्रह्म एवं अक्षर ब्रह्म में भिन्नता यह है कि पर-ब्रह्म में आनन्द असीमित मात्रा में है किन्तु अक्षर ब्रह्म में वह सीमित होता है। इन्के अभिमत में अक्षर ब्रह्म ही अवतार के रूप में अभिव्यक्ति होती है। अर्थात अक्षर ब्रह्म एक प्रकार से आधिवैदिक परब्रह्म का आध्यात्मिक (कायिक) रूप है। कहीं कहीं अक्षर ब्रह्म को परब्रह्म का पुच्छ भी कहा गया है। अक्षर ब्रह्म के अतिरिक्त काल, कर्म और स्वभाव भी परब्रह्म के ही रूपान्तर हैं। ब्रह्म से ही सृष्टि का सृजन हुआ है। अक्षर ब्रह्म से प्रकृति और पुरुष के रूप में आविर्भूत होता है और उसी में तिरोधान हो जाता है। यहां आविर्भाव से तात्पर्य अनुभव का विषय बनाना और तिरोभाव का अर्थ है अनुभव रहित विषय होना।[1] प्रकृति ही विभिन्न सोपानों में परिणत होती हुई संसार को उत्पन्न करती है। इसलिए प्रकृति को कारणों का कारण कहा जाता है। काल, कर्म और स्वभाव इस सृष्टि प्रक्रिया में अपनी अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। तत्वार्थदीप के अनुसार अक्षर, काल, कर्म और

---

[1] यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे, अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः, परात् परं पुरूषमुपैति दिव्यम्॥ -मुंउ ३/२/८

[1] उपादानस्य कार्य या व्यवहारणोचरं करोति, साशक्तिराविर्भाविका, तिरोभावश्च तदयोग्यत्वम । प्रस्थान रत्नाकर, पृष्ठ 27

स्वभाव सृष्टि से पूर्व विद्यमान रहते हैं, किन्तु इनकी गणना सत्व, रजस्, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, पंचतन्मात्र, पंचमहाभूत, पंचकर्मेन्द्रियां, पंचज्ञानेन्द्रियां तथा मनस् आदि २८ तत्त्वों नही की जाती। इन तत्त्वों की सांख्य दर्शन के समान नाम में समानता होने पर भी संख्या में असमानता है।[1]

इस सम्प्रदाय के अनुसार जीव भगवत्स्वरूप ब्रह्म ही है,किन्तु उनका आनन्दांश-आवृत रहता है। जब परब्रह्म की यह इच्छा हुई कि वह एक से अनेक हो जाये तो अक्षर ब्रह्म असंख्य की गणना में जड,अन्तर्यामी और जीवों की अभिव्यक्ति हुई, जिस प्रकार आग में से हज़ारों स्फुलिंग निकलते हैं तथा कुछ विशेष जीव अक्षर ब्रह्म की अपेक्षा सीधे ही परब्रह्म से आविर्भूत होते हैं। जीव ब्रह्म का नित्य अंश है जिसका सिर्फ व्युच्चरण होता है उत्पत्ति नहीं।[1] लीला के लिए जीव में से आनन्द का अंश निकल जाता है, जिससे की जीव बंधन और अज्ञान में पड़ जाता है। जीव के तिरोहित आनन्दांश के पुनः प्रकाश से पुनः प्रकाश से ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है। यदि भगवदिच्छा अन्यथा हुई तो ब्रह्मस्वरूपलभरूप उपलब्ध होता है। दोनों का कारण ईश्वरोपासना है।[2] यहां जीव को जीवत्वहानि से मुक्ति मिलती है तो जीवनमुक्ति की व्याख्या नही की जा सकती, क्योंकि लिंगशरीर तथा उसका आविद्या का आवरण जीवन पर्यन्त बना रहता है।[3] यहां इसकी व्याख्या अभेद अंशाशिभाव से ही सम्भव है अंशरूप से सब कुछ अंशि ईश्वर से अभिन्न है। अंश का अंश में लय ही तादात्म्य है। उदाहरण के लिए मृत्तिकारूप घट की पूर्वावस्था है, मध्य में मृत्तिकारूप से ही घटावस्था विद्यमान रहती है और अन्त में लय ने पर पुनः मृत्तिका ही शेष रहती है। इसी प्रकार जीव की व्युच्चरण से पूर्व ब्रह्मावस्था, व्युच्चरण होने पर अंशी ब्रह्म के रूप से ही अंश-भाव की स्थूलशरीरादि के माध्यम से जीवावस्था और लय होने पर पुनः ब्रह्मावस्था होती है।[4] जीव का कभी जन्म और विनाश नहीं होता। उत्पत्ति और विनाश स्थूलादि शरीरों का होता है। जब तक यह कार्य बुद्धि या अंश बुद्धि शेष रहती है तब तक

---

[1] विश्व के प्रमुख दार्शनिक, पृष्ठ संख्या: 526 , डॉ. सी. बिज्लवान

[1] जडजीवान्तः स्थितानां यथाक्रमश उद्गमः।
अग्नेर्यथा विस्फुलिंगास्था जीवोद्गमः स्फुटः॥– शुद्धाद्वैतमार्तण्ड ९

[2] आनन्दांशप्रकाशाद्धि ब्रह्मभावो भविष्यति।
सायुज्यं वान्यथा तस्मिन्नुभयंहरिसेवया॥ -तत्त्वार्थदीपनिबन्ध ३६

[3] जीवहानिस्तदा मुक्तिर्जीवन्मुक्तिर्विरूध्यते।
लिङ्गस्य विद्यमानत्वादविद्यायां ततोऽपि हि॥ -तत्वार्थदीपनिबन्ध,५९

[4] पूर्वावस्था तु मृद्रूपा घटावस्था ततोऽभवत्।
घटोऽपि मृत्तिकारूपो लये पश्चाच्च मृत्तिका॥ -शुद्धाद्वैतमार्तण्ड ४१

स्थूल, सूक्ष्म शरीरादि की मिथ्या सत्ता रहती है और जब यह बुद्धि हटते ही सब ब्रह्मरूप है।[1] विद्या और अविद्या ईश्वर की मूर्तिया है, जिन्हें उस माया से निर्मित किया गया है । स्थूल शरीरधारी प्राणियों को विद्या से मोक्ष तथा अविद्या से बन्धन प्राप्त होता है। भागवत में इसके सन्दर्भ में कहा गया है-

"विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।

मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते। "[1]

वेदान्त परम्परा में जहां शंकराचार्य जीवात्मा को ज्ञानस्वरूप मानते है वही वल्लभाचार्य जीवात्मा ज्ञाता एवं अणु स्वरूप है, किन्तु सर्वव्यापकता और सर्वज्ञ से रहित चैतन्यता के कारण वह भोग प्रवृत्ति का है। ब्रह्म लीला के उद्देश्य से जगत् में वैविध्य लाने के लिए जीवों की तीन कोटियां बताई गई हैं- १) शुद्ध जीव- जिस जीव में आनन्दांश का तिरोभाव रहता है, परन्तु अविद्या से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वह शुद्ध कहलाता है। २) संचारी जीव- इस जीव का अविद्या से सम्बन्ध होने के कारण वह जन्म-जन्मादि क्रियाओं के बन्धन का कारण बन जाता है, तो वह संचारी जीव कहलाता है्। संचारी जीव भी देव और आसुर भेद से दो प्रकार के बतलाये गये है। (क) मुक्त जीव- जो जीव ईश्वर के अनुग्रह से सच्चिदानंद रूप का प्राप्त करते हुए ईश्वरमय हो जाते हैं, उन्हे मुक्त जीव कहते हैं। इन जीवों का जीवत्व ईश्वर की आविर्भाव एवं तिरोभाव क्रियाओं का परिणाम है। इन क्रियाओं के द्वारा ही ईश्वर की कुछ शक्तियां एवं गुण जीव में तिरोभूत और कुछ आविर्भूत करता हैं। वल्लभाचार्य के मतानुसार जगत् नित्य एवं ब्रह्म का आधिभौतिक रूप है। इसमें सत् तो विद्यमान है, किन्तु चित् और आनंद प्रच्छन्न या अदृश्य रहते हैं। यहां ब्रह्म को कारण रूप तथा कार्य रूप जगत् में कोई भेद नहीं है। यह कार्यरूप जगत् कारणरूप ब्रह्म से आविर्भूत हुआ है। ब्रह्म से जगत् आविर्भूत हुआ, फिर भी ब्रह्म में कोई विकार उत्पन्न नही होता अर्थात यह अविकृत परिणामवाद है। यह सृष्टि ब्रह्म की आत्मकृति है। इस कारण जगत् की न तो उत्पत्ति होती है और न ही नाश। इसका सिर्फ आविर्भाव-तिरोभाव होता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार जगत् और संसार में अंतर है। जगत् उसे कहते हैं, जो ईश्वर की इच्छा एवं विलास से आविर्भूत हुआ हो् जबकि संसार उसे कहते है जब जीव अविद्या के प्रभाव से स्वरूपज्ञान, देहध्यास, इन्द्रियाध्यास,

---

[1] देहादयोऽनृतं तावद् यावत् कार्यतया मतिः।

तन्निवृतौ पुनः सर्वं ब्रह्मरूपं न संशयः। ब्रह्मवाद, ६-७

[1] भागवत ११/११/६

प्राणाध्यास तथा अंत:करणाध्यास- इन 'पर्वी' द्वारा जीवों की बुद्धि में जो द्वैतमूलक भ्रम उत्पन्न होता है, उससे जिस पदार्थ वर्ग की सृष्टि करता है वह संसार है। ज्ञान होने पर संसार नष्ट हो जाता है, जबकि जगत् ब्रह्मरूप होने के कारण नष्ट नहीं होता। यह जगत् ब्रह्म और जीव के समान नित्य है। यह संसार दो प्रकार का होता है-एक पृथ्वी, सूर्य, चंद्र आदि से बना हुआ जड़ जगत्, जिसमें चेतन जीव रहते हैं और दूसरा जीवों के ममत्व से उत्पन्न हुआ संसार। ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण शरीर और उपादान कारण दोनों है। ब्रह्म को समवायिकारण भी कहा गया है, क्योंकि वह सत्, चित् और आनंद रूप में सर्वव्यापक है।

वल्लभाचार्य ने माया के दो भेद बताये हैं- अविद्या माया और विद्या माया। अविद्या माया जीव में भ्रान्ति उत्पन्न करती है, जिससे कि वह अपने चित् रूप को भूल जाता है। विद्या माया अज्ञान नाशिनी होती है।

निम्बार्क के मत में:- जीव की प्रवृत्ति विषयोपभोग की ओर होती है। सुख और दु:ख का अनुभव भी जीव ही करता है। इसके सन्दर्भ में निम्बार्क ने कहा है- **"अहमित्थेव यो वेद्य: स जीव इति कीर्तित:।**

स दु:खी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयो:।।"

अविद्योपाधिक वासना बद्ध जीव को ही स्थूलारून्धती न्याय से अहंकार भी कहा जाता है।भूमासाधना द्वारा मन की वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके यानी अहम् (मैं) को सूक्ष्म अहम् (अस्मिता मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ) मैं लय करके तथा सूक्ष्म अहम् को भी अस्मि (हूँ) में लय करके जीव निरूपाधिक चिन्मात्र ब्रह्म परमात्मा की स्थिति में पहुँच जाता है और नित्य इस स्थिति में बने रहने से जीव का मोक्ष हो जाता है। आचार्य जी ने इस भाव को हृदयस्थ वृन्दावन में प्रिया, प्रियतम और प्रेम इन तीनों की एकात्मक समवेत स्थिति के लिये उपासना प्रस्तुत करते है। साधक की चरमावस्था में जब साध्य और साधन का भेद मिट जाता है तब जीव नित्य कान्ताभाव से अखंड प्रेमरस का आस्वादान करता है। अर्थात जीवात्मा परमात्मा के समान ज्ञान स्वरूप है, परन्तु यह वासना से ग्रस्त होने के कारण जन्म, मरण, क्षय, वृद्धि, परिणाम आदि विकारों से ग्रस्त रहने वाला अणु स्वरूप प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होने के कारण अनन्त संख्या में विद्यमान है।[1] यह अनादि माया से ग्रस्त होने के कारण इसका नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वरूप

[1] ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्। अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यमनन्तमाहु:।।

विस्मृत हो जाता है। इसके विस्मृत शुद्ध स्वरूप का अभिज्ञान भगवत प्रसाद के साधन भक्ति योग से सम्भव है। मुक्त स्वरूप जीव ब्रह्म के साथ अपने और जगत के अभिन्नत्व में अपने को देखता है। जबकि बन्धन की अवस्था में जीव अपने में ब्रह्मस्वरूपता और जगत की ब्रह्मस्वरूपता का अनुभव नही कर सकता। इसके अभिज्ञान के लिये ज्ञान योग सन्यासियों के लिए, कर्म योग सकाम संसारी मनुष्यों के लिए और भक्ति योग निष्काम मनुष्यों के लिए मार्ग प्रस्तुत किये गये है। मोक्ष प्राप्ति के लिए बताया गया है कि 'अहं' तत्व को परमात्मरूप से श्रवण करने पर सारूप्य, महत्तत्व को परमात्मरूप से दर्शन करने से सालौक्य, मनस्तत्व को परमात्मरूप से मनन करने से सामीप्य तथा जीवतत्व को परमात्मरूप से निदिध्यासन करने से सार्ष्टि (अर्थात् परमात्मा के समान सुख और ऐश्वर्य रूप) मुक्ति मिलती है। जीव से वासना का आत्यंतिक क्षय ही मोक्ष है जो कि ब्रह्म विद्या की उपासना के द्वारा सम्भव है। ब्रह्मसूत्रवाक्यार्थ के चतुर्थ अध्याय में निम्बार्क ने यह भी कहा है कि अहंकार को मन से, मन की जीव से और जीव की परमात्मा से संलग्नता मोक्ष का साधन है। इसकी भावना रखने वाले ज्ञानमार्गीय के लिए ऐहिक सुखों का त्याग आवश्यक है, किन्तु प्रेममार्गी दृष्टि से सुख को परमात्मा से युक्त कर देना अधिक श्रेयस्कर है। इस तरह की मान्यताओं पर आधारित होने कारण परवर्ती मार्गीयों के विचारों को भागवत धर्म भी कहा जाता है। मोक्ष से तात्पर्य इनका जो जीवात्मा जब अविद्या के कारण अनादि कर्मो के अधीन रहता है, जब वह परमात्मा के अनुग्रह से ब्रह्म के समान हो जाता है वही जीव के लिए मोक्ष है। जगत के सन्दर्भ में निम्बार्क ने विचार व्यक्त किया है कि जगत भ्रम या मिथ्या नहीं, अपितु सृष्टि ब्रह्म का ही का उपादान, निमित्त कारण एवं स्वाभाविक परिणाम है। जगत का उद्भव ब्रह्म की अभिलाषा से हुआ है। सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम ब्रह्म से आकाश तत्त्व तदनन्तर आकाश से वायु, तेज, जल और पृथ्वी का विकास होता है। ब्रह्म मकड़ी की तरह जगत का सृजन और स्वयं में ही संहार कर लेता है अर्थात जगत ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। भिन्न तो इस रूप में है कि ब्रह्म का स्वतंत्र अस्तित्व है और जगत उसके नियंत्रण में है। जगत सीमित है, जबकि ब्रह्म असीमित है। जगत ब्रह्म से अभिन्न भी है, क्योंकि जगत को ब्रह्म से अलग नहीं किया जा सकता। प्रकृति ईश्वर की शक्ति है जिसमें जगत अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है।

सर्व हि विज्ञानमती यथार्थकम्, श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः। ब्रंह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं, त्रिरूपतापिश्रुतिसूत्रसाधिता।। - सुन्दरभट्टकृतग्रन्थ, विद्या विहार प्रकाशन

सांख्य-योग दर्शन में सूक्ष्मशरीर का पर्यालोचन

8. सांख्य-योग दर्शन में सूक्ष्मशरीर का पर्यालोचन Page. No

XI. परिचय 194

XII. सूक्ष्म शरीर का स्वरूप 197

XIII. सूक्ष्म शरीर को मानने की आवश्यकता 200

XIV. सूक्ष्मशरीर एवं त्रिगुणात्मक सिद्धान्त:- 201

XV. सूक्ष्मशरीर का अनेकत्व:- 206

XVI. सूक्ष्मशरीर एवं सृष्टि-विकास क्रम :- 208

क. बुद्धि:- 211

ख. अहङ्कार:- 213

ग. एकादश इन्द्रियां:- 214

घ. ज्ञानेन्द्रियां:- 216

ङ. कर्मेन्द्रियां:- 217

XVII. स्थूलशरीर(अधिष्ठान शरीर) एवं सृष्टि विकास क्रम:- 220

XVIII. सूक्ष्मशरीर के बन्धन के कारण:- 225

XIX. सूक्ष्मशरीर एवं कैवल्य (मोक्ष):- 242

XX. सूक्ष्मशरीर की आत्यान्तिक निवृत्ति एवं अष्टांग योग 257

परिचय :-

सांख्य-योग दर्शन में सृष्टि, जीवों के कर्म-फल भोग एवं उनके मोक्ष में- कहीं भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं मानते। इनका मानना है कि जड़-प्रकृति हैं कि जड़-प्रकृति और चेतन-पुरूष के गुण-धर्मों से जगत की व्यवस्था चलती रहती है। मनुष्य का मुख्य पुरूषार्थ एवं लक्ष्य है दुःखों से सर्वथा निवृत्ति। इनकी दृष्टी में लौकिक भोगों से दुःख दूर नही होता अपितु ज्यादा बढ़ जाता है। यदि वैदिक कर्मकांड करे तो इससे भी दुःख नहीं दूर होता, क्योंकि उसमें तीन दोष महान हैं- अशुद्धि, क्षय तथा सातिश्यता (विषमता)। वैदिक यज्ञों में पशुवध होने से उनमें अशुद्धि है, वैदिक कर्म-फल स्वर्गादि नाशवान है तथा स्वर्ग-सुख विषमता-पूर्ण है। जिसके अधिक शुभकर्म हैं वहां उसकी स्थिति निम्न है। अतएव वहां भी मन का संताप बना रहता है। अतएव लोक और वेद, दोनों सुख के रास्ते नहीं है। जब तक व्यक्ति को आत्यान्तिक दुःखो से निवृत्ति नही मिलती तब तक सूक्ष्मशरीर के माध्यम से पुनर्जन्म होता रहता है। इन दुःखों से पूर्ण छुटकारा पाने का मार्ग है व्यक्त = (जगत), अव्यक्त = (प्रकृति), ज्ञ = (चेतन पुरूष) का विवेक। अर्थात चेतन पुरूष जब अव्यक्त जड़ प्रकृति तथा व्यक्त जड़ जगत से अपने ज्ञान स्वरूप को पृथक समझकर अपने आप में स्थित हो जाता है तब वह सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है।

जब इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान का अभ्यास हो जाता है, तब यह निश्चित हो जाता है कि मैं न क्रियावान हूं, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूं। इस स्थिति में कोई भ्रम शेष नहीं रहता। यहां देहाभिमान रूपी विपरित बुद्धि के नष्ट हो जाने से विशुद्ध केवल एवं असंगत्व ज्ञान का उदय होता है। सांख्यदर्शन ने भारत के सभी दर्शनों को तो प्रभावित किया ही है अपितु विश्व के अन्य दर्शनों पर भी प्रभाव छोड़ा है। विंटरनीत्ज कहते है-‘‘ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध ‘पिथगोरस पर भारतीय सांख्य का प्रभाव पड़ा था।‘‘

सांख्य शब्द की निष्पत्ति संख्या शब्द से हुई है। संख्या शब्द 'ख्या' धातु में सम् उपसर्ग लगाकर व्युत्पन्न किया गया है जिसका अर्थ है 'सम्यक् ख्याति'। संसार में प्राणिमात्र दुःख से निवृत्ति चाहता है। दुःख क्यों होता है, इसे किस तरह सदा के लिए दूर किया जा सकता है- ये ही मनुष्य के लिए शाश्वत ज्वलन्त प्रश्न हैं। इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढना ही ज्ञान प्राप्त करना है। 'कपिल दर्शन' में प्रकृति-पुरुष-विवेक-ख्याति (ज्ञान) 'सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति' इस ज्ञान को ही

कहा जाता है। यह ज्ञानवर्धक ख्याति ही 'संख्या' में निहित 'ज्ञान' रूप है। अत: संख्या शब्द 'सम्यक् ज्ञान' के अर्ध में भी गृहीत होता है। इस ज्ञान को प्रस्तुत करने या निरूपण करने वाले दर्शन को सांख्य दर्शन कहा जाता है। डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र लिखते हैं-'ऐसा प्रतीत होता है कि जब तत्त्वों की संख्या निश्चित नहीं हो पाई थी तब सांख्य ने सर्वप्रथम इस दृश्यमान भौतिक जगत की सूक्ष्म मीमांसा का प्रयास किया था जिसके फलस्वरूप उसके मूल में वर्तमान तत्त्वों की संख्या सामान्यत: चौबीस निर्धारित की गई।[1] लेकिन आचार्य 'उदयवीर शास्त्री' गणनार्थक निष्पत्ति को युक्तिसंगत नहीं मानते 'क्योंकि अन्य दर्शनों में भी पदार्थों की नियत गणना करके उनका विवेचन किया गया है। सांख्य पद का मूल ज्ञानार्थक 'संख्या' पद है गणनार्थक नहीं।[1] हमारे विचार में गणनार्थक और ज्ञानार्थक-दोनो रूपों में सांख्य की सार्थकता है। उद्देश्य-प्राप्ति में विविध रूप में 'गणना' के अर्थ में 'सांख्य' को स्वीकार किया जा सकता है। शान्तिपर्व में दोनों ही अर्थ एक साथ स्वीकार किये गये हैं।[2] जहाँ किसी विशेष अर्थ को अभीष्ट मानकर उसके गुण-दोषों को प्रमाणयुक्त विभाजन (गणना) किया जाता है, उसे संख्या समझना चाहिए।[3] यहा स्पष्ट है कि तत्त्व-विभाजन या गणना भी प्रमाणपूर्वक ही होती है। अत: 'सांख्य' को गणनार्थक भी माना जाय तो उसमें ज्ञानार्थक भाव ही प्रधान होता है। निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि 'सांख्य' शब्द में संख्या ज्ञानार्थक और गणनार्थक दोनों ही है। अब प्रश्न उठता है कि संस्कृत वाङमय में 'सांख्य' शब्द किस प्रकार सूक्ष्मशरीर के मोक्षोन्मुख ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है या कपिल प्रणीत सांख्य दर्शन के लिए प्रयुक्त हुआ है? श्वेताश्वतर उपनिषद में प्रयुक्त **'सांख्ययोगाधिगम्यम्** की व्याख्या **तत्स्थाने** न कर शारीरक भाष्य[4] में शंकर ने 'सांख्य' शब्द को कपिलप्रोक्त शास्त्र से अन्यथा व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। शंकर कहते हैं- **'यत्तु दर्शनमुक्तं तत्कारणं सांख्य- योगाभिपन्नम् इति, वैदिकमेव तत्र ज्ञानम् ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलप्यते'** संभवत: यह स्वीकार कर लेने में कोई विसंगति नहीं होगी कि यहाँ सांख्य

---

[1] संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्या: प्रकीर्तिता:॥ शांति पर्व 306/42-43

[1] सां. द.ऐ.प.

[2] सां. सि. पृष्ठ .२०

[3] दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागत:।
कंचिदर्धममिप्रेत्य सा संख्येत्युपाधार्यताम्॥ -शांति पर्व ३०६/४२-४३

[4] श्वेताश्वतरोपनिषद २/१३

पद वैदिक ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है। लेकिन किस प्रकार के वैदिक ज्ञान का लक्ष्य किया गया है, यह विचारणीय है। श्वेताश्वतर उपनिषद में जिस दर्शन को प्रस्तुत किया गया है वह **'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं'** के त्रैत का दर्शन है। ऋग्वेद के **'द्वा सुपर्णा'** मन्त्रांश से भी त्रिविध अज तत्त्वों का दर्शन प्राप्त होता ही है। महाभारत में उपलब्ध सांख्य दर्शन भी प्रायश: त्रैतवादी ही है। भगवद्गीता में सांख्य-योग शब्दों का प्रयोग करते हुए कहा गया है- **'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु'**।[1] जबकि आचार्य उदयवीर शास्त्री ने बड़े विस्तार से इसे कपिलप्रोक्त 'सांख्य' के अर्थ में निरूपित किया। उक्त श्लोक में श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि यह सब सांख्य बुद्धि (ज्ञान) कहा है अब योग बुद्धि (ज्ञान) सुनो। यहाँ विचारणीय यह है कि यदि 'सांख्य' शब्द ज्ञानर्थक है, सम्प्रदाय-विशेष नहीं, तव सांख्य 'बुद्धि' कहकर पुनरूक्ति की आवश्यकता क्या थी? बुद्धि शब्द से कथनीय 'ज्ञान' का भाव तो सांख्य के 'ख्याति' में आ ही जाता है। 'सांख्य' बुद्धि में यह ध्वनित होता है कि 'सांख्य' मानो कोई प्रणाली या मार्ग है, उसकी बुद्धि या 'ज्ञान' की बात कही गई है। वह चिन्तन की प्रणाली या मार्ग गीता में प्रस्तुत में ज्ञान या दर्शन ही होगा। गीता में जिस मुक्त भाव से सांख्य दर्शन के पारिभाषिक शब्दों या अवधारणाओं का प्रयोग किया गया है उससे यही स्पष्ट होता है कि वह 'सांख्य' ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग के लिए प्रयुक्त हुआ है। अत: सांख्य शब्द को गीता का एक पारिभाषिक शब्द मान लेने पर भी उसका लक्ष्यार्थ कपिल का सांख्य शास्त्र ही निरूपित होता है।[1] जब **'कर्मयोगेन योगिनां'** कहा जा सकता है तब 'ज्ञानयोगेन ज्ञानिना' न कहकर 'सांख्यानां' क्यों कहा गया? निश्चय ही 'ज्ञानयोगियों' के 'ज्ञान' के विशेष स्वरूप का उल्लेख अभीष्ट था। वह विशेष ज्ञान कपिलोक्त शास्त्र ही है, यह गीता तथा महाभारत के शान्ति पर्व से स्पष्ट हो जाता है। **'यदेव योगा: पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते**[2] इसीलिए शान्ति पर्व में वसिष्ठ की ही तरह गीता में श्रीकृष्ण भी कहते हैं- **'सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।** शांतिपर्व तथा गीता में तो समान वाक्य से एक ही बात कही गई है- **'एकं साख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति।**

सांख्यकारिका-व्याख्या के आधार पर प्रचलित सांख्यदर्शन में कई स्पष्टीकरण व संशोधन विज्ञानभिक्षु ने

---

[1] भगवद्गीता २/३९

[1] लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ भगवद्गीता, 3।3॥

[2] महाभारत शांति पर्व, गीता

किया है। प्राय: सांख्यदर्शन में तीन अंत:करणों की चर्चा मिलती है जो कि सूक्ष्मशरीर को परिपुष्ट बनाते है। सांख्यकारिका में भी अन्त:करण त्रिविध[1] कहकर इस मत को स्वीकार किया। लेकिन विज्ञानभिक्षु अन्त:करण को एक ही मानते हैं। उनके अनुसार **'यद्यप्येकमेवान्त:करणं वृत्तिभेदेन त्रिविधं लाघवात्'**।[2] आचार्य विज्ञानभिक्षु से पूर्व कारिकाव्याख्याओं के आधार पर प्रचलित दर्शन में दो ही शरीर सूक्ष्म तथा स्थूल मानने की परम्परा रही है। लेकिन आचार्य विज्ञानभिक्षु तीन शरीरों की मान्यता को युक्तिसंगत मानते हैं। सूक्ष्म शरीर बिना किसी अधिष्ठान के नहीं रहा सकता। यदि सूक्ष्म शरीर का आधार स्थूल शरीर ही हो तो स्थूल शरीर से उत्क्रान्ति के पश्चात लोकान्तर गमन सूक्ष्म शरीर किस प्रकार कर सकता है? विज्ञानभिक्षु के अनुसार सूक्ष्म शरीर बिना अधिष्ठान शरीर के नहीं रह सकता अत: स्थूल शरीर को छोड़कर शरीर ही है।[1] **'अङ्गुष्ठमात्र:पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जना हृदये सन्निविष्ट:**[2]**, अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं स**[3] आदि श्रुति-स्मृति के प्रमाण से अधिष्ठान शरीर की सिद्धि करते हैं। अन्य सांख्याचार्यों से लिंग शरीर के विषय में विज्ञानभिक्षु भिन्न मत रखते हैं। वाचस्पति मिश्र, माठर, शंकराचार्य आदि की तरह अनिरुद्ध तथा महादेव वेदान्ती ने भी लिंग शरीर को अट्ठारह तत्त्वों का स्वीकार किया। इनके विपरीत विज्ञानभिक्षु ने सूत्र 'सप्तदशैकम् लिंगम्[4] की व्याख्या करते हुए 'सत्रह' तत्त्वों वाला 'एक' ऐसा स्वीकार करते हैं। इसके अस्तित्त्व का मूल कारण अच्छे-बुरे मानसिक अशुद्धियां या संस्कारों का साथ बना रहना है। उस अज्ञान एवं संस्कारों के समूल नाश से पहले सूक्ष्मशरीर के स्वरूप को समझना अपेक्षित है।

सूक्ष्म शरीर का स्वरूप :-

तेरह करण (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार) तथा पञ्च-तन्मात्रायें, इन अट्ठारह तत्त्वों का यह समूह सूक्ष्म शरीर कहलाता हैं।[5] सांख्य दर्शन के अनुसार मनुष्य जो भी शुभ और अशुभ कार्य करता हैं

---

[1] कारिका 33

[2] सा.प्र.भा. 1/64

[1] सा,प्र.भा. 1/12

[2] कठोपनिषद 1॥6। 17

[3] महाभारत वनपर्व 397/17

[4] सा.प्र.भा. २/९

[5] पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चबुध्दीन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि, मनोबुद्धिरहंकार, एवमष्टादश महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्| माठरवृत्ति,40

उसके परिणाम-स्वरूप संस्कार बनते हैं। इन संस्कारों को ही भाव कहते हैं।[1] ये संख्या आठ में है:- धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये सात्त्विक भाव तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये तामस् भाव हैं। बुद्धि इन्हीं से संयुक्त होकर सूक्ष्म शरीर की रचना करती हैं। सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों में से तेरह करणों को लिंग शरीर भी कहते हैं।[2] जिसका लक्षण है-**'लिंगनाज्ज्ञापनाद् लिंगम्"**[3] अर्थात् जिसके द्वारा पुरूष का ज्ञान होता है वह लिंग हैं। इस तरह लिंग अर्थात् तेरह करणों में जब पञ्च तन्मात्राएं जुड़ जाती हैं, तो वह सूक्ष्म शरीर हो जाता हैं। सूक्ष्म शरीर का अपर नाम लिंग शरीर हैं। सूक्ष्म शरीर का **'लयं गच्छतीति लिंगम्'** की व्युत्पत्ति से इसका नाम लिंग रखा गया अथवा जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका विनाश भी अवश्यसम्भावी है, इस व्याप्ति से सूक्ष्म शरीर अपने विनाश का घोतक होने से लिंग कहा गया। यह लिंगत्व सूक्ष्म शरीर को प्रधान(मूल प्रकृति) से पृथक करता है, क्योंकि प्रधान किसी से भी उत्पन्न नही होता। ये सूक्ष्म शरीर व्यक्ति-भेद कर्म विशेष से अलग-अलग होते हैं।[1] यह लिंग शरीर सृष्टि के आरम्भ से उत्पन्न होकर प्रलय पर्यन्त बना रहता है और इसमें सर्गादीकाल से ही भोग विद्यमान रहता हैं।[2] इस संबंध में सांख्यकारिका का चालिसवां श्लोक उधृत किया गया है-

" पूर्वोत्पन्नमसक्तं, नियतं, महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।

संसरति निरूपभोगं भावैरधिवासितं लिंगम्।।"

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में पूर्वोत्पन्न, असक्त, नियत, महत् तत्त्व से लेकर सूक्ष्म तन्मात्रापर्यन्त, भोगरहित, धर्म, अधर्म आदि भावों से युक्त लिंग शरीर संसरण या गमनागमन करता रहता है अर्थात् यह सृष्टि के आरम्भ में

---

[1] सा च बुध्दिरष्टांडिका सात्त्विकतामसरुपभेदात्।-गौडपादभाष्य,२३

[2] लिंग प्रलयकाले प्रधाने लय गच्छति इति लिंगम्। माठरवृत्ति,40

[3] सांख्यतत्वकौमुदी,41

[1] व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्।सा.सू.३/१०

[2] पूर्वेत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादिकस्य नेतरस्य।सां.सू.3.8

प्रकृति के द्वारा प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक-पृथक उत्पादित –**'पूर्वोत्पन्न'**।[1] यह सूक्ष्म शरीर **'असक्त'** होता है अर्थात् इतना सूक्ष्म होता हैं कि शिलाओं में भी आसानी से प्रवेश कर सकता हैं। **'नियत'**[2] होने के कारण इसे नित्य मानते हैं क्योंकि जब तक यह कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो जाती है, तब तक यह बना रहता हैं। यह सूक्ष्म शरीर बुद्धि से लेकर सूक्ष्मभूत तन्मात्रा (महत्तत्व, अहंकार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रियों, पञ्चकर्मेन्द्रियों, पञ्चतन्मात्रा) आदि अठारह तत्वों का समुदाय[3] अर्थात् परिणाम[4] होता है- **'महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्'।** यह सूक्ष्म शरीर '**संसरति निरूपभोगं'** अर्थात् सूक्ष्म शरीर से विषयों का भोग साक्षात् संभव नही होता अपितु स्थूल शरीर के द्वारा ही यह विषयों का उपभोग करता हैं। अत: जब तक यह स्थूल शरीर प्राप्त नही करता तब तक बिना भोग किये इधर-उधर लोक में विचरण करता रहता हैं। यह '**भावैरधिवासितं'** अर्थात् धर्माधर्मादि भावों से अधिवासित होने से ही इसका संचरण होता है, क्योंकि धर्माधर्म निमित्तक ही संसार हैं। ये धर्म, अधर्म आदि भाव बुद्धिनिष्ठ होते है ना कि आत्मनिष्ठ। ओर बुद्धि सूक्ष्म शरीर में रहती हैं। इसलिए बुद्धि से युक्त होने के कारण सूक्ष्म शरीर भी धर्म आदि भावों का उसी प्रकार से भोग करता है जैसे चम्पक पुष्प के सम्पर्क से वस्त्र सुगन्धित होता हैं। इस तरह धर्म-अधर्म आदि से युक्त होने के कारण सूक्ष्म शरीर संचरण करता हैं। यह सूक्ष्मशरीर पुरूषार्थ के निमित्तक होते हुए सर्गादि में प्रवृत्त होता है। यह पुरूषार्थ दो प्रकार का होता है। जैसे –शब्दादिविषयोपलब्धिरूप भोग और गुणपुरूषान्तरोपलब्धिरूप मोक्ष है। यह धर्माधर्मादि निमित्त भाव और ऊर्ध्वगमनादि नैमित्तिक भावरूप प्रसङ्ग से प्रकृति के विभुत्व के साथ युक्त हो जाने के कारण अभिनेता की तरह व्यवस्थित रहता है। यहाँ पर प्रकृति के विभुत्व को जयमङ्गलाकार ने जगत्कारणत्व माना है उदाहरण के लिए जिस प्रकार कोई नट अपने विभुत्व के कारण कदाचित् राजा का रूप धारण करता कभी वह देवता के स्वरूप को ग्रहण करता है, उसी प्रकार लिङ्गशरेर प्रकृति के विभुत्व के कारण धर्मादि भावों से अधिवासित होते हुए मानुष, दैव अथवा तिर्यक् सर्गों को प्राप्त करते हुए संसरण को प्राप्त करता है। जब ज्ञान का उदय होता है तब वह संसरण से मुक्त हो जाता है। शरीर से इतर शरीर में संसरण हेतु पुरूषार्थ ही निमित्त है और धर्मादि के कारण ही उतपन्न

---

[1] प्रधानेनादिसर्गे प्रतिपुरुषमेकैकमुत्पादितम्।सां.त.कौ.४०

[2] आ चादिसर्गादा च महाप्रलयादवतिष्ठ्ते।सां.त.कौ.४०

[3] महदहंकारै एकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रापर्यन्तम्, एषां समुदाय: सूक्ष्मशरीरम्।तत्वकौमुदी

[4] महदहंकारै एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणीत्येतत् इत्यर्थ:। जयमंगला

भिन्न-भिन्न गज, मनुष्यादि स्थूलशरीर उसके फल है। धर्म-अधर्म के कारण ही स्थूलशरीर का ग्रहण होता है। जब मनुष्य में ज्ञानादि से पुरूष की केवलता की सिद्धि होती है तब सूक्ष्मशरीर संसरण से निवृत्त हो जाता है।[1]

तर्ककौमुदीकार ने महाभारत का उद्धरण देते हुए स्पष्ट किया है कि जब यम ने सत्यवान के शरीर से अङ्गुष्ठमात्र पुरूष को पाश से बांधकर निकाला।[2] यहां महाभारत के श्लोक में अङ्गुष्ठमात्र पुरूष' सूक्ष्मशरीर का अर्थ देता है। क्योंकि व्यापक आत्मा को कहीं से भी नही निकाला जा सकता। स्थूलशरीररूप पुरी में शयन करने से सूक्ष्मशरीर ही पुरूष है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्थूलशरीर उत्पत्ति एवं मृत्यु होने से पूर्व सूक्ष्मशरीर भटकता रहता है।[1] नारायणतीर्थ ने इसके सन्दर्भ में कहा है कि बुद्धि आदि त्रयोदश तत्त्वों का लिङ्गशरीर सूक्ष्मशरीररूप धर्मी के आश्रय में ही रहता है। व्यापक सूक्ष्मशरीर धर्मी है जो अठारह तत्त्वों से निर्मित्त और व्याप्य लिङ्गशरीर उसका धर्म है।[2]

सूक्ष्म शरीर को मानने की आवश्यकता :-

लिंग पद से आत्मा के ज्ञापक बुद्धि आदि त्रयोदश करणों का ग्रहण होता है न कि सूक्ष्म शरीर। ये बुद्धयादि करण किसी न किसी पर आश्रित होते है, क्योंकि बिना आश्रय के ये काम नही कर सकते। जन्म-मरण के बीच में स्थूल शरीर पर आश्रित रहते है किन्तु मृत्यु के बाद और पुन: जन्म ग्रहण से पूर्व आश्रय का अभाव होता हैं। इसलिये इनके आश्रयभूत लिंग/सूक्ष्म शरीर की कल्पना निराधार नही हैं। जैसे-

"चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया।

तद्वद्विनाऽविशेषैर्न तिष्ठित निराश्रयं लिंगम्॥"[3]

---

[1] पुरूषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥ -सांख्यकारिका ४२

[2] ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरूषं निश्चकर्ष बलाद् यमः। -वनपर्व २१६

[1] अङ्गुष्ठमात्रत्वेन सूक्ष्मशरीरमुपलक्षयति। आत्मनो निष्कर्षासंभवात् सूक्ष्ममेव शरीरं पुरूषः, तदपि पुरि स्थूलशरीररे शेत इति। -तकौ, सांका ४१

[2] विशेषैरतिसूक्ष्मैः शरीरैर्विना लिङ्गं....न तिष्ठति किन्तु सूक्ष्मशरीराश्रितमेव तिष्ठति, अतस्तेषां सूक्ष्मशरीरमावश्यकम्। - सांका ४१, चन्द्रिका टीका

[3] सां. का.४१।. चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया। सा.सू. 3.12

अर्थात् बिना आधार के कोई चित्र अथवा बिना वृक्षादि के छाया नही हो सकती उसी प्रकार अविशेष अर्थात् तन्मात्रा के बिना लिंग/बुद्ध्यादि करण नही रह सकते। ये तन्मात्राएं स्वाभाविक जल की तरह रहती है अर्थात् शान्त, घोर, मूढ़ से रहित। जिस प्रकार जल के बिना शीतलता नहीं रहती, वायु स्पर्श के बिना नहीं रहती, अग्नि उष्णता के बिना नहीं रहती उसी प्रकार स्थूल शरीर लिंग शरीर के बिना नहीं रहता हैं। जब तक कर्मों का भोग पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक सूक्ष्म शरीर बना रहता है और यह नाना योनियों में स्थूल शरीर के माध्यम से पुनर्जन्म लेता रहता हैं।[1] स्थूल शरीर मूर्त्त होता है अतः मूर्त्त शरीर मूर्त्त पदार्थो का उपभोग नही कर सकता। यह सूक्ष्म शरीर के माध्यम से ही हो सकता हैं।[2] यह सूक्ष्म शरीर पुरूषार्थ के लिए प्रवृत्त होता हैं। जिस प्रकार राजा अपने देश में समर्थ होने के कारण जो-जो चाहता है वह कर लेता है उसी प्रकार प्रकृति भी सर्वत्र व्यापक होने के कारण निमित्त-नैमित्तिक प्रसंग से पृथक-पृथक देह धारण में सूक्ष्म शरीर की व्यवस्था करती हैं। सूक्ष्म परमाणुओं से तन्मात्राओं से उपचित तेरह करणों वाले सूक्ष्म शरीर की मानुष, दैव तथा तिर्यक योनियों में व्यवस्था करता हैं अर्थात् सूक्ष्म शरीर भिन्न योनियों में शरीर धारण करता हैं। कैसे? नटवत्। जैसे- नट परदे पर वेश बदल कर आता है, कभी देवता बनकर आता है तो पुनः मनुष्य बनकर आ जाता है फिर विदूषक या अन्य बनकर। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर निमित्त-नैमित्तिक प्रसंग से हाथी, स्त्री, पुरूष आदि रूपों को धारण करता हैं।[1] इस तरह सूक्ष्म शरीर भोगों क उपभोग करने के लिय स्थूल के माध्यम से तब तक पुनर्जन्म लेता रहता हैं जब तक उसमें भोग पूर्ण नही हो जाते।

सूक्ष्मशरीर एवं त्रिगुणात्मक सिद्धान्त:-

सृष्टि प्रक्रिया में त्रिगुणात्मक प्रकृति से सर्वप्रथम महत्तत्व का प्रादुर्भाव होता है। महत्तत्त्व से अहंकार एवं अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। ये ग्यारह इन्द्रियॉ पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय एवं मन हैं।

---

[1]. उपभोगादितरस्य।सा.सू.५

[2] मूर्त्तत्वेऽपि न सङ घातयोगात् तरणिवत्।सा.सू.3.13

[1] पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्त-नैमित्तिकप्रसङ्गेन।

प्रकृतेर्विभुत्वौयोगान्नटवत् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥ सा.का.४२

साख्यकारिका एवं महाभारत में अहंकार से मन की उत्पत्ति वर्णित है।[1] अहंकार तीन प्रकार का होता है- सात्विक, राजस एवं तामस। सात्विक अहंकार राजस की सहायता से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति करता है। वाचस्पति मिश्र (२५) को भी यही मत स्वीकृत है परन्तु विज्ञानभिक्षु को सात्विक अहंकार से मन की उत्पत्ति एवं राजस अहंकार से दस इन्द्रियों की उत्पत्ति स्वीकृत है।[2]

विष्णुपुराण में मन की उत्पत्ति केवल सात्विक अहंकार से वर्णित है।[3] इसी स्थल पर सात्विक अहंकार से मन के साथ इन्द्रियों के अधिष्ठाता दस देवताओं की उत्पत्ति का भी वर्णन किया गया है।

सांख्य के अनुसार मन अहंकार से उत्पन्न होता है किन्तु चरक ने अन्य द्रव्य के समान इसको भी पॉच भौतिक तत्त्व माना है।[1] अन्तिम कारण प्रकृति होने से उसके तीन गुण सत्व, रजस् और तमस् मन में भी होते हैं जिनमें से रजस् और तमस् को इसका दोष माना जाता है।[2] इन तीनों मानसिक गुणों के अनुरूप ज्ञान, प्रवृत्ति, अज्ञान आदि कार्य प्रत्येक मन में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रत्येक मन में सामान्यतः अन्य गुणों के अनुरूप यदा-कदा कार्य होते हुए भी अधिकता एक-एक गुण की होती है और उन्हीं के अनुरूप कर्म दृष्टिगोचर होते हैं। इस अधिक गुण के कारण ही मन तथा उसके अधिष्ठाता पुरुष को सात्विक, राजस एवं तामस कहा जाता है।[3] जिस प्रकार शारीर रोग के कारण वात, पित्त एवं कफ हैं वैसे ही मानस रोगों के कारण रजस् और तमस् हैं । इन्हें मानस दोष कहा जाता है।[4] सत्वगुण के उदय से मन दोषरहित और मानस रोगों से मुक्त हो जाता है।[5]

महाभारत में मन को छठी इन्द्रिय कहा गया है।[6] महाभारत के ही अन्य पर्व में मन का वर्णन ग्यारहवीं इन्द्रिय के रूप में हुआ है।[7] मनुस्मृति[8] एवं कूर्मपुराण[1] में भी मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय एवं ब्रह्मपुराण[2] में मन को छठी इन्द्रिय

---

[1] साख्यकारिका.२, महाभारत, शान्ति० ३१०.१८

[2] विज्ञानभिक्षु, ३.११

[3] विष्णुपुराण १.२४७

[1] चरक शा०,१.१७-६३

[2] च०सू०, १.५७

[3] . सु०,शा०, १.१८, च०सू०, ४.३६.

[4] . च० शा०, ४.३६.

[5] च० शा०,१.३६

[6] शान्ति०,१९४.११

[7] आश्व०४२.१२

[8] मनुस्मृति २.९२

इन्द्रिय कहा गया है। चरक ने भी मधुर रस मे गुणनिरूपण के प्रसंग में इसे छठी इन्द्रिय माना है।[3] सांख्यकारिका एवं तत्त्वकौमुदी में मन को उभयात्मक कहा गया है।[4] मन ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय दोनों स्वरूप वाला है क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय और वाक् आदि कर्मेन्द्रिय मन से अधिष्ठित होने पर ही स्व- स्व विषयों को ग्रहण करती हैं। महाभारत, याज्ञवल्क्य स्मृति एवं लिङ्गपुराण में भी मन को उभयात्मक कहा गया है क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों है।[5] आयुर्वेद में भी मन को उभयात्मक माना गया है क्योंकि मन के अधीन होकर ही इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।[1] सांख्यकारिका में मन के पर्यायों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। चरक ने एकीय मत के माध्यम से अतीन्द्रिय, सत्व और चेतस् ये तीन पर्याय मन के कहे हैं।[2] चरकसंहिता में मन के अर्थ में मन के अतिरिक्त सत्त्व शब्द का प्रचूर प्रयोग हुआ है यह इन्द्रियों से परे या श्रेष्ठ है अतएव इसे अतीन्द्रिय कहा गया है।[3] चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में हृदय मन से सर्वथा भिन्न है। सांख्यकारिका में मन के गुणों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। महाभारत में मन को नव गुणों से युक्त कहा गया है। ये गुण क्रमशः धैर्य, तर्क, उपपति, स्मरण (व्यक्ति), भ्रान्ति, कल्पना, क्षमा, शुभ, एवं अशुभ सङ्कल्प और चञ्चलता है।[4] इसी पर्व के एक अन्य स्थल पर मन को छः गुणों से युक्त बताया गया है।[5] **अष्टांग्डहृदय में** रजस् और तमस् ये मन के द्विविध दोष माने गये हैं।[6] मन के सदोष युक्त होने पर सूक्ष्मशरीर का पुनर्जन्म होता रहता है। सूक्ष्मशरीर सात्त्विक प्रवृत्तियों के अनुसार आचरण करने पर शारीरिक आत्यान्तिक दुःखों से निवृत्ति सम्भव है।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में सांख्यदर्शन को द्वैतवादी दर्शन की दृष्टी से देखा गया है। विश्व में त्रिगुणात्मक अचेतन तत्त्व प्रकृति का अंश है और इससे विलक्षण तत्त्व चेतन है। पुरुष स्वयं गुणों से रहित एवं प्रकृति के विकारों

---

[1] कूर्मपुराण १.४.२३

[2] ब्रह्मपुराण २३६.५५

[3] सू० २६.४३

[4] सांख्यकारिका.२७, तत्त्वकौमुदी.२७

[5] महाभारत,आश्व० ४२.१६, याज्ञवल्क्य स्मृति ३.४.८२, लिङ्गपुराण ३.२७

[1] . अ० सं०, शा० ५.४५, भा० पु०, सृ० १६.

[2] . अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके। (च०सू०, ८.४).

[3] सू० ८.४ पर चक्रपाणि

[4] . धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः॥ (महा० शान्ति० २५५.९).

[5] महाभारत, ३०१.१५

[6] . रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ। (अ० हृ० सू०, १,२१).

का द्रष्टा है।[1] ये दोनों अनादि, अनन्त, अलिङ्ग, निराकार, नित्य, अविचल, और महान से भी महान हैं। अव्यक्त एवं पुरुष सम्पूर्णतः इन्द्रियों के विषय नहीं हैं। दोनों ही आकार रहित तथा एक-दूसरे से विलक्षण हैं।[2] सृष्टि और प्रलय प्रकृति के धर्म हैं। पुरुष उनसे सर्वथा सम्बन्ध नही रहता है तथापि उस प्रकृति के संसर्गवश पुरुष भी उस सृष्टि और प्रलयरूप धर्म से सम्बद्ध-सा प्रतीत होता है। इन्द्रियों का विषय न होने पर भी वह इन्द्रियगोचर तथा निर्गुण होने पर भी गुणवान्-सा प्रतीत होता है।[3] सांख्य दर्शन में व्यक्त और अव्यक्त के कतिपय सामान्य धर्म वर्णित है एवं पुरुष को उन धर्मों से विपरीत चित्रित किया गया है। इस प्रकार पुरुष त्रिगुणहीन, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन और अप्रसवधर्मी है। पुरुष चेतन है अतः वह विषयों का द्रष्टा है। विषय स्वतः विषय का अवलोकन नहीं कर सकते हैं। चेतन ही विषयों का द्रष्टा होता है। पुरुष अविषय एवं प्रकृति विषय है तथा प्रकृति के कार्यों का साक्षी है।[1]

सूक्ष्मशरीर के अत्रिगुणत्त्व से उसका कैवल्य सूचित होता है। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही कैवल्य है और वह तो पुरुष के स्वभावतः अत्रैगुण्य अर्थात सुख, दुःख एवं मोह से रहित होने के कारण सिद्ध है क्योंकि सुख से तृप्त होने वाला सुखी तथा दुःख से द्विष्ट होने वाला व्यक्ति दुःखी है। सुख-दुःख से रहित रहने वाला तो मध्यस्थ या उदासीन कहा जाता है। विवेक एवं अपरिणामी होने से वह अकर्त्ता भी है[2] किन्तु गुणरत्न के अनुसार आत्मा विषय सुख आदि का तथा इनके कारण पुण्य आदि कर्मों को नहीं करता इसलिए वह अकर्त्ता है।[3]

सांख्य दर्शन में पुरुष को न तो प्रकृति न तो विकृति कहा गया है क्योंकि यह न तो किसी तत्त्व से उत्पन्न करता है न ही किसी तत्त्व को उत्पन्न करता है।[4] इस कारण पुरुष अनुभयात्मक है।[5] यह ज्ञानी आत्मा न तो उत्पन्न होता है न तो मरता है। यह न किसी से उत्पन्न हुआ है और न इससे ही कोई उत्पन्न हुआ है। यह न तो किसी का कार्य है और न कारण ही। यह अजन्मा, नित्य एवं शाश्वत है। शरीर के नाश होने पर भी यह आत्मा नष्ट नहीं होती।[6] महाभारत

---

[1] . प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणान्वितम्। महा०, शान्ति० २१७.१०.

[2] . महा०, शान्ति० ,२१७.७-१०.

[3] . महा०, शान्ति० , ३०२.४१.

[1] सांख्यकारिका ११

[2] . तत्त्वकौ०, १९.

[3] गुणरत्न, २१

[4] सांख्यकारिका,३

[5] . अनुभयात्मकः पुरुषः। (सर्व० सं०, ५).

[6] . कठो०,१.२.१८.

एवं लिङ्गपुराण यह प्रतिपादित है कि चौबीस पदार्थों से सम्पन्न इस नव द्वार वाले प्राकृत (अव्यक्त) शरीररूपी पुरों में अन्तर्यामी रूप से शयन करने के कारण उस आत्मा को पुरुष कहते हैं[1] एवं अव्यक्त संज्ञक क्षेत्र को जानने के कारण इसकी संज्ञा क्षेत्रज्ञ है।[2] यह सूक्ष्मशरीर में अधितिष्ठित प्रकृतिस्थ होकर प्रकृति के गुणों का भोग करता ह। अहंकार से विमुक्त होने के कारण यह पञ्चविंशक कहा जाता है।[3]

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में पुरुष का आलंकारिक वर्णन करते हुए उसे सहस्रों शिर, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण वाला प्रतिपादित किया गया हैं। वह पृथ्वी को चारों ओर से छूकर भी (व्याप्त हो करके भी) दस अङ्गुल ऊंचा रहा। पुरुष के एक चरण में सारा ब्रह्माण्ड व्याप्त है और उसके तीन अमृत भरे चरण ऊपर द्युलोक में स्थित हैं।[1] अथर्ववेद[2] एवं तैत्तिरीय संहिता[3] में पुरुष शब्द मनुष्य के लिए प्रयुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में पुरुष सौ वर्षों की आयु वाला कहा गया है|[4] पुरुष वह है जो प्रवाहित (वायु) होता है एवं वह इस पुर में लेटा है इसलिए भी वह पुरुष है। इसने सर्वप्रथम सब पापों को दग्ध (औषत्) किया इसलिए इसका नाम पुरुष हुआ।[5] पुरुष अक्षिति[6], अग्नि,[7] संवत्सर[8] एवं प्रजापति है।[9] वह जितनी इच्छाशक्ति के साथ इस लोक में जाता है, मरणान्तर भी उतनी इच्छाशक्ति वाला होकर दूसरे लोक में जाता है।[10] सांख्य के पुरुष एवं उपनिषदों के आत्मवाद के वर्णन में समानता है।[11] बृहदारण्यक

---

[1] महाभारत, शान्ति० ३०६.३८

[2] लिङ्गपुराण २८/५

[3] . कूर्मपु०, १.२.३, ११.

[1] . ऋ०,१.६०.१-३, १०.९०.१-५, १०.९७.४-८, १०.१६५.३.

[2] . अथर्व०, ३.२१.१, ५.२१.४, ८.२.२५, ८.७.२, १२.३.५१, १२.४.२५.

[3] . तैत्ति० सं०, २.१.१.५, २.२.२.८, ५.२५.१.

[4] शतपथ ब्राह्मण,७.५.२.१७

[5] . श० ब्रा०, १४,४.२.२.

[6] शतपथ ब्राह्मण १४.४.३.७

[7] . वहीं, १४.९.१.१५, १४.४.१.६.

[8] . वहीं, १२.२.४.१.

[9] . वहीं, ६.२.१.२३, ६.२.२.९.

[10] शतपथ ब्राह्मण, १०.६.३.१

[11] .(क) असंगो ह्ययं पुरुषः। (बृह० उ०, ४.३.१६).

(ख) निष्फलं निष्क्रियं...। (श्वेता०उ०, ६.१९).

उपनिषद् में औपनिषदिक पुरुष के सम्बन्ध में जिज्ञासा की गयी है।[1] छान्दोग्य उपनिषद् में ओषधियों के रस के रूप में पुरुष को और उसके रस के रूप में वाक् को चित्रित किया गया है।[2] प्रश्नोपनिषद्[3] एवं भागवतपुराण में पुरुष को सोलह कलाओं से युक्त कहा गया है। साथ ही भागवतपुराण का कथन है कि पुरुष सोलह कलाओं से युक्त होकर सूक्ष्मशरीर के माध्यम से सोलह विषयों का भोग करता है।[4] यद्यपि अक्षर तत्त्व निमित्त, अविनाशी, कर्त्ता, बोद्धा, ब्रह्म-गुणी, वशी एवं अज है तथापि शरीर ग्रहण करने के अनन्तर कहा जाता है कि आत्मा का जन्म हुआ है। आत्मा अनादि है, उसका सूक्ष्मशरीर से युक्त होना ही उद्भव कहा जाता है। देह से परे आत्मा अस्तित्व सिद्ध होता है, जो सम्पूर्ण जगत् का कारण है। आत्मा चेतन एवं गुणों का साक्षी है। गुण जड होने के कारण आत्मा का ज्ञान नहीं रखते परन्तु चेतन आत्मा इन गुणों का साक्षी है। चरकसंहिता में आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ के समुदाय को पुरुष की संज्ञा दी गयी है।[1] यह आत्मा ज्योतिस्वरूप, चिदानन्दरूप, नित्य, निःस्पृह और निर्गुण होता हुआ भी प्रकृति से युक्त होने से सगुण होकर जगत् को उत्पन्न करता है।[2]

सूक्ष्मशरीर का अनेकत्व:-

सांख्य दार्शनिक परम्परा में पुरूष के बहुत्व के आधार पर सूक्ष्मशरीर की भी बहुत्व सत्ता स्वीकार की गई है। भावगणेश ने आत्मा के तीन लक्षण दिये हैं, जो क्रमशः कूटस्थनित्य, मुख्यभोक्तृत्व एवं वृत्तिसाक्षित्व मिति है।[3] किन्तु भागवतपुराण के अनुसार आत्मा नित्य, अव्यय, शुद्ध, एक क्षेत्रज्ञ, आश्रय, निर्विकार (अविक्रय), स्वयं-प्रकाश (स्वदृग), हेतु, व्यापक, असंग एवं अनावृत है। ये द्वादश आत्मा का लक्षण हैं। आत्मतत्त्व जिज्ञासु पुरुष को शरीर के अज्ञानवश उत्पन्न होने वाला अहं त्याग देना चाहिए।[4] काश्यपसंहिताकार चेतना, अहंकार, प्राण, अपान, उन्मेष,

---

[1] . तत्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि। (बृह० उ०, ३.६.२६).

[2] छान्दोग्य उपनिषद्,१.१.२

[3] प्रश्नोपनिषद्,६.१

[4] भागवतपुराण, १.३.१, २.४.२३

[1] . आत्मेन्द्रियमनोर्थानां योऽयं पुरुषसंज्ञकः।
राशिरस्यामयानां च प्रागुत्पत्तिविनिश्चये॥ च० सू०, २५.४

[2] भा०पू० सृ०, ३

[3] . कूटस्थनित्य इत्येकं लक्षणम्। मुख्यभोक्तृत्वमित्यपरं लक्षणम्। वृत्तिसाक्षित्वमिति तृतीयं लक्षणम्। -तत्त्वया०,३

[4] भागवतपुराण,७.७.१९-२०

सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, स्मृति, धृति, बुद्धि आदि को आत्मा का लिङ्ग माना गया हैं। इसके अभाव में व्यक्ति मृत हो जाता है अर्थात मृत स्थूलशरीर ही शेष रह जाता है।[1] यह सभी संघातों (वस्तु समूहों) के दूसरे के लिए होने से, त्रिगुण आदि का अभाव होने से, सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिए चेतन अधिष्ठाता तथा भोक्ता की अपेक्षा होने से एवं मोक्ष के लिए प्रवृत्त होने से पुरुष की सत्ता के पृथकता के आधार पर सूक्ष्मशरीर का भी प्रथक-प्रथक होना सिद्ध होता है।[2] सांख्यदर्शन में पुरुष एक नहीं बल्कि अनेक स्वीकृत किये गये हैं। भावगणेश (३) ने पुरुष बहुत्व को कपिल, आसुरि, पञ्चशिख, तथा पतञ्जलि आदि प्राचीन सांख्याचार्यों का सिद्धान्त बताया है। महाभारत में भी कहा गया है कि सांख्य और योग की विचारधारा के अनुसार इस जगत् में पुरुष अनेक हैं।[1] साख्यकारिका में पुरुष बहुत्व की सिद्धि के लिए कहा गया है कि सभी शरीरों में एक ही पुरुष की उपस्थिति मानने पर जन्म और मृत्यु की व्याख्या नहीं हो सकती है। क्योंकि सभी शरीरों के अधिष्ठाता एक ही पुरुष को मानने से एक पुरुष के उत्पन्न होने पर सबकी उत्पत्ति, एक के मरने पर सबकी मृत्यु, एक के अन्धा होने पर सबको अन्धा हो जाना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। अतः यही मानना युक्तियुक्त है कि प्रति क्षेत्र के अधिष्ठाता भिन्न-भिन्न पुरुष हैं।[2] इसी आधार पर सूक्ष्मशरीर का भी अनेकत्व सिद्ध होता है। पुरुष की अनेकता में दूसरी युक्ति यह है कि सभी प्राणियों की एक साथ प्रवृत्ति नहीं होती। यदि एक ही पुरुष की सत्ता को माना जाय तो एक के उठने-बैठने, खाने-पीने तथा चलने आदि पर सभी का उठना, बैठना, खाना, पीना, चलना आदि सम्पादित होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। श्रुति भी कहती है कि जब एक पुरुष भोग करता है तो दूसरा त्याग करता है। अतः पुरुष एक नहीं अनेक हैं।[3] जब पुरूष एक नही तो सभी प्राणियों का सूक्ष्मशरीर एक कैसे हो सकता है। इस आधार पर सूक्ष्मशरीर का बहुत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार षिमानन्द का कथन है कि आकृति, गर्भाशय, भाव संगति तथा शरीर के प्रति प्रतिव्यक्ति पृथक्-पृथक् होने से कपिल, आसुरि,

---

[1] . अस्य लिङ्गानि चेतनाहंकारप्राणापानोन्मेषनिमेषसुखदुःखेच्छाद्वेषस्मृतिधृतिबुद्धयः तदभावे मृताख्या। (का०सं०,७९).

[2] . संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्य्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च॥ (सां० का०, १७).

[1] . बहवः पुरुषा लोके सांख्ययोगेविचारणे। (महा० शान्ति०,३५०.२).

[2] जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥ -सांख्यकारिका, १८

[3] . तैत्ति० आ०,१०.१०.५, श्वेता० उ०, ४.५.

पञ्चशिख तथा पतञ्जलि प्रभृति आचार्य पुरुष की अनेकता का निरूपण करते हैं।[1] त्रिगुणभेद के कारण भी पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है। लोक में अनेक प्रकार के प्राणी हैं। किसी में सत्त्व की बहुलता है जैसे ऊर्ध्वरेता ऋष। किसी में रजस् गुण की मात्रा अधिक है जैसे साधारण मनुष्य। पशु-पक्षियों में तमोगुण की बाहुल्य होता है। इसलिए सबका अधिष्ठाता एक ही पुरुष होता तो प्राणियों में इस प्रकार का तीनों गुणों का वैषम्य नहीं रहता। पुरुषों को परस्पर भिन्न मानने पर उनकी प्रकृति के अनुसार उनके गुणों का न्यूनाधिक्य स्वाभाविक हो जाता है। अतः प्रति शरीर के अधिष्ठाता पुरुष अनेक होने से सूक्ष्मशरीर का अनेकत्व सिद्ध होता है।

सूक्ष्मशरीर एवं सृष्टि-विकास क्रम :-

सांख्य दर्शन परम्परा में सृष्टि विकास क्रम के माध्यम से सूक्ष्मशरीर की अभिव्यक्ति समझाने का प्रयास किया गया है। प्रकृति के तीनों गुणों का साम्य ही लय और वैषम्य ही सृष्टि का विकास है।"[1] सांख्यदर्शन सत्कार्यवाद सिद्धान्त को स्वीकार करता है उसके अनुसार कार्य-कारण में एकता होनी अनिवार्य है। कारण का ही व्यक्त रूप कार्य है। साथ ही साथ सांख्यप्रस्थान में यह भी मान्य है कि कारण से उत्पन्न कार्य आभासमात्र न होकर वास्तविक है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि यह दृश्यमान जगत् किसका परिणाम है। उपनिषदों ने भी इस प्रश्न को उठाया है कि इस विशाल ब्रह्माण्ड का मूल कारण क्या है? उत्तर के रूप में कुछ विद्वान काल को, कुछ स्वभाव को, कुछ नियति को, कुछ यदृच्छा को तथा कुछ ईश्वर को इस जगत् का कारण मानते हैं किन्तु ये सब तो निमित्त कारण हैं। इस प्रकार जगत् का उपादान कारण इनसे कुछ अन्य होना चाहिए। सांख्यशास्त्रियों का कथन है कि इस जगत् में चेतन और जड़ दोनों की सत्ता है। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जड़ चेतन का कारण या चेतन जड़ का कारण है? इस विषय में सांख्यदार्शनिकों का यह उत्तर है कि जड़ एवं चेतन दोनों ही तत्त्व सर्वथा स्वतन्त्र हैं, इनमें से कोई भी एक-दूसरे का या परस्पर कारण या कार्य नहीं है। यह जगत् जड़ होते हुए भी स्वतः क्रियाशील है। चेतन तत्त्व सर्वथा निष्क्रिय है। विश्व का मूलकारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। सत्व, रजस् एवं तमस् नामक गुण ही इस जगत् के उपादान कारण हैं जो चेतन तत्त्व के संयोग से क्षुब्ध होकर अनेक सजातीय एवं विजातीय तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार इस

---

[1] . आकृतिगर्भाशयभावसङ्गतिशरीरविभागाल्लिङ्गबहुत्वात् सांख्याचार्याः कपिलासुरिपञ्चशिखपतञ्जलिप्रभृतयः पुरुषबहुत्वम् वर्णयन्ति। (सा० त० वि०,३).

[1] . गुणसाम्ये लयो ज्ञेयो वैषम्ये सृष्टिरुच्यते। (लिंगपु०, ७०.७३).

सृष्टि के आद्य कारण के रूप में सांख्यदर्शन प्रकृति को स्वीकार करता है इसलिए इसे प्रकृति-परिणामवादी कहा गया है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका एवं परिवर्तनशील है। प्रकृति में दो प्रकार का परिणाम होता है- सरूप परिणाम एवं विरूप परिणाम। सरूप परिणाम की स्थिति में एक गुण स्वयं में परिवर्तित होता है ऎसी स्थिति में किसी प्रकार सृष्टि या विकास नहीं हुआ करता परन्तु विरूप परिणाम होता है तो एक गुण दूसरे में परिवर्तित होने लगता है अर्थात एक गुण अन्य गुणों को दबाकर अपना कार्य करने लगता है। पुरुष के साथ संयोग होने पर प्रकृति में यह क्षोभ-गुण होता है और इस प्रकार सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। विरूप परिणाम के दौहरान पुरूष एवं सूक्ष्मशरीर के संयोग के कारण के कारण क्षोभ-गुण होने के फलस्वरूप प्रथमतः सूक्ष्मशरीर की अभिव्यक्ति होती है। यहां कार्य-कारण नियम के आधार पर सूक्ष्मशरीर ही स्थूलशरीर का कारण है जो अपने भोग के निमित्त पुनर्जन्म लेता रहता है। सांख्य परम्परा में प्रत्येक दार्शनिक अवधारणा को कार्य-कारण के आधार पर समझाने का प्रयास किया गया है। सत्कार्यवाद के अनुसार कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है इसलिए कार्य एवं कारण दोनों ही सत्य हैं। यद्यपि सांख्य-दार्शनिक प्रकृति को ही मूलतत्त्व मानते हैं और प्रकृति के ही परिणामस्वरूप सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं परन्तु वाचस्पति मिश्र ने भामती में आचार्य वार्षगण्य के नाम से एक श्लोक **'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति। यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायैव सतुच्छकम्'**[1] उद्धृत किया है। इस श्लोक के आधार प्रो० हिरियन्ना ने वार्षगण्य को ब्रह्मपरिणामवादी ठहराया है परन्तु उदयवीर शास्त्री को यह मत अमान्य है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि किसी प्रकार के आधार पर अभी यह अवगत नहीं हो सका है कि वार्षगण्य दृश्यमान जगत् को सर्वथा मिथ्या अथवा काल्पनिक मानते थे। भामतीकार ने भी जिस प्रसंग के साथ इस श्लोक को उद्धृत किया है वहॉ से भी वार्षगण्य के इस प्रकार विचारों की पुष्टि नहीं प्रतीत होती। यहां पर यह शंका उत्पन्न होती है कि दृश्यमान् जगत् का कारण जो कि दृष्टिगोचर नहीं होता और जो गुणों का परमरूप है, वह क्या है? वह प्रकृति है अथवा ब्रह्म। शास्त्रीजी का कथन है कि जहॉ तक वार्षगण्य के विचारों का प्रश्न है, गुणों का परमरूप वह प्रधान को ही कह सकता है ब्रह्म को नहीं। प्रश्न केवल इतना है कि दृश्यमान् जगत् का मूल उपादान चेतन है अथवा अचेतन? वार्षगण्य मूल उपादान को चेतन नहीं मानता अपितु अचेतन प्रधान को ही जगत् का मूलकारण मानता है। उनके विचारों से वही गुणों का परमरूप है। ऎसी स्थिति में प्रो० हिरियन्ना ने वार्षगण्य को ब्रह्मपरिणामवादी किस आधार पर माना है यह कहा नहीं जा सकता।

[1] भामती,२.१.३

इसलिए वार्षगण्य इस जगत् को भी काल्पनिक नहीं मान सकता।[1]

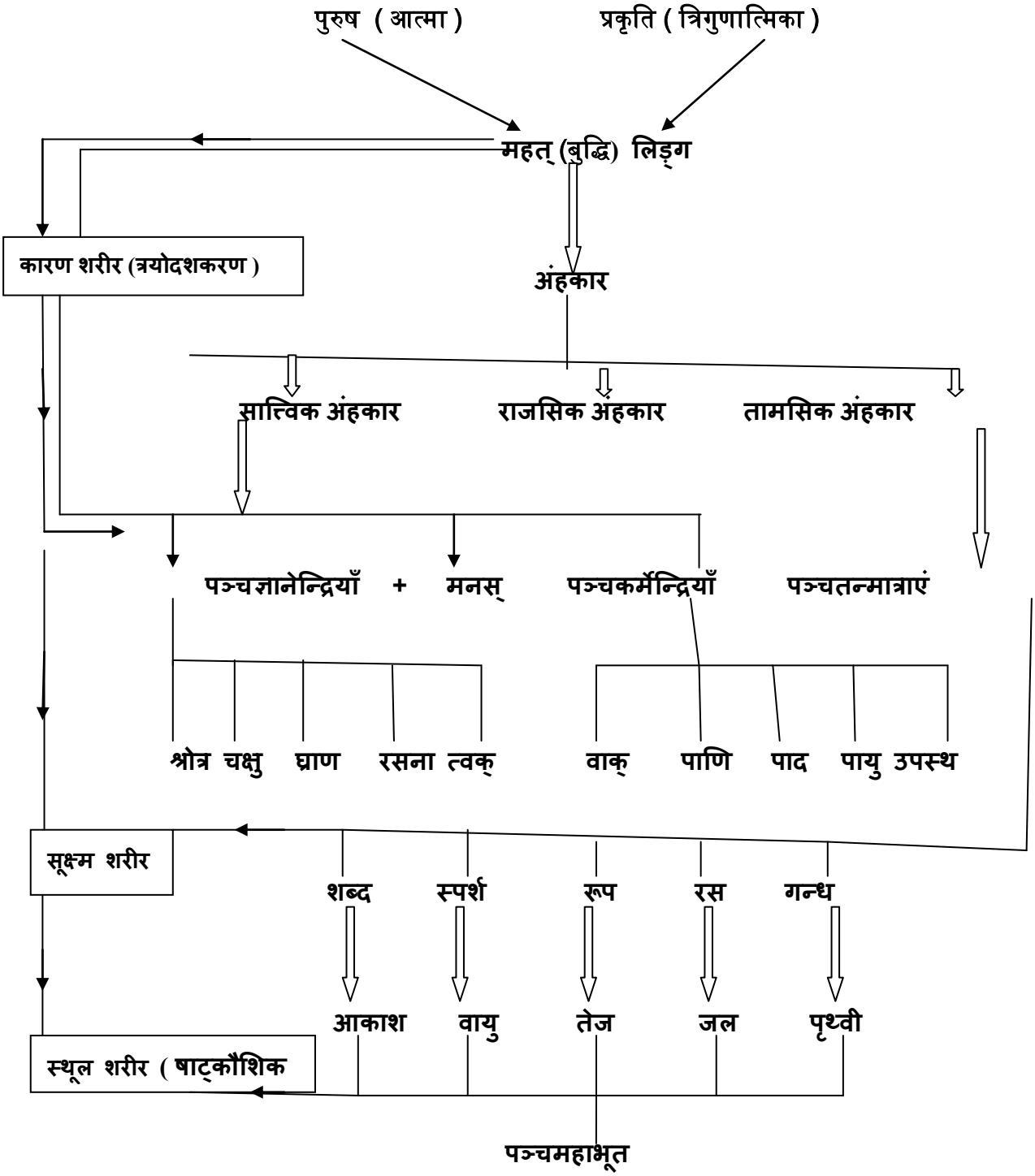

[1] . सा ०द० इ०, पृष्ठ ८७.-८८.

सुश्रुतसंहिता के अनुसार भी अव्यक्त सब भूतों का कारण है किन्तु स्वयं अकारण है और ये सत्त्वरजतम गुण वाला तथा अष्टप्रकृत्यात्मक है। अव्यक्त ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण है जैसे समुद्र जलीय वस्तुओं का आधार है उसी प्रकार यही प्रकृति बहुत से जीवों का आधार है।[1] यह प्रकृति विभिन्न विषय भोग प्रधान होने के कारण, कारण स्वरूप सूक्ष्मशरीर कार्य रूप स्थूलशरीर के माध्यम से भोगों का निष्पादन करता है। भोग के निमित्त ही सूक्ष्मशरीर का आवागमन होता है। यहां पर सूक्ष्मशरीर की दार्शनिक तत्त्वमीमांसा की अभिव्यक्ति के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया गया है।

बुद्धिः- सृष्टि-प्रक्रिया में त्रिगुणात्मक प्रकृति से सर्वप्रथम महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसी को बुद्धि भी कहते हैं। इसको महत् इसलिए कहा जाता है कि धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि सभी उत्कृष्ट (महान्) गुणों का उसमें आवास रहता है।[1] यह सूक्ष्मशरीर को सात्त्विक प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप अधिवासित होते है। ब्रह्मपुराण में इस महत्तत्त्व को हिरण्यगर्भ भी कहा गया है।[2] शंकराचार्य ने प्रकृति से उत्पन्न प्रथम तत्त्व को हिरण्यगर्भ कहा है किन्तु वे हिरण्यगर्भ को महान् आत्मा एवं बुद्धि से पृथक् मानते हैं।[3] कुछ आचार्यों के अनुसार महत् तत्त्वों के बीच में एक और तत्त्व होता है। इसके स्वरूप का यथावत् निर्देश नहीं किया जा सकता। चरक और सुश्रुत दोनों ने बुद्धि को आत्मा का गुण माना है जिससे प्रत्येक पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो उसे बुद्धि कहते हैं।[4] चरकसंहिता के व्याख्याकार चक्रपाणि में बुद्धि के अन्तर्गत स्मृति, चेतना, धृति (धैर्य), अहंकार का ग्रहण करते हैं।[5] इन सब के लक्षण कुछ तो मूल संहिताओं में उपलब्ध हो जाते हैं और शेष टीकाकारों द्वारा विभिन्न सन्दर्भों में उल्लिखित हैं। महत्तत्त्व यद्यपि त्रिगुणात्मक है किन्तु इनमें सत्वगुण की बहुलता होती है। यह स्फटिक के समान निर्मल होता है। चित्त (आत्मतत्त्व) का प्रतिबिम्ब पड़ने पर यह चैतन्य-सा प्रतीत होती है अतः इसे इच्छामय कहा गया है।[6] बुद्धि की वृत्तियों के अन्तर्गत जाग्रत, स्वप्न

---

[1] सुश्रुतसंहिता, शा० १.३

[1] . भारतीय दर्शन, दत्त एवं चटर्जी, पृष्ठ २६१.

[2] ब्रह्मपुराण,२४०.१६-१७

[3] कठो० १.३.१०

[4] . बुद्धिज्ञानं- इह चेतनादीनां बुद्धिग्रहणेनैव ग्रहणम्। (चक्रपाणि का च०सू० १.४९ पर व्याख्यान)। शारीर० १.१७ में पुनः इसी प्रसंग में चक्रपाणि ने यही बात कही है- "अत्र यद्यपि बुद्धिशब्देन चेतनाधृतिस्मृत्यहंकाराः प्राप्यन्त एव बुद्धि प्रकारत्वेन।" डल्हण निश्चयात्मक ज्ञान को बुद्धि मानता है। ("बुद्धि निश्चयात्मिकाः" सु०शा० १.१८ पर) पर चक्रपाणि की परिभाषा इससे भी अच्छी है, वह इसे ऊहापोह के प्रसंग में ज्ञान के प्रति एक कारण मानता है- "बुद्धिस्तु उहापोह्योरेकं गमयत्यात्मानम्।"

[5] चक्रपाणि, सू० १.४९

[6] . त्रिगुणं सत्वबहुल निर्मलं स्फटिकोपमम्।
चिच्छायाप्राप्तचैतन्यं तदिच्छामयमीरितम्॥ (भा० पू० सृ०, ११).

और सुषुप्ति ये तीन वृत्तियां मानी गई हैं। जैसे गन्ध से उसके आश्रय वायु का ज्ञान होता है वैसे ही बुद्धि की इन कर्मजन्य एवं परिवर्तित होनेवाली तीनों अवस्थाओं के द्वारा इनमें साक्षी रूप से अनुगत आत्मा का ज्ञान होता है।[1]

बुद्धि के कार्य के अन्तर्गत ही ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों का भेद विदित होता है। स्वयं अपने को तथा दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करना बुद्धि का स्वभाविक धर्म है। निश्चय को बुद्धि का लक्षण कहा गया है क्योंकि इस जगत् में मन के द्वारा चिन्तित वस्तुओं का बुद्धि से ही निश्चय होता है। इस प्रकार निश्चय के द्वारा ही बुद्धि का ज्ञान होता है।[2] सृजन करने की इच्छा से जब इस महान् को प्रेरणा दी जाती है तो यह इस जगत् की सृष्टि करता है। उसकी संकल्प और अध्यवसाय भेद से दो प्रकार की वृत्तियां कही गयी हैं। मानसिक कर्म का नाम संकल्प तथा सतत श्रम से कार्य करने को अध्यवसाय से अभिहित किया गया हैं।[1]

चरकसंहिता के अनुसार बुद्धि से तात्पर्य ज्ञान से है। स्थूलशरीर में मन सहित ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषय के ग्रहण होने के पश्चात मन एवं बुद्धि का व्यापार होता है। विषय ग्रहण के अनन्तर मन संकल्प करता है तब उस विषय के सम्बन्ध में बुद्धि निश्चय लेती है। इसी निश्चयात्मक बुद्धि के परिणामस्वरूप मनुष्य बुद्धिपूर्वक कुछ कहने या करने में समर्थ होता है।[2]

सूक्ष्मशरीर अभिव्यक्ति में बुद्धि के धर्म त्रिगुणात्मक होते है। इस बुद्धि के आठ रूप हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इसके सात्विक रूप है एवं इसके विपरीत अर्थात अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य या राग तथा अनैश्वर्य इसके तामस रूप हैं।[3] यह धर्म-अधर्म सूक्ष्मशरीर में जन्म-जन्मान्तर तक गमन होते रहते है। धर्म से तात्पर्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस् के साधक हेतु को धर्म से सम्बोधित करते हैं।[4] सुवर्णसप्ततिशास्त्र में यम नियम को धर्म का लक्षण कहा गया है। इस स्थल पर अद्वेष, आचार्य-सत्कार, अन्तर्बहि२शौच, अन्नपान और अप्रमाद को यम एवं अहिंसा, अस्तेय, सत्यवचन, ब्रह्मचर्य एवं अशाठ्य को नियम कहा गया है।[5] माठरवृत्ति में पांच यम और पांच नियमों को धर्म की

---

[1] भा० पु० ७.७.२५-२६

[2] . महा०, शान्ति०,१९४.१३, आश्व०, २२.१२, ४३.२४, ब्रह्मपु०, २३७.५७.

[1] . वायुपु०, ४.४६.

[2] . च०शा०, १.२२-२३.

[3] . सां० का०, २३, तर्करह०, १२.

[4] . यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसिद्धिः स धर्मः। (वै० सू०, १.१.२).

[5] . धर्मः किं लक्षणः। यमनियमाः। यमाः पञ्च। अद्वेषः, अचार्यसत्कारः, अन्तर्बहि२शौचम्, अन्नपाननिग्रहः, अप्रमादः। नियमाः अपि पञ्च। अहिंसा, अस्तेयम्, सत्यवचनम्, ब्रह्मचर्यम्, अशाठ्यम्। (सुवर्ण०, २३).

संज्ञा दी गई है।[1] यहां पर श्रुति-स्मृतिविहित कर्मो के अनुष्ठान करनेवाले के बुद्धिस्थित सत्यावयव को धर्म कहा गया है। इसी प्रसंग में धर्म के द्विविध रूप स्वीकृत हैं। प्रथम में शरीर, इन्द्रिय, विषयोपभोग का निवर्तक एवं ज्ञान आदि का अंगभूत तथा द्वितीय में अग्निहोत्र, हवन आदि क्रियाओं के अनुष्ठान एवं यम, नियम आदि के साधन को स्वीकार किया गया है। इस स्थल पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य को यम तथा अक्रोध, गुरु-शुश्रुषा, शौच, आचार लाघव एवं प्रमाद को नियम कहा गया है।[2] वाचस्पति मिश्र ने अभ्युदय और निःश्रेयस् के अर्थ में धर्म को लिया हैं।[1] अर्थात् धर्म वह है जो लौकिक सुख (अभ्युदय) तथा पारलौकिक कल्याण (निःश्रेयस्) का कारण बनता है। इनमें यज्ञ, दान इत्यादि के सम्पादन से उत्पन्न धर्म लौकिक सुख का कारण बनता है और अष्टांग योग के साधन से उत्पन्न धर्म निःश्रेयस् अर्थात कैवल्य का कारण होता है।

अहङ्कार:- बुद्धि त्रिगुणात्मक होती है।[2] उस त्रिगुण स्वरूप में जब रजोगुण का उद्रेक होता है तो उससे अहङ्कार की उत्पत्ति होती है।[3] यह अहङ्कार सभी प्राणियों में अभिमानरूप में रहता है।[4] 'मै रूपवान् हू' इस प्रकार की आरोपित भाव ही अहङ्कार का लक्षण है। इन्द्रिय से बाह्य वस्तुओं का ग्रहण केवल इसी रूप में होता है कि वह कुछ है। सामान्य रूप से गृहीत उस वस्तु के विषय में मन विशेष रूप से कल्पना करता है अनन्तर 'इस विषय का मै अधिकारी हू', 'इसे करने में समर्थ हू' इत्यादि रूप में विषय को अपने साथ सम्बन्धित कर समझने तथा व्यवहार करने की जो हमारी प्रवृत्ति है उसी को अभिमान कहते हैं।[5] यह अहङ्कार ज्ञान, क्रिया एवं द्रव्य रूप है।[6] यह अहङ्कार कारणरूप तथा कार्यरूप दोनों प्रकार का है।[7] महत्तत्त्व से उत्पन्न होने के कारण यह कार्य एवं एकादश इन्द्रियों और पञ्चतन्मात्राओं को उत्पन्न करने के कारण यह कारणरूप है। अहङ्कार से ही नाना प्राणियों की सृष्टि

---

[1] माठरवृत्ति,२३

[2] सांख्यकारिका की टीका युक्तिदीपिका,२३

[1] तत्त्वकौमुदी,२६

[2] . महा०, शान्ति०, १९४.२२-२४; मार्क० पु०, ४५.३८; भा० पू० सृ०, ११,१२.

[3] . वायुपु०, ४.४८.

[4] . ब्रह्मपु०, २३३.२८.

[5] . सर्व० सं०, ३.

[6] . भा० पु०, २.५.२३.

[7] . महा०, आश्व०, ५०.३६.

होती है।[1] जिस प्रकार जगत् में नियत काल यथासमय ऋतु सम्बन्धी गुणों को प्रगट करता है उसी प्रकार समस्त प्राणियों में अहङ्कार ही उनके कर्मों का प्रवर्तक है।[2] यह अहङ्कार त्रिगुणात्मक अर्थात वैकारिक, तैजस एवं भूतादिरूप है।[3] इस अहङ्कार को अभिमान, कर्त्ता, मन्ता (माननेवाला), आत्मा, पुद्गल, एवं जीव कहा जाता है क्योंकि इससे ही प्राणियों की सभी प्रवृत्तियां होती हैं।[4] यह अहङ्कार भूतादि विकारों का कारण है इसलिए वैकारिक भी माना गया है। यह रजोगुण का स्वरूप है इसलिए तैजस है। इसका आधार चेतन आत्मा है। सारी प्रजा की सृष्टि (प्रजासमः) इसी से होती है इसलिए इसको प्रजापति कहा गया है। यह श्रोत्रादि इन्द्रियरूप देवों का और मन का उत्पत्ति स्थान एवं स्वयं भी देवरूप है। इसलिए इसे त्रिलोक का कर्त्ता (त्रिलोककृत) माना गया है। यह सम्पूर्ण जगत् अहङ्कार स्वरूप है इसलिए यह अभिमन्ता कहा जाता है।[1] इस प्रकार समस्त भूतों का आदि और सबको उत्पन्न करने वाला अहङ्कार सूक्ष्मशरीर का आधारभूत है। यह अहङ्कार ही अपने तेज से सारे जगत् को रजोमय (भोगों का इच्छुक) बनाता है।[2] मेरी जाति उत्तम है, मैं सुन्दर रूप वाला हूं, मैं धनी हूं, मेरा आचरण बहुत श्रेष्ठ है, मैं बुद्धिमान् हूं, मेरा स्वभाव अच्छा है, मेरी विद्या उत्तम है, मेरा कुल उत्तम है, मैं जवान हूं अतः मैं बलवान हूं, मैं शक्तिशाली हूं, मेरा प्रभाव अच्छा है, मैं सर्वगुण सम्पन्न हूं इस तरह का अभिमान करना ही अहङ्कार कहलाता है।[3] इस तरह के भाव से ही सूक्ष्मशरीर की पुनर्जन्म के प्रति प्रवृत्ति बनी रहती है।

एकादश इन्द्रियां:- जिसकी उत्पत्ति में सात्त्विक अहङ्कार उपादान कारण हो, वह इन्द्रिय है एवं इन्द्रियां 'इन्द्र' अर्थात आत्मा के लिंग (ज्ञापक) होने के कारण इन्द्रियां कहलाती हैं।[4] ये इन्द्रियां अंगियों के अंगरूप हैं तथा समस्त

---

[1] . महा०, अनु० १४५.११५८.

[2] . महा०, शान्ति०, २१२.२०.

[3] . महा० शान्ति०, २१२.२१; मार्क० पु०, ४५.३८; कूर्म० पु०, १.४.१८; भा० पू० सृ०, १२.

[4] . अहङ्कारोऽभिमानश्च कर्त्ता मन्ता च स स्मृतः।
आत्मा च पुद्गलो जीवो यतः सर्वाः प्रवृत्यः॥ (कूर्मपु०, १.४.१९).

[1] . महा०, आश्व०, ४१.२-३.

[2] . वहीं०, ४१.५.

[3] . तत्रैवंजातिरूपवित्तवृत्तबुद्धिशीलविद्याभिजनवयोवोर्थप्रभावसम्पन्नोऽहमित्यहंकारः। (च०शा०, ५.१०).

[4] . सात्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्। उभयप्येतत् इन्द्रस्यात्मनश्चिह्नत्वादिन्द्रियमुच्यते। (तत्त्वकौ०, २६).

कर्मों की प्रेरक होती हैं।[1] ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका एवं सर्वदर्शनसंग्रह में इन्द्रियों को आहङ्कारिक माना गया हैं। अहङ्कार से दो प्रकार की तत्त्वसृष्टि होती है- सात्त्विक अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति एवं २) तामस अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राओं की। अहङ्कार के रजोगुण के अंश से दोनों प्रकार के गुणों की उत्पत्ति मानी गयी है क्योंकि रजोगुण ही सत्त्व एवं तम दोनों को प्रेरित कर विकृत होने को बाध्य करता है। प्रकाशक एकादश इन्द्रियां एवम् जड़ तन्मात्राएं रजोगुण के कार्य होते हैं।[2] परन्तु चरकसंहिता के सांख्यनिरूपण में इन्द्रियों को भौतिक (पञ्चभूतों से उत्पन्न) कहा गया है।[3] चरकसंहिता के समान न्यायदर्शन भी इन्द्रियों को भौतिक मानता है।[4] यद्यपि सांख्यकारिका में इन्द्रियों को अहङ्कारिक माना गया है परन्तु सांख्यकारिका की टीका सुवर्णसप्ततिशास्त्र में इन्द्रियों को कहीं आहङ्कारिक[1] और कहीं भौतिक[2] स्वीकार करते हुए उनकी उत्पत्ति पञ्चतन्मात्राओं से बतायी गयी है। युक्तिदीपिका में सांख्याचार्यो ने पञ्चाधिकरण इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं।[3] भावप्रकाश में भी अहङ्कार से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियों को आहङ्कारिक कहा गया है।[4] युक्तिदीपिकाकार का कहना है कि इन्द्रियां भौतिक होने के कारण दूरस्थ विषयों तक पहुंचकर उन्हें ग्रहण नहीं कर सकती किन्तु आहङ्कारिक होने पर कर सकती हैं, क्योंकि समस्त विषयों के साक्षात् या परम्परया अहङ्कार कार्य होने के कारण उनमें आहङ्कारिक इन्द्रियों की व्यापकता सिद्ध है।[5] सूक्ष्मशरीर आहङ्कारिक होने पर ही इन्द्रियां महत् एवं अणु सभी प्रकार के विषयों को ग्रहण कर सकती है। स्थूलशरीर के भौतिक होने पर तो वह स्व-समान परिमाण वाले विषयों को ग्रहण करते हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार जब रजस् अंश और अधिक हो जाता है तब ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। ज्ञानेन्द्रियों की उपादान सामग्री में रजस् का आधिक्य होने से ही उन्हें तैजस अर्थात् राजस कहा जाता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति के समय उपादान सामग्री में तामस अंश अधिक तथा सत्त्वांश न्यून हो जाता है। तामस अंश की अधिकता तथा सत्त्वांश की न्यूनता के कारण ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञान साधनता भी सात्त्विक ही है क्योंकि अन्य अंशों की अपेक्षा कारण सामग्री में सत्वांश अब भी पर्याप्त मात्रा में रहता है। इन्द्रियों की उत्पत्ति तक आध्यत्म सृष्टि पूरी हो

---

[1] . अङ्गिनामङ्गरूपञ्च प्रेरकं सर्वकर्मणाम्। (ब्रह्मवै०, पु०, २.२५.२१).

[2] सांख्यकारिका,२५ सर्वदर्शनसंग्रह,३

[3] चरकसंहिता, ८.१४

[4] न्यायदर्शन,१.१.१२

[1] सांख्यकारिका टीका सुवर्णसप्तति,२०.२२, २४-२६

[2] सांख्यकारिका टीका सुवर्णसप्तति ८, १०, १५, १६

[3] . भौतिकानीन्द्रियाणीति पञ्चाधिकरणतम्। (युक्ति०, २२).

[4] भावप्रकाश,१.२.१३

[5] युक्तिदीपिका,२८

जाती है। इस सृष्टि के सत्त्वप्रधान होने से तथा पुरुष के समीप रहकर उसके भोगापवर्ग को निष्पन्न कराने के कारण आध्यत्म संज्ञा प्रदान की गयी है।[1] सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर के माध्यम से इन्हीं इन्द्रियोँ द्वारा विषयों का ग्रहण करता है और मन उस विषय पर संकल्प-विकल्प कर अभिमान को देता है पुनः बुद्धि निश्चय करके उस ज्ञान को क्षेत्रज्ञ को देता है।[2] इन ग्यारह इन्द्रियों में पॉच ज्ञानेन्द्रिय, पॉच कर्मेन्द्रिय एवं मन के द्वारा यह व्यापार सम्पन्न होता है। सांख्य-योग दर्शन के समान सुश्रुत में भी ग्यारह इन्द्रियां स्वीकृत की गई हैं।[3]

ज्ञानेन्द्रियां:- श्रोत्र,त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं नासिका ये पञ्च ज्ञानेन्द्रियां हैं। ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान के बाह्य साधन हैं। ये क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान कराता है। इन्हीं शब्दादिकों का ज्ञान प्राप्त कराने के कारण इन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है।[1] जयमंगलाकार के अनुसार बुद्धिपूर्वक पर्यालोचन को ही सांख्याचार्यों ने बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) कहा है।[2] वाचस्पति मिश्र (२३) का कथन है कि सात्त्विक अहङ्कार का कार्य होते हुए रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के आलोचन (प्रत्यक्षीकरण) के जो करण हैं वे ज्ञानेन्द्रियां हैं। सांख्यकारिका एवं सांख्यसूत्रों में सात्त्विक अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति अभिमत है।[3] परन्तु विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचनभाष्य में सात्त्विक अहङ्कार से केवल मन की उत्पत्ति एवं तैजस अहङ्कार से दस इन्द्रियों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है।[4] विज्ञानभिक्षु के समान भागवतपुराणकार भी तैजस अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[5] श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं नासिका ये पॉच ज्ञानेन्द्रियां सर्वत्र स्वीकृत है परन्तु महाभारत[6] के एक स्थल पर पॉच इन्द्रिय, चित्त, मन एवं बुद्धि इन आठ तत्त्वों के समूह को ज्ञानेन्द्रिय की संज्ञा दी गयी है। वाचस्पति मिश्र (२६, २८) के अनुसार रूपोपलब्धि लिंग या हेतु से सिद्ध होने वाला इन्द्रिय चक्षु, शब्दोपलब्धि से सिद्ध होने वाला इन्द्रिय श्रोत्र, गन्धोपलब्धि हेतु से सिद्ध

---

[1] युक्तिदीपिका, पृष्ठ २५७

[2] . महा०, शान्ति०, १९४.१३.

[3] सुश्रुत शारीर० १.६

[1] . मार्क०पु०, ४५.५०, लिंगपु०, ७०.४१.

[2] . बुद्धिपूर्वकपर्यालोचनमिति बुद्धीन्द्रियाण्याहुः सांख्याचार्याः। (जय०, २६).

[3] सांख्यकारिका,२६ सांख्यसूत्र,२.१८

[4] सांख्यप्रवचनभाष्य,२.१८

[5] भागवतपुराण,२.५.३१, ३.२६.३१

[6] . चित्तमिन्द्रियसंघातं मनो बुद्धिस्तथाष्टमी।
अष्टौ ज्ञानेन्द्रियाण्याहुरेतान्यध्यात्मचिन्तकाः॥ (महा०, १२.२७५.१८).

होने वाली इन्द्रिय घ्राण, रसोपलब्धि हेतु से सिद्ध होने वाली इन्द्रिय रसन, तथा स्पर्शोपलब्धि हेतु से सिद्ध होनेवाली इन्द्रिय त्वक् है। इन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के विषय क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध हैं। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अविवित्त वस्तु का अस्पष्ट या निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान 'आलोचन' कहा गया है। स्थूलशरीर में रूप, रस इत्यादि पांचों विषयों का केवल आलोचन (अविवित्त या अस्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान करना) पॉच ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार कहा जाता है।

कर्मेन्द्रियां:- वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ ये पञ्चकर्मेन्द्रियां हैं। जयमंगलाकार[1] के अनुसार 'कर्मसाधकानि इन्द्रियाणि' की व्युत्पत्ति से इन्हें कर्मेन्द्रियां कहा गया है। चरकसंहिता में मन एवं बुद्धि के साथ बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) और कर्मेन्द्रिय को करण कहा गया है।[1] करण को ज्ञानेन्द्रिय भी कहते हैं। आत्मा की साधनभूत इन्द्रियां तीन प्रकार की हैं- ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं उभयेन्द्रिय। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, एवं घ्राण ये ज्ञानेन्द्रिय या बुद्धीन्द्रिय हैं। इनके द्वारा ही स्थूलशरीर को बाह्य विषयों का ज्ञान होता है। स्थूलशरीर मन उभयेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय[2] द्वारा ही विभिन्न कर्म करता है। इसी की प्रेरणा से सभी इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। इसी के माध्यम से स्थूलशरीर विषयों का भोग करता है। प्रत्येक स्थूलशरीर के इन्द्रियों का अपना-अपना विषय पूर्व में ही नियत रहता है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय जिस गुण को ग्रहण करती है वह उसका विषय होता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रिय भी अपना कर्म करने के लिए जिसका ग्रहण करती है वह उसका विषय होता है। श्रोत्र का शब्द, त्वक् का स्पर्श, चक्षु का रूप, रसना का रस और घ्राण का विषय गन्ध है।[3] प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपने विषय के सहकारी अन्य विषयों का भी ग्रहण करती है यथा स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श के साथ परिमाण आदि भी ग्रहण करती है। बोलना वाकेन्द्रिय का, आदान हस्त का, विहरण या गमन पाद का, आनन्द उपस्थ का एवं त्याज्य भाव पायु का विषय है। अनुमानगम्य समग्र इन्द्रियां यद्यपि पञ्चमहाभूतों के परिमाण के ही समुदाय रूप हैं फिर भी विशेष रूप से चक्षु में तेज, श्रोत्र में आकाश, घ्राण में पृथ्वी, रसना में जल और स्पर्शन में वायु रहता है। एक-एक महाभूत एक-एक इन्द्रिय में प्रधान होता है और वे इन्द्रियां जिस

---

[1] . कर्मेन्द्रियाणि कर्माभिर्निवर्तनात्। (जय०, २६).

[1] . करणानि मनोर्बुद्धिबुद्धीन्द्रियाणि च। (च०शा०, १.५६).

[2] . सु०शा०, १.४; च० सू०, ८.८, १.५; तथा न्यायसू०, १.१.१२.

[3] . सु०शा०, १.५, च०सू०, ८.११, च०शा०, १.२५-२६, वै०सू०, ३.१.१, न्यायसू०, १.१.१४.

महाभूत से बनी होती हैं उसी महाभूत के अर्थ (विषय) की ओर प्रवृत्त होती है अर्थात् उन-उन महाभूतों के विषयों को ग्रहण करती हैं। ऐसा स्वभाव और व्यापक (विभु) होने के कारण होता है।[1] जिस इन्द्रिय में जिस भूत का उत्कर्ष होता है उसी के अनुसार उसका अभिधान होता है यथा तेज की उत्कर्षता से चक्षु को तैजस कहा जाता है।[2] प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की अपनी प्रधान (उपादान भूत) भूत के प्रति प्रवृत्ति का यही कारण है कि वे तदात्मक होती हैं[3] तथा दोनों की योनि (उत्पत्ति स्थल) भी तुल्य होती है।[4]

आचार्य चरक ने पॉचों ज्ञानेन्द्रियों के पॉच अधिष्ठान (स्थान) स्वीकृत किये हैं अर्थात् चक्षु इन्द्रियों के दोनों नेत्र, श्रोत्र इन्द्रिय के दोनों कर्ण, घ्राणेन्द्रिय की दोनों नासिकाएं रसना की जिह्वा एवं स्पर्शेन्द्रिय की त्वचा अधिष्ठान है।[1] पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पञ्च कर्मेन्द्रियाँ स्वतः अपने अपने विषयों की तरफ प्रवृत्ति नही होती बल्कि सूक्ष्मशरीर अपने भोगों के निमित्त इनको प्रवृत्त करता है। सूक्ष्मशारीर मन को पुरस्सर करके (मन के साथ या मन को आगे करके) ही इन्द्रियां अपने-अपने विषयों का ग्रहण करते हैं।[2] इन्द्रिय-बुद्धियां तथा उनकी उत्पत्ति का प्रकार चक्षु-बुद्धि आदि पॉच इन्द्रिय-बुद्धियां हैं। ये बुद्धियां इन्द्रिय और इन्द्रियों के अर्थ, मन और आत्मा के सन्निकर्ष से उत्पन्न होती हैं। ये बुद्धियां (ज्ञान) क्षणिक और निश्चयात्मिका भेद से दो प्रकार की होती हैं।[3] चरक के अभिमत में इन्द्रियों स्थूलशरीर के निर्माण गर्भ के तीसरे मास में होता है।[4] पञ्चेन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय द्रव्य (आकाशादि), पञ्चेन्द्रियाधिष्ठान, पञ्चेन्द्रियार्थ (शब्दस्पर्शादि) तथा पञ्चेन्द्रिय बुद्धि के समाहार को पञ्चपञ्चक कहा गया है।[5] चरक शास्त्र के अनुसार राजस अहंकार से युक्त अहंकार में तामस गुण की प्रधानता होने से उससे पञ्चतन्मात्राओं की

---

[1] च०सू०, ८.१४

[2] च०शा०, १.२४

[3] . च० सू०, ८.१४.

[4] . सु० शा०, १.१५.

[1] . पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि –अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति। (च० सू०, ८.१०).

[2] . मनःपुरस्सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि। (च०सू०, ८.७).

[3] . पञ्चेन्द्रियबुद्धयः चक्षुर्बुद्धयादिकाः ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्वात्मसन्निकर्षजाः क्षणिकाः, निश्चयात्मिकाश्च। इत्येतत् पञ्चपञ्चम्। (च०सू०, ८.१२).

[4] च०सू०, ४.११

[5] . इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि, पञ्चेन्द्रिय्अद्रव्याणि, पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि, पञ्चेन्द्रियार्थाः, पञ्चेन्द्रियबुद्धयो भवन्ति,
इत्युक्तमिन्द्रियाधिकारे। (च०सू०, ८.३).

उत्पत्ति मानी है। ये क्रमशः शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र एवं गन्ध तन्मात्र हैं। सर्वत्र तामस अहंकार से ही पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति स्वीकृत है परन्तु सांख्याचार्य विन्ध्यवासी महत् से ही तन्मात्राओं की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[1] ईश्वरकृष्ण इन तन्मात्राओं की संज्ञा अविशेष मानते हैं।[2] वाचस्पति मिश्र (३८) के अनुसार तन्मात्र पृथक्-पृथक् अनुभूत न होने के कारण अविशेष और सूक्ष्म कहलाते हैं। इन तन्मात्राओं में विशेष भाव नहीं है। इस कारण इनकी संज्ञा अविशेष है। ये अविशेष तन्मात्राएं शान्त, घोर एवं मूढ नहीं है अर्थात् इनका सुख, दुःख या मोह रूप से अनुभव नहीं हो सकता।[3] माठराचार्य एवं गौडपाद ने तन्मात्राओं को दुःख मोह रहित एवं सुखात्मक माना है तथा इन्हें देवताओं के अनुभव का विषय कहा है।[1] तन्मात्राओं के लक्षण के सन्दर्भ में कहा गया है कि- अर्थ का प्रकाशक होना, परोक्ष में खड़े हुए वक्ता का भी ज्ञान करा देना और आकाश का सूक्ष्म होना आदि शब्द के लक्षण हैं।[2] कोमलता, कठोरता, शीतलता, उष्णता वायु का सूक्ष्म होना आदि स्पर्शतन्मात्र के लक्षण हैं।[3] वस्तु के आकार का बोध कराना, गौड होना, द्रव्य के अंगरूप से प्रतीत होना, द्रव्य जैसा आकार-प्रकार और परिमाण आदि हो, उसी रूप में उपलक्षित होना तथा तेज का स्वरूपभूत होना रूप तन्मात्र की वृत्तियां हैं।[4] रस अपने शुद्ध स्वरूप में एक है किन्तु स्थूलशरीर के निमित्त वह भौतिक पदार्थों के संयोग से वह कषाय, मधु, तीक्ष्ण (तिक्त), कटु, अम्ल आदि अनेक रूपों में परिणत होना रस तन्मात्रा का लक्षण है।[5] गन्ध के लक्षण के सन्दर्भ में कहा गया है कि गन्ध एक ही है, तथापि परस्पर मिले हुए द्रव्यभागों की न्यूनाधिकता से वह मिश्रित गन्ध, दुर्गन्ध, सुगन्ध, मृदु, तीव्र अमु आदि अनेक प्रकार का हो जाता है।[6] बुद्धि, अहंकार,मन, पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च-कर्मेन्द्रियें एवं पञ्च सूक्ष्म तन्मात्रा आदि सत्तरह तत्त्वों से मिलकर सूक्ष्मशरीर की अभिव्यक्ति होती है।

---

[1] . महतः षड्विशेषाः सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्राण्यहंकारश्चेति विन्ध्यवासिमतम्। (युक्ति०, २२).

[2] सांख्यकारिका, ३८

[3] . विष्णुपु०, १.२४५, मार्कपु०, ४५.४५-४६.

[1] माठरवृत्ति,३८, गौडपादभाष्य.३८

[2] भा० पु० ३.२६.३३

[3] भा० पु० ३.२६.३६

[4] भा० पु०, ३.२६.३९

[5] भा०पु०, ३.२६.४२

[6] भा०पु०, ३.२६.४५

स्थूलशरीर(अधिष्ठान शरीर) एवं सृष्टि विकास क्रम:-

सांख्य दर्शन में अधिष्ठान शब्द सामान्यत स्थूलशरीर लिए प्रयुक्त होता है। शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य ने अधिष्ठान को शरीर का पर्याय बताया है। माधवाचार्य एवं जयतीर्थ के अनुसार शरीर एवं भूमि आदि अधिष्ठान है स्थूलशरीर के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। वल्लभ भाष्य में इसके संदर्भ में बताया गया है कि स्थूलशरीर को अधिष्ठान इसलिए कहा गया है कि उसमें इच्छा द्वेष आदि भावों की अभिव्यक्ति होती है। जीवात्मा के माध्यम से इसमें अधिष्ठित होकर समस्त कार्य संपन्न करने के कारण इसको अधिष्ठान कहा गया है।[1] यह पंचमहाभूतों का संघात रूप शरीर अधिष्ठान एवं कार्यों का प्रथम चरण का कारण है। सांख्य सूत्र में अधिष्ठान शरीर को सूक्ष्म शरीर से पृथक बताया गया है। इसके संदर्भ में कहा गया है कि लिंग एवं सूक्ष्म शरीर का आश्रय अधिष्ठान शरीर ही है।[1] विज्ञान भिक्षु ने अपने भाष्य में कहा है कि लिंग या सूक्ष्म शरीर ही देह है जिसके संबंध से अधिष्ठान का देहत्व उपचरित होता है। अधिष्ठान का आश्रय होने के कारण ही स्थूलशरीर के संघात को देह या शरीर कहा जाता है। यह पञ्च महाभूतों से निष्पन्न होता है।[2] अधिष्ठान शरीर को सूक्ष्म शरीर का धारक शरीर बताया गया है। वेदांत दर्शन में कारण शरीर एवं सूक्ष्म शरीर का आश्रय अधिष्ठान शरीर को स्वीकार किया गया है। किंतु सांख्य दर्शन में कारण शरीर एवं सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठान शरीर को बताया गया है। सूक्ष्म शरीर अधिष्ठान शरीर के बिना किसी भी क्रिया को करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता। सांख्य सूत्र में एक उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है कि जिस प्रकार छाया और चित्र बिना किसी आश्रय के नहीं रह सकते उसी प्रकार स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर की स्वतंत्रता के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकता।[3] इस के संदर्भ में विज्ञान भिक्षु ने सांख्यकारिका में कहा है कि जिस प्रकार आश्रय के बिना चित्र अथवा स्तम्भादि के बिना छाया नहीं रह सकती उसी प्रकार विशेष के बिना आधारहीन लिंग नहीं रह

---

[1] अधिष्ठानमिच्छाद्वेष-सुखदुःख-ज्ञानादीनामभिव्यक्तेराश्रयोधिष्ठानं शरीरम् (शांभा) अधिष्ठयते जीवात्मनेति महाभूतसंघातरूपं शरीरमधिष्ठानम्।(रामानुजभाष्य) अधिष्ठानं प्रथमं शरीरं कारणम्। -वल्लभभाष्य

[1] तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः। -सांसू ३/११

[2] लिङ्गंसम्बन्धादधिष्ठानस्य देहत्वमधिष्ठानाश्रयत्वाच्च स्थूलस्य् देहत्वमिति पर्यवसितोर्थः। अधिष्ठान-शरीरं च सूक्ष्मं पञ्चभूतात्मकं वक्ष्यते तथा च शरीरत्रयं सिद्धम्। विज्ञानबिक्षु भाष्य ५/१०३

[3] न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च। सांख्यसूत्र ३/१२

सकता। यहां पर विशेष शब्द भूत पर्याय अर्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा लिंग शब्द सूक्ष्म शरीर पर्याय के अर्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1] गौडपाद भाष्य में कहा गया है कि तन्मात्र अविशेष के बिना त्रयोदशकरणसंघातरूप लिङ्घशरीर निराश्रय अस्तित्त्व में नही रह सकता।[2] यहां अविशेष शब्द लिङ्गशरीर या सूक्ष्मशरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। पञ्चभूतमय स्थूलशरीर के लिए विशेष शब्द प्रयुक्त हुआ है जो कि लिङ्ग को न छोड़ता है , न आश्रय लेता है और न किसी अन्य में रहता है।[1] किन्तु वाचस्पति मिश्र ने विशेष शब्द सूक्ष्मशरीर के लिए प्रयुक्त किया है। इसके सन्दर्भ में कहा है कि बुद्धि आदि के साथ पञ्चतन्मात्र सदा संलग्न रहते है जिससे अठारह तत्त्वों का सूक्ष्मशरीर होता है जो जन्म-मरण के अन्तराल में स्थूलशरीर का आश्रय लेता रहता है। इस प्रकार स्थूलशरीर को अधिष्ठान शरीर कहा गया है जो जन्म-मरण के मध्यकाल में निर्मित्त होकर सूक्ष्मशरीर से प्रतिबद्ध रहता है।[2]

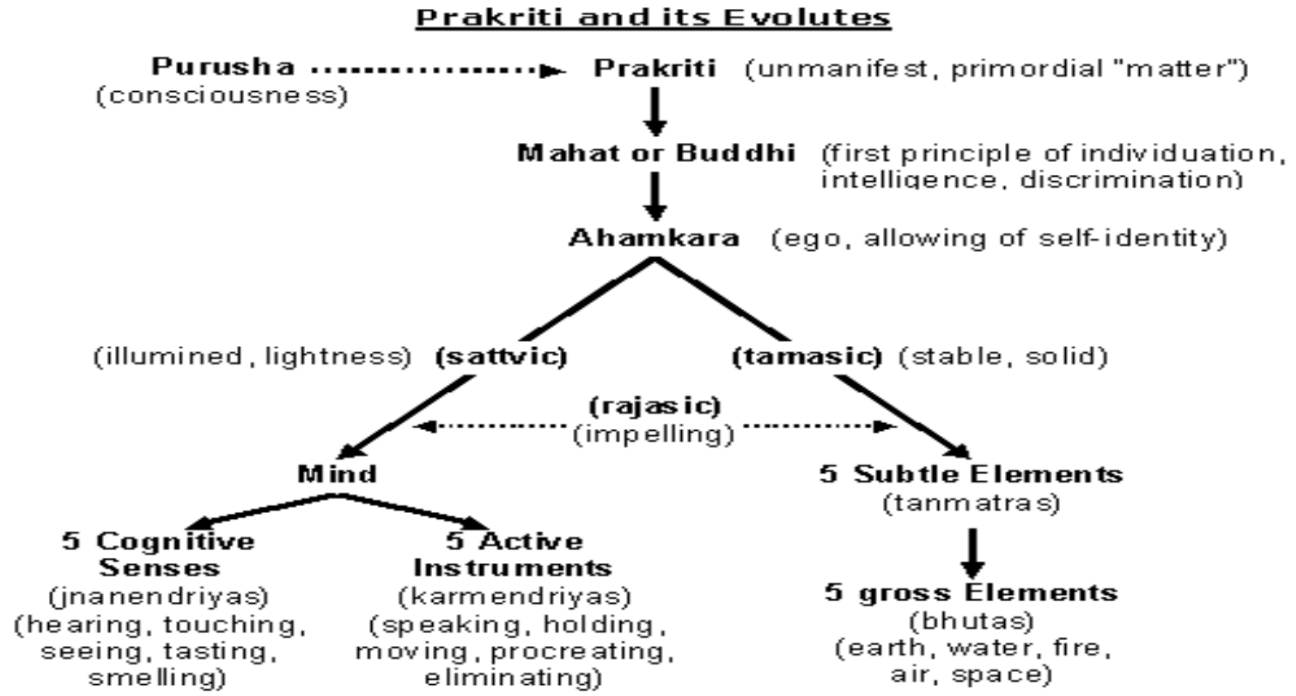

[1] चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
तद्वद् विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥ -सांख्यकारिका ४१

[2] अविशेषैस्तन्मात्रैर्विना न तिष्ठति। गौडपादभाष्य ४१

[1] अथ विशेभूतान्युच्यन्ते शरीरं पञ्चभूतमयम्,वैशेषिणा शरीरेण विना क्व लिङ्गं स्थान चेति। क्वैकदेहमुज्झति तदेवान्यमाश्रयति? निराश्रयमाश्रयरहितं लिङ्गं त्रयोदशविधं करणमित्यर्थः। -गौडपादभाष्य ४१

[2] जन्ममरणान्तराले बुद्धादयः प्रत्युत्पन्नशरीराश्रयाः, प्रत्युत्पन्नपञ्चतन्मात्रवत्वे सति बुद्ध्यादित्वात्, दृश्यमानशरीरवृत्तिबुद्धयादिवत्। त.कौ ४१

सांख्य-योग दर्शन के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया के दौहरान सूक्ष्मशरीर के अभिव्यक्त के अनन्तर स्थूलशरीर की उत्पत्ति को समझाने का प्रयास किया गया है। यह स्थूलशरीर उपर्युक्त पञ्चतन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश नामक पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति से इसका निर्माण होता है।[1] आचार्य माठर के अनुसार परस्परानुप्रवेश द्वारा मिश्रित तन्मात्राओं से महाभूतों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं[2] किन्तु युक्तिदीपिकाकार एक-एक तन्मात्रा से एक-एक महाभूत की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[1] युक्तिदीपिकाकार ने माठर के सिद्धान्त का **'अन्येषामाचार्याणामभिप्रेतम्'** कह कर खण्डन किया है। माठर के मत में शब्दतन्मात्रानुप्रविष्ट स्पर्शतन्मात्र से वायु, शब्दस्पर्शतन्मात्रानुप्रविष्ट रूपतन्मात्र से तेज एवं शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रानिप्रविष्ट रसतन्मात्र से जल एवं शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रानिप्रविष्ट गन्धतन्मात्र से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। आचार्य माठर ने केवल शब्दतन्मात्र से आकाश, स्पर्शतन्मात्र से वायु, रूपतन्मात्र से तेज, रसतन्मात्र से जल एवं गन्धतन्मात्र से पृथ्वी की उत्पन्न होती है किन्तु उनके मत से स्पर्शतन्मात्र शब्द और स्पर्श गुणोंवाला रूपतन्मात्र शब्द, स्पर्श एवं रूपगुणों वाला, रसतन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस गुणों वाला तथा गन्धतन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध गुणों वाला होता है। शान्त, घोर एवं मूढ़ होने के कारण इन पञ्चमहाभूतों की विशेष संज्ञा है।[2] यहाँ प्रश्न उठना स्वभाविक है कि इन्हें ही महाभूत क्यों कहा गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में भरद्वाज भृगु के संवाद में बताया गया है कि इस लोक में ये पाँच धातुएं ही महाभूत कहलाती हैं जिन्हें ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में रचा था। यह समस्त लोकों में व्याप्त हैं। परन्तु जब ब्रह्मा ने और भी हजारों भूतों की रचना की है तब इन पाँचों को ही भूत कहना कहाँ तक युक्तिसंगत है? भृगु ने इसके उत्तर में कहा इन पाँच भूतों के साथ ही 'महा' शब्द जोड़ा जाता है। इन्हीं से भूतों की उत्पत्ति होती है, अतः इन्हीं के लिए महाभूत शब्द का प्रयोग सुसंगत है।[3] पञ्चमहाभूतों द्वारा स्थूलशरीर की तत्त्वमीमांसा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। सुश्रुत ने आकाश को सत्वप्रधान, वायु को रजप्रधान, अग्नि को सत्व एवं रज प्रधान, जल को सत्व एवं तम प्रधान एवं पृथ्वी को तमप्रधान

---

[1] सां० का०, २२

[2] माठरवृत्ति,३८

[1] युक्तिदीपिका,३८

[2] . सां० का०, ३८; विष्णुपु०, १.२.५०; कूर्मपु०, १.४.३३; लिंगपु०, ७०.४६.४७.

[3] . महा०, शान्ति०, १४८.२-३.

माना है।[1] चरकसंहिता में इस प्रकार का कोई निरूपण नहीं मिलता। चरकसंहिता में महाभूत पद से ख (आकाश), वायु, अग्नि, अप् और क्षितिज (पृथ्वी) का ग्रहण किया गया है।[2] सुश्रुत ने पृथ्वी आदि से प्रारम्भ कर विपरीत क्रम से इनकी गणना की है।[3] शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पॉच गुण आकाशादि महाभूतों के चरकसंहिता में स्वीकार किये गये हैं।[1] सुश्रुत ने इसी प्रकार महाभूतों के गुण एवं क्रियात्मिकता की विवेचना की है। शब्द, शब्देन्द्रिय (श्रोत्र), सम्पूर्ण छिद्रता (अवकाश) तथा सिरास्नायु आदि का परस्पर पृथक् होना आकाश का गुण हैं। स्पर्श, स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा), नमन-उन्नमन आदि सम्पूर्ण चेष्टायें तथा सम्पूर्ण शरीर में स्पन्दन होना एवं लघुता वायु का गुण हैं। रूप, रूपेन्द्रिय (चक्षु), वर्ण (गौर, कृष्णता आदि), सन्ताप, भ्राजिष्णुता (दीप्ति), पक्ति (आहार का पाक होना), अमर्ष (क्रोध), तीक्ष्णता और शौर्य अग्नि के गुण हैं। रस, रसेन्द्रिय (जिह्वा), सम्पूर्ण दोष धातुसमूह में द्रव्यत्व, गुरुता, शीतलता, स्नेह और वीर्य ये जल के धर्म हैं। गन्ध, गन्धेन्द्रिय (नासिका), सम्पूर्ण पदार्थों में काठिन्य और गुरुता ये पृथ्वी के गुण हैं।[2] चरक ने सूत्रस्थान के इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय में महाभूतों को इन्द्रियद्रव्य माना है[3] और इन्द्रियार्थ के रूप में इनके एक-एक गुणों को स्वीकार किया है।[4]

कार्यद्रव्य की अपेक्षा कारणद्रव्य संख्या में न्यून हुआ करते हैं। यह विस्तृत जगत् विशेष नियत शक्ति से ही ज्ञेय है। मूल कारणद्रव्य और स्थूल कार्यद्रव्यों के मध्य कार्यकारणभाव की श्रृंखला बनी हुई है। ज्ञानेन्द्रियों की संख्या और नियतार्थ ग्रहण की योग्यता ने समस्त प्रमेय को पञ्चमहाभूत के अन्दर ही सीमित कर दिया है। जैसा स्पष्ट है कि हमारे पास ज्ञान के साधन प्रकृतिप्रदत्त पञ्चज्ञानेन्द्रियां ही हैं जो शरीर के पॉचों इन्द्रियाधिष्ठानों में रहती हैं और पॉचों इन्द्रियार्थों में से एक-एक नियत शब्दादि विषयों (गुणों) का ग्रहण कर पॉच प्रकार की इन्द्रियबुद्धि या ज्ञानविशेष उत्पन्न करती हैं। जब गुण रूप शब्दादि इन्द्रियार्थ पॉच हैं तो उनके आश्रय द्रव्य भी पॉच ही होने चाहिए।

---

[1] . तत्र सत्वबहुलमाकाशं, रजो-बहुलो वायुः, सत्वरजोबहुलोऽग्निः सत्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथ्वीति। -सु०शा०, १.२०; अ० सं०, शा० ५.६

[2] . महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा। (च०शा०, १.२७).

[3] . तत्र पृथिव्यपतेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः। (सु० सू०, ४१.३).

[1] च०शा०, १.२७

[2] सु०शा०, १.१९

[3] च०सू०, ८.९

[4] च० सू०, ८.११

चरक ने इन पॉचों को पञ्चपञ्चक नाम से कहा है।[1] यद्यपि अनुमान द्वारा जानने योग्य सम्पूर्ण इन्द्रियां पॉचों महाभूतों के विकार ही समुदायरूप हैं तो भी विशेषकर तेज चक्षु में, आकाश श्रोत्र में, पृथिवी घ्राणेन्द्रिय में, जल रसनेन्द्रिय में तथा वायु स्पर्शेन्द्रिय में रहता है। जिस-जिस विषय में जिस-जिस भूत (आकाशादि पञ्चमहाभूतों में से) की प्रधानता होती है वह-वह इन्द्रिय विशेषतः उस-उस भूतात्मक विषय का ही ग्रहण करती है, क्योंकि यह उनका (समान योनि होने से) स्वभाव ही है और वह उसी विषय को ग्रहण करने में सामर्थ्य रखती हैं।[1] आचार्य सुश्रुत ने इस तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है[2]- **"पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः, तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्"**[3] यहॉ पञ्चमहाभूत शब्द से स्थूल शरीर के आरम्भक पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पॉच द्रव्य तथा 'शरीरि' शब्द से सूक्ष्मशरीराविष्ट चैतन्य अर्थात् जीवात्मा समझा जाता है। इनके विशिष्ट संयोग से ही कर्मपुरुष बनता है सूक्ष्मशरीर के भोगों को सम्पन्न करता है। आचार्य चरक ने रोग और पुरुष की उत्पत्ति इसी स्थूलशरीर में मानी है।[4] इस प्रकार शरीर और जगत् की सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए पञ्चमहाभूत का समझना अत्यन्त आवश्यक है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पॉच महाभूतों के कारण इस जगत के सम्पूर्ण प्राणियों के स्थूलशरीर अस्तित्त्व में बने रहते हैं। उदाहरण के लिए जैसे समुद्र की लहरें उठती और विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार ये महाभूत प्राणियों के शरीर के रूप में जन्म ग्रहण करते और विलीन होते रहते हैं एवं जिस प्रकार कच्छप अपने अंगों को सब ओर फैलाकर फिर समेट लेता है, इसी प्रकार ये सारे महाभूत छोटे-छोटे शरीरों में विकृत होते उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। इस प्रकार यह समस्त स्थावर-जंगम जगत् पञ्चभूतमय ही है। सर्ग काल में पञ्चमहाभूतों से ही सबकी उत्पत्ति होती है और प्रलय काल के समय उन्हीं में सबका लय होता है।[5]

पुरुष को भोग प्रदान करने कि लिए सूक्ष्म शरीर की रचना होती है। सूक्ष्म शरीर स्वतः भोग सम्पन्न नहीं करता

---

[1] च० सू० ८.८-१२

[1] च०सू०, ८.१४

[2] इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं हि स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः। -च०शा०, १.१५

[3] सु०सू०, १.२२

[4] . षड्धातुजस्तु पुरुषो रोगाः षड्धातुजास्तथा। राशिः षड्धातुजस्त्वेष...। (च०सू०, २५.१५).

[5] महा०, १२.२४७.३-५

अपितु वह स्थूल शरीर के माध्यम से करता है। अतः सूक्ष्म शरीर के भोग सम्पादन के लिए स्थूल शरीर की रचना होती है। सांख्यकारिका एवं सांख्यसूत्र में माता-पिता से उत्पन्न शरीर को स्थूल की संज्ञा दी गई है।[1] आचार्य गौडपाद के अनुसार रुधिर, मांस, स्नायु, शुक्र अस्थि और मज्जा से उत्पन्न पाञ्चभौतिक शरीर अवकाश प्रदान करने से आकाश, वृद्धि होने से वायु, पाक से तेज, संग्रह से जल, धारण से पृथ्वी इन समस्त अवयवों से युक्त होकर माता के गर्भ से बाहर आता है।[1] वाचस्पति मिश्र (३९) के अनुसार छः कोषों से बने होने के कारण इसे "**षाट्कौशिक शरीर**' भी कहा जाता है। इनमें लोम, रक्त, मांस माता से तथा स्नायु, अस्थि और मज्जा पिता से प्राप्त होते हैं। सांख्यसूत्र में स्थूल शरीर को **पाञ्चभौतिक** कहा गया है[2] एवं अन्य मतों के प्रतिपादन में इसे **चातुर्भौतिक**[3] एवं **ऐकभौतिक**[4] भी कहा गया है। डॉ० कीथ ने स्थूल शरीर को **पार्थिव** माना है। वे वेदान्त मत की भॉति स्थूल शरीर को अग्नि, जल एवं अन्न (पृथ्वी) से निर्मित नहीं मानते। उनका मत है कि महाभारत में प्रतिपादित पञ्चशिख द्वारा स्थूल शरीर को पाञ्चभौतिक मानने का सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। उनके अनुसार स्थूल शरीर तो मुख्यतः पार्थिव है, अन्य चार भूत शरीर धारण में सहायक होते हैं। जल रक्त को, अग्नि शरीर की ऊष्मा को, वायु स्वास (प्राण) को तथा आकाश नाडी को धारण करते हैं।[5] डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र के अनुसार स्थूल शरीर को पाञ्चभौतिक मानने का सिद्धान्त ही सांख्य सिद्धान्त है।[6] सांख्यसूत्र में छः प्रकार का स्थूल शरीर वर्णित हैं जो क्रमशः ऊष्मज, अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज, सांकल्पिक और सांसिद्धिक हैं।[7]

सूक्ष्मशरीर के बन्धन के कारण:-

सांख्य-योग दर्शन में भी भारतीय ज्ञान परम्परा के अन्य दार्शनिकों के समान अज्ञान या अविवेक को ही बन्धन का कारण माना है। आत्मा सुख-दुःखादि से सर्वदा मुक्त रहता है। ये सुख-दुःखादि बुद्धि के धर्म हैं किन्तु अज्ञान

---

[1] सांख्यकारिका,३९, सांख्यसूत्र,३.७

[1] गौडपादभाष्य,३९

[2] सांख्यसूत्र ३.१७

[3] सांख्यसूत्र ३.१८

[4] सांख्यसूत्र ३.१९

[5] . सां० सि०, पृष्ठ ११९-१२०.

[6] . सां० ऐ० प०, पृष्ठ ३३८.

[7] सांख्यसूत्र ५.१११

या अविवेक के कारण पुरुष बुद्धि से अपना पार्थक्य नहीं समझता और स्वयं में ही सुख-दुःखादि को आरोपित मानता है। वस्तुतः किसी पुरुष का न तो बन्धन और संसरण ही होता है और न मोक्ष ही। प्रकृति का ही संसरण, बन्धन एवं मोक्ष होता है। पुरुष में ये केवल आरोपित होते हैं जैसे विजय और पराजय नौकर की होने पर भी स्वामी की ही विजय और पराजय कही जाती है क्योंकि स्वामी के आश्रय से ही नौकर जय पराजय के कार्यों में भाग लेते हैं और उनके लाभ, शोक इत्यादि फल स्वामी को प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार प्रकृति से अपना भेद न समझने के कारण उसमें स्थित भोग और मोक्ष से पुरुष का भी सम्बन्ध उत्पन्न होता है जो कि वास्तविक न होकर केवल अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है।[1] स्थूलशरीर में अधिष्ठित सूक्ष्मशरीर के कई तरह के बन्धन स्वीकार किये गये है- विपर्यय अर्थात् तत्त्व के अज्ञान से बन्धन प्राप्त होता है।[2] सांख्यकारिका में स्पष्टतः बन्धन के त्रिविध भेदों का उल्लेख नहीं है परन्तु इसके सभी टीकाकारों ने प्राकृतिक, वैकृतिक एवं दाक्षिण भेद से बन्ध को तीन प्रकार से स्वीकार किये है जो कि निम्न प्रकार से है- **प्राकृतिक बन्ध-** आचार्य माठर के अनुसार प्राकृतिक बन्ध उनको होता है जो प्रकृति से श्रेष्ठ किसी अन्य तत्त्व को नहीं स्वीकार करते।[3] जयमंगलाकार की भी इस मत पर सहमति है। वाचस्पति मिश्र (४४) के अनुसार प्राकृतिक बन्धन उनको प्राप्त होता है जो प्रकृति को ही आत्मा समझते हुए उसी की उपासना करते हैं। प्रकृति की भावना करने वाले पूरे सौ सहस्र मन्वन्तर तक प्रकृति में लीन रहते हैं। सांख्यचन्द्रिकाकार को आचार्य वाचस्पति मिश्र का ही मत स्वीकृत है।[4] **वैकृतिक बन्ध-** ब्रह्मा आदि स्थानों में श्रेयोबुद्धि का उत्पन्न होना ही वैकारिक बन्ध कहलाता है।[5] जयमंगलाकार के अनुसार जिनके मत में ऐश्वर्य लक्षण वाला पुरुष ही विकार है उन विकारवादियों के लिए वही पुरुषार्थ वैकारिक बन्धन कहलाता है।[6] वाचस्पति मिश्र के अनुसार वैकृतिक बन्ध उन्हें प्राप्त होता है जो भूतों (पृथ्वी आदि), इन्द्रियों, अहंकार और बुद्धि इत्यादि प्रकृति की विकृतियों का ही पुरुष भाव से उपासना करते हैं। इन्द्रियों के उपासक दश मन्वन्तरों तक, भूतों के उपासक सौ मन्वन्तरों तक, अहंकार के उपासक सहस्र मन्वन्तरों तक

---

[1] सां०का०, एवं तत्त्वकौ०, ६२

[2] . विपर्ययात् अतत्वज्ञानात् इष्यते बन्धः। (तत्त्वकौ०, ४४).

[3] . तत्र प्रकृतिबन्धो नामाष्टासु प्रकृतिषु परत्वेवाभिमानः। (माठर०, ४४ एवं तत्त्वया०, २२).

[4] सांख्यचन्द्रिका०४४

[5] . वैकारिकबन्धो नाम ब्रह्मादिस्थानेषु श्रेयोबुद्धिः। (माठर०, ४४).

[6] . येषां विकार एवैश्वर्यलक्षणः पुरुषार्थ इति, तेषां विकारत्ववादिनां वैकारिको बन्धः। (जय०, ४४).

दुःखत्रय से रहित होकर उन-उन में स्थित रहते हैं, वे ही विदेह भी कहलाते हैं।[1] भावगणेश प्रव्रजित पुरुषों का शब्दादि अर्थों से मन का आसक्त होना मानते हैं।[2] **दाक्षिण बन्ध-** इष्ट और पूर्व कर्मों से दाक्षिण बन्ध होता है। पुरुष तत्त्व का अज्ञानी, स्वर्गादि कामना से इष्ट और पूर्त करने वाला व्यक्ति भी बन्धन में पड़ता है।[1] भावगणेश के अनुसार काम के द्वारा उपहत चित्त वाले गृहस्थ आदि व्यक्तियों द्वारा दक्षिणा देना ही दाक्षिणाबन्ध है।[2] **इन्हीं** तीन बन्धनों के कारण सूक्ष्मशरीर जन्म-जन्मान्तर स्थूलशरीर की उत्पत्ति होती रहती है। अविवेक के कारण ही प्रकृति का भोग सम्पादन होता है प्रकृति तभी तक कर्मों का भोग उत्पन्न करती है, जब तक पुरुष में विवेक ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। विवेकज्ञान उत्पन्न हो जाने पर स्वकृत्य समाप्त हो जाने के कारण विवेक ज्ञान से युक्त सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति हो जाती है। धर्म के साधनों से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। धर्म एवं अधर्म से क्रमशः ऊर्ध्व और अधोलोक में गति प्राप्त होती है किन्तु सूक्ष्मशरीर की आत्यान्तिक निवृत्ति का अन्तिम उपाय ज्ञान से ही सम्भव है। इस प्रकार शरीर को कर्म करने से मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती बल्कि आत्यान्तिक निवृत्ति का साधन ज्ञान ही है।[3]

भारतीय ज्ञान परम्परा में सांख्य-योग दार्शनिक परम्परा में कई जगह प्रतिपक्षि ने शंका उठाई है कि सूक्ष्मशरीर का अस्तित्त्व सन्निहित सस्कारों के कारण है तो इसे संस्कारों कैसे निर्मल किया जा सकता है? इसके सन्दर्भ में सांख्य-योग के आचार्यो ने कहा है कि सुखी मनुष्यों में मित्रता की भावना करने से , दुःखी मनुष्यों में दया की भावना करने से ,पुण्यात्मा पुरुषो में प्रसन्नता की भावना करने से और पापियों की उपेक्षा भावना करने से चित्त के राग ,द्वेष ,ध्रुव ,इर्ष्या और क्रोध आदि मलों का नाश करके चित्त को शुद्ध एवं पवित्र किया जा सकता है। उदाहरण के लिए स्वप्न में यदि कोई अलौकिक अनुभव हुआ हो जैसे अपने इष्टदेव का दर्शन आदि ,तो उसको स्मरण करके वैसा ही चिंतन करने से मन की चंचलता नष्ट होकर मन स्थिर हो जाता है तथा गहरी निंद्रा में केवल चित्त की वृत्तियों के अभाव का ही ज्ञान रहता है , उस समय किसी भी पदार्थ की प्रतीति नहीं होती ,उसी प्रकार समस्त

---

[1] . तत्त्वकौ०, ४४, तर्करह०, २८.

[2] तत्त्वकौ०, २१

[1] . तत्त्वकौ०, ४४.

[2] . गृहस्थादीनां कामोपहतचेतसां दक्षिणां ददतां दक्षिणाबन्धः। (तत्त्वया०, २१).

[3] तत्त्वकौ०, ४४

वृत्तियों का बाध करके वृत्तियों के आभाव के ज्ञान का अवलंबन करने से अर्थान्त उसी को लक्ष्य बनाकर अभ्यास करने से भी अनायास ही चित्त को स्थिर किया जा सकता है। तमोगुण की प्रबलता में अभ्यास करना कठिन रहता है तथा सत्त्व गुण की अवस्था में अभ्यास एवं एकाग्रता के लिए अधिक लाभ प्रद हो सकता है। अब यहां प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मनुष्य क्यों बार बार उच्च एवं निम्न कोटी की योनी में जन्म लेता रहताहै? मनुष्य की आयु का कितना समय सुखी रहेगा और कितना दुखी? इसके उत्तर में दार्शनिक परम्पराओं ने कहा है कि मनुष्य में यह कर्मो के संस्कार समुदाय रूप कर्माशय का परिणाम है। व्यवहारिक जगत् में भोगो से सम्बन्ध तीन प्रकार के परिणामों का कारण होते है। पुण्यकर्म का परिणाम सुखदायक एवं पापकर्म का परिणाम दुःख दायक होता है। परिणाम दुःख वे होते है जो कर्म विपाक भोगकाल में स्थूल दृष्टि से सुखप्रद प्रतीत होता है ,उसका परिणाम दुःख ही है । जैसे स्त्री-प्रसंग के समय मनुष्य को सुख भासता है, परन्तु उसका परिणाम बल ,वीर्य ,तेज ,स्मृति आदि का परिणाम प्रत्यक्ष देखने में आता है। इसी प्रकार दुसरे भोगो से भी समझ लेना चाहिए । क्योंकि भोगो के भोगते - भोगते मनुष्य थक जाता है। सांसारिक भोगों को भोगने की सूक्ष्मशरीर की स्थूलशरीर के माध्यम से एक सीमा होती है। एक निश्चित समय पश्चात भोग भोगने की शक्ति उसमे नहीं रहती ,परन्तु तृष्णा बनी रहती है । अतः भोगरूप सुख भी दुःख ही है । यह भोग के अंत मे अनुभव होने वाला दुःख भी परिणाम -दुःख की ही परिगणना में परिगणित होते है। इन्द्रियों और पदार्थो के सम्बन्ध से जब स्थूलशरीर को किसी भी प्रकार के भोग में सुख की प्रतीति होती है ,तब उसमे राग -आसक्ति अवश्य रहती है। इसलिए वह सुख रागरूप क्लेश से मिला हुआ है । आसक्तिवश स्थूलशरीर उस भोग की प्राप्ति के साधन रूप अच्छे-बुरे कर्मो का आरम्भ करना शुरू कर देता है। स्थूलशरीर में जब उपभोग की वस्तुओ की प्राप्ति में असमर्थ होने से या विघ्न आने पर द्वेष का आना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त वह प्राणियों की हिंसा के बिना अपने भोगों की सिद्धि नही कर पायेगा। अतः राग द्वेष और हिंसा का परिणाम अवश्य ही दुःख है । सूक्ष्मशरीर इन भोगों को पूर्ण करने के लिए स्थूलशरीर के माध्यम से जन्म लेता रहता है। मनुष्य में ताप दुःख का आर्विभाव तब होता है जब उसे यह प्रतित होने लगता है कि जब सभी प्रकार के

सांसारिक भोगों का रूप सुख विनाशशील है , उनसे वियोग होना निश्चित है। अतः भोगकाल में उनके विनाश की सम्भावना से भय के कारण ताप दुःख बना रहता है। इसी तरह मनुष्य को जो सुखकारक भोग प्राप्त होते है वे सातिशय ही होते है अर्थात उसे जो कुछ प्राप्त है, उससे बढकर दूसरो को भी प्राप्त है यह देखकर वह इर्श्या की भावना से जलने को भी ताप दुःख की कोटी में रखा गया है। तथा भोग की अपूर्णता से भी भोगकाल में संताप बना रहता है ,यह भी ताप दुःख है। संस्कार दुःख से तात्पर्य जिन जिन भोगो में मनुष्य को सुख का अनुभव होता है, उन प्रत्येक अनुभव के संस्कार उसके सूक्ष्मशरीर में आश्रय पाते है। जब उन भोगों की सामग्रियों से उनका वियोग हो जाता है ,तब वे संस्कार पहले के सुख भोग की स्मृति द्वारा महान दुःख के हेतु हो जाते है। व्यवहारिक जीवन में दृष्टिगोचर होता है कि जब किसी मनुष्य के स्त्री ,पुत्र ,धन , मकान आदि भोग सामग्री नष्ट हो जाते है, तब वह उनको स्मरण करके दुःखी होता रहता है। सूक्ष्मशरीर के भोगासक्ति के संस्कारों की अभिवृद्धि के कारण स्थूलशरीर जन्म जन्मान्तर दुःख का हेतु रहता है।

गुणवृत्तिविरोध का सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर से होता है। गुणों के कार्य का नाम गुण वृत्ति है, गुणों के कार्य में परस्पर अत्यंत विरोध है उदाहरण के लिए जैसे सत्त्व गुण का कार्य प्रकाश, ज्ञान और सुख है ,तो तमो गुण का कार्य अंधकार, अज्ञान और दुःख है। इस प्रकार इनके कार्यो में विरोध होने के कारण असमंजस की स्थिति बनी रहती है, सुख भोग काल में भी शान्ति नहीं मिलती क्योकि तीनों गुण एक साथ रहने वाले है। सुख के अनुभव काल में सत्त्व गुण की प्रधानता रहते हुए भी रजोगुण और तमो गुण का अभाव नहीं हो जाता, अतः उस समय भी दुःख और शोक विद्यमान रहते है। इसलिए भी वह दुःख ही है। जैसे ध्यान काल में और सत्संग करते समय सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है,अतः सात्विक सुख होता है। वहा भी सांसारिक स्फुरणा और तन्द्रा उस सुख में विघ्न कर देते है ऐसे ही अन्य कर्मो मे भी समझ लेना चाहिए। उपयुर्क्त परिणाम दुःख ,ताप दुःख और संस्कार दुःख तथा गुण वृतियो के विरोध से होने वाले दुःख को विचार द्वारा विवेकी पुरुष समझता। इस कारण उसकी दृष्टि में सभी कर्म परिणाम दुःख रूप ही है अर्थात साधारण मनुष्य समुदाय जिन-जिन भोगों को सुख रूप समझता है, विवेकी

पुरुष के लिए वे भी दुःख ही है। मनुष्य द्वारा जिन दुःखों को अभी तक प्राप्त नहीं किया है, भविष्य में आने वाले है उनको नष्ट करने के उपाय अवश्य खोजना चाहिए। जिसका नाश करना हो उसके मूल कारण को जानने की आवश्यकता है। क्योंकि मूल कारण के नाश में ही उसका पूर्णतया नाश हो सकता है अन्यथा तो वह पुनः उत्पन्न हो सकता है। उपर्युक्त विवेचन में जो नाश करने योग्य आनेवाले दुःख बतलाये गये है उनका मूल कारण पुरुष और प्रकृति का संयोग यानि जड़ -चेतना की ग्रंथि है। इस संयोग का नाश करने से सूक्ष्मशरीर सर्वथा दुःखो से निवृत हो सकता है।

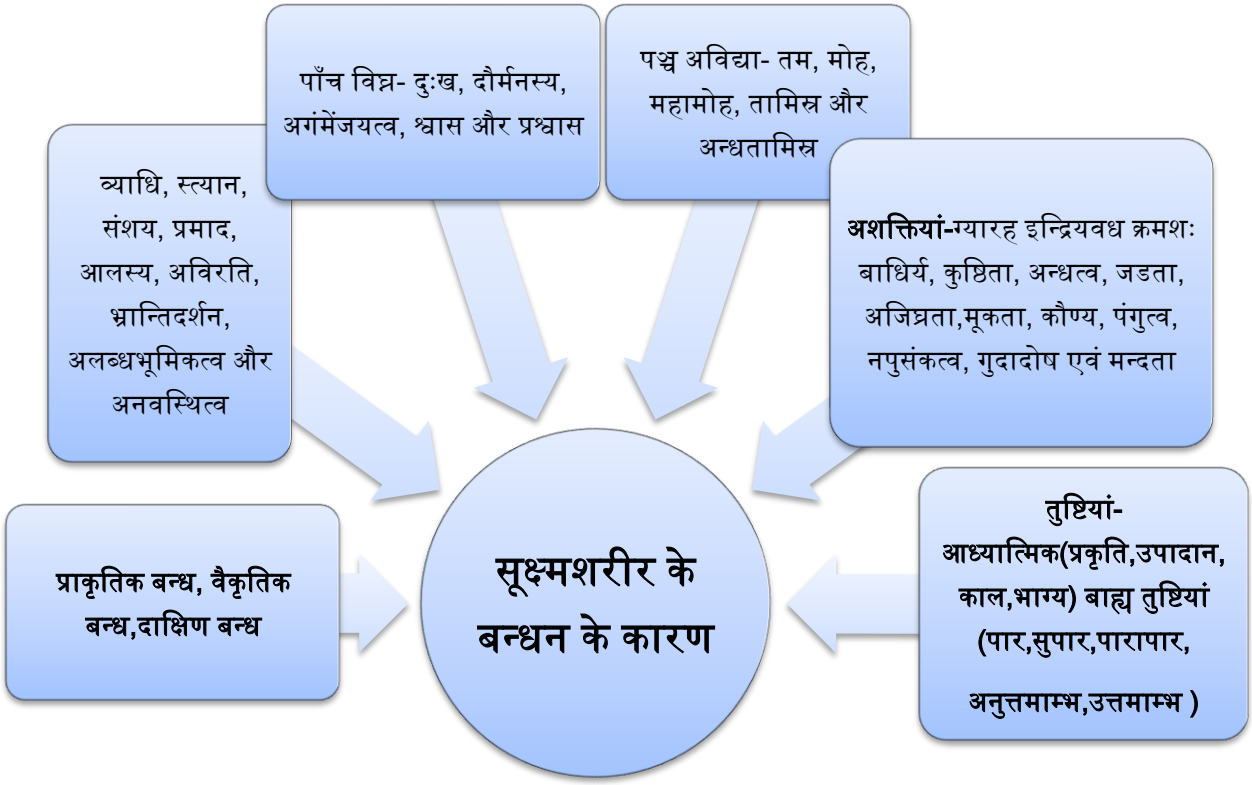

भारतीय ज्ञान परम्परा में सांख्य-योग दार्शनिक शाखाओं में स्थूलशरीर के मानसिक क्लेशों के स्वास्थ्य के सन्दर्भ में विस्तृत विज्ञान का उल्लेख मिलता है, जिसका अभीष्ट आत्मसाक्षात्कार एवं समाधि की पूर्णावस्था की

प्राप्ति है। अतः योगपद्धति चिकित्सात्मक होने की अपेक्षा साधनाप्रधान अधिक है। यहाँ आध्यात्मिक साधना में स्थूलशरीर के मानसिक आरोग्य पर जोर दिया गया है। इसे प्राप्त किये बिना आध्यात्मिक साधना सम्भव नहीं है। अतः योग में मनोगत कलुषित संस्कारों के स्वरूप एवं लक्षणों का विवेचन योग साधना में आने वाले विघ्न व्यवधानों के रूप में किया गया है और इन्हें चित्त विक्षेप की संज्ञा दी गई है। इन्हीं के कारण सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर के माध्यम से पुनर्जन्म लेता रहता है। वस्तुतः पातञ्जलयोगशास्त्र में उद्देश्य आत्यान्तिक दुःखों की निवृत्ति रहा है। इनकी दृष्टि में जब मनुष्य चित्त के कलुषित मलों का समूल नाश नही कर देता तब तक सूक्ष्मशरीर के यह संस्कार पुनर्जन्म के लिए प्रेरित करते रहेगें। पातञ्जलयोगसूत्र के अनुसार ये नव अन्तराय प्रमुख हैं जो पुनर्जन्म के लिए सूक्ष्मशरीर को प्रेरित करती है। वह इस प्रकार से हैं – व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थित्व।[1] **व्याधि (रोग) -** रस, धातु (शरीर) और करण (एकादश इन्द्रिय समुदाय) में किसी प्रकार की विषमता को व्याधि कहते है[2]। शरीर के पोषक वात-पित्त व कफ संज्ञक धातुओं, आहार के परिणामभूत रसों, एवं मन तथा चक्षुरादि करणों का 'विसदृशभाव' या असंतुलन ही व्याधि है।[3] इस दशा में चित्त स्थिर नहीं रहता है। सभी प्रकार की शारीरिक व मानसिक विकृतियों का 'व्याधि' में अन्तर्भाव हो जाता है। **स्त्यान-** उत्तम कर्तव्य ज्ञान रहने पर भी चित्त को ध्यान आदि साधन में प्रवृत्त न करने की इच्छा का होना 'स्त्यान'[4] है या चित्त की अकर्मण्यता अर्थात् साधना में प्रवृत्ति न होने का स्वभाव स्त्यान है।[5] इसमें मन की सक्रियता का अभाव होता है। अप्रीतिकर होने पर भी वीर्यपूर्ण प्रयत्न करने पर स्त्यान हट जाता है। **संशय** - अपनी शक्ति या योग के फल में संदेह हो जाने का नाम संशय है।[6] इसमें मन एकाग्र नहीं हो पाता है। संशय के रहते हुये अत्यन्त वीर्यपूर्ण प्रयत्न नहीं हो सकता। किन्तु

---

[1] व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। यो.सू. 1.30

[2] व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम् ।। व्या.भा.1.30

(1) शरीरधारकत्वाद् धातुनां वात्त-कफ-पित्तानां, रसानामाहारपरिणामानाम्, करणानां चक्षुरादीनां च वैषम्यं विसदृशभावो व्याधि॥ यो. वा. 1.30

(2) व्याधिरिति। धातवो वातपित्तश्लेष्माणः, शरीरधारणात्। अशीतपिताहारपरिणामविशेषोरसः। करणानीन्द्रियाणि । तेषां वैषम्यं न्यूनाधिकभाव इति॥ त. वै. 1.30 पृ. 394

[4] अकर्मण्यता योगानुष्ठानामक्षमता, आमवातादिना देहस्यकर्मण्यत्वेऽपि चित्तस्ययोगविसेधाचित्तस्यैति उक्तम् ॥ यो.वा.1.30

[5] स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य । व्या.भा.1.30

[6] संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं स्यादिदमेंवं नैवं स्यादिति। व्या.भा.1.30

श्रवण-मनन द्वारा तथा स्थिर व संशयहीन उपदेष्टा के सहवास से संशय दूर होता है। **प्रमाद -** योगसाधना के अनुष्ठान की अवहेलना करते रहना प्रमाद है।[1] समाधि के साधनसमूह की भावना न करना तथा आत्मविस्मृत होकर विषय में लिप्त रहना ही प्रमाद है।[1] इसमें व्यक्ति अभीष्ट कर्त्तव्य कर्म को नहीं करता, जिससे चित्त विक्षिप्त बना रहता है। **आलस्य-** तमोगुण की अधिकता के कारण शरीर में भारीपन आ जाना और उसके कारण साधना में प्रवृत्ति का न होना आलस्य है।[2] स्त्यान में चित्त अवश होकर इधर-उधर भटकता है जबकि आलस्य में चित्त तमोगुण के प्राबल्य से स्तब्धवत् रहता है। इस तरह मन के तमोगुण और शरीर में आलस्य से उत्पन्न निष्क्रियता चित्त विक्षेप का प्रमुख कारण है। मिताहार, जागरण और उद्यमशीलता के द्वारा आलस्य पराभूत होता है। **अविरति-** विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग होने से उनमें आसक्ति हो जाने के कारण चित्त में वैराग्य का अभाव हो जाता है, उसे अविरति कहते हैं।[3] इस तरह इन्द्रियों का विषयभोगों से न हटा सकना विक्षेप का कारण है। विषयों से दूर रहकर वैषयिक संकल्प को त्यागने का अभ्यास करने से अविरति नष्ट होती है। **भ्रान्तिदर्शन-** योग की साधना को किसी कारण से विपरीत समझना अर्थात् साधन ठीक नहीं, ऐसा मिथ्या ज्ञान हो जाना 'भ्रान्तिदर्शन' है[4]। दूसरे शब्दों में, यथार्थ, हान और हानोपाय को न जानकर निम्न पद को ऊँचा मानना तथा श्रेष्टतम को निम्न समझना ही भ्रान्तिदर्शन है। ईश्वर और गुरु के प्रति श्रद्धा के साथ योगशास्त्र के अध्ययन से भ्रान्तिदर्शन दूर हो जाता है। **अलब्धभूमिकत्व -** मधुमति आदि योगभूमि की अप्राप्ति अर्थात् साधना करने पर भी योग की भूमिकाओं या साधन की स्थिति का प्राप्त नहीं होना, अलब्धभूमिकत्व है।[5] इससे साधक का उत्साह कम हो जाता है, मन अस्थिर होने से विक्षेप उत्पन्न होता है और ध्यान नहीं लगता। **अनवस्थित्व** - योगभूमि की प्राप्ति के बाद भी उसमें स्थित न होना अनवस्थितता है[6]।

---

[1] प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्। व्या.भा.1.30

[1] पातञ्जल योगदर्शन, पृ. 94

[2] आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः। व्या.भा.1.30

[3] अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः। व्या.भा.1.30

[4] भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्। व्या.भा.1.30

[5] अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेंरलाभः। व्या.भा.1.30

[6] अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा। व्या.भा.1.30

इससे मनःस्थिति डांवाडोल रहती है व विक्षेप की स्थिति बनी रहती है। ईश्वर प्रणिधान व तत्त्वसाक्षात्कार रूप समाधि से सब अन्तराय दूर हो जाते हैं। ईश्वरप्रणिधान से बुद्धि निर्मल होती है।[1]

इस प्रकार इन नौ प्रकार के चित्तविक्षेपों को ही अन्तराय, विघ्न और योग के प्रतिपक्षी आदि नामों से कहा जाता है।[1] इनके रहने पर पाँच विघ्न उपस्थित हो जाते हैं- दुःख, दौर्मनस्य, अगंमेंजयत्व, श्वास और प्रश्वास।[2] इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार से है – **दुःख –** दुःख वह है जिनसे प्राणी पीड़ित होकर उसकी निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।[3] दुःख अर्थात् कष्ट भी तीन प्रकार के होते हैं- आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। स्वशरीरसंघात से सम्बंधित दुःख आध्यात्मिक होता है। यह दो प्रकार का होता है शारीरिक और मानसिक।[4] राग, द्वेष, काम, क्रोध, भय, चिन्ता, आदि होने से मन, इन्द्रियों और शरीर में जो विफलता एवं वेदना होती है, उसी का नाम **आध्यात्मिक** दुःख हैं। इस प्रकार मनुष्य, पशु, सिंह,सर्प, मच्छ्र आदि द्वारा होने वाले कष्टों को **आधिभौतिक** दुःख कहते हैं।[5] गर्मी, सर्दी, आंधी, तूफान, भूकम्प आदि दैवी कारणों से होने वाली पीड़ा **आधिदैविक** दुःख हैं।[6] **दौर्मनस्य-** मन की कोई इच्छा पूरी न होने पर मन में जो क्षोभ उतपन्न होता है उसे दौर्मनस्य कहते है।[7] **अगंमेंजयत्व-** शरीर के अवयवों का कम्पित होना अगंमेजयत्व है।[8] **श्वास -** श्वास प्रक्रिया पर नियन्त्रण न हो पाने के कारण बाहर की वायु का भीतर

---

[1] पातञ्जल योगदर्शन, पृ. 97

[1] हरिकृष्णदास गोयानका (व्या.) महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन. पृ.20

[2] दुःखदौर्मनस्याङ्गमेंजयत्वप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः। यो. सू.1.31

[3] (1) दुःखमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकं च। येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम्। व्या. भा. 1.31

(2) प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्। त. वै. 1.31

[4] आत्मानं स्वसंघातमधिकृत्य वर्तते इति आध्यात्मिकम्। तच्च द्विधं शारीरं मानसं च। शारीरं व्याध्यादिजनितं मानसं कामादिजम्। यो. वा. 1.31 पृ. 399

[5] व्याघ्रादिजनितं आधिभौतिकम् । त. वै. 1.31

[6] आधिदैविकं ग्रहपिडादिजनितम् ॥ त. वै. 1.31

[7] दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः। व्या.भा.1.31

[8] यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेंजयत्वम्। व्या.भा. 1.31

प्रवेश कर जाना अर्थात् भीतरी कुम्भक में विघ्न हो जाना श्वास है।[1] **प्रश्वास -** न चाहते हुए भी भीतर की वायु का बाहर निकल जाना अर्थात् भीतरी कुम्भक में विघ्न हो जाना प्रश्वास है।[1]

योग दार्शनिक परम्परा में संस्कारों का केन्द्रबिंदु प्रकृतिजनित अन्तःकरण है जो कि सूक्ष्मशरीर से सन्निहित रहते है। जिसमें प्रथमत: मन है, जो कि सूक्ष्मशरीर की तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत परिगणित है। चित्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति जनित होने के कारण जड़ात्मक है, अतः उसका स्वभाव अधोगामी, बहिर्गामी व चंचल होना है। ज्ञानस्वरूप चैतन्य पुरुष की ओर उर्ध्वगामी स्वभावतः प्रकृति व तज्जनित विकारो की प्रवृत्ति नहीं है। अतः योगदर्शन के अनुसार अविद्या आदि पञ्च क्लेश समस्त बन्धनों, दुखों मनोरोगों आदि के कारण हैं। अविद्या प्रकृति का स्वरूप है जो तज्जन्य सभी विकारों में रहता है। प्रकृतिजन्य प्रथम विकार चित्त में रजोगुण व तमोगुण का उद्रेक होने से पञ्चक्लेश अधिक प्रभावी बन जाते हैं जो समस्त दुःखों को निष्पादित करते हैं। योगदर्शन की दृष्टि में पञ्च क्लेश ही सूक्ष्मशरीर से सन्निहित रहते है, जो कि वर्तमान एवं भविष्यगामी जीवन के शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के वास्तविक कारण होते हैं।

सांख्य-योग परम्परा में अगले क्रम में बुद्धि जनित दुःखों का दार्शनिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। बुद्धि से तात्पर्य "जिससे प्रतीति या निश्चय हो उसे प्रत्यय या बुद्धि कहते हैं और उसका परिणाम ही सर्ग है।[2] विपर्यय, आशक्ति, तुष्टि, सिद्धि- ये चार बुद्धि के परिणाम हैं और गुणों के न्यूनाधिक्य से पारस्परिक अभिभव होने के कारण इसके पचास भेद होते हैं।[3] योगदर्शन में पञ्चक्लेश या पाँच प्रकार के मिथ्या ज्ञान हैं, जो वृत्तिलाभ करते हुये अभिव्यक्त होकर त्रिगुणों या त्रिगुणात्मिका (अन्तःकरण) बुद्धि के कार्यों को दृढ़ करते है तथा कारण-कार्य श्रृंखला अर्थात् महत्-अहंकारादि की उत्पति विषयक परम्परा को बढ़ाते हुए उसमें निरंतरता रखते हैं। त्रिगुणों की परिणामधारा को निरंतर चलायमान रखते हैं। आपस में एक- दूसरे का कामसाधने वाला बनते हुए प्राणियों के

---

[1] प्राणो यद्वाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। व्या.भा.1.31

[1] यत्कौष्ठयं वायु निःसारयति स प्रश्वासः। व्या.भा.1.31

[2] . तत्त्वकौ०, ४६.

[3] . सां० का०,४६.

जन्म, आयु ओर भोग रूप कर्मफल को निष्पादित करते हैं।[1] ये पञ्चक्लेश अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश हैं।[2]

योगसूत्र में ज्ञान से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित मिथ्याज्ञान को ही विपर्यय कहा गया है।[1] जयमंगलाकार[2] एवं वाचस्पति मिश्र (४६) के अनुसार विपर्यय ही अज्ञान है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये अविद्या के पांच भेद हैं इन्हें ही क्रमशः तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र कहा गया है[3] क्योंकि अस्मिता इत्यादि चारों अज्ञान के कार्य होने के कारण उसी के स्वभाव के हैं।[4] योगसूत्र में अविद्या आदि को पञ्चक्लेश की संज्ञा दी गयी है।[5] इसी स्थल पर योगभाष्यकार ने इन्हें स्पष्ट रूप से विपर्यय कहा है।[6]

अविद्या- :- अविद्या अनित्य, अपवित्र, दुःखात्मक और अनात्मक पदार्थ को क्रमश; नित्य, पवित्र, सुखात्मक और आत्मास्वरूप समझना है।[7] यह अविद्या क्लेश प्रवाह तथा (जन्म, आयु-भोगरूप) विपाकों सहित कर्मसंस्कारसमूह की जड़ है।[8] यह अविद्या न तो प्रमाण है, न प्रमाण का अभाव है, अपितु विद्या का विरोधी एक अन्य ज्ञान है, जिसकी सत्ता है। जो अपने परवर्ती क्लेशों की क्षेत्रभूमि है। अविद्या से ही वस्तु विषयरूप से उपस्थित होती है तथा अन्य क्लेश उसी का अनुसरण करते हैं। अतः समस्त समस्याओं का मूल कारण अविद्या है। लिंग पुराण में तम को अविद्या कहा है।[9] अनित्य में नित्यता, अपवित्र में पवित्रता, दुःख में सुख तथा अनात्मा में आत्मा का बोध ही अविद्या है।[10] वाचस्पति मिश्र (४८) के अनुसार आत्मा से भिन्न प्रकृति, महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओं में आत्मभावना अविद्या या तमस् है। यह तमस् आठ प्रकार का है।

---

[1] क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। तेस्यन्दमानागुणाधिकारदृढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति ।। व्या. भा. 2.3

[2] अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः॥ यो. सू. 2.3

[1] योगसूत्र १.१८

[2] जयमंगलाकार ४६

[3] . तत्त्वकौ०, ४७.

[4] . तत्त्वया०, पृष्ठ ७५.

[5] योगसूत्र २.३

[6] योगभाष्यकार २.३

[7] अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥ यो. सू. 2.5

[8] एषा चतुष्पदा भवत्यविद्यामूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च विपाकस्येति॥ व्या. भा. 2.5

[9] . लिंगपु०, ९.३२.

[10] . योगसू०, २.५.

अस्मिता या मोह- दृक् शक्ति पुरुष तथा दर्शनशक्ति बुद्धि दोनों की एकात्मता ही अस्मिता है।[1] अविद्या के कारण चित्त जड़ात्मक होते हुए भी पुरुष के सानिध्य से स्वयं को चेतनवत् भोक्ता, ज्ञाता समझने का अभिमान करना ही अस्मिता है।[1] चित्त और पुरुष दोनों के अलग-अलग होते हुए भी चित्त द्वारा पुरुष के ज्ञातृत्वादि गुणों को अपने ऊपर आरोपित करना अर्थात् दोनों की एकात्मकता ही अस्मिता है। एवं अस्मिता ही मोह है।[2] आचार्य माठर एवं गौडपाद के अनुसार अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों में आसक्त ब्रह्मा आदि देवता मोक्ष की इच्छा नहीं करते। शुभ कर्मों के कारण इन ऐश्वर्यों का क्षय हो जाने पर वे पुनः संसरण करते हैं। यही आठ प्रकार का मोह है।[3] आचार्य वाचस्पति मिश्र (४८) एवं जयमंगलाकार (४८) का मत प्रायः एक समान है। देवता आठ प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त करके अपने अमरत्व का अभिमान करते हुए इन अणिमा आदि ऐश्वर्यों को नित्य मानते हैं। यही अस्मिता या मोह है जो स्वविषयभूत ऐश्वर्य के अष्टविध होने के कारण स्वयं भी आठ प्रकार के है। लिंगपुराण में भी मोह को आठ प्रकार का कहा गया है।[4]

राग या महामोह- सुख का अनुभव करने बाद उसकी प्राप्ति के साधन के प्रति तृष्णा ही राग है।[5] आचार्य माठर (४८) एवम् गौडपाद (४८) के अनुसार देवताओं पञ्चतन्मात्र कहे जाने वाले शब्द और अविशेष केवल आनन्दरूप, निरुपाधि दुग्ध की भांति शान्ति आदि से युक्त, सुख आदि से रहित हैं और वे स्वर्ग प्राप्ति में मिलते हैं तथा मनुष्य के शब्द आदि सुख-दुःख मोह सम्पन्न शान्त घोर मूढ हैं और भौतिक शरीर से प्राप्त होते है। इस प्रकार महामोह दस प्रकार के हैं। युक्तिदीपिकाकार के अनुसार माता, पिता, भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री, गुरु मित्र एवं उपकारी के दस प्रकार के कुटुम्ब में अथवा दृष्ट एवं आनुश्रविक के भेद से शब्दादि दस विषयों में यह मेरा है इस प्रकार का अभिनिवेश ही दस प्रकार का महामोह है।[6] जयमंगलाकार ने दिव्य तथा अदिव्य के भेद से दस विषयों में होने वाले सुखानुसयी राग को ही दस प्रकार का महामोह कहते हैं।[7] पञ्चतन्मात्राएं सुखात्मक होने से दिव्य हैं तथा

---

[1] . वहीं, २.६.

[1] दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥ यो. सू. 2.6

[2] . लिंगपु०, ९.३२.

[3] माठरवृत्ति ४८, गौडपादभाष्य ४८

[4] लिंगपुराण ९.३४

[5] . सुखानुशयी रागः (योगसू०, २.७).

[6] युक्तिदीपिका ४८

[7] जयमंगला ४८

स्थूल पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूत सुख-दुःख मोहात्मक होने से अदिव्य हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र (४८) के अनुसार दिव्य और लौकिक रूप से दशविध शब्द, स्पर्शादि पांचों रागोत्पादक विषयों में राग या असक्ति महामोह है। यह अपने-अपने विषयों के दशविध होने के कारण स्वयं भी दस प्रकार का है। लिंगपुराण में भी महामोह के दशविध भेद वर्णित हैं।[1]

द्वेष या तामिस्र- दुःख की अनुभूति के अनन्तर स्मरण कर दुःख या उसके कारक के प्रति क्रोध की भावना ही द्वेष है[2] एवं द्वेष को ही तामिस्र भी कहते हैं।[3] सांख्यकारिका एवं लिंगपुराण में उत्पन्न तामिस्र को अठारह प्रकार का कहा गया है।[4] आचार्य माठर ने इसे क्रोध की संज्ञा दी है।[5] इनके अनुसार देवताओं और मनुष्यों के दस प्रकार के विषय तथा आठ प्रकार के ऎश्वर्य से अठारह प्रकार का तामिस्र होता है। इनमें से किसी एक के न प्राप्त होने से जो क्रोध है वही तामिस्र है। आचार्य गौडपाद भी तामिस्र के अठारह भेद स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार आठ ऎश्वर्य और दस विषयों के होने पर प्रसन्न होना और न होने पर दुःखी होना ही अठारह प्रकार का तामिस्र है।[6] जयमंगलाकार एवं आचार्य वाचस्पति मिश्र (४८) को भी तामिस्र का यही स्वरूप स्वीकृत है।[7]

अभिनिवेश या अन्धतामिस्र- प्रतिदिन अनेक प्राणी मृत्यु को प्राप्त होते हैं किन्तु स्वयं को उससे बचाने की तत्परता ही अभिनिवेश है।[8] आचार्य माठर के अनुसार तामिस्र के विषयों में मरण के त्रास (भय) से दुःख उत्पन्न होता है। ऎश्वर्य के विद्यमान होने पर ऎश्वर्यों का परित्याग कर मृत्यु के द्वार ले जाते हुए "मै चला जाऊंगा" इस संकल्प से जो त्रास होता है वह अन्धतामिस्र है।[9] आचार्य गौडपाद के अनुसार विषयों के भोगफल में ही जो मर जाता है वह अणिमा आदि अष्ट ऎश्वर्यों से भ्रष्ट हो जाता है इससे उसे अत्यन्त दुःख होता है। इस प्रकार मृत्यु या ऎश्वर्य से भ्रष्ट होने का भय ही अन्धतामिस्र है।[10] जयमंगलाकार के अनुसार मरण का त्रास ही अन्धतामिस्र है।[1] आचार्य वाचस्पति मिश्र

---

[1] लिंगपुराण ६.३४

[2] . दुःखानुशयी द्वेषः। (योगसू०, २.८).

[3] . द्वेषः तामिस्र...। (लिंगपु०, ९.३३).

[4] सांख्यकारिका ४८, लिंगपुराण ९.३५

[5] माठरवृत्ति ४८

[6] गौडपादभाष्य ४८

[7] जयमंगला ४८

[8] . योगसू०, २.९.

[9] माठरवृत्ति ४८

[10] गौडपादभाष्य ४८

मिश्र (४८) के अनुसार देवता अणिमा इत्यादि आठों ऐश्वर्यों को प्राप्त कर शब्दादि विषयों का भोग करते हुए डरते हैं कि "हमारे शब्दादि भोग तथा उनके अणिमा आदि उपाय असुरों द्वारा विनष्ट न कर दिये जायं।" यही भय अभिनिवेश है जो अन्धतामिस्र कहलाता है और अपने विषय के अठारह प्रकार का होने से स्वयं भी अठारह प्रकार का होता है। लिंगपुराण के अनुसार विवेकी के मिथ्याज्ञान को ही अभिनिवेश कहते हैं।[1]

अशक्तियां :- बुद्धि के अपने उपाघातों के साथ ग्यारह इन्द्रियों के उपघात को अशक्ति कहते हैं। ग्यारह इन्द्रियवध और सत्रह बुद्धिवध के भेद से अशक्तियां अठ्ठाइस प्रकार की हैं[2] आचार्य माठर के अनुसार इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के ग्रहण का असामर्थ्य ही इन्द्रियवध है।[3] ये ग्यारह इन्द्रियवध क्रमशः बाधिर्य, कुष्ठिता, अन्धत्व, स्वादों का न होना (जडता), गन्ध का ज्ञान न होना (अजिघ्रता), मूकता, हाथ का टूटा होना (कौण्य), पंगुत्व, नपुसंकत्व, गुदादोष एवं मन्दता है। नव तुष्टियों और आठ सिद्धियों के विपर्यय के कारण बुद्धिवध के सत्रह भेद हैं।[4]

तुष्टियां :- प्रकृति से सर्वथा भिन्न आत्मा है, ऐसा समझकर भी जो व्यक्ति असद् उपदेश से सन्तुष्ट होकर आत्मा के श्रवण, मनन इत्यादि के द्वारा उसके विवेक ज्ञान के लिए प्रयत्न नहीं करता, उसकी आध्यात्मिक तुष्टियां चार प्रकार की होती हैं। प्रकृति से भिन्न आत्मा के विषय में होने के कारण ये तुष्टियां आध्यात्मिक–आत्मविषयक कहलाती हैं जो प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य हैं और वैराग्य होने के कारण विषयों से उत्पन्न पॉच बाह्य- इस प्रकार कुल नव तुष्टियां हैं।[5]

आध्यात्मिक तुष्टियां :- (क) प्रकृति- विवेकज्ञान प्रकृति का ही परिणाम विशेष है और उसे प्रकृति ही उत्पन्न करती है इसलिए आत्मा के ध्यान अभ्यास व्यर्थ है, ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है, वही प्रकृति नामक तुष्टि है जो अम्भ भी कहलाती है।[6] **(ख) उपादान-** प्रकृति का परिणाम विशेष होकर भी विवेकज्ञान केवल प्रकृति से नहीं बल्कि

---

[1] जयमंगला ४८

[1] लिंगपुराण ९.३३

[2] . सां० का० एवं तत्त्वकौ०, ४९.

[3] . इन्द्रियाणां स्वविषयग्रहणासामर्थ्यं वध इव वधः। (माठर०, ४९).

[4] . तत्त्वकौ०, ४९.

[5] . सां० का० एवं तत्त्वकौ०, ५०.

[6] तत्त्वकौ०, ५०

संन्यास से उत्पन्न होता है, ऎसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वह उपादान नामक तुष्टि है जो सलिल भी कहलाती है।[1] **(ग) काल-** संन्यास भी शीघ्र अपवर्ग देने वाला नहीं है। वह कालान्तर में परिपक्व होकर ही विवेकज्ञान देगा, ऎसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वही काल है और यही ओध भी कहलाती है।[1] **(घ) भाग्य-** विवेकज्ञान न प्रकृति से, न काल से, न विवेकख्याति से अपितु भाग्य से ही होता है इसलिए भाग्य ही हेतु है अन्य कुछ नहीं, ऎसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वह भाग्य नामक तुष्टि है यही वृष्टि भी कहलाती है।[2]

बाह्य तुष्टियां- विषयों से वैराग्य होने के कारण बाह्य तुष्टियां पॉच हैं। आत्म-भिन्न प्रकृति, महत्, अहंकार इत्यादि को आत्मा समझते हुए वैराग्य होने पर जो तुष्टियां होती हैं, वे आत्मज्ञान न होने से आत्म भिन्न प्रकृति इत्यादि बाह्य पदार्थों के विषय में होने के कारण बाह्य हैं। अतः वैराग्य उत्पन्न होने पर ही ये तुष्टियां उत्पन्न होती हैं और वैराग्य पॉच कारणों से उत्पन्न होने से पॉच प्रकार का होता है अतएव वैराग्य के पञ्चविध होने से तुष्टियां भी पॉच प्रकार की होती हैं।[3] **(क) पार-** धनोपार्जन के सेवा इत्यादि उपाय सेवकों को बड़ा दुःख देते हैं, दर्पयुक्त दुष्ट स्वामी के द्वार पर स्थिर पहरेदारों से असह्य गल-प्रहार से उत्पन्न पीडा की भावना करता हुआ कौन बुद्धिमान् पुरुष (प्राज्ञः) सेवा में प्रवृत्त होगा, इसी प्रकार धनोपार्जन के अन्य उपाय भी दुःखद होते हैं। इन विचारों के विषयों से वैराग्य होने पर जो तुष्टि होती है वह पार कहलाती है। **(ख) सुपार-** राजा, चोर, अग्नि और बाढ इत्यादि से उपार्जित धन नष्ट हो जायेगा इस कारण उसके रक्षण में महान् कष्ट है- ऎसे विचार करते हुए विषयों से वैराग्य होने पर जो दूसरी तुष्टि होती है वह सुपार कहलाती है। **(ग) पारापार-** महाकष्ट से उपार्जित धन भोग करने से नष्ट हो जायेगा इत्यादि धन विनाश की भावना करते हुए विषयों से वैराग्य होने पर जो तुष्टि होती है वह पारापार कहलाती है। **(घ) अनुत्तमाम्भ-** शब्द इत्यादि विषयों के बार-बार भोग से वासनाएं बढ़ती हैं और वे स्वविषयों के न प्राप्त होने पर कामी को कष्ट देती हैं- इत्यादि उपभोग-गत दोष का विचार करते हुए इन विषयों से वैराग्य होने पर जो तुष्टि होती है वह अनुत्तमाम्भ कहलाती है। **(ङ) उत्तमाम्भ-** भूत-हिंसा के बिना विषयों का उपभोग नहीं हो सकता- इत्यादि

---

[1] तत्त्वकौ०, ५०

[1] तत्त्वकौ०, ५०

[2] तत्त्वकौ०, ५०

[3] तत्त्वकौ०, ५०

हिंसा दोष के दर्शन से वैराग्य होने पर जो तुष्टि होती है वह उत्तमाम्भ कहलाती है।[1]

सिद्धियां :- ज्ञान की प्राप्ति ही सिद्धि है।[1] ऊह (तर्क), शब्द, अध्ययन, त्रिविध दुःख विनाश, सुहृत्प्राप्ति एवं दान के भेद से सिद्धियों के आठ भेद हैं। दुःखत्रय के विनाश के कारण तीन सिद्धियां मुख्य हैं एवं अन्य पॉचों सिद्धियां इनके उपाय होने के कारण गौण हैं।[2] **ऊह-** आचार्य गौडपाद[3] के अनुसार जो कोई नित्य इस चिन्तन में लगा रहता है कि सत्य क्या है? सर्वोत्कृष्ट तत्त्व (परं) क्या है? एवं किस तथ्य को पाकर व्यक्ति कृतार्थ होता है उसे यह ज्ञानरूपी सिद्धि हो जाती है कि पुरुष प्रधान से अन्य है। बुद्धि, अहंकार तथा उनके परिणाम ये सभी पुरुष तत्त्व से भिन्न हैं। इस तरह की ज्ञानात्मक सिद्धि ही ऊह कहलाती है। जयमंगलाकार के अनुसार बिना किसी गुरु के उपदेश से जन्म-जन्मान्तर के संकारवश पुरुष तत्व का बोध हो जाना या प्रकृति- पुरुषान्यताख्याति का उदय होना ऊह नामक सिद्धि है।[4] आचार्य वाचस्पति मिश्र के अनुसार ऊह ही तर्क है। आगम के प्रतिपाद्य विषय की ऐसे न्याय से परीक्षा करना जो आगम विरोधी न हो, तर्क कहा जाता है और यह परीक्षा सन्दिग्ध पूर्व पक्ष के परित्याग के द्वारा उत्तर पक्ष या सिद्धान्त पक्ष की स्थापना है। शास्त्रज्ञ इसे ही 'मनन' कहते हैं। ऊह की दूसरी संज्ञा तारतार है।[5] **शब्द-** आचार्य गौडपाद के अनुसार शब्द के ज्ञान से प्रधान, पुरुष, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्राएं, इन्द्रियां, पञ्चमहाभूत नामक विषयों का ज्ञान होता है एवं इसके अनन्तर मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिए शब्द नामक सिद्धि दूसरी है।[6] जयमंगलाकार के अनुसार दूसरे के द्वारा सम्पादित सांख्यशास्त्र के पाठ को सुनकर जो ज्ञान होता है वही शब्द नामक सिद्धि है जो पाठ के अनन्तर होती है।[7] वाचस्पति मिश्र (५१) कार्य में कारण के आरोप द्वारा शब्द पद से जो शब्दोत्पन्न अर्थ-ज्ञान सूचित होता है उसे ही सुतार मानते हैं। **अध्ययन-** अध्ययन का अर्थ वेदादि शास्त्रों का अध्ययन है। इससे भी पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त होता है और उसके अनन्तर व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करता है। अतः अध्ययन तीसरे प्रकार की सिद्धि

---

[1] तत्त्वकौ०, ५०

[1] . सिद्धिर्ज्ञानप्राप्तिः। (जय०, ४६).

[2] . सां० का० एवं तत्त्वकौ०, ५१.

[3] गौडपादभाष्य ५१

[4] जयमंगला ५१

[5] तत्त्वकौ०, ५१

[6] गौडपादभाष्य ५१

[7] जयमंगलाकार ५१

है।[1] जयमंगलाकार के अनुसार अध्ययन नामक सिद्धि वह है जो गुरु, शिष्य एवं आचार्य के सम्बन्ध से सांख्यशास्त्रीय ग्रन्थों के विधिपूर्वक अध्ययन से प्राप्त होती है।[1] **दुःखत्रयविघात-** आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक- तीनों प्रकार के दुःख के नाश के लिए व्यक्ति जब समुचित गुरु के पास पहुंचता है तो उसके उपदेश से उसे मोक्ष प्राप्त होता है। यह चौथी सिद्धि है। यह दुःखत्रय भेद से तीन प्रकार की होती है। इनकी संज्ञा क्रमशः प्रमोद, मुदित एवं मोदमान है।[2] **सुहृत्प्राप्ति-** किसी मित्र का ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाना[3] एवं मित्र के स्नेह से या उसकी प्रेरणा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञानरूप सिद्धि सुहृत्प्राप्ति कहलाती है।[4] आचार्य वाचस्पति मिश्र (५१) के अनुसार साधक युक्तियों के द्वारा स्वयं परीक्षा किये हुए शास्त्रार्थ या सिद्धान्त में तब तक विश्वास नहीं करता जब तक कि गुरु, शिष्य और ब्रह्मचारी के साथ संवाद नहीं कर लेता। इसलिए सुहृद अर्थात् गुरु, शिष्य तथा ब्रह्मचारी का संवाद प्राप्त होना सुहृत्प्राप्ति है। इसकी संज्ञा रम्यक् भी है। **दान-** सन्त महात्माओं को आश्रय एवं अपेक्षित औषधि आदि की व्यवस्था के लिए धन दान करके उनके आशीर्वाद स्वरूप विवेकज्ञान की प्राप्ति आठवीं सिद्धि है।[5] जयमंगलाकार के अनुसार धन आदि दान को पाकर ज्ञानी जो किसी को ज्ञान देता है वही दान नामक सिद्धि है जो सदामुदित भी कहलाती है।[6]

इन पञ्च क्लेशों के रहने पर ही कर्म करने से संस्कार बनते है तथा यही कर्मसंस्कार (कर्माशय) सूक्ष्मशरीर से सन्निहित होकर जन्म-जन्मान्तर फल देने वाले होते हैं। अतः क्लेशों के बने रहने पर कर्मजन्य फलों (जन्म, आयु, भोग) की प्राप्ति होती है। कर्माशय जन्मफल सभी के लिए सब दुःख रूप है, किन्तु अविद्या के कारण सामान्यजन उसे अनुभव करता हुआ भी सम्यक् ढंग से नहीं समझ पाता है तथा विवेकीजन त्रिगुणात्मक प्रवृत्तिस्वरूप कर्माशयजन्य फलों को सम्यक्तया जान पाते हैं, किन्तु वह उनके लिए भी दुःखमय है। प्रकृति और पुरुष का संयोग सृष्टि के लिए आवश्यक है जो सृष्टि के विकास व बंधन के लिए उत्तरदायी है। अतः बन्धन कारण प्रकृतिजन्य बुद्धि (दृश्य) तथा

---

[1] . अध्ययनाद् वेदादिशास्त्राध्ययनात्पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं प्राप्यते मोक्षं याति इत्येषा तृतीया सिद्धि। (गौड०, ५१).

[1] जयमंगलाकार ५१

[2] . तिस्रश्च मुख्याः सिद्धयः प्रमोदमुदितमोदमानाइत्यष्टौ सिद्धयः। (तत्त्वकौ०, ५१).

[3] . गौड०, ५१.

[4] . जय०, ५१.

[5] . गौड०, ५१.

[6] . तत्त्वकौ०, ५१.

पुरुष (दृष्टुशक्ति) का संयोग ही व्यक्तिगत संयोग होता है।[1] जो अविद्या के कारण होता है। जो सभी प्रकार से दुःखों, रोगों व बंधन का कारण है।[1] अज्ञान से संयोग के कारण सर्ग है तथा ज्ञान से उत्पन्न होने वाला अज्ञानाभाव ही मोक्ष या अपवर्ग है। अविद्या के नाश से बुद्धि व पुरुष के संयोग का नाश हो जाता है। यही पुरुष का कैवल्य है।[2] जिससे गुणों (चित्त) से पुरुष का पुनः संयोग नहीं होता है। इस प्रकार दुःख के कारण की ही निवृत्ति हो जाने पर दुःख की निवृत्ति हो जाना ही मोक्ष है। यह मोक्ष केवल स्थूलशरीर का नही है अपितु सूक्ष्मशरीर का है। उस समय वह पुरुष स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।[3] कैवल्य की अवस्था में सूक्ष्मशरीर की पुनरावृत्ति नही होती।

सूक्ष्मशरीर एवं कैवल्य (मोक्ष):-

सांख्य-योग दार्शनिक परम्परा में पुनर्जन्म की अवधारणा को स्पष्टतः स्वीकार किया गया है। सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर धारण कर पुनर्जन्म लेता ही रहता है। अब यहां यह प्रश्न उठता है कि सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक सांसारिक वस्तु की उत्पत्ति कार्य-कारण नियम के आधार पर समझाने का प्रयास करता है। क्या जन्म-जन्मान्त संस्कारों के वाहक सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति सत्कार्य सिद्धान्त के आधार पर कर सकते है? निवृत्ति के सन्दर्भ में बौद्ध परम्परा की तरह सांख्य-योग परम्परा भी कार्य-कारण नियम के आधार पर इस जटिल दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया है। इस परम्परा में अविद्या का नाश एवं विवेक ज्ञान के उदय से सूक्ष्मशरीर निवृत्ति सम्भव बताई गई है। जिस अवस्था में दुःख को सम्यक् प्रकार से जान लिया गया है तथा अन्य कुछ जानने योग्य शेष रहा नहीं है, दुःख का कारण अविद्या जिस स्थिति में क्षीण और नष्ट हो चुकी है, निरुद्ध समाधि द्वारा कैवल्य का साक्षात्कार कर लिया गया है, जिस स्थिति में बुद्धि कृतकृत्य हो गयी है, जिसके द्वारा विवेकख्याति रूपी मोक्ष उपायों को सिद्ध कर लिया गया है, पर्वतशिखर के अग्रभाग के गिरे हुए निराधार पत्थरों की भांति गुण अपने मूलकारण में लयोन्मुख होकर चित्त के साथ अस्त हो गए है, उस अवस्था में त्रिगुणों के सम्पर्क से परे शुद्ध चैतन्य मात्र ज्योतिस्वरूप निर्मलमुख पुरुष रह जाता है। इस प्रकार उच्चस्तरीय बुद्धि को देखने वाला पुरुष कुशल (जीवन्मुक्त) कहा जाता है। कैवल्य की अवस्था में त्रिगुणों के परिणामस्वरूप कार्यकारित्व के क्रम की समाप्ति हो

---

[1] स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः॥ यो. सू. 2.23

[1] तस्य हेतुरविद्या॥ यो. सू. 2.24

[2] तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्॥ यो. सू. 2.25

[3] तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ यो .सू. 1.3

जाती है। त्रिगुण का अव्यक्त में लय हो ज़ाना तथा पुरुष का स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है। कैवल्य के पश्चात् पुरुष में केवल चितिशक्ति ही शेष रहती है।[1] ज्ञान के सन्दर्भ में सुवर्णसप्ततिशास्त्रकार बाह्य और आभ्यन्तर भेद से ज्ञान को द्विविध स्वीकार करते हैं। शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, छन्द और निरुक्त को बाह्य ज्ञान कहा गया है तथा आभ्यन्तर ज्ञान में पुरुष और प्रकृति के पार्थक्य का विवेचन है। प्रकृति सत्त्व, रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था है और पुरुष इससे भिन्न है। साथ ही बाह्य ज्ञान से लोक में प्रवृत्ति तथा आभ्यन्तर ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[2] माठरवृत्ति में भी बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से ज्ञान को द्विविध रूप में स्वीकार किया गया है।[3] बाह्य ज्ञान में वीणा, पणव, गन्धर्व, चित्र, कथा, गणित तथा व्याकरणशास्त्र का समावेश होता है। माठरवृत्तिकार आभ्यन्तर ज्ञान के निरुपण में सुवर्णसप्ततिशास्त्र का अनुसरण करते हैं। जयमंगलाकार के अनुसार पचीस तत्त्वों के स्वरूप तथा गुणों एवं पुरुष के भेद का ज्ञान ही ज्ञान है।[4] वाचस्पति मिश्र भी जयमंगलाकार के समान त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा पुरुष के विवेक या भेद के साक्षात्कार को ज्ञान की संज्ञा देते हैं।[5] इसके अतिरिक्त स्थूलशरीर अधिष्ठित सूक्ष्मशरीर का प्रकृति के प्रति वैराग्य की भावना उत्पन्न होना मुक्ति का साधन माना गया है।

वैराग्य:- आचार्य माठर ने वैराग्य को बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से द्विविध मानते हैं। उनके अनुसार लौकिक विषयों के उपार्जन, रक्षण, क्षय, अतृप्ति, हिंसा, आदि दोष देख कर उनसे विरक्त होना ही वैराग्य है और ऐसी विरक्ति से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है, आभ्यन्तर ज्ञानपूर्वक वैराग्य से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।[6] आचार्य गौडपाद (२३) भी वैराग्य को बाह्य और आभ्यन्तर भेद से द्विविध मानते हैं। दृष्ट विषयों के उपार्जन, रक्षण, एवं क्षय आदि में हिंसा दोष देख कर उनके प्रति वितृष्णा बाह्य वैराग्य है। आभ्यन्तर वैराग्य मोक्ष की इच्छा रखने वाले विरक्त व्यक्ति की उस अवस्था को कहते हैं जब वह विषयों को स्वतः स्वप्न या इन्द्रजालवत् समझने लगता है।

---

[1] पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ यो. सू. 4.34

[2] . बाह्यं ज्ञानमाभ्यन्तरं ज्ञानमिति ज्ञानं द्विविधम्। बाह्य ज्ञानं षड्-वेदांगानि शिक्षा, व्याकरणम्, कल्पः ज्योतिषम्, छन्दः, निरुक्तम्। एतानि षड् विद्यास्थानानि बाह्यमुच्यते। आभ्यन्तरज्ञानं त्रिगुणपुरुषान्तरोपलब्धिः। बाह्यज्ञानं लौकिकं लभ्यते। आभ्यन्तर ज्ञानेन मोक्षो लभ्यते। (सुवर्ण०, २३).

[3] माठरवृत्ति,२३

[4] . पञ्चविंशतितत्त्वानां स्वसंज्ञालाक्षण्यकत्वप्रयोजनावधारणं ज्ञानम्। (जय०, २३).

[5] . गुणपुरुषान्यताख्यातिर्ज्ञानम्। (तत्त्वकौ०, २३).

[6] . वैराग्यमाह अर्जनरक्षणक्षयातृप्तिहिंसादिदोषान् दृष्टवा यो विषयेभ्यो विरक्तास्तस्य मोक्षो नास्तीति।
आभ्यन्तरेण ज्ञानपूर्वकेण वैराग्येण मोक्षो भवति बाह्येन संसार इति। (माठर०, २३).

जयमंगलाकार का कथन है कि विषय, शरीर एवं इन्द्रियों में दोष को देखकर उसके प्रति विमुखता ही वैराग्य है तथा उनमें अभिलाषा का बना रहना ही राग है।[1] युक्तिदीपिकाकार एवं वाचस्पति मिश्र के अनुसार राग (आसक्ति) का अभाव विराग अर्थात वैराग्य है। उन्होंने इसकी चार अवस्थाएं मानी हैं- यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय एवं वशीकार वैराग्य।[2] **(क) यतमान वैराग्य-** युक्तिदीपिकाकार के अनुसार इन्द्रियों का विषयों के प्रति इच्छा-लक्षणात्मक जो कषाय पाक के प्रति प्रदर्शित उत्साह है उसी को यतिमान वैराग्य कहते हैं। प्रयत्नशील इन्द्रियों का अपने विषयों की ओर लुब्ध होना ही यतमान या प्रयत्न है।[3] वाचस्पति मिश्र (२३) के अनुसार राग, द्वेष आदि चित्त के कषाय या मल हैं। इनके द्वारा इन्द्रियां अपने-अपने विषयों प्रवर्तित होती हैं। इन विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोकने के लिए इन कषायों या मलों का परिपाक आपेक्षित है। पुरूष द्वारा इन कषायों के परिपाक के लिए किये गये प्रयत्नों को यतमान नामक वैराग्य कहा गया है। **(ख) व्यतिरेक वैराग्य-** युक्तिदीपिकाकार ने कुछ इन्द्रिय विषयों की परिपक्वावस्था को व्यतिरेक वैराग्य की संज्ञा दी है।[4] वाचस्पति मिश्र (२३) के अनुसार इन कषायों के शमन के प्रयत्न करने पर कुछ तो शान्त हो जाते हैं और कुछ भविष्य में शान्त होने को रह जाते हैं। इस प्रकार इनके उपशम में पौर्वापर्य उपस्थित होने पर अवशिष्ट कषायों के शमन के लिए अनुष्ठान व्यतिरेक वैराग्य है। **(ग) एकेन्द्रिय वैराग्य-** युक्तिदीपिकाकार के अनुसार सभी इन्द्रियों के निवृत्त होने पर भी जब कषाय संकल्पमात्र में अवस्थित रहते हैं तब उस वैराग्य की एकेन्द्रिय संज्ञा है।[5] वाचस्पति मिश्र (२३) के अनुसार इन्द्रियों के प्रवृत्ति में असमर्थ हो जाने के कारण पङ्क अर्थात निवृत्त किन्तु विषय तृष्णा के रूप में फिर भी अवशिष्ट मलों को मन में ही नियत रखना एकेन्द्रियसंज्ञा नामक वैराग्य है। **(घ) वशीकार वैराग्य-** महर्षि पतञ्जलि के अनुसार लौकिक तथा वेदोक्त (दिव्य) विषयों के सम्बन्ध में वितृष्णा अर्थात औत्सुक्यहीन साधक के वैराग्य की वशीकार संज्ञा है।[6] युक्तिदीपिकाकार के अनुसार संकल्पमात्र की अवस्थित

---

[1] जयमंगला,२३

[2] . विरागो वैराग्यं रागाभावः। तस्य यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा। (तत्त्वकौ०, २३).

[3] . तदेन्द्रियाणां विषयाभिलाष लक्षणकषायपाचनं प्रति यः प्रयत्न उत्साहः सा यतमानसंज्ञा। यतमानको ह्यमस्मिन्पर्वण्यवस्थितो यतिर्भवति। (युक्ति०, २३).

[4] . यदा तु केषांञ्चिदिन्द्रियाणां परिपक्वं सा व्यतिरेक संज्ञा। (युक्ति०, २३).

[5] युक्तिदीपिका,२३

[6] योगसूत्र, १.१६

कषाय के परिपाक की वशीकार संज्ञा है।[1] वाचस्पति मिश्र (२३) पतञ्जलि का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि लौकिक और स्वर्गादि वेदोक्त भोग-विषयों के उपस्थित होने पर भी उनके प्रति उपेक्षा बुद्धि का होना वशीकार नामक वैराग्य है। यह वैराग्य निरन्तर अभ्यास के माध्यम से सार्थक सिद्ध होता है। निरन्तर किया गया अभ्यास सूक्ष्मशरीर की आत्यान्तिक निवृत्ति के लिए उपयोगी है।

सांख्य-योग परम्परा में निरन्तर समाधि में अभ्यास करने पर पुरूष अष्ट ऎश्वर्यों से साक्षात्कार होता है जो कि निम्न प्रकार से है- अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व – ये अष्ट ऎश्वर्य हैं किन्तु माठरवृत्ति एवं युक्तिदीपिका में इन उपर्युक्त ऎश्वर्यों के अतिरिक्त एक गरिमा का भी उल्लेख है।[1] **(क) अणिमा-** व्यासभाष्य के अनुसार अणिमा वह है जिसमें योगी अपने शरीर को सूक्ष्म कर लेता है[2]एवं परमाणु के समान सूक्ष्म होना अणिमा है।[3] मार्कण्डेयपुराणकार का कथन है कि जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हो वह अणिमा है। सुवर्णसप्ततिकार ने अत्यन्त शून्यवान् अवस्थिति को अणिमा माना है।[4] भागवतपुराण में कहा गया है कि जो पुरुष तन्मात्रारूपी मन को भूतसूक्ष्मोपाधिक तन्मात्ररूप (परमात्मा) में स्थित करता है। वह तन्मात्रोपासक अणिमा को प्राप्त कर लेता है।[5] आचार्य गौडपाद (२३) के अनुसार अणु के भाव को अणिमा कहते हैं जिसमें योगी सूक्ष्म होकर जगत् में विचरण करता है। वाचस्पति मिश्र (२३) के अनुसार अणिमा अणुभाव या सूक्ष्मता है जिससे योगी शिला में भी प्रवेश कर जाता है। **(ख) लघिमा-** लघिमा का अर्थ है लघु होना।[6] भोजवृत्ति के अनुसार रुई के ढेर के समान हल्का होना ही लघिमा है।[7] मार्कण्डेयपुराण के विचारानुसार जिसके द्वारा सब कार्यों में शीघ्रता उत्पन्न हो सके वह लघिमा है।[8] सुवर्णसप्ततिशास्त्रकार के मतानुसार अत्यन्त लघु हो जाना लघिमा है[9] और इसे मन के समान परिणाम वाला

---

[1] . संकल्पमात्रावस्थितस्यापि परिपाको वशीकारसंज्ञा। (युक्ति०, २३).

[1] माठरवृत्ति.२३, युक्तिदीपिका. २३

[2] . तत्राणिमा भवत्यणुः। (योगसू०, ३.४५, पर व्या०).

[3] . अणिमा परमाणुरूपतापत्तिः। (योगसू०, ३.४५, पर भोज०).

[4] सुवर्णसप्ततिकार,२३

[5] भागवतपुराण ११.१५.१०

[6] . लघिमा लघुर्भवति। (योगसू०,३.४५ पर व्या०).

[7] . योगसू०,३.४५, पर भोज०।

[8] . मार्कपु०, ४०.१३.

[9] सुवर्णसप्तति,२३

समझना चाहिए। भागवतपुराण में कहा गया है कि परमाणुरूप ब्रह्म में प्राणियों के चित्त का रंजन होना काल के सूक्ष्मार्थता का परिचायक है जिसके द्वारा ही लघिमा प्राप्त होती है।[1] आचार्य गौडपाद (२३) का विचार है कि रुई के फाहे से भी हल्का होकर फूल के परागवाही अवयवों की नोक पर बैठ सकना ही लघिमा है। जयमंगलाकार ने लघिमा का अर्थ लघुत्व करते हैं जिसमें योगी वायु के समान लघुतर हो जाता है।[2] आचार्य वाचस्पति मिश्र (२३) के अनुसार लघिमा लघुता या हल्कापन है जिससे योगी सूर्य की मरीचियों का अवलम्बन कर सूर्यलोक में पहुंच जाता है। **(ग) महिमा-** महान् होना ही महिमा है।[3] मार्कण्डेयपुराण के विचारानुसार अशेष पूज्य ही महिमा है।[4] सुवर्णसप्ततिकार के अनुसार आकाश के समान अत्यन्त विभु होना ही महिमा है।[5] भागवतपुराण का विचार है कि उस महत् परम ब्रह्म में मन एवं आत्मा को धारण करना ही महिमा है।[6] आचार्य गौडपाद (२३) के अनुसार महिमा वह स्थिति है जिसमें योगी महान् होकर विचार करता है। जयमंगलाकार ने महिमा का अर्थ महत्त्व किया है जिससे भुवनों में धर्म आदि की प्राप्ति होती है तथा इन गुणों से इच्छित वस्तु मिल जाती है।[7] वाचस्पति मिश्र (२३) के अनुसार भी महिमा महत्त्व को कहते हैं जिससे योगी महत् परिणाम वाला हो जाता है। **(घ) प्राप्ति-** व्यासभाष्य एवं भोजवृत्ति के अनुसार प्राप्ति वह है जिसमें योगी चन्द्रमा को हाथ से स्पर्श कर सकता है।[8] मार्कण्डेयपुराणानुसार जिसके द्वारा समस्त इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति हो सके वह प्राप्ति है।[9] सुवर्णसप्ततिकार के अनुसार यथेष्ट लाभ को प्राप्ति कहते हैं।[10] भागवतपुराण के अनुसार मनोवैकारिक ब्रह्म (अहं) तत्त्व अखिल विश्व को धारण करते हुए समस्त इन्द्रियों की आत्मतत्त्व प्राप्ति ही प्राप्ति है।[11] आचार्य गौडपाद (२३) का कथन है कि अपनी अभिमत या इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेना ही प्राप्ति है चाहे इच्छित वस्तु कहीं भी अवस्थित क्यों न हो। जयमंगलाकार (२३) के अनुसार

---

[1] भागवतपुराण,११.१५.१२

[2] जयमंगला,२३

[3] . महिमा महान्भवति। (योगसू०, ३.४५ पर व्या०).

[4] मार्कण्डेयपुराण,४०.३१

[5] सुवर्णसप्ततिकार,२३

[6] भागवतपुराण,११.१५.११

[7] जयमंगलाकार,२३

[8] . योगसू०, ३.४५, पर व्या०, एवं भोज०।

[9] मार्कण्डेयपुराणानुसार,४०.३१

[10] सुवर्णसप्ततिकार,२३

[11] भागवतपुराण ११.१५.१४

प्राप्ति से भुवनों में धर्म आदि की प्राप्ति होती है। वाचस्पति मिश्र (२३) का कथन है कि प्राप्ति वह है जिससे योगी अंगुली के अग्रभाग से चन्द्रमा का स्पर्श कर लेता है। **(ङ) प्राकाम्य-** व्यासभाष्य एवं भोजवृत्ति के अनुसार इच्छा का पूर्ण होना ही प्राकाम्य है। इसके कारण मनुष्य भूमि में उसी प्रकार डूबता और निकलता है जिस प्रकार जल में।[1] मार्कण्डेयपुराण में वर्णित है कि जिसके द्वारा व्यापित्व शक्ति उत्पन्न हो सके वह प्राकाम्य है।[2] सुवर्णसप्ततिकार यथेच्छ विषयोपभोग की क्षमता होना ही प्राकाम्य मानते हैं।[3] भागवतपुराण में निर्देश है कि प्राकाम्य के कारण योगी पदार्थों की चरम सीमा को प्राप्त कर लेता है।[4] आचार्य गौडपाद के अनुसार जैसी इच्छा हो वैसा ही करना प्राकाम्य है। जयमंगलाकार ने प्राकाम्य का अर्थ प्रचुरकारिता मानते हैं जिससे एक को अनेक और अनेक को एक किया जा सकता है।[5] आचार्य वाचस्पति मिश्र (२३) के अनुसार प्राकाम्य इच्छा का अनवरोध या साफल्य है जिससे योगी जलवत् पृथ्वी से ऊपर निकलकर फिर उसी में प्रविष्ट हो जाता है। **(च) ईशित्व-** व्यासभाष्य ईशित्व का अर्थ भूत-भौतिकों के उत्पत्ति-विनाश का सामर्थ होना स्वीकार करता है किन्तु भोजवृत्ति के अनुसार शरीर एवं अन्तःकरण का वश में होना ईशित्व है।[6] मार्कण्डेयपुराणकार का कथन है कि जिसके द्वारा ईश्वरत्व की प्राप्ति हो वह ईशित्व है।[7] सुवर्णसप्ततिकार[8] एवं गौडपाद (२३) ईशित्व का अर्थ तीनों लोकों की प्रभुता स्वीकार करते हैं। भागवतपुराण के अनुसार जो त्रिगुणमयी माया के स्वामी कालरूपी विष्णु भगवान् (ईश्वर) में चित्त धारण करता है वह ईशित्व के कारण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को अपनी इच्छानुसार प्रेरित कर सकता है। इसमें सृष्टि और संहारादि की शक्ति बनी रहती है।[9] जयमंगलाकार ने ईशित्व का अर्थ प्रभुता स्वीकार करते हैं जिससे स्थावर आदि भूत योगी के आदेश का पालन करने वाले हो जाते हैं।[10] आचार्य वाचस्पति मिश्र (२३) के अनुसार ईशित्व वह है जिससे योगी

---

[1] योगसू०, ३.४५

[2] मार्कण्डेयपुराण,४.३२

[3] . प्राकाम्यं यथेच्छं युगपद्विषयोपभोगक्षमत्वम्। (सुवर्ण०, २३).

[4] भागवतपुराण,११.१५.१४

[5] जयमंगलाकार,२३

[6] योगसू०, ३.४५

[7] मार्कण्डेयपुराणकार,४०.३२

[8] . ईशत्वं त्रयाणां लोकानां मौलेश्वरत्वम्। (सुवर्ण०, २३).

[9] भागवतपुराण, ११.१५.१५

[10] जयमंगलाकार,२३

सभी भूतों तथा भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश में समर्थ होता है। **(छ) वशित्व-** व्यासभष्य के विचारानुसार वशित्व प्राप्त करने पर भूत, प्राणी और सर्वभौतिक पदार्थ योगी के वश में हो जाते हैं परन्तु योगी किसी के वश में नहीं रहता।[1] भोजवृत्ति एवं मार्कण्डेयपुराण के अनुसार जिसके द्वारा सब वशीभूत हो सके वह वशित्व है।[2] सुवर्णसप्ततिकार त्रैलोक्य के प्राणियों में आत्मानुसार आज्ञापालन करने की प्रेरणा का आपादन कर लेना एवं अपारतन्त्री का बन्धन विहीन होना ही वशित्व मानते है।[3] **(ज) यत्रकामावसायित्व-** व्यासभाष्य एवं भोजवृत्ति के अनुसार सत्यसंकल्प ही यत्रकामावसायित्व है। जैसा संकल्प हो वैसा भूतप्रकृति का रहना यत्रकामावसायित्व है।[4] मार्कण्डेयपुराण में उल्लिखित है कि जिसके द्वारा स्वेच्छानुसार गमन और कार्य सिद्ध हो सके वह यत्रकामावसायित्व है।[5] सुवर्णसप्ततिकार के अनुसार यथा काल, यथोपदेश तथा यथाचित्तवृत्ति में लाभ होना ही यथाकामावसायित्व है।[6] आचार्य गौडपाद (२३) के अनुसार यत्रकामावसायित्व प्राप्त कर लेने पर योगी ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त में जहॉ इच्छा हो वहॉ खड़ा , बैठ एवं विहार कर सकता है। वाचस्पति मिश्र (२३) कामावसायित्व का अर्थ सङ्कल्प का सत्य होना स्वीकार करते हैं जिससे योगी का जैसा सङ्कल्प या निश्चय होता है वैसे ही प्राणी हो जाते हैं।

सांख्य-योग में सूक्ष्मशरीर के निरोध के लिए अष्टांग योग के माध्यम से कैवल्य प्राप्ति ही मुख्य साधन बताया गया है। पातञ्जलयोग के द्वारा न केवल मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास, बौद्धिक विकास तथा मानसिक विकास के साथ शारीरिक विकास का अपितु समग्र स्थूलशरीर के स्वास्थ्य का रक्षण में सहायक सिद्ध होता है। ' शरीरसत्त्व व्याधिमन्दिरम्' इस आर्ष वचन के अनुसार अत्यधिक सावधान रहने पर भी शरीर को कोई न कोई रोग एवं कामनायें आक्रान्त करते रहते है। अतः यह मानव शरीर व्याधियों का केन्द्र है। रोगों से बचाते हुए शरीर की रक्षा और आरोग्य की सतत् स्थिति बनाए रखना कठिन होता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के साधन के लिए आधारभूत शरीर व अन्तःकरण के स्वास्थ्य की रक्षा का पूर्ण ध्यान रखते हुए सूक्ष्मशरीर की आत्यान्तिक निवृत्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि समस्त यौगिक

---

[1] व्यासभष्य,३.४५

[2] भोजवृत्ति,३.४५, मार्कण्डेयपुराण,४०.३२

[3] सुवर्णसप्ततिकार, २३

[4] योगसू०, ३.४५

[5] मार्कण्डेयपुराण ४०.३३

[6] . यथाकामावसायित्वं यदुत यथाकालं यथादेशं यथाचित्तं च वृत्तिलाभः (सुवर्ण०, २३).

क्रियाएं शरीर के द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं। हमारे स्थूलशरीर के रोगग्रस्त होने पर धर्मसाधन होना सम्भव नहीं है। योग के अन्तर्गत जहाँ यम-नियम के द्वारा मुख्यतः मानसिक क्रियाओं का नियन्त्रण होकर मनोविकारों का निरोध होता है, वहां आसन और प्राणायाम के द्वारा शरीर में रोगोपशमन होकर स्थूलशरीर पूर्ण निरोग बनकर पूर्ण स्वस्थ बना रहता है। प्रायः सभी आसन स्थूलशरीर के बाह्य अवयवों के द्वारा किए जाते हैं जिनमें स्थूलशरीर का छोटे से छोटा भाग भी सक्रिय होता है। ये आसन स्थूलशरीर के आभ्यन्तरिक अवयवों को भी पूर्णतः प्रभावित करते हैं जिससे उनकी सभी प्रकार की क्रियाएं अविकृत एवं निर्बाध रूप से सम्पन्न होती हैं। स्थूलशरीर में तीनों दोषों की स्थिति सम होती है, धातु और मलों की क्रियाएं भी सम होती हैं- यही उसके स्वास्थ्य का आधार है। इस प्रकार योगाभ्यास के द्वारा सूक्षमशरीर की आत्यान्तिक निवृत्ति असंदिग्ध है। अतः सूक्ष्मशरीर का अन्तःकरणों का क्लेषों से निवृत्ति के लिए अष्टांगयोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यौगिक क्रियाओं की यह विशेषता है कि जहाँ एक ओर वे आध्यात्मिक विकास और श्रेयस्कर पथ का निर्देश करती है वहीं दूसरी ओर शरीर के अन्तःकरणों को निर्मल बनाने में भी समर्थ होती हैं। अतः यौगिक क्रियाएं शरीर की समस्त क्रियाओं को नियन्त्रित व प्रभावित करती है। मनुष्य का स्थूलशरीर से सांसारिक आवागमन एवं जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा प्राप्त कर लेना ही चरम लक्ष्य है और यह तभी सम्भव है जब हमें अपने सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति का बाध कर दे और यह तभी सम्भव है जब हम अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दार्शनिकों ने तत्त्वज्ञान के मार्ग का अन्वेषण किया है। इसलिए कहा गया है कि भारत में तत्त्वचिन्तन ज्ञान की उपलब्धि के लिए नहीं प्रत्युत उस परम उद्देश्य के लिए किया जाता था, जिसके लिए मनुष्य का इस जीवन में प्रत्यत्न करना सम्भव है।[1] आत्मा, मन एवं इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से यदि अनुकूल या इष्टफल प्राप्त होता है तो वह सुख है और इसके विपरीत दुःख है।[2] मनुष्य का सांसारिक जीवन सुख-दुःख से पूर्ण होता है।

जीवन में निःसन्देह नाना प्रकार के सुख भी हैं और बहुत से लोग उनका भोग भी करते हैं। ये सुख यद्यपि शरीर को भोगकाल में सुख प्रदान करते हैं परन्तु इनका परिणाम दुःखद होता है इसलिए गीता में कहा गया है कि जो सुख विषय तथा इन्द्रिय के संयोग से होता है यद्यपि वह भोगकाल में अमृत की भांति प्रतीत होता है तथापि परिणाम में विष के सदृश है।[1] दुःख मुख्यतः दो प्रकार का होता है- आन्तरोपायसाध्य एवं बाह्योपायसाध्य।

---

[1] . सि० सि० फि०, पृष्ठ ३७.

[2] . सु०शा०, १.१८ पर डल्हण।

[1] भगवद्गीता१८.३८

आन्तरोपायसाध्य दुःख आध्यात्मिक दुःख है तथा बाह्योपायसाध्य दुःख दो प्रकार का होता है- आधिभौतिक एवं आधिदैविक।[1] पञ्चविंशति तत्त्ववादी सुश्रुत ने व्याधि के अपर पर्याय दुःख का तीन बृहद् विभागों में वर्गीकरण किया है। उनका यह वर्गीकरण सांख्य के समान आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक भेद से तीन प्रकार का है[2] - **आध्यात्मिक दुःख-** आधात्मिक दुःख शारीर मानस भेद से दो प्रकार का होता है। वात-पित्त एवं कफ की विषमता से उत्पन्न होने वाले ज्वर, अतिसार आदि दुःख को शारीरिक दुःख कहते हैं।[3] जयमंगलाकार, युक्तिदीपिकाकार एवं वाचस्पति मिश्र को प्रायशः यही मत स्वीकृत है। सुवर्णसप्ततिकार के अनुसार मानसिक दुःख त्रिविध हैं जो क्रमशः प्रिय के वियोग, अप्रिय के संयोग एवं प्रार्थित का अलाभ है। आचार्य माठर को प्रिय-वियोग एवं अप्रिय संयोग के भेद से द्विविध मानस दुःख स्वीकृत हैं। गौडपाद अक्षरशः माठर से सहमत हैं। युक्तिदीपिका जयमंगला तथा तत्त्वकौमुदी में काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद तथा सुन्दर शब्द, स्पर्श आदि श्रेष्ठ विषयों के अभाव से उत्पन्न दुःख साध्य होने के कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं। **आधिभौतिक दुःख-** बाह्य उपायों का साध्य दो प्रकार का होता है- आधिभौतिक एवं आधिदैविक। मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, सर्प तथा वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होनेवाला दुःख आधिभौतिक है।[4] **आधिदैविक दुःख-** युक्तिदीपिकाकार[5] के अनुसार आधिदैविक दुःख वह है जो शीत, उष्ण, वायु, व्रज, ओस (अवश्यया) एवं आवेश आदि के कारण होता है। जयमंगलाकार[6] शरीर में ग्रहों के आविष्ट होने पर उत्पन्न होने वाले दुःख को आधिदैविक कहते हैं। गौडपाद (१) के अनुसार जो दुःख देवताओं के सम्पर्क से होता है वह आधिदैविक है। वाचस्पति मिश्र (१) यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से उत्पन्न होने वाले दुःख को आधिदैविक की संज्ञा देते हैं। सुश्रुत के अनुसार क्षुधा, पिपासा, जरा, मरण और निद्रा प्रभृति स्वभावबलप्रवृत्त रोग हैं। ये भी कालकृत तथा अकालकृत भेद से दो प्रकार के होते हैं। उचित आहार-विहार द्वारा स्थूलशरीर का रक्षण करते रहने पर भी जो रोग उत्पन्न हो जाते हैं वे कालकृत तथा रक्षासाधनों के उपयोग न करने से जो अकाल रोग होते हैं वे

---

[1] . आन्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्। बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा- आधिभौतिकम्, आधिदैविकश्च। (तत्त्वकौ०, १).

[2] सू०, २४.६-८

[3] . तत्र शरीर वातपित्त श्लेष्माणां देहधातूनां वैषम्याद् यद् दुःखमात्मानं देहमधिकृत्य ज्वरातिसारादिप्रवर्तते। (माठर०, १).

[4] . आधिभौतिकं च मनुष्यपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्। (युक्ति०, १).

[5] . आधिदैविकं शीतोष्णवातवर्षाशन्यवश्यायावेशनिमित्तम्। (युक्ति०, १).

[6] . यच्छरीरे ग्रहवेशादीनि दैवान्यधिकृत्य भवति तदाधिदैविकमिति। (जय०, १).

अकालकृत हैं।[1] दुःख निवृत्ति के सन्दर्भ में लौकिक उपाय में यह सत् होने के कारण दुःख का पूर्ण निरोध या विनाश सम्भव नहीं है तथापि उसका अभिभव या उसकी शान्ति की जा सकती है।[2] सांख्यदार्शनिक तत्त्वज्ञान को ही शरीर के दुःख निवृत्ति का उपाय मनाते हैं।

यहॉ यह शंका उठनी स्वाभाविक है दुःखत्रय विनाश के लौकिक उपाय होने के कारण क्या शास्त्रजिज्ञासा व्यर्थ है? परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि लौकिक उपाय सरल होते हुए भी दुःख की ऐकान्तिक और आत्यान्तिक निवृत्त नहीं कर पाते। इसलिए शास्त्रोपाय जिज्ञासा व्यर्थ नहीं है।[3] दुःख के ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति के लौकिक उपायों के अतिरिक्त एक अन्य उपाय वैदिक है। यहॉ यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि शरीर के दुःखनिवृत्ति का अन्तिम उपाय क्या है? क्योंकि लौकिक एवं वैदिक उपायों की दुःखनिविित्ति में अनुपयोगिता सिद्ध है। त्रिविध दुःखों के लौकिक एवं वैदिक उपाय अवश्य हैं परन्तु इन उपायों से दुःख का केवल कुछ काल के लिए ही निवारण किया जा सकता है। इन दुःखों का सर्वदा के लिए अन्त नहीं होता। दर्शनकारों के अनुसार दुःखों का मूल कारण अज्ञान है। जैसे ही हमें तत्त्व का वास्तविक ज्ञान होता है, हमें दुःखों से सर्वदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। इस कारण तत्त्वज्ञान ही दुःखनिवृत्ति का एकमात्र उपाय है।

अविद्या के की निवृत्ति से व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ (चेतन पुरुष) के पृथक्-पृथक् रूप से ज्ञात होने से विवेक-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। व्यक्त अर्थात् कार्य का ज्ञान पहले होता है, फिर उसके कारणभूत अव्यक्त या प्रकृति का ज्ञान होता है। इन दोनों के पदार्थ होने के कारण दोनों से भिन्न आत्मा का ज्ञान होता है। कारण व्यापार के बिना कार्य उत्पन्न नहीं होता और विवेक-ज्ञान होने तक ही कारण (प्रकृति) का व्यापार होता है, इसलिए विवेक-ज्ञान के अनन्तर कारणरूप प्रकृति का व्यापार रुक जाने से कार्यरूप किसी भी शरीर के दुःखों की उत्पत्ति नहीं होती।[4] जब तक प्रकृति, पुरुष में विवेकख्याति उत्पन्न नहीं करती, तब तक विषयों का भोग होता है परन्तु एक बार विवेकख्याति उत्पन्न होने पर वह फिर भोग नहीं करती। सूक्ष्मशरीर में भोग तो अविवेक के कारण होता है, उसके अभाव में नहीं,

---

[1] सुश्रुत सू०, २४.८

[2] तत्त्वकौ०, १

[3] तत्त्वकौ, १

[4] तत्त्वकौ०, २

जैसे बीज के अभाव में उसका कार्य अंकुर नहीं होता। प्रकृति से अपने को भिन्न न समझने के कारण पुरुष सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने वाले शब्द, स्पर्शादि प्रकृति परिणामों को 'ये मेरे हैं' ऐसा अभिमान करता हुआ उन्हें भोगता है। इस प्रकार प्रकृतिजन्य विवेकज्ञान को भी वह समझता है कि 'ये मेरे लिए है' परन्तु विवेकज्ञान उत्पन्न हो जाने पर अविवेकरहित हो जाने के कारण वह न तो शब्द इत्यादि का भोग ही करता है, न प्रकृतिजन्य विवेकज्ञान को ही अपने लिए समझता है। भोग एवं विवेकज्ञान तभी तक प्रकृतिकृत सर्ग में कारण बनते हैं , जब तक ये पुरुषार्थ प्राप्तव्य विषय रहते हैं। ज्योंही पुरुषार्थ नहीं होते, त्योंही ये प्रकृतिकृत सर्ग के प्रयोजन नहीं रह जाते। एक (चेतन पुरुष) मैने उसे देख लिया है- यह विचार करके उदासीन हो जाते हैं और दूसरी (प्रकृति) भी उससे मुक्त देख लिया-यह सोचकर व्यापार शून्य हो जाती है। पुनः पुरुष के सम्मुख नहीं प्रकट होती। ईश्वरकृष्ण ने प्रकृति की इस स्थिति की उपमा लज्जाशील स्त्री से देते हुए कहा है कि मेरी तो यह धारणा है कि प्रकृति से अधिक लज्जाशील कोई नहीं है जो यह ज्ञात होते ही कि पुरुष ने मुझे देख लिया है, पुनः उसकी दृष्टि में नहीं आती।[1]

सांख्य-योग दर्शन में मोक्ष का स्वरूप से तात्पर्य पुरूष का प्रकृति से वियोग का नाम है। यह प्रकृति तथा पुरुष में भेद विज्ञान रूप तत्त्वज्ञान से होता है।[2] प्रकृति और पुरुष में भेदज्ञान होने से जो प्रकृति का वियोग होता है वही मोक्ष है। पुरुष वस्तुतः शुद्ध चैतन्य रूप है किन्तु वह प्रकृति से अपने स्वरूप को भिन्न न समझने के कारण सूक्ष्मशरीर के माध्यम से मोह से संसरण कर संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए सुख-दुःख मोह स्वरूप वाली प्रकृति को जब तक आत्मा से भिन्न नहीं समझा जाता तब तक मोक्ष नहीं को प्राप्त नही कर सकता। प्रकृति को अपने से भिन्न रूप में देखने पर तो प्रकृति की प्रवृत्ति अपने आप रुक जाती है और प्रकृति का व्यापार रुक जाने पर पुरुष को अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष है।[3] तत्त्वज्ञान के प्राप्त होने पर पुरुष प्रकृति के आरोपों से मुक्त हो जाता है। तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण उत्पन्न प्रकृति के सप्त भावों धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य की समाप्ति हो जाती है जिससे पुनः सूक्ष्मशरीर की अभिव्यक्ति नहीं होती है और वह पुनर्जन्म के बन्धन से छुटकारा पा जाता है। तत्पश्चात् पुरुष एक उदासीन द्रष्टा के समान केवल प्रकृति को देखता है, उसमें लिप्त

---

[1] तत्त्वकौ०, ६१,६६

[2] . प्रकृतिवियोगो मोक्षः पुरुषस्य...। (षड्दर्शन०, ४३).

[3] तर्करह०, २८

नहीं होता क्योंकि विवेकज्ञान के पश्चात् पुरुष को अपना पार्थक्य प्रकृति से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।[1]

पातञ्जलयोगशास्त्र मूलतः योग के अंगो में विशेषतः आसन, प्राणायाम आदि के चिकित्सीय प्रयोग, योगाभ्यास व यौगिक क्रियाओं के माध्यम से इस समस्या का निदान करता है। यौगिक क्रियाओं के माध्यम से ही मनोनिग्रह, शारीरिक व्यायाम व संशोधन क्रियायें (योग के बहिरंग साधन – आसन, प्राणायाम व हठयौगिक क्रियाओं से सम्बन्धित) सम्पन्न होती है। पातञ्जलयोगदर्शन की दृष्टि में अन्तःकरण के रोगों के मूल कारण अज्ञानस्वरूप चित्त वृत्तियों का बाह्य विषयों में आसक्त होना व द्वेष हैं। इनकी दृष्टी में चित्तवृत्तियों को बहिर्मुखी करने की अपेक्षा अन्तःमुखी आत्मचेतना (पुरुष) में प्रतिष्ठित करने से चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है तब शरीर के दुःखों पर नियन्त्रण पाया जा सकता है। पातञ्जलयोगदर्शन भारतीय मानस से उपजा सुव्यवस्थित एवं पूर्णतः मनोवैज्ञानिक चिंतन है। यहाँ सूक्ष्मशरीर निष्ट क्लेशों से निवृत्ति मनुष्य के मानसिक स्तर के आधार पर तीन प्रकार से निर्धारित किया गया है- **प्रथम** समाहित चित्त वाले साधक जिन्होंने पूर्वजन्म में पुण्यकर्म किये थे। ऐसे एकाग्रचित्त वाले मनुष्य जिनको सम्पूर्ण स्वास्थ्य या कैवल्य प्राप्ति के किये इस जन्म में एकतत्त्वाभ्यास व वैराग्य या सप्त चित्तपरिकर्मों में से किसी एक के पालन करना ही पर्याप्त है। क्योंकि इस प्रकार के साधक के सूक्ष्मशरीर का चित्त पूर्वजन्म के पुण्यों या साधना से जन्मतः शुद्ध सात्त्विकवृत्ति वाला होता है।[2] इससे समाहित चित्त निष्ठ सूक्ष्मशरीर का आश्रय रूपी स्थूलशरीर जन्मतः ही शारीरिक व मानसिक रूप से स्वस्थ पैदा होता है। **द्वितीय** चंचलचित्त मनुष्य या मध्यम अधिकारी के लिए क्रियायोग के मार्ग का उल्लेख किया गया है। जिसमें तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान का विधान है।[3] जिसके पालन से व्यक्ति वैराग्य व योगसिद्धि को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। **तृतीय** प्रकार के मन्द या अधम मनुष्यों के लिये योग में दुःखनिवृत्ति व पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्ति हेतु अष्टांग योग का उपदेश किया गया है।[4] इस प्रकार समाहित चित्त साधक, चंचल मनुष्य व अधम मनुष्य तीनों के लिए योग में पृथक्-पृथक् मार्ग का उल्लेख किया गया है। किन्तु अष्टांगयोग के अंतिम अन्तरंग साधन धारणा, ध्यान व समाधि तीनों प्रकार के साधकों के लिए अनिवार्य हैं क्योंकि समाहित चित्त वाले साधक जिनको पुनर्जन्म के पुण्यों के फलस्वरूप 'परवैराग्य' (त्रिगुणों के प्रति उपेक्षा) तो उदित हो जाता है। किन्तु वे उस 'अपरवैराग्य' को ध्यान, धारणा, समाधि का अभ्यास करते करते योग

---

[1] सां० का०, ६५

[2] पूर्वपादे ह्युत्तमाधिकारिणाम् ' अभ्यासवैराग्ये' एव योगयोः साधनमुक्तम् । यो. वा. 2.1

[3] ततश्च मध्यमधिकारिणां तपस्स्वाध्ययायेश्वरप्रणिधानान्यपि केवलानि साधनान्येतस्य पादस्यादावुक्तानि । यो. वा. 2.1

[4] अतः परं मन्दाधिकारिणां यमादीन्यापि योगसाधनानि व्यक्तव्यानि । यो. वा. 2.1

को सिद्ध करने में सफल हो जाते हैं तथा चंचल चित्त वाले मनुष्य क्रियायोग से अपने चित्त की शुद्धि करके तत्पश्चात ध्यान, धारणा व समाधि को अपनाते है। यहां समाहित चित्त वाले जन्मतः वैराग्य प्राप्त करने में सक्षम होते है चंचल चित्त वाले क्रियायोग के तीन नियमो के पालन से तथा मन्द या अधम मनुष्य यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार इन बहिरंग साधनों द्वारा वैराग्य की प्राप्ति करते है। इसलिए योग के अंतिम तीन सोपान धारणा, ध्यान व समाधि प्रत्येक साधक के लिए सूक्ष्मशरीर की आत्यान्तिक निवृत्ति के लिए आवश्यक है।

भारतीय योगशास्त्र के अनुसार मानसरोगों, योगमलों तथा समस्त चित्तविक्षेप व सहभुव सभी की निवृत्ति के लिये अभ्यास और वैराग्य पर जोर दिया गया है।[1] सूक्ष्मशरीर में चित्तवृत्तियों का प्रवाह परम्परागत संस्कारों के बलों से सांसारिक भोगों की ओर चलता रहता है। उस प्रवाह को रोकने का उपाय वैराग्य है और उसे कल्याण मार्ग में ले जाने का उपाय अभ्यास है। किन्तु यह अभ्यास व वैराग्य की विधि उन्ही मनुष्यों के लिए लाभदायक हो सकती है जिनका सूक्ष्मशरीर पूर्वजन्म के पुण्यकर्मों से समाहित या सत्त्व को प्राप्त हो चुका है इस प्रकार के चित्त वाले मानुष के चित्त की समस्त वृत्तियों के निरोध के लिए अभ्यास व वैराग्य ही पर्याप्त हैं। यहां अभ्यास से तात्पर्य स्वभाव से चंचल मन को किसी एक ध्येय में स्थिर करने के लिये बार-बार चेष्टा करते रहने का नाम अभ्यास है।[2] उस परम स्थिति को पाने हेतु साधनों का अनुष्ठान करना अभ्यास कहलाता है।[3] यह मानसिक प्रयत्न (अभ्यास) दीर्घकालपर्यंत लगातार किसी विषय से दृढ़ होता है।[4] वैराग्य से तात्पर्य देखे गये या सुने गये विषयों सर्वथा तृष्णारहित चित्त की वशीकार नामक अवस्था को वैराग्य कहते है। इहलौकिक, स्त्री, धन, प्रभुता आदि तथा पारलौकिक स्वर्ग आदि विषयों के प्रति उदासीनता ही वैराग्य है।[5] इस प्रकार अभ्यास व वैराग्य द्वारा समस्त तामस व राजसिक वृत्तियों के अभिभूत होने से सात्त्विक वृत्ति प्रकाशित होती है तथा सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। तीव्र स्फूर्तिवाले मनुष्यों या योगियों को इस स्थिति की प्राप्ति बहुत शीघ्र होती है।[1]

सांख्य-योग दर्शन में सूक्ष्मशरीर की आत्यान्तिक निवृत्ति एवं मोक्ष के लिए कई साधन बताये गये है, जिसमें

---

[1] अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ यो. सू. 1.12

[2] तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥ यो. सू. 1.32

[3] तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ यो. सू. 1.13

[4] स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥ यो. सू. 1.14

[5] दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ यो. सू. 1.15

[1] तीव्रसंवेगानामासन्नः॥ यो. सू. 1.21

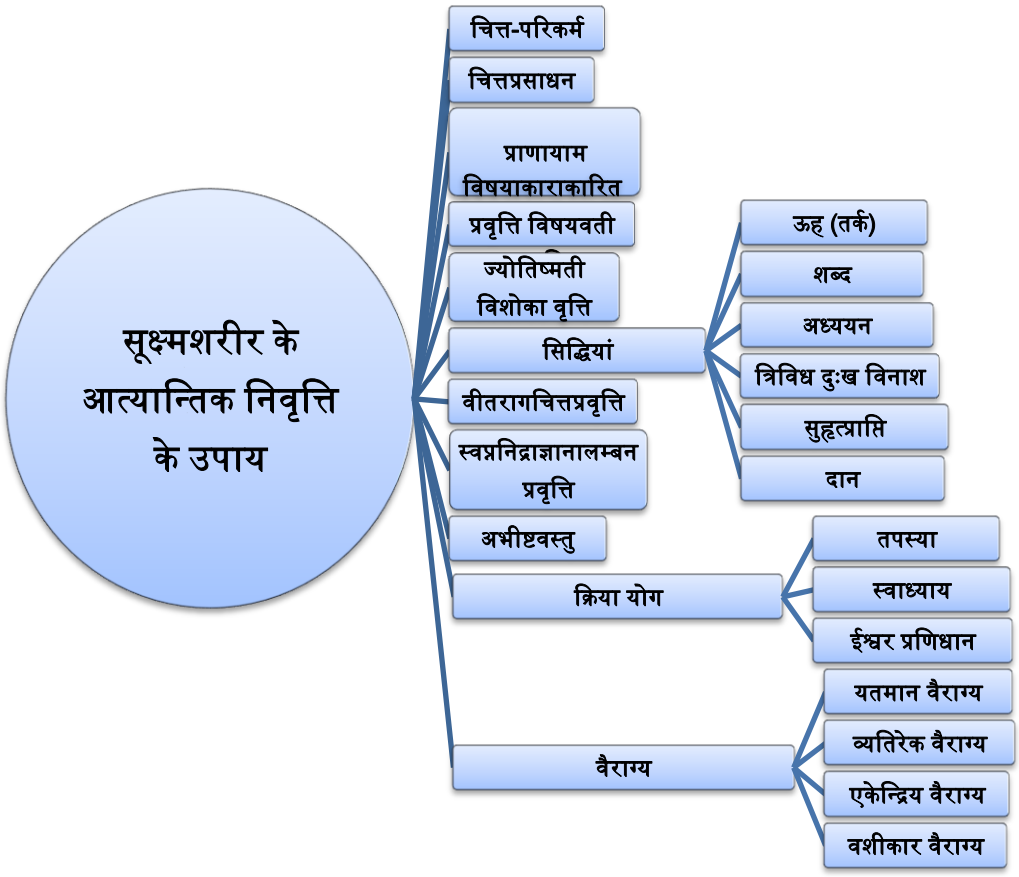

प्रथम **चित्त-परिकर्म** भी अगला साधन बताया गया है। चित्तपरिकर्म से तात्पर्य चित्त को शुद्ध बनाने की प्रक्रिया अर्थात् चित्त का शोधन करने की प्रारंभिक प्रक्रिया जिसके द्वारा चित्त को समाधि योग्य बनाने की पूर्व तैयारी होती है। चित्तपरिकर्मों का उल्लेख पतञ्जलि ने समाधिपाद में उत्तम अधिकारी अर्थात् शुद्ध मन व एकाग्र चित्त वाले मनुष्य के सन्दर्भ में किया है। प्रत्येक चित्तकर्म चित्त की प्रसन्नता व शुद्धता के साथ-साथ चित्त की एकाग्रता को भी प्राप्त कराता है। द्वितीय **चित्तप्रसाधन है** इसके अनुसार चार प्रकार की भावनाओं को करने से चित्त प्रसाधित होता है। सुखी रहने वाले व सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, दुखी प्राणियों के विषय में करुणा या दयाभाव, पुण्य करने वालों के प्रति मुदिता या हर्ष तथा पाप करने वालों के प्रति उपेक्षा या उदासीनता का भाव रखना चाहिये।[1] तीसरा **प्राणायाम** है इस साधन का उपयोग वहां पर होता है जहां पर चित्तप्रसाधन में यदि चित्त (मन) नहीं लगता है तो प्राणायाम से चित्त की एकाग्रता हो सकती है। यह चित्त का दूसरा परिकर्म है जिसके अनुसार श्वसनक्रिया में प्राणवायु का रेचक,

[1] मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ यो.सू. 1.33

पूरक व कुम्भक तीनों प्राणायामों के द्वारा चित्त प्रसन्नता व एकाग्रता को प्राप्त करता है।[1] चौथा **विषयाकाराकारित प्रवृत्ति विषयवती प्रवृत्ति** है। इससे सप्तगंधादि विषयों साक्षात्कार करने वाली प्रवृत्ति से चित्त एकाग्र होता है। यह विषयाकाराकारित वृत्ति अन्तरंग साधन धारणा के समान है।[2] जो समाधि या प्रज्ञा प्राप्ति में द्वार बनती है किन्तु इन विषयवती प्रवृत्तियों की भी स्थायी सत्ता नहीं होती है। ये ज्ञान की शुरूआती फुलझड़ी के समान होती है किन्तु इनके उत्पन्न होने से चित्त को एकाग्र होने की प्रेरणा मिलती है। इनकी अनियमितता व चंचलता का ज्ञान होने पर इन प्रवृत्तियों से 'वशीकारसंज्ञा' नामक वैराग्य की सिद्धि होती है। पांचवाँ **ज्योतिष्मती विशोका वृत्ति** है। विशोकाप्रवृत्ति चित्त साक्षात्काररूपिणी प्रवृत्ति है, जबकि ज्योतिष्मती अस्मिता साक्षात्काररूपिणी।[3] अष्टदलकमलबन्ध हृदय में स्थित चित्त का ध्यान करने से विशोका प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। जिससे चित्त एकाग्रता को प्राप्त करता है, उसी प्रकार अस्मिता या अहंकार तत्त्व में स्थित चित्त के साक्षात्कार से उत्पत्ति प्रवृत्ति भी चित्त की एकाग्रता प्राप्ति में सहायक होती है। छठवाँ **वीतरागचित्तप्रवृत्ति** है जिसमें परिकर्म में ध्येय विषय रागहीन चित्त को बनाने वाला योगी स्थितिपद रूपी एकाग्रता को प्राप्त करता है।[4] सातवाँ **स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बन प्रवृत्ति** है जिसमें निद्रा व स्वप्नवृत्ति के अनुभवों को ध्येय विषय बनाने वाला तदाकाराकारित होने वाला योगी का चित्त एकाग्रता को प्राप्त करता है।[5] आठवाँ **अभीष्टवस्तु** ध्यान है जिसमें समाहित चित्त वाले व्यक्ति के लिए अभीष्ट वस्तु के ध्यान का उल्लेख किया गया है।[6] जिसके अनुसार जिस किसी भी स्थूल से लेकर सूक्ष्मतम विषय पर साधक का मन स्थित हो जाये उसी पर ध्यान केन्द्रित करने से व्यक्ति को एकाग्रता की प्राप्ति हो जाती है। नवें क्रम में **क्रिया योग** है जिसके अन्तर्गत तीन क्रियाओं को सम्मिलित किया गया है- तपस्या, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान।[1] यह क्रियायोग समाधि को पूरी कराने में सहायक

---

[1] प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ यो.सू. 1.34

[2] विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी॥ यो.सू. 1.35

[3] विशोका वा ज्योतिष्मती॥ यो.सू. 1.36

[4] वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ यो.सू. 1.37

[5] स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा॥ यो.सू. 1.38

[6] यथाभिमतध्यानाद्वा ।। यो.सू. 1.39

[1] तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः॥ यो.सू. 2.1

होने के साथ-साथ अविद्यादि पञ्चक्लेशों को क्षीण करता है।[1] **तपस्या** में बुभुक्षा, पिपासा, सर्दी-गर्मी, बैठना-खड़े रहना आदि द्वन्द्वों को सहना ही 'तप' है।[2] तप से अशुद्धि (चित्तमलों) का नाश हो जाने से कार्य सिद्धि और इन्द्रियसिद्धियों की प्राप्ति होती है।[3] **स्वाध्याय** में कैवल्यपरक पवित्र मन्त्र ओंकार आदि का जाप व अध्ययन करना ही स्वाध्याय है।[4] इससे चित्त में स्थिरता आती है। **ईश्वर प्रणिधान** में समस्त कार्यों को ईश्वर के प्रति समर्पित करना तथा उन क्रियाओं के फलों में अनासक्ति ही ईश्वरप्रणिधान है। ईश्वरप्रणिधान से विघ्नों का नाश व जीवात्मा के स्वरूप का बोध होता है तथा मनुष्य या योगी की बुद्धि समाधि की अवस्था को प्राप्त कर पदार्थों के यथार्थ रूप का साक्षात्कार करने वाली हो जाती है।[5] यह सभी साधन पुरूष को मोक्ष एवं सूक्ष्मशरीर की आत्यान्तिक निवृत्ति में सहायता प्रदान करते है।

सूक्ष्मशरीर की आत्यान्तिक निवृत्ति में एवं अष्टांग योग :-

सांख्य-योग की दार्शनिक परम्परा में पुरूष के मोक्ष एवं सूक्ष्मशरीर के आत्यान्तिक निवृत्ति के लिए अभ्यास-वैराग्य, जन्मौषधि-मन्त्र, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधानादि उपायों के अतिरिक्त अष्टांग योग की वैज्ञानिक तकनिक के माध्यम से निवृत्ति का मार्ग बताया गया है। मनुष्य के समग्र संगठन एवं विकास का सुव्यवस्थित मार्ग पतञ्जलि द्वारा निर्धारित किया गया है, जो अष्टांगयोग नाम से प्रख्यात है। इसके आठ अगं है- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[6] अष्टांगयोग के ये सभी अंग व्यक्तित्व के विकास के क्रमिक एवं शरीर की निवृत्ति के सोपान हैं। समग्र स्वास्थ्य प्राप्ति में इन अंगों का क्रमशः अभ्यास आवश्यक है। क्रमशः एक- एक अंग पर पूर्ण अधिकार हो जाने पर अग्रिम योगाङ्ग में प्रवृत्ति होती है। प्रथम दो अंग यम व नियम प्रधानतः आचार-सम्बन्धि अभ्यास है, आसन-प्राणायाम भौतिक रूप से योगाभ्यास योग्य बनाने के उपाय है,

---

[1] समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥ यो.सू. 2.2

[2] तपो द्वंद्वसहनम्। द्वंद्वं च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। यो. वा. 2.43

[3] कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ यो. सू 2.43॥

[4] स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। व्या. भा. 2.32

[5] समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥ यो. सू 2.45

[6] यमनियमाऽसनप्राणायाम् प्रत्याहारधारणा ध्यानमसामधयोऽष्टाग्डानि। यो. सू. 2.29

प्रत्याहार मुख्यतः इन्द्रिय निग्रह के उपाय है, तथा संयम[1] (धारणा, ध्यान व समाधि) पूर्ण रूप से सूक्ष्मशरीर के आध्यात्मिक नियमन की अवस्था है। पतञ्जलि ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार को बहिरंग योग कहा है तथा धारणा, ध्यान, समाधि को अन्तरंग योग कहा है।[2]

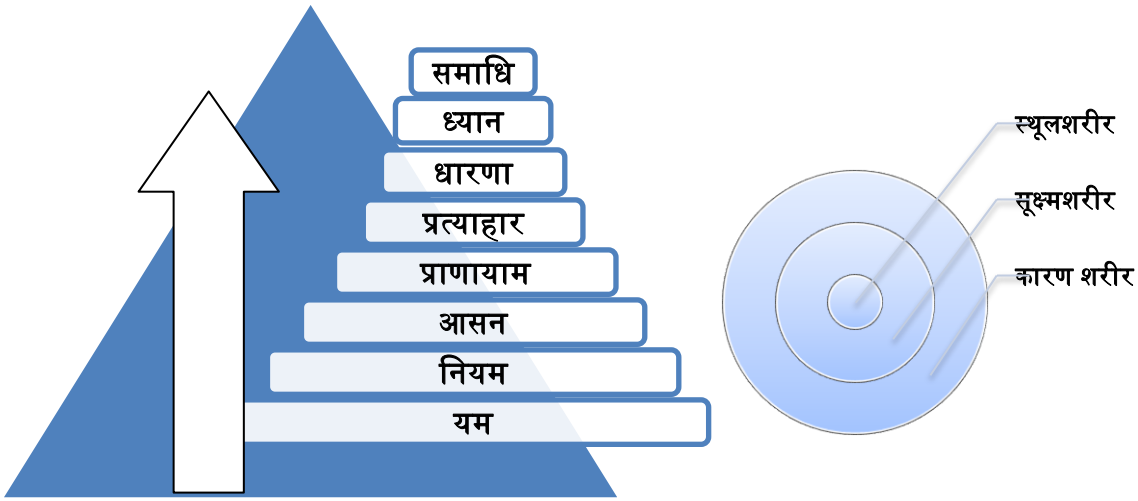

यम :- यम नियम द्वारा अभिवृत्ति का निर्माण- यम नियम नैतिक मूल्यों व अनुशासन से सम्बन्धित है। इन प्राथमिक नियमों का अभ्यास न केवल शरीर एवं मन के रोगों को ठीक करता है बल्कि स्थूलशरीर के स्नायु तंत्र को भी मजबूत करता है। यह सूक्ष्मशरीर निष्ठ मन को रुग्ण करने वाले और व्यक्तित्व को विखण्डित करने वाले कारकों पर अकुंश लगाता हैं। दुर्गुण, दुर्व्यसन और कुविचारों के कारण शरीर बीमार रहता है। कुविचारों और कुसंस्कारों की रस्सियों से बंधा हुआ मन और इन्द्रियलिप्साओं में जकड़ा हुआ शरीर उस सुखों से सर्वथा रहित हो जाता है। जिससे व्यक्ति प्रतिक्षण दुःख का भोक्ता बन जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और लोभ इन पाँच प्रकार के दुष्कर्मो को शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर निवारण करने की व्यवस्था यमों के अर्न्तगत है और मलिनता, बेचैनी, आलस्य, अज्ञान, नास्तिकता को दूर करने के लिए नियमों का विधान है। यम का अभिप्राय उस सदाचार से है- जिसमें व्यक्ति समाज में एक सभ्य- सुसंस्कृत व्यक्ति के रूप में तनावरहित जीवनयापन कर सके। यम सार्वभौमिक महाव्रत[1] कहे

[1] त्रयमेकत्र संयमः॥ यो. सू. 3.4

[2] त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः॥ यो. सू. 3.7

[1] सार्वभौमा यमा महाव्रतम् ।। यो. वा. 1.31

गये हैं क्योंकि वे किसी देश, जाति व काल की सीमाओं से बंधे हुयें नही है।[1] योगसूत्र में यम की संख्या पाँच है- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[2] इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है- **अहिंसा** से तात्पर्य शारीरिक, मानसिक व वाचिक सभी प्रकार से सदैव प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाने की भावना ही अहिंसा है।[3] अहिंसा बाद वाले सभी यमों सत्य, अस्तेयादि तथा सभी नियमों का आधार है। अहिंसा में प्रतिष्ठित हो जाने पर व्यक्ति का सभी प्राणियों के प्रति वैरभाव छूट जाता है।[4] **सत्य** से तात्पर्य मन, वचन, तथा कर्म से वस्तु के यथार्थ रूप की अभिव्यक्ति ही सत्य है अर्थात् मन, वचन की एकरूपता को ही सत्य कहते है। जो पदार्थ जैसा है वैसा ही देखा गया है, सुना गया है या अनुभूत किया गया है तथा उसी प्रकार की उसके सम्बन्ध में वाणी तथा मन को रखना सत्य है।[5] असत्य वाणी वक्ता के लिए अपकार करने वाली होती है तथा असत्यवक्ता को नरक प्राप्त होता है। सत्य में प्रतिष्ठित हो जाने पर व्यक्ति में शुभाशुभ क्रियाओं व उनके फलों की आश्रयता आ जाती है।[6] **अस्तेय** उसे कहा गया है जहाँ दूसरों के द्रव्यों का शास्त्रोक्त आज्ञा से ग्रहण न करना स्तेय है तथा इसके विपरीत ग्रहण करना अस्तेय है।[7] चोरी न करना अस्तेय का संक्षिप्त अर्थ है। पराई चीज को बिना उसकी आज्ञा के गुप्त रूप से या बलात्कारपूर्वक ले लेना स्तेय (चोरी) है, इससे बचना अस्तेय है। योगसूत्रकार के अनुसार अस्तेय में प्रतिष्ठित होने पर साधक या सामान्य व्यक्ति को सभी रत्नों की प्राप्ति होती है।[8] **ब्रह्मचर्य** से तात्पर्य जननेन्द्रिय या गुप्तेन्द्रिय का संयम या निग्रह ही ब्रह्मचर्य है।[1] काम विकार को किसी भी प्रकार से उदय नहीं होने देना ब्रह्मचर्य है। जब तक समस्त इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं होता, तब तक काम

---

[1] जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥ यो. सू 2.31

[2] अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ यो. सू 2.30

[3] तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिध्दिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। व्या. भा. 2.30

[4] अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ यो. सू 2.35

[5] सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। व्या. भा. 2.30

[6] सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ यो. सू 2.36

[7] स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति। व्या. भा. 2.30

[8] अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥ यो. सू 2.37

[1] ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्दियस्योपस्थस्य संयमः। व्या. भा. 2.30

विकार की उत्पत्ति को नहीं रोका जा सकता।[1] शारीरिक तथा मानसिक आदि समस्त शक्तियों का विकास ब्रह्मचर्य से होता है। ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होने पर सामर्थ्यलाभ की प्राप्ति होती है।[2] अगले क्रम में **अपरिग्रह** है जिसके अन्तर्गत लौकिक भोग पदार्थों की प्राप्ति तत्पश्चात उनकी रक्षा और उनमें आसक्ति व आसक्ति के कारण उसके लिए हिंसादि का दोष होना, उन लौकिक विषयों को स्वीकार न करना ही अपरिग्रह है।[3] अपरिग्रह के स्थिर होने पर व्यक्ति को पुनर्जन्म सम्बन्धि भूत, वर्तमान व भविष्यकाल जन्मों तथा उनके सम्बन्ध में सम्यक ज्ञान हो जाता है। [4]

नियम :- नियम से तात्पर्य सूक्ष्मशरीर के आश्रयरूपी पञ्चभौतिक स्थूलशरीर को विशुद्ध रूप से अनुशासन एवं आचार के सिद्धान्तों के अनुसार ढ़ालना है। नियम का अर्थ मर्यादा के साथ जीवयापन से है जो मनुष्य को आलस्यमुक्त, तनाव मुक्त तथा अनुशासित जीवन जीने को प्रेरित करता है।[5] यम की तरह नियम भी पाँच है- शौच, संतौष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।[6] जिनका सक्षिप्त अध्ययन निम्न प्रकार से है। **शौच** से अभिप्राय स्थूलशरीर के इन्द्रियों के सञ्चालक मन के क्लेशों के शोधन से है। शरीर की तरह मन राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि मलों से कलुषित होता रहता है। इसके निराकरण के लिए पतञ्जलि ने व्यक्ति की प्रकृति के अनुरूप, उससे मित्रता, करूणा, हर्ष तथा उदासीनता की भावना रखने का विधान किया गया है।[7] बाह्य (शारीरिक) शौच के स्थिर होने से व्यक्ति अपने अंगों के प्रति तथा अन्य प्राणियों के अंगों से संसर्गाभाव को प्राप्त होता है[8] तथा आंतरिक शौच से मनुष्य में बुद्धि शुद्धि, मन की प्रसन्नता, इन्द्रियों पर विजय व आत्मसाक्षात्कार की योग्यता आती है।[1] जीवन निर्वाह के निकटस्थ साधनों के अतिरक्त साधनों को संगृहीत करने की भावना न होना तथा यदृच्छालाभ से संतुष्ट रहना ही

---

[1] डॉ शान्तिप्रकाश आत्रेय – योग मनोविज्ञान पृ. 277

[2] ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायांवीर्यलाभः॥ यो. सू .2.38

[3] विषयाणामर्जनरक्षणाक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः। व्या. भा. 2.30

[4] अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः॥ यो. सू 2.39

[5] Dr. I. P.Sachdeva, Yoga & Depth Psychology, p 119

[6] शौचसंन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। यो. सू. 2.32

[7] तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेंध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनम्। व्या. भा. 2.32

[8] शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ यो. सू. 2.40

[1] सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥ यो. सू. 2.41

संतोष है।[1] संतोष के स्थिर होने से मनुष्य को तृष्णा नाश रूपी उत्तम सुख की प्राप्ति होती है।[2] तृष्णा की निवृत्ति होने पर सूक्ष्मशरीर की पुनर्जन्म की तरफ प्रवृत्ति नही रहती। **तप** से तात्पर्य बुभुक्षा, पिपासा, सर्दी-गर्मी, बैठना-खड़े रहना आदि द्वन्द्वों को सहना ही 'तप' है।[3] तप के बिना अनादिकाल के रजस् तथा तमस् प्रेरित कार्यो, क्लेशों तथा वासनाओं से मलिन चित्त की शुद्धि नहीं हो सकती। इसके द्वारा शरीर व मन स्वच्छ, निर्मल तथा हल्के हो जाते हैं। तप से अशुद्धि (चित्तमलों) का नाश हो जाने से कार्य सिद्धि और इन्द्रियसिद्धियों की प्राप्ति होती है।[4] मोक्षशास्त्रों का अध्ययन तथा ओंकार का जाप स्वाध्याय है।[5] शास्त्रों में बिना प्रमाद किए इसमें प्रवृत होने का आदेश है। स्वाध्याय से इष्ट देवताओं से सम्पर्क होता है तथा वे कार्यसिद्धि में सहयोग करते हैं।[6] **ईश्वरप्रणिधान** से तात्पर्य ईश्वर को धारण करना, ईश्वर को स्थापित करना। यह ईश्वर की एक प्रकार की भक्ति है, जिसमें शरीर, मन, इन्द्रिय, प्राण आदि तथा उनके समस्त कर्मों को उनके फलों सहित साधक अपने समस्त जीवन को ईश्वर को समर्पित कर देता है।[7] ईश्वरप्रणिधान से विघ्नों का नाश व जीवात्मा के स्वरूप का बोध होता है तथा मनुष्य या योगी की बुद्धि समाधि की अवस्था को प्राप्त कर पदार्थों के यथार्थ रूप का साक्षात्कार करने वाली हो जाती है।[8]

आसन :- जिस अवस्था में शरीर व चित्त दीर्घकाल तक शारीरिक व्यापर रहित, चंचलता रहित, व सुखपूर्वक रह सके उस स्थिति को आसन कहते है।[1] इनका मुख्य कार्य स्थूलशरीर को स्वस्थ बनाना, उसके आलस्य और उसके भारीपन को दूर करना है। आसनसिद्ध होने पर योगी सर्दी-गर्मी, सुख-दुख जैसे द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है[2]

---

[1] संतोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। व्या. भा. 2.32

[2] संतोषादनुत्तमसुखलाभः॥ यो. सू. 2.42॥

[3] तपो द्वंद्वसहनम्। द्वंद्वं च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च। यो. वा. 2.43

[4] कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ यो. सू 2.43॥

[5] स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। व्या. भा. 2.32

[6] स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः॥ यो. सू 2.44॥

[7] ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्। शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः। संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥ यो. व्यास भाष्य- 2.32

[8] समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥ यो. सू 2.45

[1] स्थिरसुखमासनम् ।। यो. सू 2.46

[2] ततो द्वन्द्वानभिघातः॥ यो. सू 2.48

अर्थात् उसमें सहनशीलता आ जाती है। इससे व्यक्ति में पुनर्जन्म के लिए संस्कार नही बनते। आसनों के द्वारा स्नायु मण्डल को शक्ति मिलती है।

प्राणायाम :- वायु की श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना ही प्राणायाम है।[1] बिना आसनसिद्धि के प्राणायाम करने से न केवल योग असंभव है अपितु यह क्रिया अनेक प्रकार के शारीरक व अन्तःकरण के क्लेशों का कारण बनते है। श्वास को बाहर निकालना रेचक, श्वास को भीतर खींचना पूरक तथा श्वास को अंदर रोकना कुम्भक कहलाता है। प्राणायाम के ये त्रिविध अंग देशकाल और संख्या परिदृष्टि से प्रतिदिन दीर्घ व सूक्ष्म होते जाते है।[2] प्राणायम की सिद्धि होने पर विवेकज्ञान को आच्छादित करने वाले तथा सूक्ष्मशरीर के कर्मसंस्कार क्षीण होता है तथा चित्त की एक ही स्थान पर स्थित रहने की क्षमता (धारणा व ध्यान) बढ़ जाती है।[3]

प्रत्याहार :- इन्द्रियों का स्वविषय संयोग नहीं होने पर इन्द्रियों के द्वारा चित्त का अनुसरण सा कर लिया जाता है अर्थात् इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप के सदृश स्वरूप वाला हो जाना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार से इन्द्रियां चित्त की अनुवर्ती तथा उन पर चित्त की प्रबल वशवर्तिता होती है। इन्द्रियों को बाह्य वृत्ति से समेंटकर चित्त में विलीन करने के अभ्यास को प्रत्याहार कहते है। इसमें इन्द्रियों के माध्यम से बाहरी जगत् एवं इसके विषय भोगों में बिखरी मानसिक ऊर्जा को अंतर्मुखी किया जाता है।[4]

संयम :- धारणा, ध्यान तथा समाधि को सम्मिलित रुप मे संयम कहा जाता है। धारणा एक प्रकार की मानसिक प्रक्रिया है, जिसमें मन को एक विशिष्ट क्षेत्र में सीमित कर स्थिर रखा जाता है। इसके बाद ध्यान की स्थिति आती है, जिसमें मानसिक तरंगो में धारणा के प्रभाव से स्थिरता आ जाती है। इसके बाद समाधि की अवस्था आती है। वस्तुत: धारणा, ध्यान और समाधि एक ही उच्च मानसिक अवस्था की प्राप्ति के लिये संघटक अवस्थाएँ है। समाधि एक पूर्ण विश्रान्ति तथा सृजनात्मक ज्ञान-प्राप्ति की अवस्था है। इस प्रकार योग तत्त्वज्ञान-प्राप्ति की विधि है।

धारणा :-चित्त को जिस देश पर लगाया जा रहा है उस देश के अतिरिक्त चित्त को सभी स्थलों से हटाकर

---

[1] तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ यो.सू 49

[2] बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥ यो.सू 50

[3]ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥ यो.सू 52

[4] स्वविषासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपाकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। यो. सू 2.54

उसी देश में स्थिर करना 'धारणा' है।[1] शरीर के बाहर तथा भीतर किसी एक स्थान पर चित्त की वृत्ति को लगाने को धारणा कहते है। धारणा व्यक्तित्व के संगठन को सुदृढ करता है। मानव मन एवं व्यक्तित्व के समाकलन में एकाग्रता (धारणा) की व्यावहारिक भूमिका है। धारणा का ही विकसित रूप ध्यान है।

ध्यान :-'ध्यान' धारणा के आगे की प्रक्रिया है जहाँ चित्त को लगाया जाय, उसी एक वृत्ति का लगातार चलना ध्यान है।[2] वस्तुतः ध्यान मन के पूर्ण स्थिरीकरण की प्रक्रिया है। धारणा के अभ्यास के दृढ होने के बाद ही जब ध्येय वस्तु से चित्त का भटकना बन्द हो जाता है, तब ध्यान की अवस्था आती है। वस्तुतः धारणा को ही अभ्यास करके दृढ करते-करते धारणा ही कुछ कालपश्चात ध्यान में परिणत हो जाती है। ध्येय को केन्द्रित कर किया गया ध्यान क्रमशः सूक्ष्मशरीर निष्ठ पूर्वसंस्कारों के प्रवाह को क्षीण करता हुआ आध्यात्मिक स्वतन्त्रता या मुक्ति की ओर ले जाता है। इस तरह अंतरंगयोग के अंतर्गत धारणा के अभ्यास से सतत क्लेश मुक्त मन पर नियत्रंण बढता जाता है तथा ध्यानावस्था आने पर मन समाधि अभ्यास में पहुँचने की तैयारी करने योग्य होता है। धारणा समाधि का प्रवेश द्वार तथा ध्यान समाधि में पहुँचने का दूसरा द्वार है।

समाधि :- समाधि ध्यान की पराकाष्ठा है। ध्यान ही जब ध्येय के स्वभाव का आवेश होने के कारण ध्येय के आकार से भासित होता है तथा अपने ज्ञानात्मक रूप से रहित हो जाता है, उस समय उसे समाधि कहा जाता है।[3] ध्यान करते- करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाता है और उसके अपने स्वरूप का अभाव हो जाता है, उस समय उस ध्यान को समाधि कहते हैं। समाधि में मन की एकाग्रता की तीव्रता इतनी होती है, वह स्वयं ध्यान की वस्तु का आकार ले लेती है। योगदर्शन में तीनों अन्तरंग साधन एक ही आलम्बन वाले होने से संयम कहे गए हैं।[4] बहिरंग साधनों की अपेक्षा ये तीनों अंतरंग साधन सम्प्रज्ञात समाधि के अंग माने गए है[1] किन्तु निर्बीज समाधि के लिए ये तीनों अन्तरंग (सम्प्रज्ञात समाधि) भी बहिरंग माने गए हैं।[2] जिस अवस्था में दुःख को सम्यक् प्रकार से जान

---

[1] देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। यो.सू. 3.1

[2] तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो. सू 3.2

[3] तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। यो. सू. 3.3

[4] त्रयमेंकत्र संयमः॥ यो. सू. 3.4

[1] त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः॥ यो. सू. 3.7

[2] तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य॥ यो. सू. 3.8

लिया गया है तथा अन्य कुछ जानने योग्य शेष रहा नहीं है, दुःख का कारण अविद्या जिस स्थिति में क्षीण और नष्ट हो चुकी है, निरुद्ध समाधि द्वारा कैवल्य का साक्षात्कार कर लिया गया है, जिस स्थिति में बुद्धि कृतकृत्य हो गयी है, जिसके द्वारा विवेकख्याति रूपी मोक्ष उपायों को सिद्ध कर लिया गया है, पर्वतशिखर के अग्रभाग के गिरे हुए निराधार पत्थरों की भांति गुण अपने मूलकारण में लयोन्मुख होकर चित्त के साथ अस्त हो गए है, उस अवस्था में त्रिगुणों के सम्पर्क से परे शुद्ध चैतन्य मात्र ज्योतिस्वरूप निर्मलमुख पुरुष रह जाता है। इस प्रकार उच्चस्तरीय बुद्धि को देखने वाला पुरुष कुशल (जीवन्मुक्त) कहा जाता है। कैवल्य की अवस्था में त्रिगुणों के परिणामस्वरूप कार्यकारित्व के क्रम की समाप्ति हो जाती है। त्रिगुण का अव्यक्त में लय हो ज़ाना तथा पुरुष का स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है। कैवल्य के पश्चात् पुरुष में केवल चितिशक्ति ही शेष रहती है।[1] इस अवस्था में सूक्ष्मशरीर के पुनर्जन्म के समूल संस्कार नष्ट हो जाते है अर्थात् वह स्थूलशरीर के माध्यम से पुनर्जन्म का पुनः ग्रहण नही होता। कैवल्य की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति से अनुमान होता है कि पुरूष की सत्ता है।[2] कैवल्य की प्राप्ति के सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि दुःखत्रय के आत्यान्तिक शमन को कैवल्य कहते है। कैवल्य यहा बुद्धि आदि तत्त्वों का नही हो सकता क्योंकि वे दुःख-मोहरूप जिन्हें उनके स्वभाव से वियुक्त नही किया जा सकता। उन तत्त्वो से भिन्न उस तत्त्व का ही कैवल्य हो सकता है जो सुख दुःख मोहरूप न हो 'शरीरसत्त्व व्याधिमन्दिरम्' इस आर्ष वचन के अनुसार अत्यधिक सावधान रहने पर भी स्थूलशरीर को कोई न कोई विषय आक्रान्त कर ही लेता है। अतः यह मानव स्थूलशरीर धर्म-अधर्म का केन्द्र है। रोगों से बचाते हुए शरीर की रक्षा और आरोग्य की सतत् स्थिति बनाए रखना कठिन होता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के साधन के लिए आधारभूत स्थूलशरीर एवं अन्तःकरण को क्लेशों से बचायें रखा जाना आवश्यक है। इस विषय में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि समस्त यौगिक क्रियाएं स्थूलशरीर के द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं। स्थूलशरीर के रोगग्रस्त होने पर धर्मसाधन होना सम्भव नहीं है। योग के अन्तर्गत जहाँ यम-नियम के द्वारा मुख्यतः मानसिक क्रियाओं का नियन्त्रण होकर मनोविकारों का निरोध होता है, वहां आसन और प्राणायाम के द्वारा शरीर में व्याधियों की निवृत्ति होकर शरीर पूर्ण क्लेश मुक्त होकर आत्यान्तिक निवृत्ति स्वरूप वाला बन जाता है। यह सभी आसन स्थूलशरीर के द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं जिनमें शरीर के प्रत्येक अंग सक्रिय रहते है। ये आसन शरीर के आभ्यन्तरिक अवयवों को भी पूर्णतः प्रभावित करते हैं जिससे

---

[1] पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ यो. सू. 4.34

[2] कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च। -सांका१७, सांसू १/१४४

उनकी सभी प्रकार की क्रियाएं अविकृत एवं निर्बाध रूप से सम्पन्न होती हैं। योग दर्शन की ये अष्टांग क्रियायें बाह्य स्थूलशरीर एवं सूक्ष्मशरीर की समस्त क्रियाओं को नियन्त्रित व प्रभावित करती है। निरन्तर अभ्यास से पुरूष को वास्तविक स्वरूप का अभिज्ञान हो जाता है, जिससे पुनर्जन्म के वाहक सूक्ष्मशरीर के समूल संस्कार नष्ट हो जाते है। इन सभी संस्कारों के नष्ट हो जाने पर सूक्ष्मशरीर की पूर्णतः निवृत्ति हो जाती है।अतः उपर्युक्त दार्शनिक विवेचन से यही स्पष्ट होता है कि अच्छे-बुरे कर्मों के संस्कार ही सूक्ष्मशरीर को जन्म लेने के लिए प्रेरित करते रहते है। यह सूक्ष्मशरीर इन सभी संस्कारों का वाहक होता है। यह सूक्ष्मशरीर सांसारिक विषयों का भोग करने के लिए स्थूलशरीर ग्रहण करता रहता है। सूक्ष्मशरीर का आत्यान्तिक निरोध विवेक ज्ञान से सम्भव है जिसे पाताञ्जलयोग के अष्टांग मार्ग पर चलकर प्राप्त किया जा सकता है।

आयुर्वेद में शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन

9. आयुर्वेदीय में शरीर का दार्शनिक पर्यालोचन 267

परिचय 270

XVII. आयुर्वेद में शरीरोत्पत्ति संकल्पना 270

XVIII. आयुर्वेद में स्थूल शरीर 273

XIX. पञ्चमहाभूत सिद्धान्त और आयुर्वेदिक शरीर 274

- आकाशीय द्रव्य–
- वायव्य द्रव्य
- तैजस द्रव्य
- आप्य या जलीय द्रव्य
- पार्थिव द्रव्य

XX. स्थूलशरीर एवं त्रिदोष सिद्धान्त 276

- वात 278
  - वात प्रकोप के लक्षण
  - वात प्रकोप के कारण
  - प्रकुपित वात का उपचार
- पित्त 281
  - पित्त प्रकोप के लक्षण
  - पित्त प्रकोप के कारण
  - प्रकुपित पित्त का उपचार
- कफ या श्लेष्मा 282
  - प्रकुपित कफ के लक्षण
  - कफ प्रकोप के कारण
  - प्रकुपित कफ का उपचार

XXI. स्थूलशरीर त्रिदोषों का आश्रय स्थान 284

XXII. त्रिदोष, ऋतुएं और स्थूलशरीर 285

XXIII. स्थूलशरीर एवं सप्त धातुयें 286

- रस धातु (Plasma) 286
- रक्त धातु (Blood) 287
- मांस धातु (Muscle tissues) 287
- मेद धातु (Fat tissues) 288
- अस्थि धातु (Bone) 288
- मज्जा धातु (Bone-marrow) 288
- शुक्र धातु (Sperm and Ovum) 289

XXIV. स्थूलशरीर एवं तेरह अग्नियां 290

- जाठराग्नि
- विषमाग्नि
- तीक्ष्णाग्नि
- मन्दाग्नि
- समाग्नि
- भूताग्नियाँ
- धात्वाग्नियाँ

XXV. मल पदार्थ 292

- पुरीष
- मूत्र
- स्वेद या पसीना

XXVI. इन्द्रिय-विवेचन 294

xxvii. शरीर की प्रवृत्तियाँ एवं त्रिगुणसिद्धान्त 296

- सत्वगुण 297
  - सत्त्वगुण का स्वरूप
  - सत्त्वगुण का लक्षण (कार्य)
- रजस् गुण 302
  - रजस् गुण का स्वरूप
  - रजोगुण का लक्षण
  - राजसी गतियां
- तमस् गुण:- 305
  - तमोगुण का लक्षण
  - तामसी गतियां

xxviii. त्रिगुण का पारस्परिक सम्बन्ध 308

xxix. आयुर्वेद में सूक्ष्म शरीर की संकल्पना 311

xxx. सूक्ष्मशरीर विवेचन 314

- परम आत्मा 316
  a. परम आत्मा के लक्षण (लिङ्ग) 317
  b. आतिवाहिक (सूक्ष्म शरीरयुक्त) आत्मा 317
  c. स्थूल चेतना शरीर या कर्मपुरुष 322
  d. राशिपुरुष उत्पत्ति कारण 323
  e. कर्मपुरुष की क्रियाकारिता 325
  f. सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) 326

xxxi. अपवर्ग एवं शरीर 331

xxxii. जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति 332

परिचय :-

आयुर्वेद भारतीय उपमहाद्वीप में पनपी की एक प्राचीन चिकित्सा विज्ञान के रूप में अनमोल धरोहर है। जिसकी प्राचीनता विद्वानों के द्वारा लगभग 5000 पूर्व स्वीकार की गई है |[1] यद्यपि इस परम्परा के बीज ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में समाहित होने के साक्ष्य प्राप्त होते है। जहां मानव जीवन की उत्पत्ति, स्थिति और नाश सम्बंधित सर्वज्ञान इसमें निहित है। जिसका उद्देश्य व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यपर्यन्त स्वास्थ्य संरक्षण और विकार प्रशमन है ।[2] धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति में आयुर्वेद का विशेष योगदान होने के कारण इसे चिकित्सा-पद्धति मात्र स्वीकार करना उचित नहीं है, यह तो जीवन को प्रायोगिक-दर्शन के रूप में पिरोता है। आयुर्वेद संस्कृत के दो शब्दों-आयुष्+ वेद से मिलकर बना हुआ है। 'आयुष' जिसका अर्थ जीवन है तथा 'वेद' जिसका अर्थ 'विज्ञान' है, से मिलकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'जीवन का विज्ञान'। यह औषधीय प्रणाली, रोगों के उपचार एवं स्वस्थ जीवनशैली पर अधिक ध्यान केंद्रित करता है।

1. आयुर्वेद में शरीरोत्पत्ति संकल्पना :-

आयुर्वेद में अव्यक्त के स्वरूप के सन्दर्भ में चरक ने अव्यक्त पद से पुरूष का ग्रहण किया है।[3] सुश्रुत ने प्रकृति[4] के अतिरिक्त उसके पर्यायभूत अव्यक्त शब्द का भी प्रयोग किया है।[5] सुश्रुत ने इस विषय में विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि आयुर्वेद में तो पृथुदर्शी व्यक्ति स्वभाव, ईश्वर, काल यदृच्छा, नियति और परिणाम को प्रकृति के समान आदि कारण मानते हैं।[1] चरक और सुश्रुत तथा उनके टीकाकारों ने प्रकृति के अनेक अर्थों का विनियोग आयुर्वेद में प्रदर्शित किया है।[2]

---

[1] Ayurveda is the five thousand year old Vedic "Science of Life", the traditional healing system of India. Dr. David Frawley, p. 4

[2] स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य विकार प्रशमनं च । च.सू. 30.26

[3] . च० शा०, 1.61.

[4] . सु० शा०,1.9.

[5] . सु० शा० 1.3.

[1] . सु० शा० , 1.16.

[2] . (क) सु० सू०,20.3 पर डल्हण की टीका ।

सुश्रुत के अनुसार सब प्राणियों (भूत्त्) का कारण अव्यक्त है। यह अव्यक्त स्वयं अकारण है। सत्त्व, रजस् एवं तमस् इसका स्वरूप है। यह अष्टविधरूप (अव्यक्त, महान्, अहङ्कार एवं पञ्चतन्मात्रा से युक्त) तथा सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण है। जिस प्रकार एक समुद्र अनेक जल-जन्तु एवं पद्मादि स्थावर जंगम रूप पदार्थो का अधिष्ठाता होता है उसी प्रकार यह अव्यक्त (प्रकृति) एक होते हुए भी अनेक क्षेत्रज्ञों का अधिष्ठान है।[1]

काश्यपसंहिता में भी इसी अव्यक्त से सृष्टि का विकास होना स्वीकार किया गया है।[2] अव्यक्त से ही सूक्ष्मशरीर अभिव्यक्त हुआ है। भावप्रकाश में सत्त्व, रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है एवं वह प्रकृति स्वयं जड़ होती हुई भी चैतन्यरूप अव्यक्त परमात्मा के आश्रय से जगत् का निर्माण करने वाली होती है।[3]

चरक के अनुसार प्रकृति ही अव्यक्त है और विकार को व्यक्त कहा गया है।[4] खादि (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी आदि के सूक्ष्मभूत), बुद्धि (महान्), अव्यक्त और अहङकार –ये आठ भूतप्रकृति कहे जाते हैं। विकारों की संख्या सोलह हैं जिसके अन्तर्गत पांच बुद्धिन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियॉ), पॉच कर्मेन्द्रियॉ, मन एवं पॉच अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप,रस,गन्ध)।[5] अव्यक्त से रहित उपर्युक्त सभी तत्त्वसमूहों को क्षेत्र कहा गया है तथा अव्यक्त को क्षेत्रज्ञ की संज्ञा दी गयी है।[1] सुश्रुत ने भी अव्यक्त, महान् अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्रा- इस प्रकार आठ वस्तुओं को प्रकृति एवं शेष

(ख) साम्यं प्रकृतिरुच्यते। (च० सू०, 9.4).

(ग) प्रकृतिः आरोग्यम्। (च० सू०, 11.43 पर चक्रपाणि).

(घ) प्रकृतिः स्वभावः। (च० सू०, 8.15).

(ङ) प्रकृतिः मूलभूतरोगः। (च०सू०, 19.7 पर चक्रपाणि).

(च) च० सू०, 8.17 पर चक्रपाणि, च० वि०, 8.7.

(छ) च० सू०, 5.4. पर चक्रपाणि ।

[1] . सु० शा०, 1.3.

[2] . काश्यपसं, 79.

[3] . भावप्रकाश, पूर्वखण्ड, सृष्टिप्रकरण 4.

[4] च० शा०,1.4

[5] . खादानि बुध्दिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडशः॥
बुध्दीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्चकर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः॥ (च० शा०,1.63-64).

[1] . च० शा०, 1.65.

एकादश इन्द्रिय (मन सहित) एवं महाभूत को विकार कहा है।[1] इससे यहां यह स्पष्ट होता है कि मनोमय सूक्ष्मशरीर की प्रवृत्तियां त्रिगुणात्मक होती है। चरक सुश्रुत एवं कश्यप ने अष्टविध प्रकृति स्वीकार करते है किन्तु ईश्वरकृष्ण ने मूलप्रकृति को अविकृति मानकर महद् आदि सात तत्त्वों को प्रकृति विकृति दोनों मानते हैं।[2] विकारों के सन्दर्भ में चरक-सुश्रुतवत् सोलह संख्या मानी है। भावप्रकाश में सांख्यकारिका के समान तत्त्वों को चार वर्गों में विभाजित किया गया है जो निम्न प्रकार से है-

१) प्रकृति – मूलप्रकृति,

२) प्रकृति-विकृति- महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा

३) विकृति- ग्यारह इन्द्रियॉ एवं पञ्चमहाभूत एवं

४) न प्रकृति न विकृति- पुरुष।

प्रकृति का कोई कारण न होने के कारण वही यथार्थ रूप में प्रकृति कही जाती है। महदादि सात तत्त्व प्रकृति के कार्य हैं। वे इन्द्रियों एवं पञ्चमहाभूतों के कारण हैं अतः इन्हें भी प्रकृति कहा गया है। दस इन्द्रिय, चित्त (मन) एवं पॉच महाभूत को विकारों की संज्ञा दी गई है।

इस प्रकार चौबीस तत्त्वों से बने हुए शरीररूपी गृह में शुभ तथा अशुभ कर्मों के अधीन होता हुआ, मन रूपी दूत से युक्त (स्वान्त-दूतवान्) होकर जीवात्मा निवास करता है।[3] यही सूक्ष्मशरीर है। यह स्थूलशरीर के माध्यम से जन्म-जन्मान्तर संस्कारों के भोग हेतु गमन करता रहता है। आयुर्वेद परम्परा में सूक्ष्मशरीर की अपेक्षा स्थूलशरीर के स्वास्थ्य एवं विवेचन पर अधिक जोर दिया गया है। मनुष्य स्थूलशरीर के माध्यम से जिन प्रवृत्तियों का निर्वहन करता रहता है। इन प्रवृत्तियों के संस्कार ही जन्म-जन्मान्तर के कारण होते है। मनुष्य स्थूलशरीर की प्रवृत्तियां आयुर्वेदिक पद्धति से परिमार्जन करके शुभ कर्मो के संस्कारों जनक का हेतु हो सकता है। जिसका वह सम्यक प्रकार से निर्वाह करके अपने भावी जीवन पर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। इसलिए आयुर्वेद परम्परा में सूक्ष्मशरीर के दार्शनिक पक्ष पर अधिक जोर देने के बजाय स्थूलशरीर की दोषों के परिमार्जन पर अधिक जोर दिया गया है।यहां

---

[1] . अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः, शेषाः षोडश विकाराः। (सु० शा०,1.9).

[2] सांख्यकारिकाकार 3

[3] . भा० पू० सृ०,28-31.

सूक्ष्मशरीर का दार्शनिक पर्यालोचन स्थूलशरीर के ज्ञान के बिना अपूर्ण है। अतः सर्वप्रथम स्थूलशरीर का उपर्युक्त सन्दर्भ में एक संवीक्षणात्मक तात्त्विक विवेचन अपेक्षित है।

2. आयुर्वेद में स्थूल शरीर :-

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति स्थूलशरीर एवं इसके शारीरिक एवं मानसिक दोषों की निवृत्ति के आधार पर समग्र स्वास्थ्य को परिभाषित करती है। सुश्रुत के अनुसार स्वस्थ व्यक्ति वह है जिसके दोष, अग्नि, धातुएं व मल आदि समावस्था में हो तथा जो आध्यात्मिक, मानसिक व ऐन्द्रिक रूप से प्रसन्न हो। आयुर्वेद में दार्शनिक अध्ययन की चरमोत्कर्ष अवस्था मोक्ष या समाधि अवस्था की प्राप्ति के लिए नैष्ठिकी-चिकित्सा की कल्पना की गई है । जब मनुष्य विभिन्न बन्धनों से मुक्त होकर स्व आत्म में स्थित हो जाता है तो उसे पूर्ण स्वास्थ्य एवं दुःखो से आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था कहा गया है।

आयुर्वेद में स्थूलशरीर, आत्मा, मन का संयुक्त रूप ही जीवन है। यहाँ पुरुष शरिरेन्द्रियसत्वात्म संयोग रूप संयुक्त इकाई है इसमे मन के अतिरिक्त पार्थिव शरीर, सूक्ष्म शरीर, इन्द्रिय तंत्र और चेतन आत्मा की उपस्थिति होती है। आयुर्वेदशास्त्र में शरीर, मन आत्मा के स्वास्थ्य के विषय में पृथक् पृथक् स्वास्थ्य का विचार असंगत प्रतीत होता है क्योंकि आयुर्वेद शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय पूर्ण शारीरिक स्वास्थ्य है। सुश्रुत संहिता के सूत्रस्थान में दोष साम्य, अग्नि साम्य, धातु साम्य एवं मल साम्यता रूप शारीरिक स्वास्थ्य, आत्मा, इन्द्रियों एवं मन की प्रसन्नता को 'पूर्ण स्वास्थ्य' के रूप में परिभाषित किया गया है। जिसमें शरीरेन्द्रियसत्वात्म संयोग रुप पुरूष के चार अंगों शरीर, आत्मा, इन्द्रिय तथा मन की सुखावह अवस्था व प्रसन्नता, को स्वास्थ्य कहा गया है।[1] इस अवस्था में सम्पन्न की गई शारीरिक प्रवृत्तियां का वाहक सूक्ष्मशरीर सुखावह जीवन का हेतूभुत कारण होता है।

आयुर्वेद में स्थूलशरीर की समस्त प्रवृत्तिया त्रिगुणात्मक सूक्ष्मशरीर की सत्त्व, रज एवं तम गुणों की प्रकृति पर आधारित होती है। यहाँ सत्त्व, सूक्ष्मशरीर की चैतन्य, हल्की एवं सुखद अवस्था का द्योतक है। यह रोगों से मुक्ति की अवस्था है। रज सक्रियता एवं गति का प्रतीक है। इसमें सभी प्रकार की इच्छायें कामनायें और आकांक्षायें जन्म लेती है और विविध मानसिक व्याधियां इससे जन्म लेते है। तमस जड़ता एवं भारीपन का द्योतक है। यह अचेतनता जड़ता एवं निष्क्रियता का प्रतीक है। यह सूक्ष्मशरीर में अधिष्ठित मन की ग्रहणशीलता एवं सक्रियता में बाधा

---

[1] समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ सु सू.15.42

डालता है। इसकी वृद्धि से भ्रम आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, दैन्यता आदि भाव उत्पन्न होते हैं। आयुर्वेद के मत में रजस् एवं तमस् अवस्थाएं स्थूलशरीर के मानसिक स्वास्थ्य में व्यवधान डालती है। रजस् व तमस् दोषों के कारण ही विभिन्न मानसिक विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय, हर्ष आदि) की उत्पत्ति होती है। यह मानसिक विकार मनोगत सूक्ष्मशरीर के वाहक का कारण होता है। अतः स्थूलशरीर स्वास्थ्य सूक्ष्मशरीर में अधिष्ठित मनस् की शुद्ध सात्त्विक अवस्था में स्थिति होना से ही संभव है। इसलिए आयुर्वेद शास्त्र में 'शरीरेन्द्रियसत्वात्म' संयोगरुप जीव की सत्ता के अनुसार ही स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर, आत्मा, इन्द्रियां तथा मन रुप सर्वांगीण दार्शनिक अवधारणा पर ही बल दिया गया है।

आयुर्वेदशास्त्र में 'शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोग' रुप जीव का शरीर ही सभी क्रियाकलापों का आधार है। शरीर के माध्यम से सूक्ष्मशरीर, इंद्रियां, मन तथा आत्मा अपना व्यापार सम्पन्न करते हैं। यद्यपि शरीर मानसविज्ञान का विषय नहीं है तथापि समस्त मनोदैहिक व्यापारों का माध्यम स्थूलशरीर होने से सूक्ष्मशरीर का दार्शनिक दृष्टिकोण का निरुपण करना भी आवश्यक है। क्योंकि स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर को प्रभावित करता है और सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर को प्रभावित करता है। आयुर्वेद में शरीर पांचभौतिक है तथा आत्मा का भोगायतन है।[1] आयुर्वेदिकदृष्ट्या शरीर की संघटना पांचमहाभूतों, त्रिदोषों, त्रयोदश अग्नियों, सप्त-धातुओं व शारीरिक मलों पर आधारित है। अतः 'शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोग' रुप जीव के आधार स्थूलशरीर व सूक्ष्मशरीर के दार्शनिक विश्लेषण हेतु उपर्युक्त आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का प्रस्तुतिकरण आवश्यक है।

3. पञ्चमहाभूत सिद्धान्त और आयुर्वेदिक शरीर :-

आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त सांख्य, योग और वैशेषिक दर्शनों की विचारधारा से समानता रखते हैं। जिस प्रकार सांख्य और योग दर्शन सारे जड़ और चेतन जगत् की उत्पत्ति पंच महाभूतों (आकाश, वायु, तेज (अग्नि), जल (अप्), और पृथ्वी) के सम्मिश्रण से मानते हैं, उसी प्रकार आयुर्वेद भी शरीर और स्थूलशरीर के मूल आधारों– दोष, धातु, मल की उत्पत्ति इन्हीं पाँच महाभूतों से मानता है।[2] व्यवहारिक जगत् में परिलक्षित होने वाले किसी भी पदार्थ में ये पांचों महाभूत विद्यमान रहते हैं। विभिन्न पदार्थो में उपस्थित महाभूतों की प्रधानता समान नही होती है। इस प्रधानता के आधार पर ही आकाश महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य आकाशीय, वायु महाभूत की प्रधानता वाले द्रव्य वायव्य, तेज या अग्नि महाभूत की प्रधानता वाले आग्नेय, जल की प्रधानता वाले आप्य तथा पृथ्वी महाभूत की

[1] शरीरं पाञ्चभौतिकमात्मनो भोगायतनम्। च.सू.1.42

[2] पञ्चभूतात्म के देहे आहारः पाञ्चभौतिकः । विपक्वः पञ्चधा सम्यक् गुणान स्वान भिवर्धयेत ॥ सु.सू. 46.526

प्रधानता वाले द्रव्य पार्थिव कहलाते है। **आकाशीय द्रव्य–** मुलायम, हल्के, सूक्ष्म, समतल तथा शब्द गुण से युक्त होते हैं। इनके सेवन से शरीर में कोमलता, लघुता, चंचलता और छिद्रों की अधिकता होती है।[1] **वायव्य द्रव्य –** हल्के, शीतल, रूखे, खुरदुरे, चिपचिपे, सूक्ष्म तथा स्पर्श गुण सेयुक्त होते हैं। इन पदार्थों के सेवन से शरीर में खुरदुरापन, घृणा वृत्ति, गति, चिपचिपापन एवं फुर्तीलापन आता है।[2] **तैजस द्रव्य–** गर्म, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, हल्के, रूक्ष, अचिपचिपे तथा रूप के गुणों से युक्त होते हैं। इनके सेवन से शरीर में जलन, चयापचय शक्ति, पाचन शक्ति, तेज, चमक एवं रंग की वृद्धि होती है।[3] **आप्य या जलीय द्रव्य–** तरल स्निग्ध ठण्डे, कोमल, चिपचिपापन, स्निग्धता, दृढ़ता, नमी, कोमलता तथा आनन्द की वृद्धि होती है।[4] **पार्थिव द्रव्य–** भारी, दृढ़, सख्त, स्थूल, अचिपचिपे, ठोस और गन्ध से पूर्ण होते हैं। इनके सेवन से शरीर में मोटापा, दृढ़ता, वज़न, एवं स्थूलता में वृद्धि होती है।[5] हमारा स्थूलशरीर इन पञ्चमहाभूतों से निर्मित्त होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर व्यवहारिक जगत् में पंचभौतिक द्रव्यों के गुणों और स्थूलशरीर की रचना को देखने से स्पष्ट होता है कि स्थूलशरीर में मुख्यतः पृथ्वी और जल- ये दो महाभूत विद्यमानता अधिक होती है रहते है। स्थूलशरीर का ठोस भाग पृथ्वी, द्रव भाग जल से, स्थूलशरीर का खाली भाग आकाश से आंशिक रूप से वायु से तथा खाये हुए पदार्थों को पचाकर रस, रक्त, अस्थि आदि धातुओं में परिवर्तित करने में अग्नि महाभूत उपस्थिति अनिवार्यता अपेक्षित रहती है। स्थूल शरीर की समस्त शारीरिक और मानसिक चेष्टायें वायु महाभूत के कारण होती है।[6] रोग निदान प्रक्रिया दौरान स्थूलशरीर में जिस महाभूत वाले तत्त्व, दोष, धातु, मल आदि की कमी या वृद्धि हो जाये तो उसमहाभूत वाले पदार्थ का कम या अधिक सेवन करने से स्थूलशरीर में उस महाभूत का संतुलन बनाया जा सकता है, जिसके परिणामस्वरूप शारीरिक व्याधियों की निवृत्ति हो जाती है।

मनुष्य का यह पञ्चभौतिक शरीर तीन दोष (वायु, पित्त, कफ), धातु, मल और पांच महाभूतों के मिश्रण की विद्यमानता से बना हुआ हैं। इसी प्रकार जिन द्रव्यों से स्थूलशरीर का पोषण होता है वे खाद्य व पेय पदार्थ और

---

[1] मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्ण शब्दगुण बहुलान्याकाशात्मकानि ।
तानि मार्दवसौषिर्यलाघवकराणि ॥च.सू. 26.11

[2] श्लक्ष्णं मसृणम् । व्यवीति समस्तदेहं व्याप्त पश्चात पाकं गच्छति विषमवद्यवत् ॥ डल्हण

[3] उष्णतीक्ष्ण सूक्ष्मलघु रूक्षविषदरूपगुणबहुलान्याग्नेयानि । च.सू. 26.11
दहनं भस्मसात्करणम् । पचनमाहारदिपाकः । दारणं व्रणादेः । पातनं शरीरादि संतापनम् । प्रकाशनमभिव्यक्तिः ।
पभा तेजः । वर्णो गौरादिः ॥ डल्हण

[4] शीतस्तिभितास्निग्धमन्दगुउसरसान्द्रमुदुपिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्ललवणं मधुरसप्रायमाप्यम् । सु. सू. 41.5
बन्धनं परस्परयोजनम् । प्रहलादः शरीरेन्द्रिय तर्पणम् । चक्रपाणि

[5] तत्र द्रव्याणि गुरुखर कठिनमन्दस्थिर विशदसान्द्रस्थूल गन्ध गुणबहुलानि पार्थिवानि ॥ च.सू. 26.11

[6] (1) तत्र वायोरात्मैवात्मा पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति । सु.सू. 42.5
(2)वाय्वाखाकाशधातुभ्यां वायुः, आग्नेयंपित्तम् । अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा । अ.सं.सू. 20.3

औषध द्रव्य भी इन्हीं पांच महाभूतों से बनते हैं। शरीर में जिस जिस महाभूत वाले तत्त्व (दोष, धातु, मल आदि) की कमी या वृद्धि हो जाए तो उस महाभूत वाले द्रव्य या पदार्थ का क्रमशः अधिक या कम सेवन करने से उस महाभूत का शरीर में सन्तुलन बनाकर शारीरिक एवं मानसिकवृत्तियों पर नियन्त्रण स्थापित करके मनुष्य कलुषित संस्कारों का नियमन कर सकता है, जिससे शुभवृत्तियों का सूक्ष्मशरीर में अधिवास होने के कारण जन्म-जन्मानतर प्रक्रिया की सुखावह होती है।

4. स्थूलशरीर एवं त्रिदोष सिद्धान्त :–

सांख्य की दार्शनिक परम्परा में जिस प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों का विशद रूप से निरूपण किया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद परम्परा में वात, पित्त एवं श्लेष्मा का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। आयुर्वेद में सत्त्व रजस् एवं तमस् गुणों के दार्शनिक पक्षों की विशद चर्चा मिलती है। हमारे स्थूलशरीर एवं सूक्ष्मशरीर की समस्त प्रवृत्तियां त्रिगुणों से प्रेरित होती है। यद्यपि वात, पित्त एवं कफ के असन्तुलित अवस्था को आयुर्वेद में सामान्यतः त्रिदोष या मल की संज्ञा दी गई है किन्तु साम्यावस्था में ये धातुपद से भी अभिहित होते हैं। वात, पित्त एवं श्लेष्मा की उत्पत्ति पञ्च महाभूतों से मानी गई है अर्थात् आकाश और वायु से वात की उत्पत्ति, अग्नि से पित्त की, तथा जल और पृथ्वी से कफ की उत्पत्ति होती है।

सुश्रुत ने पञ्चमहाभूतों के साथ सांख्य के सत्त्वादि त्रिगुणों का सामंजस्य प्रतिपादित किया है।[1] इनके अनुसार आकाश सत्त्वबहुल, वायु रजोबहुल, अग्नि सत्त्व एवं रजोबहुल, जल सत्त्व एवं रजोबहुल तथा पृथ्वी तमोबहुल मानी गयी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि वातादि शरीर के दोष हैं तथा रजस् एवं तमस् मन के। इन दोषों की विषम आवस्था स्थूलशरीर की प्रवृत्तियों को प्रभावित करती है। त्रिदोषों से प्रभावित स्थूलशरीर की समस्त प्रवृत्तियां विकृत संस्कारों का हेतु होती है, जो कि सूक्ष्मशरीर में अधिवासित रहती है। जहां सांख्य दर्शन आध्यात्मिक दुःखों एवं मानस् भेदों का वर्णन करता है किन्तु वे उसके शारीरिक भेद पर मौन रहता हैं। वहीं आयुर्वेद मानस दोषों के आधार पर प्रकृति के विशद वर्गीकरण के साथ-साथ वातादि शरीर दोषों की प्रकृतियों का भी प्रतिपादन करता हैं। सांख्यशास्त्र के इस आध्यात्मिक दुःख के विभाग का वैज्ञानिक विनियोग आयुर्वेद ने प्रस्तुत किया है। अतएव यहां पर

[1] सुश्रुत शा०, 1.27

वात, पित्त एवं कफ के दार्शनिक पक्ष का अध्ययन करना इसलिए अपेक्षित है क्योंकि त्रिदोषों की साम्यावस्था एवं विषमावस्था स्थूलशरीर की प्रवृत्तियों को किस तरह प्रभावित करती है। शरीर के दार्शनिक पक्ष त्रिदोषों के स्पष्टतः अभिज्ञान के बिना सम्भव नही है। मनुष्य के स्थूलशरीर का निर्माण दोष, धातु और मल इन तीन तत्त्वों का संयुक्त रूप है।[1] अर्थात् शरीर में जितने तत्त्व पाये जाते हैं, वे सब इन तीनों में ही अंतर्निहित रहते है। इनमें दोषों का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि ये स्थूलशरीर में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। ये दोष संख्या में तीन हैं – वात ,पित्त और कफ, अतः त्रिदोष कहलाते हैं।[2]

त्रिदोष ही स्थूलशरीर की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण अथवा शरीर के स्तम्भ माने जाते हैं। मनुष्य के स्थूलशरीर की उत्पत्ति शुक्र और शोणित के संयोग से स्वीकार की गई है,[3] परन्तु त्रिदोषों के सहयोग के बिना शरीर की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। शारीरिक स्वास्थ्य को बनाये रखने, रोगों की प्रकृति समझने एवं उनकी चिकित्सा में त्रिदोष अति महत्वपूर्ण है। क्योंकि शरीर की भौतिक, रसायनिक और वैज्ञानिक सभी क्रियाओं का नियमन त्रिदोष ही करते हैं। त्रिदोष ही रोग और आरोग्य का कारण है। सम्पूर्ण शरीरस्थ त्रिदोष जब स्वभाविक रूप में रहते है तब स्थूलशरीर में उपचय वर्ण ,(वृद्धि) बल प्रसन्नता आदि शुभ कार्यों को करते है तथा जब ये विकृत होते है तब अनेक प्रकार के रोगस्वरूप अशुभ कार्यों को करने वाले होते है।[4] त्रिदोष वैषम्य रोगोत्पत्ति व साम्य आरोग्यता का कारण है।[5] दोष वैषम्य अवस्था में होते हैं, तो धातु और मल की मात्रा असन्तुलन जाता है जिससे रोग जन्म लेते है। चूंकि वात, पित्त और कफ स्वयं दूषित होकर (अर्थात् वृद्धि, प्रकोप या क्षय को प्राप्त होकर) विकार रहित धातुओं और मलों को भी दूषित करते और स्थूलशरीर में रोग उत्पन्न करते हैं, अतः इन्हें दोष कहा जाता है।[1] अतः त्रिदोषों

---

[1] (1) दोषधातु मलमूलं हि शरीरम् ।। सु.सू. 15.3

(2) दोषधातुमलामूलं-सदा देहस्य ॥ अ.ह्र.सू. 11.1

[2] (1) वायु पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः । च. सू. 1.57

(2) वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयोदोषाः समासतः ॥ अ. ह्र.. 1.6

[3] शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृति विकार संमूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते । सु. शा. 5.3

[4] सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः सर्वस्मिञ्छरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति, प्रकृतिभूताः शुभान्युपचय बलवर्णप्रसादादीनि, अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्नाविकारसंज्ञकानि ॥ च.सू. 20.9

[5] रोगस्तु दोष वैषम्यां दोषसाम्यमरोगता । अ.सं.सू. 1.43

[1] रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये । तज्ज्ञानित्युपचारेण तानाहुर्धृतदाहवत् ॥ अ.सं.सू. 1.32

में वृद्धि व क्षय रोगोत्पत्ति का कारण है।[1] जिस प्रकार मनोगतो सूक्ष्मशरीर का प्रभाव सारे शरीर में व्याप्त रहता है उसी प्रकार ये तीनों दोष भी सारे शरीर में व्याप्त है।[2] शरीर की जटिल दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए इनका संक्षिप्त अध्ययन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

वायु या वात :– यह तीनों दोषों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह स्थूलशरीर की सभी प्रकार की गतियों का कारण है।[3] वात मन, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को अपने अपने विषयों और कर्मों में नियुक्त करता है। यह पञ्चभौतिक शरीर की पाचक अग्नि और धात्वग्नियों को भी यही प्रदीप्त करता है। रस, रक्त आदि प्रत्येक धातु की सूक्ष्म व स्थूल रचना तथा शरीर के एक अंग का दूसरे अंग से सम्बन्ध का कारण भी यह वायु है। इसी के कारण गर्भ में स्थित भ्रूण स्थूलशरीर का विकास व उसके आकार का निर्माण हो पाता है। नाड़ी मण्डल की सभी क्रियाओं का नियन्त्रण इसी वायु के अधीन रहता हैं। वायु के बिना दोनों दोष – पित्त और कफ पंगु के समान निष्क्रिय है क्योंकि यह इन दोषों तथा मलों को अपने-अपने स्थान पर स्थिर रखता है तथा आवश्यकता पड़ने पर अन्यत्र पहुंचाता है।[4]

इस प्रकार मल, मूत्र, स्वेद आदि मलों को शरीर से बाहर निकालने वाला वायु दोष जब अपनी साम्य अवस्था में रहता है, तो सभी दोषों, धातुओं और मलों को भी सम अवस्था में रखता है परन्तु जब यह दूषित या कुपित हो जाता है, तो सभी दोषों, धातुओं, मलों और स्रोतों को भी दूषित कर देता है क्योंकि गतिशील होने के कारण किसी भी दोष को दूसरे स्थान पर पहुंचा देता है, जिससे उस स्थान पर पहले ही विद्यमान दोष में वृद्धि हो जाती है और रोग उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार सभी प्रकार के रोगों की उत्पत्ति में वायु का योगदान होता है परन्तु केवल वायु के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले नानात्मज रोग संख्या ८० मानी गई हैं। जहाँ सामान्य दशा में वायु दोषों और दूष्यों (धातु, मलों, उपधातुओं) को अलग-अलग रखता है, वहीं कुपित होने पर इनको आपस में संयुक्त कर देता है, जिससे रोग उत्पन्न हो जाते है।[1]

---

[1] उत्कृष्टमध्याल्पतया त्रिधा वृद्धि क्षयावपि । विकृताऽविकृता देहं घ्रन्ति ते वर्तयन्ति च ।।
रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये । तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्धृतदाहवत् ॥ अ.सं.सू. 1.24, 1.32

[2] वातपित्तश्लेष्मणां पनः सर्वशरीर चराणां सर्वाणिस्रोतांस्ययन भूतानि । वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः। च.वि. 5.6

[3] सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः । तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते ॥ च.सू. 17.118

[4] पित्तं पंगु कफः पंगुः पङ्गवो मलधातवः । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्तिमेघवत् ॥ शा. पू. 5.25

[1] दौष त्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः । वात पित्त कफा देहे सर्वस्रोताऽनुसारिणः । वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद
द्व्योस्तत्राप्युदीरणः ॥ कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान् करोति । च. चि. 28.59-60

शरीर में रुक्षता, खुरदरापन, दुबलता, बौनापन, कम नींद, गतिशीलता, चंचलता, शीतलता,[1] संधियों में आवाज, त्वचा का फटना, अधिक बोलना, शिराओं का अधिक उभरा होना, पाचन तंत्र का कमजोर होना आदि लक्षण का होना वातप्रधान प्रकृति का द्योतक है। कार्य करने में उत्साहव अन्दर श्वास वायु का बाहर निकालना , धातुओं ,शारीरिक व मानसिक चेष्टाओं को प्रवृत्त करना ,लेना मुत्रादि का-मल ,को सम रखना निष्कासन आदि वात के प्रमुख कार्य है।[2] वात की एक सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि जब यह योगवाहिता होता है तो यह अन्य दोषों के संयोग से उनके गुणों को धारण कर लेता है। जब यह पित्त दोष के साथ मिलता है, तो उसमें दाह, उष्णता आदि पित्त के गुण आ जाते हैं, और जब कफ के साथ मिलता है, तो उसमें शीतलता क्लेदता (गीलापन) आदि गुण आ जाते है।[3] यह वायु स्थान और कर्म के भेद से पांच प्रकार का माना गया है – १. प्राण २. उदान ३. समान ४. अपान और ५. व्यान।[4]

- **वात प्रकोप के लक्षण :-**

स्थूलशरीर में वायु जब प्रकुपित अवस्था में रहती है तब इसमें शुष्कता, रूखापन अंगों व शरीर में जकड़ाहट, सुई की चुभन जैसा दर्द, सन्धि-शैथिल्य (हड्डियों के जोड़ों में ढीलापन) सन्धि-च्युति (हड्डी का खिसकना), हड्डी का टूटना, कठोरता, अंगों में कार्य करने की अशक्ति, अंगों में कम्पन व अस्वाभाविक गति से अंगों का सुन्न पड़ना, शीतलता, कमजोरी, कब्ज, शूल, नाखून, दांतों और त्वचा के रंग का कुछ काला या फीला पड़ना, मुखा का स्वाद कैसला या फीका होना आदि लक्षण प्रकट होते है।[1] वायु का मूल स्थान पक्वाशय है। अन्न का मल भाग जब पक्वाशय में पहुंचता है, तो वायु उत्पन्न होती है, जो दूषित या प्रकुपित वायु ही होती है।

वात प्रकोप के कारण :- वायु के प्रकुपित होने के मुख्य कारण वेगरोधक अर्थात् मल-मूत्र, छींक आदि स्वाभाविक इच्छाओं को दबा कर रखना, खाये हुए भोजन के पचने से पहले ही फिर कुछ खा लेना, रात को देर तक जागते

---

[1] ह्रादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छातृटस्वेददाहजित् । सु.सू. 46

[2] उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः समा। समो मोक्षोगतिमतां वायोः कर्माविकारजम्॥ च.सू. 18.49

[3] योगवाह परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत । दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत सोमसंश्रयात् ॥ च.चि. 3.38

[4] प्राणोदानसमानाव्यानापानैः स पञ्चधा । देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहृतश्चरन् ॥ च.चि. 28.5

[1] कार्श्यकार्ष्ण्योंगात्रकम्पस्फुरणोष्णकामितासंज्ञानिद्रानाशवलेन्द्रियोपद्याताास्थिशूलमज्जाशोषमल सङ्गध्मानाटोपमोहदैन्यभयशोकप्रलापादिर्भिर्वृद्धोवायुःपीडयति । अ.ह्र.सू.11.6

रहना, ऊँचा बोलना, अपनी शक्ति की अपेक्षा अधिक शारीरिक श्रम करना, लम्बी यात्रा के समय वाहन में धक्के लगना, रूखे, तिक्त, कड़ुवा और कसैले खाद्य पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करना, सूखे मेवे अधिक खाना, बहुत अधिक चिन्ता करना, मानसिक परेशानी में रहना, अधिक सम्भोग करना, डरना, उपवास रखना, अधिक मात्रा में खाना तथा अधिक ठण्डा खाना, इन सब कारणों से शरीर में वायु दोष प्रकुपित हो जाता है। वर्षा ऋतु में तो इन कारणों के बिना भी वायु का प्रकोप स्वाभाविक रूप से हो जाता है तथा वात-प्रकृति वाले लोगों में तो बहुत अल्प कारणों से ही वायु का प्रकोप हो जाता है।[1]

प्रकुपित वात का उपचार :- स्थूलशरीर में प्रकुपित वायु के नियन्त्रण के सन्दर्भ में आयुर्वेद में कहा गया है कि जिन कारणों से वायु का प्रकोप होता है, उन कारणों को दूर करने तथा उनके विरोधी खान-पान, औषधियों और साधनों का प्रयोग करने से वायु शान्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त वायु के जो अपने गुण-कर्म है, उनसे विपरीत चिकित्सा करनी चाहिए।[2]

आयुर्वेद में निम्नलिखित उपायों का निर्दशन किया गया है जैसे कि- स्नेहन अर्थात् स्नेह पदार्थों (घी, तेल, वसा, मज्जा) का सेवन, उष्ण जल से स्नान करना, बस्ति तथा एनिमा देना,[3] स्वेदन या सेक गर्म जल से, वायुनाशक औषधियों के काढ़े से स्नान करना, गर्म पदार्थों का प्रयोग करके पसीना लाना, मृदु विरेचन अर्थात् स्निग्ध, उष्ण तथा मधुर, अम्ल तथा लवण रस वाले द्रव्यों से तैयार औषधि से हलका विरेचन कराना जिससे मल बाहर निकल जाए , रोग वाले अंगों पर पुल्टिस व पट्टी बाँधना, पदाघात अर्थात् पैर से दबाव, वातनाशक द्रव्यं का नस्य लेना (नाक में डालकर ऊपर की ओर खींचना), उनका उबटन मलना, स्नान, संवाहन (हाथ से दबाना) और मालिश करना,स्निग्ध और उष्ण औषधियों से तैयार अनेक प्रकार के एनिमा का प्रयोग के माध्यम से स्थूलशरीर की प्रकुपित वायु पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है।[1]

---

[1] वेग संधारणादामादभिघाताद भोजनात् ॥ च.चि. 28.17

[2] रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः । विपरीतगुर्णैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥च.सू. 1.59

[3] तिलप्रियालाक्षोडादयोऽनेका योनयो यषां तेऽनेकायोनयः स्नेहाः ॥ अ.सं.सू. 13.3

[1] वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखाप्ररोहकुसुमफल पलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत् ॥ च.सू. 20.13

पित्तदोष : – पित्त के स्वाभाविक उष्ण, कुछ स्निग्ध, तीक्ष्ण, शीघ्र, द्रव्य, विस्रगन्धि (कच्चे मांस जैसी गंध वाला) हैं।[1] पित्त समावस्था में स्वाद में खट्टा और रंग में नीला होता है।[2] शरीर में जो ताप (दाह) या गर्मी (उष्णता) उत्पन्न करता है, वह पित्त कहलाता है।[3] यह शरीर में उत्पन्न होने वाले पाचक रसों और हार्मोन्स का नियमन करता है।[4] हमारे द्वारा ग्रहण किये गए भोजनजल आदि को ,वायु , शरीरतत्त्वों (दोष, धातुओं अर्थात् रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तथा मल, मूत्र, पसीना आदि) के रूप में ढालने का कार्य यह 'पित्त' ही करता है। वैसे पित्त और अग्नि दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, तथापि शरीर में अग्नि का प्रतिनिधित्व यह पित्त ही करता है। अर्थात् अग्नि के समान ही यह अशरीर के तापमान को बनाये रखता है, रक्त, त्वचा आदि को रंग प्रदान करता है, रूप का ग्रहण और प्रकाशन करता है, हृदय में एकत्र श्लेष्मा को दूर करता है, मालिश आदि करने से त्वचा में जो स्निग्धता आती है। इसके अतिरिक्त मानसिक कार्यों जैसे- मेधा, शौर्य, साहस, हर्ष आदि का संचालन यह दोष ही करता है। जब पित्त अपनी सम अवस्था में नहीं होता तो भोजन का पाचन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता, पाचक-अग्नि मन्द (कमज़ोर) हो जाती है जिससे कफज भाव की अभिवृद्धि होती है। इसके कारण उत्साह में कमी हो जाती है, तथा हृदय, फेफड़ों आदि में कफ इकट्ठा होने लगता है। कर्म व स्थान भेद से पित्त निम्नलिखित पांच भेद स्वीकार किये गए हैं- 1. पाचक पित्त (आमाशय व आंत्र) 2. रञ्जक पित्त (यकृत व प्लीहा) 3. साधक पित्त (हृदय – मानिसक शांति) 4. आलोचक पित्त (नेत्र) 5. भ्राजक पित्त (त्वचा)।[1] केवल पित्त के प्रकोप से होने वाले नानात्मज रोगो की संख्या 40 मानी गयी है।

पित्त प्रकोप के लक्षण :– जब किसी व्यक्ति के शरीर में पित्त दोष का प्रकोप हो जाता है, तो थकावट, बल और नींद की कमी, अधिक पसीना, शरीर में जलन व तापमान की अधिकता, त्वचा का रंग पहले की अपेक्षा गाढ़ा हो

---

[1] स्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु । विपरीतगुणैः पितं द्रव्यैराशु पशाम्यति ॥ च.. 1.60

[2] पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नियत्वात् ॥ सु.सू. 42.10

[3] पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः ॥ अ.हृ.सू.12.51

[4] (1) दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्। प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ॥ च .सू18.50 .

(2) तदुक्तं क्रोधशोक श्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः । पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥ सु. नि. 13.36

[1] अतः परं पञ्चधा विभज्यन्ते पित्तस्य। यकृतप्लीहानौहृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तं च ॥ सू.सू. 21.7

जाना, अंगों से दुर्गन्ध आना, चिपचिपाहट, मुँह, गला आदि का पकना, क्रोध, मूर्च्छा तथा चक्कर आना आदि लक्षण दिखाई देते हैं। त्वचा, मल, मूत्र नाखूनों और नेत्रों का पीलापन, पित्त के प्रकोप के विशेष लक्षण हैं। मुँह का कड़वा और खट्टा स्वाद एवं शीतल आहार-विहार की इच्छा भी पित्त की अधिकता के कारण होते हैं।[1]

पित्त प्रकोप के कारण :– कड़वे, खट्टे, नमकीन, गर्म, तीखे एवं मादक पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करने से शरीर में पित्त दोष बढ जाता है। इसके अतिरिक्त सूखी सब्जियाँ और क्षार पदार्थों का प्रयोग, धूप और अग्नि का अधिक सेवन, अधिक मैथुन, अनियमित रूप से भोजन करना, अपच, क्रोध, भय और निराशा के विचार भी स्थूलशरीर मे पित्त दोष को प्रभावित कर देते है, कुछ विशेष पदार्थ, जैसे - तिल का तेल, कुलत्थ, सरसों, हरीतक, साग, दही, छाछ, कुर्चिका, मस्तु, सौवीरक, मद्य-पदार्थ, खट्टे फल, कट्वर तथा गोह मछली, भेड़ व बकरी का मांस खाने से भी पित्त में वृद्धि होती है।[2]

प्रकुपित पित्त का उपचार :– पित्त को शान्त करने सर्वश्रेष्ठ उपाय विरेचन है। पित्तवर्धक पदार्थों से परहेज, घृतपान, चित्त शान्ति आदि अन्य उपाय है। इसके अतिरिक्त ऐसे खाद्य पदार्थों और औषधियों को प्रयोग में लाना चाहिए, जो आग्नेय हो अर्थात् जिनमें अग्नि तत्त्व अधिकता से पाया जाए।

कफ या श्लेष्मा :– त्रिदोषों में महत्व और क्रम की दृष्टि से कफा का स्थान तीसरा है। 'कफ' शब्द का अर्थ है - जो जल से उत्पन्न होता है तथा 'श्लेष्मा' का अर्थ है – जो संयोग करता है या मिलता है (शिलष्यति इति श्लेष्मा)। यह दोष शरीर के सभी अंगों का पोषण करता है तथा दोनों दोष वायु और पित्त को नियमित करता है। शरीर को स्निग्धता (चिकनाहट) और आर्द्रता (गीलापन) प्रदान करना, सन्धियों (हड्डियों के जोडों) को आपस में मिलाना। वृद्धि, कामशक्ति, बल, उत्साह, घावों का भरना, रोगों के आक्रमण को रोकने की शक्ति, मानसिक और शारीरिक श्रम

[1] पित्तस्य दाहरागोष्यपाकिताः । स्वेदः क्लेदः स्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः । कटुकाम्लौ रसो वर्णः पाण्डुरारुण वर्जितः ॥ अ.ह्र.सू. 12.41-42

[2] क्रोध शोकभयासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकटम्ललवण तीक्ष्णष्णम्लघुविदाहितिलतैल पिव्याककुलत्थ सर्षपातसी हरितक शाकगोधामत्स्याजावकमांसदधितक्रकूर्चिकामस्तु सौवीरकः सुराविकाएआम्लफलकट्वर प्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते ॥ सु.सू. 21.21

करने की क्षमता, क्षमा, धैर्य, ज्ञान, विवेक, मानसिक स्थिरता आदि सभी कार्य और गुण का कारण कफ है।[1] हमारी नींद का प्रमुख कारण कफ में उपस्थित तमोभाव ही है।

स्निग्धता, मधुरता, भारीपन, शीतलता, मृदुता, दृढ़ता, स्थिरता, पिच्छिलता, मन्दता तथा क्लिन्नता आदि कफ के स्वाभाविक गुण हैं। इसका रंग सफेद तथा रस मधुर होता है।[2] जिस व्यक्ति के शरीर में कफ दोष की अधिकता होती है वह कफ प्रकृति वाला कहलाता है। कफ प्रकृति वाले व्यक्ति में बल, धन, ज्ञान, शक्ति, शान्ति जैसे गुण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं तथा वह दीर्घायु होता है।[3] कर्म व आश्रयस्थान के आधार पर कफ के पांच प्रकार है – 1. क्लेदक, 2. अवलम्बक, 3. बोधक, 4. तर्पक, 5. श्लेषक ।[4]

प्रकुपित कफ के लक्षण :– यदि शरीर में कफ की मात्रा कम हो जाए, तो शरीर में रूखापन, अन्दर से जलन, कफ के आश्रय स्थानों में खालीपन महसूस होना, सन्धियों में ढीलापन अत्यधिक प्यास, कमजोरी और नींद की कमी जैसे लक्षण प्रकट होने लगते है। कफ के स्वाभाविक गुण और कर्मों में कमी आ जाती है। जब शरीर में कफ दोष अधिक मात्रा में हो जाता है तो तन्द्रा, अधिक नींद, मुँह का मीठा स्वाद, त्वचा में सफेदी, शीतलता, स्निग्धता और खुजली होना, शरीर में भारीपन उपदेह अर्थात् शरीर से निकलने वाले मल पदार्थों जैसे मल, मूत्र पसीना आदि में चिपचिपापन स्तिमतता अर्थात् ऐसा अनुभव होना जैसे कि शरीर या प्रभावित अंग गीले कपड़े से लिपटा हो, लेप अर्थात् ऐसा लगना जैसे कोई बाहर का पदार्थ शरीर से चिपका हो, सूजन, बलगम, आखों, और नाक के मल आदि का अधिक मात्रा में स्राव चिरक्रिया अर्थात् शरीर पर किसी भी प्रतिक्रिया का देर से होना, अंगों में ढीलापन, श्वास, खाँसी तथा अवसाद आदि के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।[5]

कफ प्रकोप के कारण :– मधुर, अम्ल, भारी, चिकने एवं क्लेदक खाद्य और पेय पदार्थों, मांस-मछली तिल से तैयार खाद्य पदार्थों, गन्ने, दूध, नमक और जलीय पदार्थों का अधिक मात्रा में सेवन करने से, आवश्यकता से अधिक

---

[1] स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम् । क्षमा धृतरलोमश्च कफकर्मविकारजम् ॥ च.सू. 18.51

[2] श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च । माधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः ॥ सु.सू. 21.15

[3] (1) श्वैत्य शैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहसुप्तिक्लेदोपदेहबन्ध माधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि तैरन्वितं श्लेष्म विकारमेवाध्यावस्येत् ॥ च.सू. 20.18

(2) श्लेष्मणःस्नेहकाठिन्यकण्डूशीतत्वगोरवम्। बन्धोपलेपस्तैमित्यशोफापक्त्यतिनिद्रताः वर्णः श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता ॥ अ. ह. सू. 12.53-54

[4] अवलम्बकक्लेदकबोधकतर्पकश्लेष्कत्वभेदैः श्लेष्मा ॥अ.सं.सू. 20.6

[5] श्लेष्माक्षये रूक्षताअन्तदहि आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता सन्धि शैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्य प्रजागरणं च ॥ सु.सू.15.11

मात्रा में खाने से, पहले खाये गये भोजन के पचे बिना फिर भोजन, दिन के समय सोने से आलस्य करने और व्यायान न करने से शरीर में कफदोष प्रकुपित हो जाता है। वसन्त ऋतु, रातःकाल, रात्रि के पहले प्रहर भोजन के बाद और बाल्य अवस्था में कफ स्वाभाविक रूप से प्रकुपित रहता है। कुछ खाद्य पदार्थ जैसे – दही दूध, कृशरा, खीर, कुछ विशेष जन्तुओं का मांस, चर्बी, कमलनाल, सिंघाड़ा, नारियल, घीया कद्दू आदि कफ को बढाते हैं।[1]

प्रकुपित कफ का उपचार : – चरकसंहिता में प्रकुपित कफ शांत करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय को माना गया 'वमन' है।[2] इसके अतिरक्त निम्नलिखित उपायों को अपनाकर प्रकुपित पित्त का उपचार किया जा सकता है-

- कफ प्रकोपक कारणों को दूर करना।
- औषधीय धूम्रपान व लंघन क्रिया का प्रयोग।
- विविध प्रकार के स्वेदक, धुप सेकना, सुखी मालिश व उबटन लगाना।
- व्यायाम, अधिक सम्भोग, रात्री जागरण व युद्ध कला का अभ्यास करना।
- गर्म वस्त्रों अधिक का प्रयोग।
- तीक्ष्ण और उष्ण औषधि द्रव्यों से वमन व विरेचन क्रियाओं का प्रयोग।
- कफ विरोधी पदार्थों का सेवन।
- पुराने और तीव्र मद्य पदार्थो एवं पुराने शहद का सेवन।
- नस्य व विरेचन।
- चिन्ता व शोक से ग्रस्त रहना।[3]

5. स्थूलशरीर त्रिदोषों का आश्रय स्थान : –

त्रिदोष सामान्यरूप से सारे शरीर में व्याप्त रहते है परन्तु सभी अंगों में कोई एक दोष मुख्य रूप से रहता है। नाभि से नीचे का भाग, बस्ति, छोटी व बड़ी आंत, कमर,जंघाओं ,टाँगों एवं हड्डियों में वात दोष की स्थिति होती

---

[1] दिवास्वप्नाव्यायामालस्यमधुराम्ललवणशीत स्निग्ध गुरुपिच्छिलाभिष्यान्दिहायनकथवककनैषधेकटमाष महामाष गोधमतिलपिष्ट विकृति दधिदुग्धकृश्रा पायसेक्षुविकारानूपौदक मांसवसाविस मृणाल कसेरुक श्रृंङ्गाटक मधुरवल्लीफल समशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते । सु.सू. 21.23

[2] वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः। च. सू. 20.19

[3] विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानिसंशोधनानि, रुक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुकतिक्तकषायोपहितानि, तथैव धावनलङ्गनप्लवन परिसरण जागरण नियुद्ध व्यवायव्यायामोन्मर्दनस्नानोत्सादानानि, विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां च मद्यानानुपयोगः सधूमपानः सर्वशश्चोपवासः, सुखप्रतिषेधश्च सुखार्यमेवेति ॥ च. वि. 6.18

है। पित्त दोष का स्थान छाती व नाभि का मध्य भाग, स्वेद (पसीना), लसीका, रक्त एवं उदर होता है। कण्ठ के ऊपर का भाग, कण्ठ, शिर गर्दन, छाती, सन्धि (हड्डियों का जोड़) उदर का ऊपरी भाग एवं शरीर की मेद धातु में कफ दोष की स्थिति होती है।[1] सुश्रुत संहिता में त्रिदोषों से निर्मित सप्तप्रकृतियों का विवेचन प्राप्त होता है -वात प्रकृति , पित्तप्रकृति ,कफ प्रकृतिपित्त प्रकृति- ,पित्त ,कफ प्रकृति-वात ,कफ प्रकृति-समप्रकृति ।[2]

संसार के सभी मनुष्यों के शरीर में इन्हीं सात प्रकृतियों में से किसी न किसी की प्रधानता होती है। संसार के अन्य पदार्थों की तरह वायु आदि दोषों की संरचना भी पांच महाभूतों से ही हुई है। वाग्भट्ट के अनुसार वात दोष में आकाश व वायु की प्रधानता प्रधानता तथा कफ दोष में जल व पृथ्वी महाभूत की प्रधानता पित्त में अग्नि की ,है।[3]

6. त्रिदोष, ऋतुएं और स्थूलशरीर : –

वायु आदि तीनों दोष स्वाभाविक रूप से ही सदा एक जैसी स्थिति में नहीं रहते । अपने ही गुणों के अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभाव इन पर पड़ता है। इसी कारण अलग-अलग ऋतुओं में, एक ही दिन के अलग-अलग भागों, स्थूलशरीर की विभिन्न स्थितियों और यहाँ तक कि मानसिक दशा का प्रभाव इन पर पड़ता है और इनकी दशा में परिवर्तन आ जाता है। इस आधार पर दोषों की तीन दशाएं मानी गई है –

- चय या संचय अर्थात् अपने आश्रय स्थान पर ही एकत्र हो जान।
- प्रकोप-अनुकूल गुणों को पाकर प्रकुपित होना अर्थात् अपने आश्रय-स्थान से फैल जाना ।
- प्रशमन-प्रतिकूल या विपरीत गुणों या आहार-विहार के सेवन से शान्त हो जाना और अपनी स्वाभाविक दशा में आ जाना ।[1]

---

[1] तत्र पक्वाशयः कटिः सक्थिडनी पादावास्थि श्रोत्रं स्पर्शनं च वात स्थानानि । अत्र च पक्वाशयो विशेषेण । नाभिरामाशयस्वेदो लसीक रुधिरं चक्षुः स्पर्शनं च पित्त स्थानानि । अत्र नार्भिर्विशेषेण । उरः कण्ठः शिरः क्लोम पर्वाण्यामाशयो रसो मेदो ध्राणं रसनं च श्लेष्मस्थानानि। अत्राप्युरो विशेषेण । अ.स.सू. 20.3

[2] सप्त प्रकृतयो भवन्ति4.61 .शा .सु ...

[3] वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः । आग्नेयं पित्तम् । अम्भः पृथिवीभ्यां श्लेष्मा ॥ अ.सं.सू. 20.6

[1] चयोवृद्धिःस्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु । विपरीतगुणेच्छा च कोपस्तून्मार्गगामिता ॥ अ.सं.सू. 20.9

त्रिदोष अपथ्य और प्रतिकूल खान-पान या बिना किसी अपथ्य आदि के बिना भी ऋतुओं और वय (आयु), रात तथा भोजन से सम्बन्धित समयों में स्वतः ही संचित प्रकुपित और शान्त होते रहते हैं।

- कफ – बपपन, प्रातःकाल, शरद ऋतु, जंगल ।
- पित्त – युवावस्था, दोपहर, ग्रीष्म ऋतु, रेगिस्तान ।
- वात - वृद्धावस्था, सांयकाल, वर्षा ऋतु, समुद्र ।

7. स्थूलशरीर एवं सप्त धातुयें :-

देह को धारण करने वाले मूलभूत तत्त्व धातु कहलाते है। **स्थूल**शरीर के निर्माण में धातुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। ये स्थूलशरीर के मौलिक ऊतक तत्त्व है। जो स्थूलशरीर का पोषण और धारण करते है, तथा संयुक्त रूप से स्थूलशरीर के मूलभूत रचना में सहायक होते है।[1] ये संख्या में सात होते हैं –

- रस अथवा लसीका (Plasma)
- रक्त (Blood)
- मांस तन्तु (Muscle tissues)
- मेद या वसा (Fat tissues)
- अस्थि या हड्डी (Bone)
- मज्जा या अस्थि-मज्जा हड्डी के अन्दर का भाग (Bone-marrow)
- शुक्र (पुरुषों में) शुक्राणु (Sperm) एवं स्त्रियों मे अण्डाणु (Ovum)

रस धातु (Plasma): - इसका मुख्य कार्य प्रीणन अर्थात् बढाना है। यह सन्तुष्टि और प्रसन्नता प्रदान करता है तथा अपने अगले धातु रक्त का पोषण करता है।[1] स्थूलशरीर में रस धातु की वृद्धि होने पर कफ प्रकोप के समान

[1] देहधारणाद् धातवो । च.सू. 28.4 पर चक्रपाणि ।

धातुवो हि देहधारणसामर्थ्यात् सर्वे दोषादय उच्चन्ते ॥ अ. ह. सू. 1

[1] रसस्तुष्टि पीणंन रक्त पुष्टि च करोति, रसे रोदग्रं श्रमः शोषा ग्लानिः शास्दासहिष्णुता ॥ (अरूणदत्त)

लक्षण प्रकट होते है। जैसे – पाचन शक्ति की कमी, जी मिचलाना, अधिक लार टपकना, वमन, आलस्य, भारीपन, अंगों का सफेद रंग, शीतलता, अवयवों में शिथिलता, श्वास, खाँसी और अधिक नींद।[1] तथा क्षय के लक्षण – मुख तथा दूसरे अंगों में शोष, थकान, रूक्षता, अधिक प्यास, शब्द की असहिष्णुता, हृदय की तेज गति, हृदय में दर्द, आमाशय, हृदय आदि आंगों में खालीपन महसूस होना, ग्लानि तथा सांस में तेजी और अन्य धातुओं में कमी।[2]

रक्त धातु (Blood)- जीवन प्रदान करने वाला और प्राणों को धारण करने वाला धातु रक्त धातु है। यह रंग को निखारता है। पांचों ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी रक्त के कारण ही सम्भव है। रक्त मांस धातु की पुष्टि करता है।[3] रक्त धातु की शरीर में वृद्धि होने से निम्न लक्षण परिलक्षित होते है जैसे – शरीर की त्वचा और नेत्रों में लालिमा तथा रक्तवाहिनियों की पूर्णता के लक्षण दिखाई देते है।[4] रक्त की वृद्धि होने रक्तमोक्षण और विरेचन कर्म का प्रयोग करना चाहिए।[5] तथा रक्त धातु की कमी होने पर शरीर में रक्त वाहिनियाँ शिथिल और क्षीण हो जाती है। अग्निमान्द्य वायु का प्रकोप तथा त्वचा रूक्ष, कान्तिहीन व सख्त होती है। रोगी को अम्ल और शीतल पदार्थ रूचिकर लगते है।[6] जिन कारणों से पित्त का प्रकोप और क्षय होता है, उन्ही कारणों से रक्त का भी प्रकोप और क्षय होता है।

मांस धातु (Muscle tissues) – मांस धातु का मुख्य कार्य है लेपन अर्थात् उपदेह या मकान में सीमेंट या मिट्टी के लेप की तरह स्थूलशरीर का लेपन करना। यह स्थूलशरीर को पुष्टि प्रदान करता है। इससे अगली धातु मेद का निर्माण होता है।[7] इसके वृद्धि के लक्षण : गर्दन, नितम्बों, गालों, होठों, जंघाओं, बाहुओं, टाँगों, पिण्डलियों, पेट, छाती आदि में मांस बढने से शरीर में मोटापा व भारीपन आदि।[8] मांस की वृद्धि होनेपर मांसहर क्रियाओंसंशोधन) (रात्री जागरण आदि ,क्रिया को अपनाना चाहिए और घी, तेल, वसा आदि स्निग्ध पदार्थों और चीनी व उससे बनी मिठाइयों आदि का सेवन नहीं करना चाहिए।[1] मांस धातु के क्षय के कारण उपर्युक्त अंगों में क्षीणता, शरीर में

---

[1] रसोऽति वृद्धौ हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति । सु.स् 15.19

[2] घदृते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवृति शुल्यते । हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये ॥ च.सू. 17.64

[3] रक्तं वर्णप्रसादं मांस पुष्टि जीवयति च । तेषां क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते ॥सु.स् 14.21

[4] रक्तं रक्ताङ्गक्षितां सिरापूर्णत्वं चापादयति ।

[5] कुर्याच्छोणित रोगेषु रक्त पित्तहरी क्रियाम् । विरेकमुपवासंच स्त्रावणं शोणितस्य च ॥ च.सू 24.18

[6] धातुक्षयात् स्त्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः । पवनश्च परं कोप यति ।

[7] मांस शरीरपुष्टि मेदसश्च ॥ सु.सू. 15.7

[8] मांस स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजङ्गानु वृद्धिं गुरुगात्रतां च ॥ सु.सू. 14.15

[1] तेषां यथास्वं सशोधनं क्षपणञ्च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत । सु.सू. 15.22

रूक्षता, थकावट, चुभने की सी पीड़ा, धमनियों की क्षीणता आदि उत्पन्न होते है।[1] मांस वृद्धि के लिए प्रोटीन युक्त पदार्थ जैसे दूध, दूध से बने पदार्थ, मूंग, चना आदि धान्यों के ताजे अंकुर लेने चाहिए। मांसाहारी लोगों के लिए मांस और मांस रस उपयोगी है।

मेद धातु (Fat tissues) – इसका मुख्य कार्य स्नेहन अर्थात् स्थूलशरीर में स्निग्धता और उष्णता प्रदान करना है। यह हड्डियों में दृढ़ता और स्थिरता लाता है। इससे अगली धातु 'अस्थि' का निर्माण होता है।[2] मेद धातु में वृद्धि होने से स्थूलशरीर में बहुत अधिक चिकनाहट और मांस वृद्धि जैसे लक्षण उत्पन्न होते है। थोड़े से परिश्रम से ही श्वास और थकान, नितम्ब, स्तन और पेट का लटकना, शरीर में से दुर्गन्ध आना इत्यादि।[3] क्षय के लक्षण – सन्धियों में टूटने की सी पीड़ा और शून्यता की अनुभूति, मुरझाई सी आंखें, त्वचा, बालों और कान आदि अंगों के मार्गों में रूखापन, थकान, उदर व शरीर के दूसरे अंगों का पतला होना, कमर में स्पर्श का ज्ञान न होना, प्लीहा वृद्धि। रोगी की इच्छा वसायुक्त मांस का सेवन करने की होती है।[4] कृशता दूर करने वाले उपायों को अपनाना चाहिए।[5]

अस्थि धातु (Bone) – इस धातु का प्रमुख कार्य स्थूलशरीर को धारण करना। इसी के आधार पर व उसके अंगों के आकार का निर्माण होता है और स्थूलशरीर खड़ा रहता है।[6] अस्थि धातु के वृद्धि के लक्षण – हड्डियाँ सामान्य आकार से अधिक मोटी और बड़ी, बालों और नाखूनों में शीघ्र वृद्धि तथा अधिक दाँतों का होना।[7] इस धातु की कमी से अस्थियों और सन्धियों में दर्द, सुन्नता तथा रूखापन, दांतों और नाखूनों का टूटना व रूखापन, बालों, लोम और दाढी के बालो का झड़ना, तथा सन्धियों में ढीलापन आदि लक्षण प्रकट होते हैं।[8]

मज्जा धातु (Bone-marrow) - सभी प्रकार की अस्थियों के अन्दर उनके खाली स्थानों और छिद्रों में मज्जा धातु भरी रहती है। दूसरे शब्दों में, इस धातु का कार्य अस्थियों का स्नेह से पूरण करना है। यह स्थूलशरीर में स्निग्धता और बल की वृद्धि करता है ।[1]

---

[1] मांसक्षये स्फिग्गण्डोष्ठोपथोरूवक्षः कक्षापिण्डिकोदरग्रीवा शुष्कतारौक्ष्य तोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च ॥ सु.सू. 15.13

[2] मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्यां च ॥ सु.सू.15.7

[3] मेदः स्निग्धाङ्गतामुदरपार्श्ववृद्धि कासश्वासादीन दौर्गन्ध्यंच । सु.. 15.19

[4] सधीनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च । लक्षणं मेदस क्षीणे तनुत्वचोदरस्य च ॥ च.सू.17.66

[5] तत्रापि स्वयोनवर्धनद्रव्योपयोगः । सु.सू. 6.10

[6] अभ्यन्तरगतै सारैर्यथा तिष्ठन्ति ध्रुवम् । अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिना ध्रुवम् ॥ सु.शा. 15.23

[7] अस्थि अस्थ्यध्यस्थीन्यधिदन्ताश्च । सु.सू. 15.19

[8] चकारात् केशनख्सोरति वृद्धिर्ज्ञेया ॥ सु.सू. 15.19 पर डल्हण

[1] मज्जा प्रीति स्नेह बलं शुक्रपुष्टिं पुरणमस्थनां च करोति मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति ॥ स्थूणास्थिषु विशेषण मज्जा त्वभ्यन्तरीश्चतः ॥ सु.सू. 15.7

वृद्धि के लक्षण – सारे शरीर ओर विशेषकर नेत्रों में भारीपन तथा हड्डियों के जोड़ों में बड़े और कष्टसाध्य फोड़े-फुन्सियां होना।[1]

क्षय के लक्षण – हड्डियों में खोखलापन, हड्डियों और जोड़ों का टूटना, आकार में छोटा और दुर्बल, चक्कर आना तथा आंखों के आगे अंधेरा छा जाना एवं शुक्र धातु की कमी।[2]

शुक्र धातु (Sperm and Ovum) :- शुक्र अन्तिम धातु और सब धातुओं का सार माना जाता है। इसका प्रमुख कार्य गर्भोत्पति अर्थात् सन्तान-उत्पति में सहायता लरना है। धैर्य, शूरता, निडरता, विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण, उत्साह, पुष्टि, काम का वेग, सम्भोग के समय सुखप्राप्ति आदि प्रमुख कार्य है।[3]

वृद्धि के लक्षण – शुक्र की अधिक मात्रा में स्राव, कामवासना की अधिकता के लक्षण दिखाई देते हैं ।[4]

क्षय के लक्षण – दुर्बलता, कार्य करने का सामर्थ्य न होना, मुख सूखना, रक्त की कमी, थकान, नपुसंकता तथा सम्भोग के समय शुक्र का स्राव न होना। अण्डकोशों में अत्यधिक पीड़ा, लिंग में जलन ।[5]

उपर्युक्त सातों धातुओं का निर्माण भी दोषों की भाँति पाँचों महाभूतों के मिश्रण से होता है, परन्तु सभी धातुओं में एक-एक महाभूत की प्रधानता होती है।[6] जठाराग्नि[7] से जो भोजन का पाचन होता है उसी क्रिया के फलस्वरूप इन धातुओं की उत्पत्ति होती है क्योंकि इस पाचक अग्नि से भोजन दो भागों में बंट जाता है – सार और किट्ट(मल) । इनमें सार भाग ही व्यान वायु की सहायता से सारे शरीर में पहुंचता है, जिससे रस, रक्त आदि धातुओं का निर्माण और पोषण होता है अर्थात् भोजन के सार भाग से सबसे पहले रस धातु का निर्माण होता है, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र तथा शुक्र से ओज का निर्माण होता है।

---

[1] मज्जा सवङ्गि नेत्रगौरवं च ॥ तमोदर्शनमूच्छाभ्रमपर्वस्थूल मूलारूर्जन्यनेत्राभिष्यन्द प्रभृतयो यज्जदोषजाः ॥ सु.सू. 24.6

[2] मज्जक्षयऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनि स्तोदोऽस्थिशून्यता च। स.सू. 15.13

[3] शुक्रं धर्य च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्ष बीजार्थश्च ॥ सु.सू 15.7

[4] शुंक्र शुक्राश्मरीऽतिप्रादुर्भावं च ॥ सु.सू. 15.8

[5] दौर्बल्य मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं श्रमः । क्लैष्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीण शुक्रस्य लक्षणम् ॥ च.सू. 17.69

[6] तत्र वायोर्वायुरेव योनिः पितस्याग्निः कफस्यापः रक्तं तेजाजलात्मकं मांस पार्थिवं, मेदा जलपृथिव्यात्मकय्, अस्थि पृथिव्यतिलात्यंक, मज्जा शुकं चाप्यं ॥ चक्रपाणि

[7] तत्रैषां सर्वधातूनामन्नपानरसः प्रणियिता ॥ सु.सू 14.11

त्रिदोषो की तरह यह धातु भी शरीर में एक निश्चित मात्रा में रहती है जब इनमें विषमता आती है, तो स्थूलशरीर में विकार उत्पन्न होते है। सप्त धातुओं में विषमता दोषों की विषमता से आती है। जब दोष प्रकुपित होकर किसी धातु को प्रभावित करता है, तो रोग की उत्पति होती है। चूंकि धातु को दूष्य कहा जाता है। जिस धातु के दूषित होने से रोग की उत्पति होती है, वह रोग उसी नाम वाला कहलाता है। जैसे- रस के दूषित होने से रसज रोग, रक्त से रक्तज रोग, मांस से मांसज रोग, मज्जा से मज्जा गत रोग तथा शुक्र से शुक्रज रोग।[1]

8. स्थूलशरीर एवं तेरह अग्नियां :–

मानव स्थूलशरीर अनेक प्रकार की अग्नियों का समूह है। इसमें तेरह प्रकार की अग्नियाँ सम्मिलित हैं। एक जाठराग्नि, सात धात्वाग्नियाँ और पाँच भूताग्नियाँ।[2]

जाठराग्नि :– यह संख्या में एक है। इसे पाचक-अग्नि या कायाग्नि भी कहा जाता है। यह आमाशय और पक्वाशय के बीच नाभि प्रदेश में रहती है।[3] जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों की सहायता से कुँओं, तालाबों, नदियों आदि से जल सोखता है, उसी प्रकार नाभि प्रदेश में स्थित यह अग्नि भी अपनी किरणों की सहायता से शीघ्र ही भोजन का पाक करती है। खाये हुए भोजन को शरीर के अनुरूप बनाने के लिए यह अग्नि उसे तोड़कर सूक्ष्म खण्डों में बदल देती है। जाठराग्नि पाक क्रिया द्वारा भोजन में आरम्भिक परिवर्तन करती है और आयु, वर्ण, स्वर, बल, ऊर्जा, शारीरिक वृद्धि, उत्साह, ओजस्, शारीरिक ताप और अन्य अग्नियों को क्रियाशील बनाये रखने में सहायता करती है।[4] इन सब कार्यों में सहायक बनने के लिए अग्नि का सम अवस्था में रहना आवश्यक है। जाठाराग्नि की निम्नलिखित चार अवस्थाएँ हो सकती हैं -

1. **विषमाग्नि** :– विषमाग्नि कभी बहुत तेज हो जाती है, कभी मन्द और कभी सम। इससे भोजन का पाचन कभी तो सामान्य रूप से ठीक प्रकार से होता है तो कभी बहुत धीरे-धीरे व कभी बहुत शीघ्र। अग्नि की यह स्थिति वायु दोष की अधिकता से होती है। इसके परिणामस्वरूप पेट मे अफारा, शूल, उदावर्त, कब्ज,

---

[1] दोष दूषितष्वत्यर्थं धातुषु संज्ञा-रसजोऽयं, शोणितिजऽयं, मांसजेऽयं, मेदोजोऽयं अस्थिजोऽयं, मज्जोऽयं, शुक्रजोऽयं व्याधिरिति । सु.सू. 24.8

[2] भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः । पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि ॥ च.चि. 15.13

[3] तत्र पक्वामाशयमध्यगम् तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम् ॥ करोति बलदानेन 'पाचकं' नाम तत्स्मृतम् ॥ अ.ह.सू. 12.10-12

[4] आयुर्बल स्थितिरिति अन्नपाचकाग्नि स्थितौ आयुर्बलास्थित्या अत्येऽप्यातिप्रेया वर्णादयो लक्षणीयाः ।। चक्रपाणि

जलोदर, पेट में भारीपन, आँतों में गुड़गुड़ाहट की आवाज, अतिसार तथा पेचिस आदि विकार उत्पन्न हो सकते है।[1]

2. **तीक्ष्णाग्नि** :– इस प्रकार की अग्नि बहुत तेज होती है, जो अधिक मात्रा में खाये भोजन का पाचन बहुत ही कम समय में कर देती है। व्यक्ति जो कुछ भी खाता जाता है शीघ्र पच जाता है। अतः वह पेटू हो जाता है। इस अवस्था के 'अत्यग्नि' या 'भस्मक' के नाम से भी जाना जाता है। जाठराग्नि की इस अवस्था में पित्त दोष की अधिकता होती है। रोगी के गले, होठों तथा तालु में शुष्कता उत्पन्न हो जाती है। भोजन के पाचन के बाद यह अग्नि गले में शेष और दाह, होठों में शोष और दाह, तालु में जलन और सन्ताप को उत्पन्न करती है।

3. **मन्दाग्नि** :– इस अवस्था में अग्नि बहुत मन्द होती है अतः कम मात्रा में खाये गये सामान्य भोजन को भी ठीक प्रकार से पचा नहीं पाती। इस तरह की जाठराग्नि कफ दोष की अधिकता के कारण होती है। इसके परिणामस्वरूप पेट और सिर में भारीपन, खाँसी, श्वास, मुँह से लार बहना, उल्टी आना, शरीर में कमजोरी आदि विकार उत्पन्न होते है।[2]

4. **समाग्नि :–** इस पकार की जाठराग्नि समय पर और उचित मात्रा में ग्रहण किये गए सारे भोजन का पाचन ठीक प्रकार से कर देती है। चूँकि इस अवस्था में जाठराग्नि में वायु, पित्त और कफ- तीनों दोष अपनी सम अवस्था में होते हैं अतः यह अग्नि समाग्नि कहलाती है। इस समय भोजन के पाचन में किसी प्रकार की अनियमितता नहीं होती।[3]

भूताग्नियाँ :- अग्नियों का यह समूह यकृत में रहता है। पांच महाभूतों के आधार पर, ये अग्नियां भी पांच है – 1. भौमाग्नि 2. आप्याग्नि 3. आग्नेयाग्नि 4. वाय्व्याग्नि 5. आकाशाग्नि।[1] ये अग्नियाँ जाठराग्नि द्वारा खण्ड-खण्ड किये गये खाद्य पदार्थों को शरीर के अनुरूप सजातीय रस में परिवर्तित करती है। इनमें से प्रत्येक अग्नि खाद्य-रस में पाये जाने वाले भूमि, जल आदि महाभूतों में से अपने-अपने महाभूत का पाचन करती है और शरीर के अनुरूप महाभूतों में परिवर्तित कर देती है। इस प्रकार यकृत में विद्यमान अग्नियों की सहायता से भोजन पांच श्रेणियों में

---

[1] विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन् । तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः ॥ च. चि. 15.50

[2] अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः । उच्यते सर्वमेवान्न प्रायो ह्यास्य विदह्यते ॥ च. चि. 15.52

[3] समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते । स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्ने विषमाग्नेस्तु देहिनः ॥ मा.नि. 6.3

[1] भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चमोष्माणः सनाभसाः ॥ च. चि. 15.13

बंट जाता है और शरीर के विभिन्न अंगों में पाये जाने वाले अपने अपने महाभूत में मिलकर उसका पोषण करता है।

धात्वाग्नियाँ :– अग्नियों का यह तीसरे प्रकार का समूह है। जाठाराग्नि और भूताग्नियों की सहायता से पांच भूतों के रूप में परिवर्तित हुआ अन्नरस जब धात्वाशयों में पहुंचता है तो वहां विद्यमान अग्नियां इसका पुनः पाचन करती है। इससे यह अन्न-रस, रस-रक्त आदि धातुओं में बदल जाता है। चूँकि धातुएँ संख्या में सात है, अतः इनकी अग्नियाँ भी सात हैं : 1. रसाग्नि 2. रक्ताग्नि 3. मांसाग्नि 4. मेदोग्नि 5. अस्थि अग्नि 6. मज्जाग्नि और 7. शुक्राग्नि।[1]

9. मल पदार्थ :–

जब स्थूलशरीर में पाचक अग्नि के द्वारा भोजन का पाचन होता है तो भोजन के सार भाग से धातुओं का निर्माण और पोषण होता है, और असार (किट्ट)भाग से मल-पदार्थों का निर्माण होता है। चूँकि ये पदार्थ शरीर को मलिन करते हैं अतः ये मल कहलाते हैं।[2] वायु आदि दोषों से दूषित होने के कारण, इन्हे दूष्य कहा जाता है। स्थूलशरीर के स्वास्थ्य के लिए इन मल-पदार्थों का शरीर से बाहर निकलना बहुत आवश्यक है।

मल पदार्थों में भोजन के असार के अलावा चयापचय क्रिया के बाद ऊतक-कोषों द्वारा निकाले गये व्यर्थ के पदार्थ पाचन क्रिया के दौरान अतिजीर्ण, मृत या निर्जीव हो गयी धातुएं, अत्यधिक बढे हुए वायु, पित्त या कफ दोष तथा स्थूलशरीर के लिए हानिकर एवं व्यर्थ के तत्त्व भी शामिल होते हैं। वैसे मल-पदार्थों का यह स्वभाव ही है कि एक निश्चित मात्रा से अधिक होने पर ये स्वयं ही शरीर से बाहर निकलने के लिए विसर्जक अंगों की ओर गति करने लगते है। पुरीष, मूत्र, पसीना, नाखून, बाल, दाढी-मूंछ, लोम तथा नाक, कान, आंखों, मुख आदि से बाहर निकलने वाले मैल, बलगम आदि सभी मल-पदार्थ है। इनमें मल, मूत्र और स्वेद – ये तीन महत्वपूर्ण मल-पदार्थ हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।[1]

पुरीष : - पुरीष का निर्माण भोजन के असार भाग के साथ-साथ शरीर की ऊतको द्वारा निकाले गये व्यर्थ के तत्त्वों के मेल से होता है। अतः ऊतक कोषों को स्वस्थ रखने के लिए शरीर से पुरीष का बाहर निकलना बहुत

---

[1] सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः । यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥ च. चि. 15.15

[2] मलिनीकरणादाहाअमलल्वान्मला ॥ अ.ह.सू. 1.13

[1] किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः । पित्त मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥ च.चि. 15.18

आवश्यक है। इसका ठीक तरह से विसर्जन न होने पर पेट के रोगों के साथ-साथ कमर दर्द, गृध्रसी, पक्षाघात, लकवा, कास तथा दमा जैसे रोग उत्पन्न हो जाते है। यही कारण है कि इन सभी रोगों की आयुर्वेदिक चिकित्सा में रोगी को सबसे पहले पेट साफ करने की औषधि दी जाती है। इसके अतिरिक्त मल का विसर्जन ठीक प्रकार से न होने पर, आंतों में अनेक प्रकार के कीड़ों के पनपने के लिए अनुकूल वातावरण मिल जाता है। ये कीड़े शरीर को स्वयं भी हानि पहुंचाते है और अनेक बार ये शरीर के लिए लाभकारी जीवाणुओं की वृद्धि भी रोक देते हैं । इससे मनुष्य इन जीवाणुओं से होने वाले लाभ से वंचित रह जाता है। अतः शरीर से इस मल का ठीक प्रकार से त्याग होना स्वास्थ्य के लिए जरूरी है।[1]

मूत्र :– मूत्र आहार के असार भाग का तरल अंश होता है। मूत्र के माध्यम से भी स्थूलशरीर के व्यर्थ के पदार्थ बाहर निकलते है। यह शरीर की आवश्यकता से अधिक आर्द्रता को कम करता है तथा बस्ति को आर्द्र और भरा रखता है।[2] स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए गर्मी और सर्दी, दोनो ऋतुओं में ही अधिक मात्रा में जल पीने पर बल दिया गया है ताकि व्यक्ति दिन में कम से कम छः बार मूत्र का त्याग अवश्य कर सके और इसके साथ हानिकारक पदार्थ भी शरीर से बाहर निकल जाएं। किन्तु बहुत अधिक मूत्र आना भी एक प्रकार का रोग है। मूत्र की अधिकता होने पर बस्ति में दर्द, भारीपन और बैचेनी, अधिक मात्रा में मूत्र आना, मूत्र जा बार-बार वेग और बस्ति में अफारा हो जाता है। मूत्र के वेग को रोकने और मूत्र का वेग होने पर जल पीने से भी ये लक्षण प्रकट होते है।[3] मूत्र की मात्रा कम होने से बस्ति-प्रदेश में चुभन-सी पीड़ा, कम मात्रा में मूत्र-त्यागते समय दर्द, मूत्र का रंग बदल जाना या रक्तमिश्रित मूत्र, अधिक प्यास एवं मुँह सूखना- ये लक्षण दिखाई देते है।[1] गन्ने का रस, तरल पदार्थों तथा मधुर, अम्ल व लवण रस वाले पदार्थों का सेवन करने से मूत्र की मात्रा में वृद्धि होती है।[2]

---

[1] पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च । सु.सू. 15.15

[2] आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः । शोराभिस्तज्जंल नीतं वस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात् ॥ शा.पू.6.6

[3] मूत्रं मूत्रवृद्धिं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं बस्ततोदयमाध्मानं च ॥ सु.सू. 15.20

[1] मूत्रक्षये बस्ततोदोल्पमूत्रता च ॥ सु.सू. 15.15

[2] अत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्याणि प्रतीकारः । सु.सू. 15.15

स्वेद या पसीना :– त्वचा को स्वस्थ रखने के लिए पसीने का बाहर निकलना भी बहुत आवश्यक है क्योंकि इसके माध्यम से भी बहुत से व्यर्थ के पदार्थों का शरीर से निष्कासन होता है। स्वेद भी महत्वपूर्ण मल-पदार्थ है।[1] पसीने की सहायता से ही त्वचा शरीर के तापमान को नियन्त्रण में रखती है और गर्मी व सर्दी, दोनों ऋतुओं में शरीर का तापमान एक-सा बना रखता है। अधिक, श्रम, व्यायाम या गर्मी के कारण पसीना अधिक आता है। आवश्यकता से अधिक मात्रा में पसीना आने पर त्वचा में दुर्गन्ध एवं खुजली होने लगती है।[2] और कम मात्रा में पसीना आने से रोमकूपों में रूकावट, त्वचा में रूखापन व त्वचा का फटना, स्पर्श का ठीक ज्ञान न होना, एवं रोम गिरना- ये लक्षण दिखाइ देते हैं।[3] मालिश, व्यायाम, वायु से रहित स्थान में निवास, स्वेदन या उष्ण द्रव्यों से सेक, मधु और स्वेदज द्रव्यों के सेवन से स्वेद की मात्रा को बढाया जा सकता है।[4]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि व्यर्थ होते हुए भी ये मल-पदार्थ किसी न किसी रूप में स्थूलशरीर को धारण करते है। तथ्य यह है कि इन मलों के एकत्र होने से इनकी मात्रा में अधिक वृद्धि होने लगती है, जबकि अधिक विसर्जन से इनका क्षय होने लगता है। यद्यपि इन मलों की अतिवृद्धि और क्षय होना- ये दोनों ही अवस्थाएं हानिकारक है, तथापि वृद्धि की अपेक्षा इनका क्षय अधिक हानिकारक है क्योंकि मात्रा में कमी होने से ये शरीर को धारण करने का कार्य सम्पन्न नहीं कर पाते । वैसे तो मल-मूत्र आदि मल-पदाथों में स्वभावतः ही दुर्गन्ध पाई जाती है, परन्तु यह दुर्गन्ध यदि असह्य हो तो समझना चाहिए कि कोई न कोई रोग है, जिसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

10. इन्द्रिय-विवेचन :-

आयुर्वेद में इन्द्रियां 'शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोग' रुप जीव (पुरुष) का दूसरा जैविक पक्ष है। इन्द्रियां ही बाह्य जगत से व्यवहार करने की क्षमता को उत्पन्न करती है वस्तुतः इंद्रियां के द्वारा बाह्य जगत् की अनुभूति अंदर प्रवेश करती है और तदनुरुप आवश्कतानुसार जीव द्वारा बाह्य वातावरण को प्रभावित करने की प्रकिया भी इंद्रियों के द्वारा ही

---

[1] मलः स्वेदस्तु मेदसः । च.चि. 15.18 स्वेदवहानां स्त्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपश्च ॥ च.वि.5.8

[2] स्वेदस्त्वचो दौर्गन्ध्यं कण्डूं च । सू.सू. 15.20

[3] स्वेदक्षये स्तब्ध रोमकूपता त्वक्शोषः स्वर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च । तत्राभ्यङ्गः स्वेदोपयोगश्च ॥ सु.सू 15.15

[4] व्यायामादतिसंतापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात् । स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा ॥ च.वि. 5.22

सम्पन्न होती है। शरीर में इंद्रियों के दो वर्ग हैं। एक के द्वारा जीव बाह्य जगत की अनुभूति को प्राप्त करता है उन्हें ज्ञानेन्द्रियां कहते हैं। इन्द्रियों के दूसरे वर्ग के द्वारा जीव बाह्य जगत को प्रभावति करता है उन्हें कर्मेन्द्रियां कहते हैं। कर्मेंद्रियां पांच हैं- वाणी ,उपस्थ ,पायु ,पैर ,हस्त ।

आधुनिक विज्ञान चेष्टाव्यापार के साधन रुप कर्मेन्द्रियों को इंद्रियां नहीं मानते वे केवल ज्ञान व्यापार के साधन रुप ज्ञानेन्द्रियों को ही ही इंद्रिय मानते हैं परन्तु आयुर्वेदशास्त्र में कर्मेन्द्रियों को भी इंद्रिय का दर्जा दिया जाता है क्योंकि आत्मा के लक्षणों में ज्ञान तथा चेष्टा दोनों एक से महत्वपूर्ण हैं और इंद्रिय आत्मा के ही क्रियाओं का द्योतक है । इसलिए ज्ञान के साधन रुप चक्षुसादि ज्ञानेन्द्रियां तथा चेष्टाव्यापार के साधनरुप हस्त पादादि कर्मेन्द्रियां ये दोनों ही इन्द्रिय वर्ग में रखे जाते हैं। कर्मेन्द्रियों के कार्य क्रमश आदानआनन्द और वचन है। ,विसर्ग ,विहरण ,[1]

सांख्य दर्शन में सृष्ट्युत्पति की दृष्टि से इंद्रियों को अहंकारिक स्वीकार किया गया है अर्थात् इंद्रियां अहंकार से उत्पन्न हुई हैं। अर्थात् इंद्रियों की सत्ता में मनुष्य की देखनेसुनने आदि अहंकार रुप ,सूंघने , आंतरिक इच्छाएं ही कारण हैं। इसके विपरीत आर्युवेद को इंद्रियों को अंहकारिक न मानकर भौतिक मानते हैं।[2] आयुर्वेद चिकित्साशास्त्र होने से यहाँ पर इंद्रियों को केवल अहंकारिक नहीं स्वीकार किया जा सकता। क्योंकि उनको भौतिक मानने से चिकित्सोपयोगी बनाया जा सकता है। अतः तात्त्विक दृष्टि से इंद्रियों को अंहकारिक मानते हुए भी चिकित्सा की दृष्टि से उन्हें भौतिक मानना ही उचित है ।

आयुर्वेद के अनुसार प्रत्येक इंद्रिय का विकास त्वचा से होता है।[3] त्वचा ही वास्तविक इंद्रिय है क्योंकि यही सभी इंद्रियों में व्याप्त रहते हुए चित्त से जुङी रहती है।[4] इस प्रकार मूल रुप से इंद्रियां एक हैं और पांच भौतिक हैं। बाह्य जगत की उत्तेजना से ये अनेक हो गई हैं और विकसित रुप में जिस इंद्रिय में जिस महाभूत की अधिकता होती है वही उसी के गुण को ग्रहण करती है। चरक ने पांच इंद्रियां इंद्रिय पांच ,अधिष्ठान इंद्रिय पांच ,महाभूत अर्थात् द्रव्य इंद्रिय पांच , हैं। गए बताए विशष्ट इंद्रिय या बुद्धि इंद्रिय पांच तथा विषय[5] इन्द्रियाँ मन के साथ संयोग से ही इन्द्रियार्थों का ग्रहण करती है|[1] अतः इन्द्रियों की प्रसन्नता भी स्वास्थ्य संकल्पना का अभिन्न अंग है क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा पुरुष बाह्य जगत से सम्बद्ध होता है।

---

[1] वचनादानानन्द विसर्ग विहरणानि ॥ सु. शा. 1.5

[2] भौतिकानि चेन्द्रियाणि आयुर्वेदे वर्ण्यन्ते || सु.शा. 1.14

[3] इन्द्रियेणेन्द्रियार्थोहिसमस्केन गृह्यते॥ च.शा. 1/22

[4] तत्रैकं स्पर्शनैन्द्रियामिन्द्रयाणामिन्द्रिय व्यापकं चेतः समवायि | च.शा. 21.38

[5] इह खलु पंचेन्द्रियाणि, पंचेन्द्रियद्रव्याणि, पंचेन्द्रियाधिष्ठानानि, पंचेन्द्रियार्थाः, पंचेन्द्रिय बुद्ध्यो भवन्तीत्युक्तमिन्द्रियाधिकारे। च.सू.8/2

[1] इन्द्रियेणेन्द्रियार्थोहिसमस्केन गृह्यते॥ च.शा. 1/22

11. शरीर की प्रवृत्तियाँ एवं त्रिगुणसिद्धान्त :-

आयुर्वेद व सांख्य दर्शन में त्रिगुणों को द्रव्यत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। जिसे सुश्रुत ने स्पष्टतया सुश्रुत संहिता में उल्लेखित किया है कि त्रिगुण ही पंचमहाभूतों का संघठन है। उसके अनुसार आकाशमहाभूत में प्रकाशकत्व गुण की विद्यमानता के कारण वह सत्त्व गुण की प्रधानता रखता है। वायु चाञ्चल्य प्रकृति के कारण रजोगुणाधिक्य वाला है। अग्नि या तेज प्रकाशक तथा चञ्चल होने से सत्त्व और रजोगुण वाला है। जल स्वच्छ व प्रकाशक होने से तथा गुरुत्व व आच्छादन करने वाला होने से सत्त्व-तमस् प्रकृति वाला है। पृथ्वी अत्यन्त आवरण वाली होने से तमस् गुण बाहुल्य वाली है।[1] पञ्च-महाभूतों का इस प्रकार का त्रिगुणात्मक संगठन, गुणों के दार्शनिक व भौतिक पक्ष का न केवल विज्ञान के क्षेत्र में अपितु औषधिविज्ञान व सृष्टिविज्ञान के क्षेत्र में भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यवहारिक पहलू बनाता है। क्योकि सम्पूर्ण विश्व की प्रत्येक जड़ व चेतन वस्तु, पेड़-पोधे , जीवजंतु-, मनुष्यादि सम्पूर्ण जगत इन्हीं पंचमहाभूतों व त्रिगुणों के परस्पर न्यूनाधिक मात्रा में संयोग से निर्मित है। इस प्रकार आयुर्वेद भी त्रिगुणों को मूलकारण प्रकृति के रूप में स्वीकार करता है, किन्तु ये त्रिगुण साधारण गुण न होकर प्रकृति के आधार हैं तथा पंचमहाभूतों के अभिन्न घटक हैं। अतः सुश्रुत ने सम्पूर्ण विकास को अव्यक्तजनित त्रिगुणात्मक माना है, क्योंकि सुश्रुत कारण-कार्य सिद्धांत के आधार पर विकास की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं, जिसके अनुसार कार्य सदैव कारण के अनुसार होता है।

अतः मूल त्रिगुणात्मक प्रकृतिजनित सभी विकार भी त्रिगुणात्मक है।[2] सूक्ष्मशरीर की प्रवृत्तियां त्रिगुणात्मक हैं। सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है।[3] ये क्रमशः सुख, दुःख एवं मोह स्वरूप हैं। सत्वगुण लघु एवं प्रकाशक है, रजोगुण उत्तेजक एवं चल और तमोगुण अवरोधक है। सत्वगुण एवं त्तमोगुण स्वभाव से निष्क्रिय हैं परन्तु रजोगुण की चञ्चलता के ही कारण इनमें क्रियाशीलता होती है। त्रिवर्ण के आधार पर त्रिगुण का वर्णन तैत्तरीय आरण्यक में उपलब्ध होता है। इस स्थल पर प्रकृति का स्वरूप लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण वर्ण के रूप में चित्रित किया गया है। सत्वगुण के लघु एवं प्रकाशक होने के कारण इसका वर्ण श्वेत है। रजोगुण उपष्टम्भक एवं चल

---

[1] तत्र सत्त्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलोवायुः, सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः, सत्त्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति॥ सु. सं 3.1.27

[2] सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्यजगतः सम्भवहेतुरव्यक्तंनाम । तदेकंबहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानंसमुद्र इवौदकानां भावानाम्॥ सु. सं 3.1.3

[3] . तत्त्वकौ०,3, गरुडपु०, 227.16, भा० पू०, सृ० 4.

है, यह क्रिया का प्रवर्तक है इस कारण इसका वर्ण रक्त या लोहित निर्दिष्ट है। तमोगुण आवरण या अवरोधक का कार्या करता है इस कारण इसको कृष्ण वर्ण के रूप में उपन्यस्त किया गया है।[1] इस प्रसंग को श्वेताश्वतरोपनिषद् ने आनुपूर्वी उद्धृत किया है।[2] छान्दोग्योपनिषद् द्वारा वर्णित गुणों के शुक्ल, कृष्ण एवं लोहित रूप के वर्णन में कुछ भिन्नता है। इस स्थल पर अग्नि का का वर्ण लोहित जल का वर्ण शुक्ल और अन्न का वर्ण कृष्ण कहा गया है।

शङ्कराचार्य ने श्वेताश्वरोपनिषद् के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि लोहित, शुक्ल, कृष्णस्वरूपा अजा से त्रिगुणमयी प्रकृति न होकर छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ अध्याय में वर्णित पृथ्वी, अप और तेज- ये तीन सूक्ष्मभूत लिये गये हैं। उनमें पृथ्वी का कृष्ण वर्ण,अप का शुक्ल वर्ण और तेज का लोहित वर्ण कहा गया है।[3] किन्तु माधवाचार्य का कथन है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् के लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण पद क्रमशः रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों का प्रतिपादन करते हैं।[4] क्योंकि इन शब्दों से क्रमशः रंगनेवाले, प्रकाशित करनेवाले तथा आवृत करने वाले धर्मों की समानता है। चरकसंहिता में यद्यपि 'जो सम्बन्ध वाला हो, चेष्टारहित हो और ग्रहण में कारण हो उसे गुण कहते हैं' ये गुण की परिभाषा दी गई है परन्तु इन गुणों का सांख्यीय गुण से कोई सम्बन्ध नहीं है।[5] किन्तु अष्टाङ्गसंग्रह में इन्हें महागुणों की संज्ञा दी गई है।[6]

सत्वगुण :- त्रिगुणात्मक प्रकृति का प्रथम गुण सत्व है। व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार सत्व शब्द 'सत्' से निष्पन्न है अर्थात सत् वह है जो यथार्थ अथवा विद्यमान है। गौण अर्थों में 'सत्' का अर्थ पूर्णता भी है और इस प्रकार 'सत्व' वह तत्त्व है जो सौजन्य एवं सुख को उत्पन्न करता है।[1] सत्वगुण रजस् के पूर्व विद्यमान रहता है।[2] यास्क के निरुक्त में सत्व, रजस् एवं तमस् पद प्रयुक्त है किन्तु सत्व का व्याख्यान सांख्य प्रस्थानीय न होकर कुछ भिन्न ही है वहाँ 'जिसमें

---

[1] . अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः जनयन्ती सरूपाम्।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ (तैत्ति० आ०, 10.10.5.

[2] श्वेताश्वतरोपनिषद् 4.5

[3] . यदग्ने रोहति रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्। (छा० उ०, 6.4.1).

[4] श्वेताश्वतरोपनिषद् 4.5

[5] च. सू० 1.51

[6] . सत्वं रजस्तमश्चेति त्रयः प्रोक्ता महागुणाः। (अ० सं०, सूत्र 1.41),

[1] . भा० द०, खण्ड 2, पृष्ठ 261.

[2] . रजसः परस्ताद्वर्तमानः सात्विकः (तैत्ति० ब्रा०, 3.7.7.13).

सत्ता पाई जाती है वह सत्व है'-ये वर्णन उपलब्ध होता है किन्तु रजस् एवं तमस् की व्याख्या सांख्यशास्त्र के अनुरूप प्रतीत होती है।[1] महाभारत में सत्त्व शब्द अव्यक्त के लिए प्रयुक्त है।[2] बुध्दचरित में प्रकृति,विकार, जन्म, मरण, एवं जरा को सत्व की संज्ञा दी गई है।[3]

सत्त्वगुण का स्वरूप :-सत्वगुण लघु एवं प्रकाशक होता है। यह प्रीतियुक्त क्लेशरहित एवं प्रकाशमान है।[4] सत्वगुण लघु होने के कारण वस्तुओं के उर्ध्वगमन का कारण बनता है। इसी गुण के कारण अग्नि की ज्वालाएं ऊपर उठती हैं। वायु में तिर्यग्गमन एवं इन्द्रियों की शीघ्रकारिता का कारण भी यही लघुता है अन्यथा गुरू होने पर वे अपने विषय-प्रकाशन कार्य में शीघ्र समर्थ नहीं होगी।[5] सत्वगुण सुख की अनुभूति कराने वाला है इसी गुण के कारण शरीर या मन में प्रीति का भाव उदय होता है।[6] महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में इसे वैकारिक हेतु कहा गया है क्योंकि इन्द्रियोम् की उत्पत्ति का कारण है। यहॉ सत्वगुण को मुख्य धर्म (परो धर्मः) कहा गया है क्योंकि इन्द्रियों और विषयों को प्रकाशित करता है। इसी पर्व में सत्वगुण का स्वरूप –सब भूतों में प्रकाश लघुता (गर्वहीनता) और श्रध्दा के रूप में वर्णित है।[7] श्रीमद्भगवद्गीता में सत्वगुण को प्रकाशक निर्विकार, एवं सुखात्मक कहा गया है।[8] सत्वगुण की वृध्दि से देह आदि में ज्ञान और बोधशक्ति उत्पन्न होती है।[9] भागवतपुराण में सत्त्वगुण का स्वरूप प्रकाशमान (भास्वर), स्वच्छ (विशद) एवं शान्त (शिव) के रूप में वर्णित है।[1] चित्त की प्रसन्नता, इन्द्रियशान्ति, देह की निर्भयता (देहेऽभय) मन की अनाशक्ति (मनोऽसर्ग) आदि सत्वगुण के ही कारण होते हैं।[2]

---

[1] . अस्तीत्युत्पन्नस्य सत्वस्यावधारणम्। (यास्कनि०, 1.2).

[2]. अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्वं तथेश्वरः। (महा०, शान्ति०, 306.41).

[3] . प्रकृतिश्च विकारश्च जन्ममृत्युर्जरैव च।
तत्तावत्सत्वमित्युक्तं स्थिरसत्वं परेहि नत्॥ (बुध्दच०,12.17).

[4] . मनु०,12.27.

[5] . तत्वकौ०, 13.

[6] . महा०, शान्ति०, 219.30-31.

[7] आश्वमेधिक पर्व 39.9

[8] श्रीमद्भगवद्गीता,14.6

[9] श्रीमद्भगवद्गीता,14.11

[1] . यदेतरो जयेत् सत्वं भास्वरं विशदं शिवम्।
तदा सुखेन युज्यते धर्मज्ञानादिभिः पुमान्॥ (भा० पु०,11.25.13).

[2] भागवतपुराण 11.25.16

सत्त्वगुण का लक्षण (कार्य) :- वस्तु का ज्ञान सत्वगुण के कारण ही होता है।[1] वेदों का अभ्यास, तप, ज्ञान,शुचि (शौच), इन्द्रियनिग्रह, धर्मकार्य, आत्मचिन्ता[2] और धर्म सत्वगुण के लक्षण हैं[3] जो सभी वस्तुओं के द्वारा प्रत्येक वस्तु को जानना चाहता है तथा जिसके आचरण या पालन करने से उसको लज्जा की अनुभूति नहीं होती, जिसके पालन से उसकी आत्मा तुष्ट होती है वही सत्वगुण का लक्षण है।[4] सत्वगुण में स्थित हुआ (पुरुष) शुध्द सात्विक भावों को भी देखता और उन्हीं का आश्रय लेता है। वह अत्यन्त निर्मल और कान्तिमान् होता है एवं उसमें श्रध्दा और विद्या की प्रधानता होती है।[5]

सात्विक पुरुषों में वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धर्मक्रिया, आत्मचिन्ता,[6] आनन्द उद्रेक, प्रीति,प्राकाश्य, सुख, शुद्धि, आरोग्य, सन्तोष, श्रद्धा, अकार्पण्य,असरम्भ, क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य,आनृण्य, मार्दव, लज्जा, अचञ्चलता, आर्जव, आचार, अलोलुपता, हृदय का असम्भ्रम, इष्ट-अनिष्टवियोग, कृतकार्य के प्रति अविक्त्थन (डींग न हॉकना),दान द्वारा आत्मग्रहण, स्पृहा का अभाव, परार्थता (परोपकार), सर्वभूतदया,[7] अक्रोध अनसूया, दाक्ष्य (चतुरता), प्रराक्रम, विश्वास, तितिक्षा, त्याग, अतन्द्रिता, आनृशंस, असम्मोह, दया, अपैशुन्य, हर्ष, तुष्टि, विस्मय, विनय, धातुवृत्ति, शान्तिकर्म में शुद्ध प्रवृत्ति, शुभ बुद्धि, विमोचन, उपेक्षा, ब्रह्मचर्य, सर्वपरित्याग, निर्ममत्व, अनासक्तित्व,[1] शम, दम, स्मृति, दान[2] आदि लक्षण पाये जाते हैं। चरकसंहिता में इसप्रकार के लक्षणों का वर्णन नहीं उपलब्ध है किन्तु आयुर्वेद की अन्य संहिताओं में आनृशस्य, संविभागरुचिता (अन्न वस्त्र का संयग वितरण), तितिक्षा, धर्म, आस्तिकता बुद्धि, मेधा, स्मृति, अनभिषग (निरिच्छापूर्वक अच्छे कर्मों का करना)[3]

---

[1] . मनु०, 12.26.

[2] . वहीं,12.31

[3] . सत्वस्य लक्षणं धर्मः (मनु०,12.38).

[4] . यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्।
येन तुष्यतिः चात्मास्य तत्सत्वगुणलक्षणम्॥ (मनु०,12.37).

[5] . महा०, शान्ति०, 112.33.

[6] . मनु०,12.31.

[7] . महा०, शान्ति०, 313.17-20.

[1] . महा०, आश्व०,38.2-8.

[2] . भा० पु०, 11.25.2.

[3] . सात्विकास्तु आनृशंस्य संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिमेधास्मृतिर्धृतिरनभिषगश्च। (सु०,शा०,1.23).

आस्तिक्य, छलरहित धर्म में भक्ति (शुक्ल धर्मरुचि), सद्बुद्धि,[1] भक्ष्याभक्ष्य का विचार कर भोजन करना (प्रविभज्य भोजन), तथ्यवचन, करूणा, निर्दम्भता, आनन्दित तथा स्पृहा से रहित कर्म, विनय आदि लक्षण सम्मिलित है ।[2] तीनों ही गुण प्रकृति के सारभूत तत्व हैं । संसार की सभी वस्तुएं इन तीन गुणों से मिलकर बनी है सभी वस्तुओं में तीनों गुणों की उपस्थिति रहती है। जिसमें जिस गुण की प्रधानत रहती है उसमें उसी रूप में वह अभिव्यक्त होता है, अन्य गुण उसमें गौण रूप में रहते हैं। प्रकृति के संसर्गवश आत्मा सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से युक्त हो जाता है तथा अज्ञानि का संग करने से उन्हीं की भॉति अपने को शरिरस्थ समझने के कारण वह उन-उन सात्त्विक, राजस और तामस योनियों में जन्म ग्रहण करता है।[3] जिन पुरुषों में सत्वगुण की प्रधानता है उन्हें सात्विक पुरूष कहते हैं।

मनुस्मृति के अनुसार सात्त्विक पुरूष देवत्व को प्राप्त करते हैं।[4] कर्म, विद्या आदि की विशेषता से जघन्य (अधम), मध्यम तथा उत्तम के भेद से तीन अप्रधान गतियॉ भी होती हैं।[5] ये श्रेणियां उत्तम, मध्यम और जघन्य सात्विक गुणों की प्रधानता के कारण ही प्रतिपादित हैं यद्यपि अन्य गुण भी इनमें गौण रूप में रहते हैं। तपस्वी, यति, ब्राह्मण, वैमानिक गण (पुष्पकादि देव विमानों से गमन करने वाले देवगण), नक्षत्र, दैत्य आदि जघन्य (प्रथम) सात्विक गतियां[6], यज्वा (विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान करने वाला), ऋषि, देव, वेद, ज्योतिवर्ष, पितर और साध्य (देवयोनिविशेष) आदि मध्यम (द्वितीय) सात्विक गतियां[1] और ब्रह्मा, विश्व, स्त्रष्टा, धर्म, महान और अव्यक्त ये उत्तम सात्त्विक गतियां हैं।[2]

सुख के भागी सात्विक देवलोक को प्रस्थान करते हैं और केवल पुण्य से प्राणी देवयोनि को प्राप्त करते हैं।[3] सत्त्वगुण सम्पन्न महात्मा देवताओं की भांति मन की ईशित्व, वशित्व एवं लघुत्व इन तीन मानसिक (सिद्धियों) को

---

[1] . अ० ह्र०, शा० 3.7.

[2] . भा० पू० सू०, 7.

[3] . महा०, शान्ति०, 302.43.

[4] मनुस्मृति 12.40

[5] मनुस्मृति 12.41

[6] मनुस्मृति 12.48

[1] मनुस्मृति 12.48

[2] मनुस्मृति 12.50

[3] . पूण्येनैकेन देवता: । (महा०, शान्ति०, 302.47,48.)

प्राप्त करते हैं। वे उर्ध्वस्त्रोता और वैकारिक देवता माने गये हैं।[1] स्वर्ग को प्राप्त होने पर वे उन-उन भोग जनित संस्कारों से विकृत होते हैं। उस समय वे जिस वस्तु की इच्छा करते हैं उस वस्तु की प्राप्ति करते हैं।[2] इसी कारण जो इन गुणों को जानता है वह सदा गुणों को भोगता है किन्तु उनसे बधता नही है।[3] सत्व गुण कि वृद्धि से मृत्यु को प्राप्त होने पर उत्तम कर्म करने वालों को मल रहित (दिव्यस्वर्गादि) लोकों की प्राप्ति होती है क्योंकि सात्विक कर्म का तो सात्विक अर्थात् सुख ज्ञान और वैराग्यादि (निर्मल) फ़ल कहा गया है।[4] सात्विक सत्व गुण की वृद्धि से ज्ञान की उत्पत्ति[5] और धर्म[6] की प्राप्ति होती है इसलिए सत्व गुण में स्थित हुए लोगों को स्वर्गादि उच्च लोक[7] एवं देवत्व[8] की प्राप्ति होती है। सत्व गुण जागृतावस्था है, इसलिए ब्राह्मण लोग सत्व गुण के द्वारा उत्तरोत्तर ऊपर के लोकों में जाते हैं।[9]

चरक ने बताया है कि- दशविध आतुर परीक्षाओं में तृतीय, सार परिक्षा है। पुरुष के बल का प्रमाण जानने के लिये आठ प्रकार के सार वर्णित हैं, जो क्रमश: त्वक् सार, रक्तसार, मांससार, भेद:सार, अस्थिसार, मज्जसार, वीर्यसार एवं सत्त्वसार हैं।[1] सत्वसार वाले पुरुष स्मरण शक्तियुक्त, भक्तिसम्पन्न, कृतज्ञ, बुद्धिमान, पवित्र, अधिक उत्साह वाले, चतुर और धीर होते हैं। समर में पराक्रम पूर्वक युद्ध करते हैं। उनके शरीर विषाद विल्कुल नहीं होता। उनकी गतियां स्थिर होती हैं। बुद्धि और चेष्ठाएं गम्भीर होती हैं। वे निरन्तर कल्याण करने वाले विषयों में अपने मन एवं बुद्धि को लगाये रहते हैं।[2] सुश्रुत भी सत्वसार पुरुष का इसी प्रकार निरूपण करते हैं।[3]

---

[1] . ईशित्वं च वशित्वं च लघुत्वं मनसश्च ते।
विकुर्वते महात्मानो देवास्त्रिदिवगा इव॥ (महा०, आश्व०, 38.12.).

[2] . महा०, आश्व०, 38.13.

[3] . महा०, आश्व०, 38,15.

[4] . गीता, 14.14,16.

[5] . गीता, 14.17.

[6] . भा०, पु०. 11.13.2.

[7] . गीता, 14.18.

[8] . भा०, पु०, 11.25.19.

[9] . सत्वाञ्जागरणं विद्याद्...। (भा०, पु०, 11.25.20,21).

[1] च० वि०, 8.102-116

[2] . च० वि०, 8.110.

[3] च.सू०,35.37,38

चरक सत्त्व द्वारा आतुर-परीक्षा का निर्देश करता हुआ कहता है कि सत्व ही मन है।[1] यह सत्त्व आत्मा के संयोग से शरीर का नियमन करने वाला है। यह बल भेद से तीन प्रकार का होता है- प्रवर (श्रेष्ठ), मध्यम एवं अवर (हीन)। इस प्रकार पुरुष भी प्रवर, मध्यम एवं अवर सत्त्व वाले होते हैं। सत्वसार वाले मनुष्य छोटे शरीर वाले होने पर भी सत्व गुण की अधिकता से निज (वातादिदोष) और आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने वाली बड़ी से बड़ी विपत्तियों में भी नहीं घबराते। सुश्रुत में भी सत्त्व के तीन प्रकार के बलों का निर्देश किया है। दुःख (व्यसन), सुख (अभ्युदय) में कार्यभ्रम आदि तथा शल्यक्रिया में छेदन-भेदन के अवसर पर ग्लानि या हर्ष का उत्पन्न न होना सत्व बल है। यह सात्विक, राजस एवं तामस भेद से तीन प्रकार का है। जो मनुष्य अपने मन को स्वयं दृढ़ बनाकर सबकुछ सहन करता है वह सात्विक बल वाल है। जो दूसरे मनुष्यों से दृढ़ किया जाता है वह राजस बल वाला है और जो किसी प्रकार दृढ़ नहीं होता एवं धैर्य धारण करता वह तामसिक सत्व वाला व्यक्ति होता है।[2]

रजस् गुण :-रजस् शब्द का प्रयोग तैत्तिरीय ब्राह्मण में हुआ है।[3] रज पद रञ्ज रागे धातु से बना है। जो अनुराग उत्पन्न कर दे या बन्धन में ला दे वह रज है। रजोगुण सत्व और तम दोनों को बाँध देता है इसलिए उसका अन्वर्थ नाम है।[4] विभिन्न वाङ्मय में रज पद जल, रुधिर, दिन[5], लोक[6] एवं धूलकण[7] के लिए प्रयुक्त है।

रजस् गुण का स्वरूप :- सांख्यकारिका में रजोगुण को चञ्चल तथा उपष्टम्भक (उत्तेजक) कहा गया है।[1] रजोगुण क्रिया का प्रवर्तक है। यह स्वयं भी चल होता है। और अन्य वस्तु को भी चलायमान करता है। रजोगुण के कारण ही वायु प्रवाहित होती है और इन्द्रियाँ विषयों की ओर दौड़ती हैं। चञ्चल के साथ-साथ यह उत्तेजक भी होता है। सत्व एवं तमस् स्वयं प्रवृत्तिशील नहीं होते अतः ये अपने प्रकाशन तथा नियमन कार्य में रजोगुण के द्वारा उत्तेजित किए जाते हैं। इस प्रकार सत्व तथा तमस् रजोगुण के कारण ही प्रवृत्त होते हैं।[2] रजोगुण अप्रीत्यात्मक होने से

---

[1] चरक वि०,8.119

[2] सु० सू०,35.37-38

[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.7.7.13

[4] . अमर०,1.4.98, 2.6.21, 2.8.98.

[5] . यास्कानि०,4.19.

[6] . यास्कानि०,4.19, बृह० उ०,5.14.3.

[7] . बृह० उ०,6.3.6.

[1] सांख्यकारिका 13

[2] . तत्त्वकौ०,13.

दुःखात्मक होता है।[1] इसी गुण के कारण मन में दुःख से युक्त अप्रसन्नता (अप्रीतिकारक) का भाव जागृत होता है। [2] मुझे यह वस्तु मिल जाय, वह वस्तु मिल जाय इस प्रकार विषयों को पाने के लिए आसक्तिमूलक उत्कण्ठा रजोगुण के कारण होती है।[3] रजोगुण कर्म में प्रवृत्त होता है। [4] इसी गुण के कारण रागरूप कामना (तृष्णा) और आसक्ति की उत्पत्ति होती है।[5]

रजोगुण का लक्षण :-मनु के अनुसार रजोगुण अर्थलक्षणात्मक है।[6] महाभारत में रजोगुण को प्रकृतिरूप बतलाया गया है यह सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है। सम्पूर्ण भूतों में इसकी प्रवृत्ति देखी जाती है। यह दृश्य जगत् उसी का स्वरूप है। इस कारण उत्पत्ति या प्रवृत्ति ही उसका लक्षण है।[7] आरम्भ किये गये कार्य में रुचि होना, अधैर्य, शास्त्रवर्जित कर्म का आचरण तथा विषयों में आसक्ति रजस् गुण के लक्षण हैं।[8] रजस् गुण से युक्त मनुष्य में जिस काम में अधिक प्रसिद्धि को चाहता है उस काम में असफल होने पर शोक नहीं करता।[9] रजस् गुण से युक्त पुरुष में रूप, ऐश्वर, विग्रह, अत्याग, अकारुण्य, सुख-दुःख सेवन, परनिन्दा में प्रीति, वाद-विवाद, अङ्कार, असत्कार, चिन्ता, वैरभाव रखना, परिताप, अभिहरण, निर्लज्जता, अनार्जव, भेदबुद्धि, परुषता, काम, क्रोध, मद, दर्प, द्वेष, अतिवाद,[1] आयास, हिम, आतप, सन्धि, हेतुवाद, अरति, क्षमा, बल, शौर्य, रोष, ईर्ष्या, ईप्सा, व्यायाम एवं कला में रोष, पिशुनता, युद्ध ममत्व, परिपालन, बध, बन्धन, क्लेश, क्रय-विक्रय, छेदन-भेदन, विदाहरण, दूसरे के मर्म का बेधन, दारुण, आक्रोश, अनुचिन्ता (पश्चात्तप), मत्सर (छल), मृषावाद, मृषादान, विकल्प, निन्दा, स्तुति, प्रशंसा, प्रस्ताव,

---

[1] . सां० का०,13, मनु० 12.48.

[2] . महा० शान्ति०,194.32.

[3] . महा० आश्व०,37.11.

[4] . ...रजः कर्माणि । (गीता, 14.9).

[5] गीता, 14.7

[6] . रजसस्त्वर्थ उच्यते...। (मनु०,12.38)

[7] . प्रकृत्यात्मकमेवाहू रजः पर्याकारकम्।
प्रवृत्तं सर्व भूतेषु दृश्यमुत्पत्तिलक्षणम्। (महा०, आश्व०, 36.9).

[8] . आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यं परिग्रहः।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम्॥ (मनु०, 12.38).

[9] . मनु० , 12.36.

[1] . महा०, शान्ति०,313.21-24.

पराधर्षण, परिचर्या, अनुशुश्रूषा, सेवा, तृष्णा, आश्रय, व्यूहोनय (व्यवहार कुशलता), प्रमाद, परिवाद, परिग्रह, सन्ताप, अप्रत्यय, अविश्वास, व्रत, नियम, काम्यकर्म, पूतकर्म (वापी, कूप, तडाग आदि पुण्य), स्वाहाकार, नमस्कार, स्वधाकार, वषट्क्रिया, याजन, अध्यापन, यजन, अध्ययन, अभिद्रोह, माया, निकृतिमान, शठता, स्तैय, हिंसा, जुगुप्सा, प्रजागरण, दम्भ, राग, भक्ति, प्रीति, प्रमोद, द्यूत, जनवाद, स्त्रीरति, नृत्य-वाद एवं गीत में अनुराग,[1] लोभ, भय, क्लान्ति, मान, अनार्यता,[2] असन्तोष, अक्षमा,[3] उद्दण्डता (स्तम्भ),[4] ईहा, उत्साह, यश, प्रीति, हास्य, वीर्य (पुरुषार्थ), बलपूर्वक उद्योग,[5] क्रिया से विकृति, अधीरता, निर्वृत्ति, शरीर की अस्वस्थता, मन की भ्रान्ति,[6] अभिमान, मोह,[7] दुःखबहुल, अटनशीलता, अधृति, क्रूरता, मान, हर्ष,[8] बहुभाषी, मत्सरता,[9] ताटनशीलता, सुखेच्छा, कामुकता, ऐश्वर्य से आभिमान, अधिक आनन्द मनाना,[10] आदि रजस् गुण से युक्त पुरुष के लक्षण हैं।

राजसी गतियां :- रजस् गुण से युक्त पुरुष मध्य में अर्थात् मनुष्यगति को प्राप्त होता है।[1] रजोगुण के समय मृत्यु होने पर कर्मों में आसक्ति[2] एवं पाप-पुण्य दोनों के सम्मिश्रण से उन्हें मृत्युलोक की प्राप्ति होती है।[3] कर्म तथा विद्या आदि की विशेषता से जघन्य, मध्यम तथा उत्तम पुनः तीन प्रकार की अप्रधान गतियां होती हैं।[4] झल्ल, मल्ल, नट, शस्त्रजीवी, द्यूतकार, तथा मद्यपी, आदि जघन्य राजसी गतियों में परिगणित है।[5] राजा, क्षत्रिय, राजाओं के

---

[1] . महा० आश्व०,37.2-14.

[2] . महा० शान्ति०,212.23.

[3] . वहीं, 11.25.3.

[4] . महा० अनु० 145.1143.

[5] . भा० पु०, 11.25.3.

[6] . वहीं, 11.25.17.

[7] . ब्रह्मपु०, 237.63.

[8] . राजसस्तु दुःखशीलतताऽधृतिरहंकारानृतिकृतित्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च। (सु०शा०,1.24).

[9] . अ० हृ० शा०, 3.7.

[10] . भा० पू०, सृ०, 8.

[1] . मनु० 12,40. महा० शान्ति०, 302.47,48. आश्व० 37,10. भा० पु० 11.25.21.

[2] . गीता० 14.15. भा० पु० 11.25.22.

[3] . पुण्यपापेन मानुष्यं। (महा०,शान्ति०, 302.48).

[4] . मनु० 12.41.

[5] . मनु ० 12.45.

पुरोहित, विवाद एवं युद्ध में अभिरुचि रखनेवाले आदि मध्यम राजसी गति के अन्तर्गत[1] और गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवानुचर और अप्सराएं आदि उत्तम राजसी गति के अन्तर्गत आते हैं।[2] भागवतपुराण में रजोगुण को स्वप्नावस्था माना गया है और रजोगुण की वृद्धि में असुरों के बल में वृद्धि का वर्णन प्रतिपादित है।[3]

तमस् गुण :- ऋग्वेद,[4] शतपथब्राह्मण,[5] मैत्री,[6] छान्दोग्य,[7] श्वेताश्वतर,[8] बृहदारण्यक[9] एवं सुण्डक उपनिषद्[10] तथा गीता[11] में तमस् शब्द अन्धकार के अर्थ में प्रयुक्त है। तमस् (अन्धकार) "तनुविस्तारे" धातु से से निष्पन्न है।[12] अमरकोश में 'तमो ग्लानौ' धातु से तमस् शब्द की निष्पत्ति वर्णित है जिसका अर्थ है ग्लानि पैदा करनेवाला। इसके अतिरिक्त तमस् के अन्धकार सदृश होने के कारण भी उसको तमो गुण कहा गया है।[13] तमस् गुण का स्वरूप के सन्दर्भ में कहा गया है कि यह मोहात्मक है एवं नियमन इसका मुख्य कार्य है। यह गुरु तथा वरणक (प्रतिबन्धक) होता है, क्योंकि तमोगुण से ही शरीर तथा इन्द्रियों गुरुता और विषय-ज्ञान में अवरोध होता है। यद्यपि रजस् गुण प्रवित्तिशील है परन्तु तमस् गुण के अवरोधक होने के कारण वह सभी कार्यों या विषयों को प्रवर्तित करने में असमर्थ रहता है।[1] तमोगुण सत्त्वगुण और रजोगुण से विलोम है। सत्त्वगुण प्रकाशक है और यह प्रकाश का आवरण करता है इसी प्रकार रजोगुण क्रियाशील है परन्तु यह क्रियाशीलता का अवरोध करता है जिसके कारण वस्तुओं में

---

[1] . मनु ० 12.46.

[2] . मनु ० 12.47.

[3] भागवतपुराण 11. 25.19-20

[4] . ऋ०,3.5.1, 3.39.7, 4.5.12, 10.121.3.

[5] . श० ब्रा०, 1.9.2.35, 2.4.2.5.

[6] . मैत्रा० उ०, 2.2, 5.2, 6.24,28,30.

[7] . छा० उ०, 1.3.1, 3.17.7, 7.26.2.

[8] आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। (श्वेता० उ०, 3.8).

[9] . बृह० उ०, 1.328,3.7.13,3.9.14, 4.4.10-11.

[10]मुण्डोपनिषद् 2.26

[11] . गीता०,10.11, 14.8-10, 17.1.

[12] . ...दीर्घ तम आशयदिन्द्रशत्रु। (यास्कनि०, 2.16).

[13] अमरकोश 3.3.231

[1] . सां० का०, एवं तत्त्वकौ०, 13.

गति नहीं होती इस कारण जो सहायक हो, जिसके विषय का आकार अस्पष्ट हो तथा जो तर्क से शून्य एवं (अन्तःकरण एवं बहिःकरणद्वारा) दुर्ज्ञेय हो वह तमोगुण है।[1]

तमोगुण अन्धकाररूप और त्रिगुणात्मक है। इसी का दूसरा नाम मोह भी है। यह अधर्म को लक्षित करने वाला तथा पाप को करने वाले लोगों में निश्चित रूप से विद्यमान रहता है। तमोगुण का यह स्वरूप दूसरे गुणों में भी निश्चित रूप में दृष्टिगत होता है।[2] अविवेक, मोह, प्रमाद और स्वप्न ये किसी भी प्रकार क्यों न हो- तमोगुण के ही विविध रूप हैं।[3] तमोगुण ज्ञान आच्छादित कर प्रमाद में लगाने वाला है।[4] तम, मोह, महामोह, क्रोध नाम वाला तामिस्र और अन्धतामिस्र यह पॉच प्रकार की तामसी प्रकृति कही गयी है।[5]

तमोगुण का लक्षण :-मनुस्मृति के अनुसार तमोगुण काम लक्षणात्मक है।[6] वस्तु का प्रतिकूल ज्ञान (अज्ञान) तमोगुण के कारण होता है।[7] लोभ, स्वप्न, अधैर्य, क्रूरता, नास्तिकता, नित्यकर्म का त्याग (भिन्नवृत्तिता), याचिष्णु, प्रमाद आदि तमस् गुण के लक्षण है।[8] मनुष्य जिस काम को करके, करता हुआ, भविष्य में करनेवाला होकर लज्जित होता है उसको तमस् लक्षण से युक्त कहा गया है।[1] तमोगुण द्वारा मनुष्य लोभ एवं लोभ जनित कर्मों का सेवन करता है, हिंसात्मक कर्मों एवं विहार में उसकी विशेष आसक्ति हो जाती है तथा वह सदैव निद्रा और तन्द्रा में आवृत्त रहता है।[2] तमोगुण की वृत्ति से मनुष्य में लोभ, स्वप्न, अधृति, क्रूरता, नास्तिकता, नित्य कर्म का त्याग, याचिष्णु, प्रमाद,[1]

---

[1] . यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तम्व्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्॥ (मनु०, 12.29).
महा०, शान्ति०, 194.33, अनु०, 145.1151, ब्रह्मपु०, 237.61.

[2] महा० आश्व०, 38.8

[3] . महा० आश्व०, 219.28.

[4] . गीता०, 14,9.

[5] . तमो मोहो महामोहस्तामिस्रः क्रोधसंज्ञितः।
मरणं त्वन्धतामिस्रस्तामिस्रः क्रोध उच्यते॥ (महा०,आश्व०, 36.33).

[6] . तमसो लक्षणं कामो…। (मनु०, 12.38).

[7] मनुस्मृति 12.26

[8] मनुस्मृति 12.33

[1] . यत्कर्म कृत्वा कुर्वश्च करिष्यंश्चैव लज्जति।
तज्ज्ञेयं विदुषां सर्वं तामसं गुणलक्षणम्॥ (मनु०, 12.35).

[2] . तमसा लोभयुक्तानि क्रोधजानि च सेवते।
हिंसाविहाराभिरतस्तन्द्रीनिद्रासमन्वितः॥ (महा०, शान्ति०, 212.32).

मोह, अप्रकाश, तामिस्र, अन्धतामिस्र, भोजन में अरुचि, खाने की वस्तुओं को अपर्याप्त मानना (भोजनानामापर्याप्ति), पेय वस्तुओं में अतृप्तता (पेयेष्वतृप्तता), दुर्गन्ध पूर्ण वस्त्र का धारण करना (गन्धवास), विहारप्रिय, मलिन शय्या, एवं आसन का प्रयोग, दिवास्वप्न, अतिवाद एवं प्रमाद में रति, नृत्य-वाद्य एवं गीत में अनावश्यक श्रद्धा,[2] भय, आलस्य (तन्द्रा),[3] विषाद, संशय, निद्रा,[4] अज्ञान, अत्याग, कर्म का अनिर्णय, उदण्डता (स्तम्भ), स्वयं शुभ कर्मों में दोष देखना (स्वतः सुकृतदूषणम्), अविपाक, अच्छे-बुरे के विवेक का अभाव (निर्विशेषता), इन्द्रियों की शिथिलता (अन्धत्व), हिंसा आदि निन्दनीय दोषों में प्रवृत्त होना (जघन्य गुणवृत्ति), अकार्य को कार्य एवं अज्ञान को ज्ञान मानना, अमैत्री, कार्य में मन न लगाना (विकृतभाव), अश्रद्धा, मूढभावना, कुटिलता (अनार्जव), नासमझी (असंज्ञत्व), पापकर्म, गुरुत्व, भाव का न होना (सन्नभावत्वम्), अजितेन्द्रियता (वशित्व), नीच कर्म में अनुराग (वाग्गित),देवनिन्दा, ब्रह्मनिन्दा, वेदनिन्दा, अभिमान, अक्षमा, प्राणियों के प्रति मात्सर्य, व्यर्थ कार्यों का आरम्भ, व्यर्थदान, वृथाभक्षण, अतितिक्षा,[5] क्रोध, अनृत, हिंसा, याचना, दम्भ, अनायासश्रान्ति (क्लम), कलह, शोक, आशा, अनुद्योग,[6] खेद करना (विषादित्य), अधर्मशीलता, बुद्धि का उपयोग न करना (बुद्धिर्निरोध), दुर्मेधा, अकर्मशीलता,[1] आलस्य,[2] अत्यन्त खेद से युक्त रहना (सुविषण्णाताऽतिशय), दुष्टमति, निन्दित कर्म से उत्पन्न सुखों में निरन्तर प्रीति आदि गुणों से तामस् गुणयुक्त पुरुष का विभावन होता है।[3]

---

[1] . मनु०, 12.33.

[2] . महा०, शान्ति०, 313.25-28.

[3] . महा०, अनु०,145.1144.

[4] . वहीं, 145.1147.

[5] .महा०, आश्व०,36.12-20.

[6] . भा० पु०, 11.25.4.

[1] . तामसास्तु- विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेत। (सु० शा०, 1.25).

[2] . अ० हृ०, शा०, 3.7.

[3] भा०, पू० सृ० 9

तामसी गतियां :- जिस काल में तमोगुण की वृद्धि होती है उस काल में मृत्यु होने पर प्राणी नरकगामी होता है[1] और वे कीट पशु आदि मूढ योनियों में उत्पन्न होते हैं।[2] केवल पाप कर्मों के फलस्वरूप इन्हें पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनि की प्राप्ति होती है।[3] इसलिए तामस् गुण से युक्त लोगों को तिर्यक् गति की प्राप्ति होती है।[4]

मनुस्मृति में जघन्य, मध्यम और उत्तम तीन प्रकार की तामसी गतियों का वर्णन है।[5] स्थावर (वृक्ष, लता, गुल्म, पर्वत), कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु, मृग आदि जघन्य तामसी गति के अन्तर्गत हस्ति, अश्व, शूद्र, निन्दित, म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र, शूकर आदि।[6] मध्यम तामसी गति के अन्तर्गत और चारण (बन्दी-भाट), सुपर्ण, दम्भी पुरुष, राक्षस, पिशाच, आदि[7] उत्तम तामसी गति के अन्तर्गत परिगणित है।[8] इनकी चित्रवृत्तियों का प्रवाह निम्न दशा की ओर होता है इसलिए इन्हें अर्वाक्स्रोतस कहा गया है।[9] गीता में तामस कर्म का फल अज्ञान कहा गया है[10] इसलिए जघन्य गुणवृत्ति में स्थित हुए तामसी लोग अधोगति को प्राप्त होते हैं।[11]

12. **त्रिगुण का पारस्परिक सम्बन्ध :-** प्रकृति त्रिगुणात्मक है अर्थात वह सत्व, रजस् तथा तमस् रूप ही है। ये गुण क्रमशः एक-दूसरे से श्रेष्ठ हैं। भागवतपुराण में इन गुणों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता का वर्णन काष्ठ, धूम एवं अग्नि की सहायता से वर्णित है।[1] जिस प्रकार काष्ठ की अपेक्षा धूम श्रेष्ठ है और उससे श्रेष्ठ अग्नि है क्योंकि यज्ञ यागादि के द्वारा अग्नि सद्गति देने वाला है वैसे ही तमोगुण से श्रेष्ठ रजोगुण एवं रजोगुण से श्रेष्ठ सत्वगुण है।

---

[1] . महा० शान्ति०,302.47, भा० पु०, 11.25.22.

[2] . गीता०, 14.15.

[3] . निष्कैवल्येन पापेन तिर्यग्योनिमवाप्नुयात्...। (महा० शान्ति०, 302.48).

[4] . मनु०, 12.40.

[5] मनुस्मृति 12.41

[6] मनुस्मृति 12.42

[7] मनुस्मृति 12.43

[8] मनुस्मृति 12.44

[9] . महा० आश्व०, 36.25.

[10] . ...अज्ञानं तमसं फलम्। (गीता०, 14.18).

[11] . जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः। (गीता०, 14.180.

[1] भागवतपुराण 1.2.24

इन गुणों का स्वरूप क्रमशः प्रकाशक, उपष्टम्भक एवं अवरोधक है। इस प्रकार स्वरूप में ये एक-दूसरे के विपरीत हैं।[1] सत्वगुण का प्रतिद्वन्द्वी तमोगुण एवं रजोगुण का प्रतिद्वन्द्वी सत्वगुण माना गया है। इस प्रकार तीनों गुण एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं। यद्यपि ये गुण परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं[2] तथापि इनका पृथक्-पृथक् रूप में वर्णन करना असम्भव है क्योंकि ये तीनों गुण अविच्छिन्न देखे जाते हैं।[3] तिर्यग्योनियों में जहॉ तमोगुण की अधिकता होती है वहॉ अल्प रूप में रजोगुण और अल्पतर रूप में सत्वगुण उपस्थित रहते हैं। मध्यस्रोता सर्ग में यद्यपि रजोगुण की प्रधानता होती है परन्तु वहॉ अल्प रूप में तमोगुण और अल्पतर रूप में सत्वगुण भी रहते हैं। इसी प्रकार ऊर्ध्वस्रोता (देवयोनि) में सत्वगुण की वृद्धि होती है परन्तु वहॉ भी अल्प रूप में तमोगुण और अल्पतर रूप में रजोगुण उपस्थित रहती है।[4]

यहॉ यह प्रश्न स्वतः उदीर्ण होता है कि परस्पर विरोधी गुण किस प्रकार कार्य करते हैं? इसके उत्तर में सांख्यकारिका 'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' का उदाहरण देती है[5], जैसे वर्ति, तेल और अग्नि परस्पर-विरोधी स्वभाव के हैं किन्तु सभी मिलकर प्रकाश करते हुए देखे जाते हैं अथवा जैसे परस्पर विरोधी वात, पित्त और कफ शरीर को धारण करने का कार्य करते हैं, इसी प्रकार सत्व, रजस् और तमस् तीनों गुण विरोधी होते हुए भी परस्पर अनुकूल रहते हुए कार्य करते हैं।[1] इस प्रकार प्रधान एवं गौण भाव से व्यवस्थित होकर ये भी अपना विरोध त्याग कर एक-दूसरे के सहयोगी हो जाते हैं।[2]

आयुर्वेदशास्त्र में मनोयुक्त सूक्ष्मशरीर एक अनुमानगम्य द्रव्य है सुनने या देखने से रूप प्रत्यक्ष को मन अर्थात् , जा किया ज्ञात द्वारा अनुमान देखकर को कार्यों उसके अर्थात् – अनुमान उसका अपितु ;सकता जा किया नहीं अनुभव से निष् आत्मा है। सकताक्रय है की ज्ञान को आत्मा है। वाला करने अनुभव और प्राप्ति की ज्ञान अर्थात् ज्ञानवान किन्तु , वह अतः ,है अवचेतन तत्त्व समस्त शेष ,है चेतनावान् आत्मा है। होती से मध्य इन्द्रियों तत्सहयोगी और मन उपलब्धि

---

[1] सां० का०, 12

[2] . तमसो मिथुनः सत्वं सत्वस्य मिथुनं रजः।
रजसश्चापि सत्वं स्यात् सत्वस्य मिथुनं तमः॥ (महा०, आश्व०, 36.3).

[3] . वहीं, 39.1.

[4] . वहीं , 39.6-8.

[5] सांख्यकारिका 13

[1] तत्त्वकौ०,13

[2] . गुणभूतो हि प्रतियोगी प्रधानभूतेन तदुपकारकत्वान्न विरुद्धयते इति संसर्गेण वर्तितुमुत्सहते। (युक्ति०, 13).

संज्ञक 'मन' सहायक प्रमुख का आत्मा प्रकार इस है। अज्ञानवान द्रव्य है। इसकी गणना सृष्टि के आरम्भक द्रव्यों में की गई है।[1] प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति में इन्द्रियां करण या साधन है। किन्तु इन्द्रियों के अपने विषय और इन्द्रियों के उपस्थित रहने पर भी तत्-तत् इन्द्रिय द्वारा तत्-तत् विषय का अभिग्रहण तब तक नहीं होता जब तक उस इन्द्रिय में मन का अधिष्ठान अर्थात् संयोग और प्रेरण नहीं हो जाता। इसलिये कहा गया है – "मनःपुरः सराणिइन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति"।[2]

आयुर्वेद में मन 'एक' और 'अणु' रूप है।[3] द्रव्य होने से मन की इन दोनों विशेषताओं को गुण कहा जाता है। मन एक इन्द्रिय है और और वह बुद्धिन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों पर भी नियन्त्रण करता हैं। अतः इसे उभयात्मक इन्द्रिय कहा गया है। इन्द्रिय होने से मन के अपने अर्थ और विषय भी है जिनका ग्रहण या ज्ञान मन करता है। चरक ने चिन्त्य अर्थात् चिन्तन करना, सुख दुखादि इन्द्रियनिरपेक्ष भावों का ग्रहण करना, मन का मुख्य 'अर्थ' लिखा है – "मनसस्तु चिन्त्यमर्थः"[4] इसके अतिरक्त विचार्य, उह्य, ध्येय, संकल्प और जो कुछ मन के द्वारा ज्ञान किया जाता है, वह सब उसका 'अर्थ' या 'विषय' है।

आयुर्वेददृष्टया मन की संघटना (Structure) पञ्चभौतिक है, परन्तु दर्शनों ने इसे त्रिगुणसमुदायरूप माना है। वस्तुतः मूलगामी दृष्टिकोण के आधार पर दोनों मतों में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति का एकमात्र कारण त्रिगुणात्मक प्रकृति को माना गया है। त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण संसार के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक है। अतः मन भी त्रिगुणयुक्त है। किन्तु चेतनाभिसंघाता से संयुक्त होने के कारण मन में इन तीनों गुणों की अभिव्यक्ति सविशेष होती है। अतः मन को चिकित्सितीय अभिप्राय से पांचभौतिक मानते हुये भी त्रिगुण युक्त मानना युक्तियुक्त ही है।

मन की संज्ञा 'सत्त्व' भी है। इसके दो कारण हैं- मन की आदि उत्पत्ति सात्विक अहंकार से प्रामुख्येन होती हैं मन के तीनों गुणों में 'सत्त्वगुण' सविशेष रहता है। मन के विकृत होने पर अर्थात् रजतम के दुष्ट होने के कारण अनेक-प्रकार के मानसरोग प्रादुर्भूत होते हैं।ये मुख्यतया कामलोभ आदि है। मन के तीन गुणों मे से सत्त्वगुण ,क्रोध , है। और तमो गुण नियामक (चलात्मक) रजोगुण प्रवर्तक ,प्रकाशक है (अवसाद-प्रवृत्तिविरोधक) है।[1] इनमें से सत्त्वगुण शुद्ध और दोषरहित हैरोषांशयुक्त होने -रज सदोष है ,क्योंकि वह कल्याणांश युक्त है , से तम भी सदोष है

---

[1] खादिन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्॥ च. सू. 1.48

[2] च. सू. 8.7

[3] अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ। च. शा. 1.9

[4] च.सू. 8.16

[1] सत्त्वं प्रकाशकं विद्धि रजश्चापि प्रवर्तकम्।
तमो नियामकं प्रोक्तमन्योन्यमिथुनप्रियम्॥ काश्यप सं सू. 28

मोहांशसंयुक्त होने से।[1] अतः सत्त्व को गुण ही माना गया है, दोष नहीं। सत्त्वगुण विकार रहित होता है। रज और तम ये दो मन के दोष हैं। इनके दुष्ट होने पर ही मन की विकृति उत्पन्न रहती है। जब तक ये अदुष्ट रहते है। तब तक मन भी स्वस्थ रहता है।[2]

13. आयुर्वेद में सूक्ष्म शरीर की संकल्पना :-

चरक के अनुसार प्रकृति ही अव्यक्त है और विकार को व्यक्त कहा गया है।[3] खादि (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी आदि के सूक्ष्मभूत), बुद्धि (महान्), अव्यक्त और अहङ्कार – ये आठ भूतप्रकृति कहे जाते हैं। विकारों की संख्या सोलह हैं जिसके अन्तर्गत पांच बुद्धिन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियॉं), पॉच कर्मेन्द्रियॉं, मन एवं पॉच अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप,रस,गन्ध)।[4] अव्यक्त से रहित उपर्युक्त सभी तत्त्वसमूहों को क्षेत्र कहा गया है तथा अव्यक्त को क्षेत्रज्ञ की संज्ञा दी गयी है।[5] सुश्रुत ने भी अव्यक्त, महान् अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्रा- इस प्रकार आठ वस्तुओं को प्रकृति एवं शेष एकादश इन्द्रिय (मन सहित) एवं महाभूत को विकार कहा है।[1] इससे यहां यह स्पष्ट होता है कि मनोमय सूक्ष्मशरीर की प्रवृत्तियां त्रिगुणात्मक होती है। चरक सुश्रुत एवं कश्यप ने अष्टविध प्रकृति स्वीकार करते है किन्तु ईश्वरकृष्ण ने मूलप्रकृति को अविकृति मानकर महद् आदि सात तत्त्वों को प्रकृति विकृति दोनों मानते हैं।[2]

प्रकृति का कोई कारण न होने के कारण वही यथार्थ रूप में प्रकृति कही जाती है। महदादि सात तत्त्व प्रकृति के कार्य हैं। वे इन्द्रियों एवं पञ्चमहाभूतों के कारण हैं अतः इन्हें भी प्रकृति कहा गया है। दस इन्द्रिय, चित्त (मन) एवं पॉच महाभूत को विकारों की संज्ञा दी गई है।

---

[1] त्रिविधं खलु सत्त्वं – शुद्धं, राजसं, तामसमिति। तत्र शुद्धमदोषाख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं रोषांत्वात्, तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात् ॥ च.सं..4.4.36

[2] तत्र त्रयः शरीरदोषा वातपित्तश्लेष्माणः, ते शरीर दूषयन्ति; द्वौ पुनः सत्त्वदोषौ रजस्तमश्च, तौ सत्त्वं दूषयतः । ताभ्यां च सत्त्वशरीरभ्यां दुष्टाभ्यां विकृतिरुपजायते, नोपजायते चाप्रदुष्टाभ्याम् ॥ च. शा. 4.34

[3] च० शा०,1.4

[4] . खादानि बुध्दिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडशः॥
बुध्दीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्चकर्मेन्द्रियाणि च।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः॥ (च० शा०,1.63-64).

[5] . च० शा०, 1.65.

[1] . अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः, शेषाः षोडश विकाराः। (सु० शा०,1.9).

[2] सांख्यकारिकाकार 3

इस प्रकार चौबीस तत्त्वों से बने हुए शरीररूपी गृह में शुभ तथा अशुभ कर्मों के अधीन होता हुआ, मन रूपी दूत से युक्त (स्वान्त-दूतवान्) होकर जीवात्मा निवास करता है।[1] यही सूक्ष्मशरीर है। यह स्थूलशरीर के माध्यम से जन्म-जन्मान्तर संस्कारों के भोग हेतु गमन करता रहता है। आयुर्वेद परम्परा में सूक्ष्मशरीर की अपेक्षा स्थूलशरीर के स्वास्थ्य एवं विवेचन पर अधिक जोर दिया गया है। मनुष्य स्थूलशरीर के माध्यम से जिन प्रवृत्तियों का निर्वहन करता रहता है। इन प्रवृत्तियों के संस्कार ही जन्म-जन्मान्तर के कारण होते है। मनुष्य स्थूलशरीर की प्रवृत्तियां आयुर्वेदिक पद्धति से परिमार्जन करके शुभ कर्मो के संस्कारों जनक का हेतु हो सकता है। जिसका वह सम्यक प्रकार से निर्वाह करके अपने भावी जीवन पर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। इसलिए आयुर्वेद परम्परा में सूक्ष्मशरीर के दार्शनिक पक्ष पर अधिक जोर देने के बजाय स्थूलशरीर की दोषों के परिमार्जन पर अधिक जोर दिया गया है।यहां सूक्ष्मशरीर का दार्शनिक पर्यालोचन स्थूलशरीर के ज्ञान के बिना अपूर्ण है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति स्थूलशरीर एवं इसके शारीरिक एवं मानसिक दोषों की निवृत्ति के आधार पर समग्र स्वास्थ्य को परिभाषित करती है। सुश्रुत के अनुसार स्वस्थ व्यक्ति वह है जिसके दोष, अग्नि, धातुएं व मल आदि समावस्था में हो तथा जो आध्यात्मिक, मानसिक व ऐन्द्रिक रूप से प्रसन्न हो। आयुर्वेद में दार्शनिक अध्ययन की चरमोत्कर्ष अवस्था मोक्ष या समाधि अवस्था की प्राप्ति के लिए नैष्ठिकी-चिकित्सा की कल्पना की गई है । जब मनुष्य विभिन्न बन्धनों से मुक्त होकर स्व आत्म में स्थित हो जाता है तो उसे पूर्ण स्वास्थ्य एवं दुःखो से आत्यन्तिक निवृत्ति की अवस्था कहा गया है।

आयुर्वेद में स्थूलशरीर, आत्मा, मन का संयुक्त रूप ही जीवन है। यहाँ पुरुष शरिरेन्द्रियसत्वात्म संयोग रूप संयुक्त इकाई है इसमे मन के अतिरिक्त पार्थिव शरीर, सूक्ष्म शरीर, इन्द्रिय तंत्र और चेतन आत्मा की उपस्थिति होती है। आयुर्वेदशास्त्र में शरीर, मन आत्मा के स्वास्थ्य के विषय में पृथक् पृथक् स्वास्थ्य का विचार असंगत प्रतीत होता है क्योंकि आयुर्वेद शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय पूर्ण शारीरिक स्वास्थ्य है। सुश्रुत संहिता के सूत्रस्थान में दोष साम्य, अग्नि साम्य, धातु साम्य एवं मल साम्यता रूप शारीरिक स्वास्थ्य, आत्मा, इन्द्रियों एवं मन की प्रसन्नता को 'पूर्ण स्वास्थ्य' के रूप में परिभाषित किया गया है। जिसमें शरीरेन्द्रियसत्वात्म संयोग रुप पुरूष के चार अंगों शरीर,

[1] . भा० पू० सू०,28-31.

आत्मा, इन्द्रिय तथा मन की सुखावह अवस्था व प्रसन्नता, को स्वास्थ्य कहा गया है।[1] इस अवस्था में सम्पन्न की गई शारीरिक प्रवृत्तियां का वाहक सूक्ष्मशरीर सुखावह जीवन का हेतूभुत कारण होता है।

आयुर्वेद में स्थूलशरीर की समस्त प्रवृत्तिया त्रिगुणात्मक सूक्ष्मशरीर की सत्त्व, रज एवं तम गुणों की प्रकृति पर आधारित होती है। यहाँ सत्त्व, सूक्ष्मशरीर की चैतन्य, हल्की एवं सुखद अवस्था का द्योतक है। यह रोगों से मुक्ति की अवस्था है। रज सक्रियता एवं गति का प्रतीक है। इसमें सभी प्रकार की इच्छायें कामनायें और आकांक्षायें जन्म लेती है और विविध मानसिक व्याधियां इससे जन्म लेते है। तमस जड़ता एवं भारीपन का द्योतक है। यह अचेतनता जड़ता एवं निष्क्रियता का प्रतीक है। यह सूक्ष्मशरीर में अधिष्ठित मन की ग्रहणशीलता एवं सक्रियता में बाधा डालता है। इसकी वृद्धि से भ्रम आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, दैन्यता आदि भाव उत्पन्न होते हैं। आयुर्वेद के मत में रजस् एवं तमस् अवस्थाएं स्थूलशरीर के मानसिक स्वास्थ्य में व्यवधान डालती है। रजस् व तमस् दोषों के कारण ही विभिन्न मानसिक विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय, हर्ष आदि) की उत्पत्ति होती है। यह मानसिक विकार मनोगत सूक्ष्मशरीर के वाहक का कारण होता है। अतः स्थूलशरीर स्वास्थ्य सूक्ष्मशरीर में अधिष्ठित मनस् की शुद्ध सात्त्विक अवस्था में स्थिति होना से ही संभव है। इसलिए आयुर्वेद शास्त्र में ' शरीरेन्द्रियसत्वात्म' संयोगरुप जीव की सत्ता के अनुसार ही स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर, आत्मा, इन्द्रियां तथा मन रुप सर्वांगीण दार्शनिक अवधारणा पर ही बल दिया गया है।

आयुर्वेदशास्त्र में 'शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोग' रुप जीव का शरीर ही सभी क्रियाकलापों का आधार है। शरीर के माध्यम से सूक्ष्मशरीर, इंद्रियां, मन तथा आत्मा अपना व्यापार सम्पन्न करते हैं। यद्यपि शरीर मानसविज्ञान का विषय नहीं है तथापि समस्त मनोदैहिक व्यापारों का माध्यम स्थूलशरीर होने से सूक्ष्मशरीर का दार्शनिक दृष्टिकोण का निरुपण करना भी आवश्यक है। क्योंकि स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर को प्रभावित करता है और सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर को प्रभावित करता है।[1] आयुर्वेद में शरीर पांचभौतिक है तथा आत्मा का भोगायतन है।[2] शरीर के तीन प्रकार हैं – कारण शरीर, सूक्ष्मशरीर एवं स्थूलशरीर।

---

[1] समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ सु सू.15.42

[1] शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते सत्त्वं च शरीरम् ॥ च.शा. 4.36

[2] शरीरं पाञ्चभौतिकमात्मनो भोगायतनम्। च.सू.1.42

स्थूल शरीर अन्न ग्रहण से ही निर्मित होता है और पांच भौतिक है। इसीलिये इसे 'अन्नमयकोश' भी कहा जाता है । स्थूल शरीर ही मन का अधिष्ठाता है स्थूल शरीर को पितृज, मातृज तथा रसज कहा जाता है। वस्तुतः मृत शरीर केवल अन्नमयकोश है। जीवित और मृत शरीर में अंतर केवल सूक्ष्म शरीर की उपस्थिति और अनुपस्थिति से ही होता है।

सूक्ष्म शरीर को 'लिंग शरीर' भी कहा जाता है। मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि में सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर से अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि आयुर्वेद स्वीकृत पुनर्जन्म की अवधारणा में सूक्ष्म शरीर ही एक शरीर से दूसरे शरीर में आत्मा के आवागमन के आधार का कार्य करता है। सांख्यमतानुसार सूक्ष्मशरीर अष्टादश तत्त्वात्मक है जबकि चरकसंहिता में सूक्ष्मशरीर को अग्नि,वायु,जल,पृथ्वी सहित चार महाभूतों तथा मन से गठित माना है।[1] कारण शरीर ही स्थूल व सूक्ष्म शरीर का मूल है ।जीवात्मा, भूतात्मा आदि इसी के पर्याय है। समष्टि में व्यष्टि का भान इसी के कारण होता ।है 'मैं' चैतन्यरूप अन्यों से भिन्न हूँ -- यह व्यवहार कारण-शरीर से होता है। ऐसा भान होना अस्मिता अहंकार ही कारण शरीर है। यही अहंकार या पृथकता का भान विकसित होकर जटिल से जटिल मानस व्यापारों को उत्पन्न करता है। पृथकता की अनुभूति अविद्या के कारण होती है। अतः अविद्या को भी कारण-शरीर माना गया है। यही आनंदमय कोश है। सुषुप्ति अवस्था में इसकी अभिव्यक्ति अधिक होती है।

14. सूक्ष्मशरीर विवेचन :-

आयुर्वेद में आत्मा रहित शरीर उपयोगी नहीं है। चिकित्सा उपयुक्त पुरुष ही जीवात्मा संयोग पुरुष, राशिपुरुष या कर्मपुरुष कहलाता है। यह षड्धात्वात्मक है।[1] षड्धात्वात्मक होने से इसी पुरुष की चिकित्सा होती है। आयुर्वेद शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है - 'सत्त्वात्मशरीरसंयोगधारी' पुरुष के स्वास्थ्य का रक्षण व उसके विकारों का प्रशमन।[2] इन तीनों के संयोग से ही यह शरीर जीवन धारण करता है तथा इसी शरीर में सब कुछ प्रतिष्ठित रहता है। आयुर्वेद का अधिकरण या विषय भी यह 'सत्त्वात्मशरीरसंयोगधारी' पुरुष है। इस पुरुष का निर्माण केवल महाभूतों और

---

[1] भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ॥ च .सं4.2.31

[1] खादयश्चेतनषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः । च.शा1.16 .

[2] स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य विकार प्रशमनं च । च.सू. 30.26

रासायनिक जड़ पदार्थों के मिश्रण से ही नहीं हुआ है बल्कि पंच महाभूत, मन, बुद्धि और आत्मा के संयोग का नाम ही पुरुष या जीवन है।[1] पंचमहाभूतों के साथ-साथ उनसे निर्मित चक्षु आदि इन्द्रियां और मन भौतिक व जड़ है तथा चेतन तत्त्व एक मात्र आत्मा है।[2] अतः शरीर की चिकित्सा भी तभी संभव है जब उसमें चेतनतत्त्व आत्मा की उपस्थिति रहती है। आत्मा ही सब कर्मों का कर्ता और कर्म-फल का भोक्ता माना जाता है, क्योंकि सारी इन्द्रियों के विद्यमान रहने पर भी यदि आत्मा निकल जाए तो शरीर मृत कहलाता है। इस अवस्था में कोई भी इन्द्रिय कार्य नहीं कर सकती और न ही शरीर किसी प्रकार के सुख-दुख का अनुभव कर सकता है अतः आत्मा को ही चेतना का अधिष्ठान माना गया है।[3]

शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। यह नित्य है तथा शरीर से भिन्न है। मृत्यु के समय देह का नाश होने पर यह कर्मानुसार दूसरे देह में प्रवेश करता है । चेतन होते हुए भी स्वतन्त्र रूप से शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों का ज्ञान-प्राप्ति के लिए इसके साथ करणों का संयोग होना आवश्यक है।[4] जब आत्मा मन से, मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय विषय से जुड़ता है, तभी ज्ञान प्राप्त हो पाता है।[1] सुख-दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, श्वास-उच्छवास, निमेष-उन्मेष, बुद्धि, मन का संकल्प, स्मृति, विज्ञान, इन्द्रियान्तर संचार, शब्द आदि विषयों का ग्रहण, प्रेरणा, धारणा, स्वप्न में स्थानान्तर, एक इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान का दूसरी इन्द्रिय में पहुंचना, धैर्य तथा अहंकार-आदि आत्मा की उपस्थिति के लिंग है जिनके होने पर ही मनुष्य जीवित होता है। क्योंकि ये सब लक्षण केवल जीवित मनुष्य में ही मिलते है, मृत में नहीं। वस्तुतः आत्मा की विद्यमानता में ही सब इन्द्रियाँ और मन आदि करण कार्य करने में समर्थ होते है। आत्मा दृष्टा के रूप में ही स्थित रहता है।[2]

---

[1] शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् । नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ च.सू. 1.42

[2] तत्रायुश्चेतनानुवृतिः ॥ च.सू. 30.22

[3] तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकम् ॥ च. शा. 6.4

[4] आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः । वै. सू. 9.2.6

[1] मनः पुरः सराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति ।

तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि ॥ च.सू. 8.7-8

[2] प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः । इन्द्रियान्तरसंचार प्रेरणं धारणं च यत् ।
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा । दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिः स्मृतिरङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः। न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥

इस प्रकार आयुर्वेदशास्त्र में आत्मा ज्ञाता और कर्ता है। विषय, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग से आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्मा निर्विकार, सत्त्व, इन्द्रियों से युक्त होने वाला, नित्य, दृष्टा है।[1] अतः आयुर्वेद में आत्मा नैयायिकों की आत्मा के समान है किन्तु न्याय सम्मत आत्मा सतत चेतनाशील नहीं है इसके विपरीत आयुर्वेद की आत्मा सतत आकारहीन चेतना युक्त है। जो सांख्य वेदान्त के अनुरूप है। किन्तु सांख्य-वेदान्त की आत्मा के समान पूर्ण बोधस्वरूप व सत्य स्वरूप नहीं हैं।' आयुर्वेद में आत्मपद से तीन प्रकार का अर्थ लिया जाता है (क) परम आत्मा, (ख) आतिवाहिक या सूक्ष्म शरीरयुक्त आत्मा तथा (ग) स्थूल चेतन शरीर या कर्म पुरुष।

15. परम आत्मा-

इस अनादि परम आत्मा का कोई प्रभव (कारण) नहीं है।[2] चरक ने इस परम आत्मा (लोक में आत्मा या जीवात्मा नाम प्रसिद्ध) को अव्यक्त (इन्द्रियों से अज्ञेय), क्षेत्रज्ञ, शाश्वत (उत्पत्ति एवं विनाश से रहित), विभु एवं अव्यय कहा है।[1] इसके अतिरिक्त यह निर्विकार[2] तथा समस्त क्रियाओं का द्रष्टा (साक्षी) है।[3] द्रष्टा का महत्व प्रकट करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि जिस प्रकार परम शान्त यति साक्षी होता हुआ संसार की समस्त क्रियाओं को देखता है पर राग, द्वेष आदि युक्त नहीं होता उसी प्रकार से आत्मा भी सुखदुःखादि का ग्रहण करता हुआ भी रागादि से युक्त नहीं होता। दृश्यमान रागादि विकार तो मन के होते हैं।[4] इस प्रकार ज्ञानवान् या चेतन ही साक्षी हुआ करता है अज्ञ या अचेतन नहीं। सभी भूतों के सभी भावों का आत्मा साक्षी है। इस शरीर द्वारा जो कर्म होते हैं उनमें भी आत्मा का कर्तृत्त्व नहीं है तथापि अज्ञानवश उसे यह भ्रान्ति नहीं होती कि ये बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियादि मेरे हैं। वस्तुस्थिति से मन सहित इन्द्रियों द्वारा जो कर्म होते हैं, वे भी मेरे किये हैं, ऐसी 'ममता' उसे होती है। इस ये सब कार्य द्रव्य उसके दुःख के हेतु ही हैं। इनका फल भोगने के लिए सूक्ष्म शरीर सहित उसे पुनः जन्म ग्रहण करना ही करना है, इस प्रकार यह जन्म-मरण के चक्र में फंसा रहता है। इस परम आत्मा को चेतना धातु भी कहा जाता है। यह सूक्ष्म आत्मा मन, भूतगण (शब्द स्पर्शादि) तथा इन्द्रियों के साथ ही चेतनता में कारण होता है। इस चेतना का

शरीरं हि गते तस्मिञ् शून्यागमचेतनम् । पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वंगतमुच्यते ॥ च.शा. 1.70-74

[1] (1)चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते ॥ च .शा1.76 .
(2)आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवृतते। करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते॥ च .शा1.54 .
(3)निर्विकारःपरस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः। चैतन्ये कारणं नित्यो दृष्टा पश्यति हि क्रिया॥ च.सू1.56.

[2] च०शा०, 1.53

[1] . अव्यक्तात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः। (च०शा०, 1.61).

[2] . निर्विकारः परस्त्वात्मा...। (च०सू०, 1.56, च०शा०,4.33).

[3] . द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः। (च०सू०,1.56).

[4] च० सू०,1.56 पर चक्रपाणि

स्थान हृदय है। शरीर में अति सूक्ष्म आत्मा चक्षु द्वारा अदृश्य है, केवल ज्ञान एवं तप के चक्षुओं से ही उसे देख सकते हैं।[1]

परम आत्मा के लक्षण (लिङ्ग) - प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मन की गति, मन का एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय में जाना, प्रेरणा करना, धारणा करना, स्वप्न में दूसरे देश में जाना, मरण, दाहिनी आंख से देखी हुई वस्तु का बाईं आंख से 'वही है' यह ज्ञान करना, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति और अहंकार ये सूक्ष्म आत्मा के लिङ्ग हैं।[2]

आतिवाहिक (सूक्ष्म शरीरयुक्त) आत्मा:- सूक्ष्म शरीरयुक्त आत्मा शरीर के विच्छेद के साथ पृथक् हो जाती है एवं कर्मवश इसे पुनः सूक्ष्म शरीर (आतिवाहिक शरीर) मिलता है। मृत्यु के समय आत्मा इसी सूक्ष्म शरीर को लिए हुये बाहर निकलती है और जन्म के समय इसी सूक्ष्म शरीर के साथ नये शरीर (गर्भ) में प्रवेश करती है।[3] वास्तव में स्वयं आत्मा का पूर्व देह से निष्क्रमण या नये देह में प्रवेश नहीं होता क्योंकि आत्मा तो सर्वव्यापक होने से न प्रथम शरीर को छोड़ती है न नये शरीर में उसका नया प्रवेश ही होता है। वस्तुतः निष्क्रमण और प्रवेश इसी शरीर के होते हैं। उन्हें ही आत्मा का निष्क्रमण या प्रवेश कहने का प्रचलन है। इस सूक्ष्म शरीर में पॉच ज्ञानेन्द्रियां, पॉच सूक्ष्म विषय (शब्द आदि), पॉच प्राण (प्राण अपानादि), एक मन और एक बुद्धि- इस प्रकार सत्रह पदार्थ होते हैं। इस शरीर को सांख्य में लिङ्ग की संज्ञा दी गयी है।[1]

आत्मा स्वयं निर्विकार, अजन्मा, अमर और सुख-दुःख, रागद्वेषादि रहित है।[2] परन्तु सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ वही धर्म-अधर्म का कर्ता, सुख-दुःख रूप फलों का भोक्ता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, जन्म-मरण आदि आदि से आविष्ट होता है।[3] इस सूक्ष्म शरीर का निर्माण आकाश के अतिरिक्त शेष चार भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) के अति सूक्ष्म रूप में होता है। सूक्ष्म शरीर के निर्माण में आकाश की गणना इसलिए नहीं की गयी कि आकाश (स्थान)

---

[1] सु०शा०, 5.62

[2] च०शा०, 1.70-72

[3] च०शा०, 2.35

[1] तत्त्वकौ०,40

[2] . च०शा०,4.33.

[3] . च०शा०,4.37.

प्रदान के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में उसकी विशेष क्रिया नहीं होती। ये चारों महाभूत सर्वदा प्रत्येक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। भूतों के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और सत्व, रज, तम ये तीन गुण भी सर्वदा विद्यमान रहते हैं।[1] सत्व के उत्कर्ष के कारण होने वाली मन की सात प्रकृतियां,[2] रजोगुण के आधिक्य से होनेवाली छः प्रकृतियां,[3] तथा तमोगुण के प्राबल्य से होनेवाली तीन चित्त प्रवृत्तियां,[4] भी इस सूक्ष्म शरीर में रहती हैं। इस सूक्ष्म शरीर को लिङ्गशरीर या आतिवाहिक शरीर भी कहते हैं। आत्मा के साथ नित्य (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) स्पर्श होने से इस शरीर को 'स्पृक् शरीर' भी नाम दिया गया है।[5] मैथुन द्वारा शुक्र और शोणित (स्त्रीबीज) का सम्मूर्च्छन (संयोग) होने पर तत्क्षण यह सूक्ष्म शरीर ही अपने पूर्व के शरीर (मृतशरीर) को छोड़कर उत्पन्न होनेवाले नये गर्भ के शरीर में प्रवेश करता है।[6] सर्वव्यापक होने के कारण आत्मा न तो मृत शरीर को छोड़ता है और न ही नये शरीर में प्रवेश करता है। वस्तुतः सूक्ष्म शरीर ही मन द्वारा अधिष्ठित होकर पूर्व शरीर को छोड़ता है तथा नये शरीर (गर्भाशय से युक्त शुक्र-शोणित) में प्रवेश करता है क्योंकि मन का स्वामी आत्मा है। अतः मरण और जन्म के समय मन के स्थूल शरीर से निर्गमन और प्रवेश को आत्मा का ही निर्गमन और प्रवेश कहने की परम्परा प्रचलित है। इस प्रकार मन की सहायता से आत्मा अलक्षित रूप से एक शरीर से दूसरे शरीर में सदा गति के कारण इसे मनोजव कहते हैं।

आत्मा अथवा सूक्ष्म शरीर की यह क्रिया एक देह से दूसरे देह में जाना कर्म के कारण होता है।[1] आत्मा एवं मन का स्थान हृदय है।[2] गर्भ में जब इसका निर्माण सम्पूर्ण नहीं होता तब तक मन इसके द्वारा अपनी इच्छाएं व्यक्त नहीं करता। हृदय का निर्माण चार मास में सम्पूर्ण है और उसके पश्चात ही आत्मा एवं पूर्व जन्म के अनुभव के अनुसार अपनी प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा तथा अप्रिय वस्तुओं से बचने की इच्छा (द्वेष) प्रकट करता है। ये इच्छाएं गर्भिणी की इच्छा के रूप में सूचित होती हैं। इस कारण गर्भिणी को द्विहृदया या द्विहृदिनी कहते हैं।[3]

---

[1] . भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति वेगात्। (च०शा०, 2.31).

[2] . च० शा०, 4.47, तथा सु० शा०, 4.80-86.

[3] . च० शा०, 4.38, तथा सु० शा०, 4.87-92.

[4]. च० शा०, 4.39, तथा सु० शा०, 4.93-96.

[5] . नित्यमात्मानं स्पृशतीति स्पृक् शरीरमतिवाहिकशरीरम्। (च०शा०, 30.4).

[6] च०शा०, 2.31

[1] च० शा०, 2.35

[2] . आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्। (च०सू०, 30.4).

[3] च०शा०, 4.15 तथा सु०शा०, 3.18

यह सूक्ष्म शरीराधिष्ठित आत्मा मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि सब प्रकार के रूपों को धारण करता है, अतः इसे विश्वरूप कहते हैं। स्थूल शरीरों में भी रहता हुआ यह मन की सहायता से (सत्वकरणः) विभिन्न कर्म करता है, अतः इसे विश्वकर्मा कहा जाता है। राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से युक्त होने के कारण इसे सानुशय कहते हैं।[1] मन की सहायता से मनन करने, विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से दर्शन-स्पर्शन आदि ज्ञान प्राप्त करने, कर्मेन्द्रियों की सहायता से विभिन्न कर्म करने एवं नये-नये शरीर के उत्पादक होने के कारण इस आत्मा को हेतु, कारण, निमित्त, अक्षर, कर्त्ता, मन्ता, वेदिता, बोद्धा, द्रष्टा, धाता, ब्रह्मा (बुद्धि का स्वामी), विश्वकर्मा, विश्वरूप, प्रभव एवं अव्यय कहा जाता है। अपने निर्माण के लिए भूतों का ग्रहण करनेवाला होने से ग्रह, भूतों के गुणों से युक्त होने के कारण इसे गुणी, भूतों का अधिष्ठान होने से भूतात्मा एवं इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से इसे अन्तरात्मा कहा जाता है।[2]

सुश्रुत ने गर्भ व्याकरण प्रकरण में जहाँ अग्नि, सोम, वायु, सत्व, रज, तम एवं पञ्चेन्द्रिय को प्राण कहा है वहाँ भूतात्मा का भी उसमें सन्निवेश किया है।[1] इसी भूतात्मा की अवस्थिति से मर्मों पर आघात लगने पर प्राणी जीवित नहीं रह पाता है। चरक[2] और सुश्रुत[3] दोनों में गर्भ के षड्भावों (मातृज, पितृज, आत्मज, सात्म्यज, रसज, सत्वज) से युक्त माना गया है। इनमें से गर्भ के इन्द्रियां, ज्ञान, विज्ञान, आयु, सुख, दुःख आदि भाव आत्मा से उत्पन्न माने जाते हैं। पुनर्वसु आत्रेय गर्भावक्रान्ति शारीर[4] में गर्भ को आत्मज बतलाते हुए कहते हैं कि जिसे सामान्यतया अन्तरात्मा कहा जाता है वह भी गर्भस्थ आत्मा है। इसी को जीव कहते हैं। इसे शाश्वत, अरुज (सुख-दुःखरहित), अक्षय, अभेद्य, अच्छेद्य, अलोड्य, विश्वरूप, विश्वकर्मा, अव्यक्त, अनादि, अनिधन एवं अक्षर भी कहते हैं। यही जीव गर्भाशय में अनुप्रविष्ट होकर शुक्रशोणित से मिलकर अपने को गर्भरूप में उत्पन्न करता है अतः गर्भ में आत्मसंज्ञा होती है।[5] चरक

---

[1] . च०शा०, 3.14.

[2] . च. शा, 4.8.

[1] सु.शा० 4.3

[2] च. शा०, 3.3

[3] सुश्रुत शा०, 3.31

[4] च० शा०, 3.8,10

[5] च०शा० 3.14

ने सुश्रुत से कुछ अधिक आत्मज भावों गणना की है। वह सुश्रुतोक्त भावों के अतिरिक्त मन, प्राण, अपान, प्रेरणा, धारण (देह का) आकृतिभेद, स्वरभेद, वर्णभेद, इच्छा, द्वेष, चेतना, धृति, स्मृति एवं अहंकार को भी ग्रहण करता है।[1]

आयुर्वेदिक दार्शनिक परम्परा भारतीय ज्ञानपरम्परा से अभिन्न होने के कारण अन्य दर्शनों की समान पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार करते है। इनकी दृष्टि में पुनर्जन्म आत्मा (पुरूष) का नही हो सकता क्योंकि वह निर्विकार है। यदि आत्मा को जन्म व मृत्यु ग्रहण करने वाला तत्त्व मान लेते तो उसका विकार स्वभाव वाला परिलक्षित होता है और विकार स्वभाव वाला तत्त्व होने के कारण आत्मा की नित्यता की अवधारणा खण्डित हो जाती। अतः इन दार्शनिको ने आत्मा को निर्विकारी अव्यक्त तथा नित्य माना है किन्तु करण सहकृत आत्मा (पुरूष) को मन, बुद्धि(श्रोत्र, घ्राण, चक्षु, रसना तथा स्पर्श), कर्मेन्द्रिय (हस्त, पाद, गुहा, उपस्थ तथा वागिन्द्रिय), करणो के साथ संयोग होने पर कर्म, वेदना, बुद्धि(ज्ञान) होता है। यह अकेले आत्मा न तो यह किसी कार्य को करने में प्रवृत्त होती है और न ही किसी उपादान विषयों का भोग करने में समर्थ है। आत्मा ज्ञानात्मक[1] होने के कारण इन्द्रियादि से संयोग होने पर सभी ही कार्य सम्पन्न होते है तथा संयोग न होने पर कोई भी कार्य सम्पन्न नही होता।[2] यह आत्मा (पुरूष) एक जन्म से दूसरे जन्म मनोजव (मन के संयोग से गमन करने वाला) के साथ आकाश को छोड़कर चार सूक्ष्म महाभूतों (स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा) के साथ मृत देह (शरीर) से निकलकर पुनः नूतन शरीर प्राप्त करती है। जीर्ण शरीर का त्याग एवं नूतन शरीर को प्राप्त करना पूर्वकृत कर्मो के अनुसार होता है।[3,4] जब यह आत्मा मन तथा चार तन्मात्राओं के साथ देह से निकल जाती है तो यह स्थूल शरीर शून्यगार, अचेतन और पञ्चमहाभौतिक शरीर शेष रह जाता है, इसे पञ्चत्व प्राप्त हो गया ऐसा भी कहा जाता है।[5] सभी प्राणी अपने-

---

[1] च०शा०, 3.10

[1] आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते। 1/54 शरीरस्थानम्/ चरक संहिता

[2] करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च। कर्तुः सयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च।

नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्। संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन।। 1/56 चरक संहिता शरीरस्थानम्

[3] भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्।

कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम्॥ 2/31 शरीरस्थानम्/ चरक संहिता

[4] भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम्।

स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति। 2/35 शरीरस्थानम्/ चरक संहिता

[5] शरीरं हि गते तस्मिञ् शून्यगारमचेतनम्।

पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते॥ 1/74, शरीरस्थानम्/ चरक संहिता

अपने शुभाशुभ कर्मो के अनुसार आत्मा (मन एवं तन्मात्रा से युक्त होकर) को सभी नीच- ऊँच योनियों में प्राण से युक्त करता है अन्य दूसरा नियामक नही है।[1] वस्तुतः आत्मा को निष्क्रिय एवं अव्यक्त माना गया है। उससे जब तक मन तथा चार सूक्ष्म महाभूतों का संयोग होता है तब तक यह लिग्ड़ शरीर[2] से युक्त होकर व्यापक, सभी शरीरो को धारण करने वाला, विश्वकर्मा, जगत्-स्वरूप, चेतनाधातु, अतीन्द्रियों से युक्त राग-द्वेष भाव वाला होता है।[3]

संसार को चलाने के लिए आत्मा एवं सूक्ष्म महाभूत(तन्मात्रा) अन्योन्याश्रय रूप से एक दूसरे पर आश्रित होते है। इस लिग्ड़ शरीर में रसज, आत्मज, मातृज और पितृज भेद से चारों महाभूत सोलह प्रकार से होते है। ये चारों सूक्ष्म महाभूत आत्म पर आश्रित होते है तथा आत्मा इन चारों सूक्ष्म महाभूतों पर आश्रित होती है।[1]

अब यहां शंका उत्पन्न होती है कि लिग्ड़ शरीर की सत्ता कब तक बनी रहती है? इसके उत्तर में कहा गया है कि जब तक आत्मा अपने अत्यन्त सूक्ष्म अतीन्द्रिय भूतों से पृथक नही होती है। न कर्म, न मन, न बुद्धि, न अहंकार, न विकार स्वरूप दोष से आत्मा छुटकारा पाती है। जब तक रज और तम का मन से अनुबन्ध रहता है। अज्ञान के कारण रज और तम गुणों का मन से अनुबन्ध रहने से मन सदोष कर्म के कारण जन्म-जन्मान्तर के कारण होते है, जो इनका वाहक वह सूक्ष्म शरीर/ लिग्ड शरीर है।[2]

स्थूल चेतना शरीर या कर्मपुरुष :- यह वस्तुतः सूक्ष्म शरीर और 'परम आत्मा' का संयोग है। प्रलय की समाप्ति के अनन्तर सृष्टि प्रारम्भ होने पर प्रत्येक आत्मा को एक-एक सूक्ष्म शरीर उपलब्ध होता है। यह सूक्ष्म शरीर अगले प्रलय आने तक रहता है। प्रलयावस्था आने पर यह सूक्ष्म शरीर नष्ट होकर प्रलयकाल की समाप्ति होने तक अपनी '

---

[1] यथास्वेनात्मनाऽऽत्मानं सर्वः सर्वासु योनिषु।
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न्ह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः। 1/77, शरीरस्थानम्/ चरक संहिता

[2] चरक संहिता सविमर्श 'विद्योतिनी- हिन्दीव्याख्योपेता 2/31 शरीरस्थानम्

[3] स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः।
स चतना धातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः स एव॥ 2/32 शरीरस्थानम्/ चरक संहिता

[1] रसात्ममातापितृसंभवानि भूतानि विद्याद्दश षट् च देहे।
चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथाऽऽत्मा च चतुर्षु तेषु॥ 2/22, शरीरस्थानम्/ चरक संहिता

[2] अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः।
न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकारविकार दोषैः॥
रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुबद्धं ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः।
गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म॥ 2/37-38, शरीरस्थानम्/ चरक संहिता

निर्विकार' परम आत्मा में स्थित रहता है। सूक्ष्म शरीर तथा आत्मा का यह संयोग ही एक योनि से दूसरे योनि में जाता है अर्थात मृत्यु के समय मृत शरीर को छोड़ता है और तत्काल शुक्रशोणित के सम्मूर्च्छन से उत्पन्न होने वाले नये शरीर (गर्भ) में प्रविष्ट होता है।[1] आत्मा का दूसरा स्वरूप मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के चेतन शरीर हैं। गर्भ अथवा उसी के कालक्रम से हुए विकास से निष्पन्न हुआ चेतन शरीर 'आत्मा' या 'पुरुष' है। दूसरे शब्दों में मन, आत्मा तथा शरीर इन तीनों के संयोग को 'पुमान् पुरुष' या चेतन कहते हैं। जिस प्रकार किसी तिपाई (त्रिदण्ड) की स्थिति तीन पादों की विद्यमानता से होती है उसी प्रकार आत्मा, मन और शरीर (इन्द्रियसहित) इनमें से किसी एक के अभाव में आयुर्वेद सम्मत पुरुष की अवस्थिति नहीं हो सकती[1] जिस प्रकार तिपाई पर घट आदि रहते हैं उसी प्रकार इस पुरुष में भी कर्म, कर्मों का फल, सुख-दुःख का ज्ञान, ममत्व और जन्म-मरण रहते हैं।[2] एकाकी 'परम आत्मा' या 'सूक्ष्म शरीरयुक्त आत्मा' न किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, न कोई कर्म कर सकता है और न कर्मों का फल भोग सकता है। ये सब बातें मन के संयोग से ही होती हैं।[3] चिकित्साशास्त्र का विषय यही पुरुष है।[4]

यद्यपि आत्मा, मन और शरीर का उक्त संयोग जंगम प्राणिमात्र में सदा रहता है इसलिए प्राणिमात्र पुरुष पद वाच्य है पर चरक और सुश्रुत के के अनुसार यहॉ पुरुष से मानव का ग्रहण होता है। मनुष्येतर सभी जंगम-स्थावर पदार्थ मनुष्य के उपकरण भूत हैं।[5] आकाशादि पञ्चमहाभूत तथा छठी चेतना (आत्मा) के समुदाय को पुरुष कहते हैं।[6] सुश्रुत की भी पुरुष-विवेचना यही है।[7] चक्रपाणि का कथन है कि चिकित्साशास्त्र का विषयभूत यह पुरुष वैशेषिक

---

[1] च०शा०, 3.14

[1] च० सू०, 1.46

[2] च०शा०, 1.37

[3] च० शा०, 1.75

[4] . च० सू०, 1.22, एवं पञ्चमहाभूत शरीरिसमवायः पुरुषः। (सु०सू०, 1.30).

इति स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः। (सु०शा०, 1.21).

[5] च०शा०,1.16 पर चक्रपाणि

[6] . (क) खादयश्चेतनाषष्ठाधातवः पुरुषः स्मृतः। (च०शा०, 1.16).

(ख) षड्धातवः समुदिताः पुरुषः। (च०शा०, 5.4).

[7] . अस्मिञ्छास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः उच्यते। (सु०सू०, 1.30).

दर्शन से लिया गया है।[1] सांख्य के शब्दों में इसी बात को इस प्रकार से कह सकते हैं कि मन, पॉच ज्ञानेन्द्रिय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध- ये पॉच विषय तथा मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रा- इन आठ रूपोंवाली प्रकृति- इस प्रकार चौबीस धातु मिलकर राशि पुरुष कहलाते हैं। यहॉ प्रकृति के समान होने से आत्मा को अव्यक्त शब्द से ही ग्रहण किया गया है।

इस पुरुष को निर्विकार 'परम आत्मा' अथवा 'सूक्ष्मशरीरयुक्त आत्मा' से पृथक् बोध के लिए कर्म पुरुष, राशिपुरुष[2], संयोगपुरुष,[1] समुदाय पुरुष,[2] षड्धातुक पुरुष[3] या चतुर्विंशतिक पुरुष[4] कहते हैं। मोह, इच्छा, द्वेष कर्म से राशि पुरुष की उत्पत्ति होती है।[5] हेतु (कारणों) से उत्पन्न पुरुष सत्ता वाला होते हुए सकारण है अत: अनित्य है।[6] इन नामों का कारण स्पष्ट है। पूर्वोक्त दो पुरुष (आत्मा) कर्म नहीं कर सकते यह चेतन शरीर ही कर्म कर सकता है, अत: इसे कर्म पुरुष कहा गया है। अत्मादि का संयोग होने से राशिपुरुष, संयोगपुरुष और समुदायपुरुष नाम दिया जाता है।

राशिपुरुष उत्पत्ति कारण :- जीवात्मा को कर्म तथा कर्मफलोपभोगार्थ प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में मूल प्रकृति से उत्पन्न बुद्धितत्व, मन, पञ्चतन्मात्रा आदि से निर्मित जो सूक्ष्म लिङ्गशरीर उत्पना होता है यह ही प्रलय काल में विलोम क्रम से अपने मूल रूप में लीन हो जाता है और केवल आत्मा अपने एकाकी स्वरूप में रह जाता है।[7] प्रलय की समाप्ति पर अन्य द्रव्यों के समान लिङ्गशरीर उत्पन्न होता है तथा यह आत्मा को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने, कर्म करने तथा उनका फल भोगने में सहायक होती है। मोक्ष में जब जीव जन्म और मरण से बन्धन से मुक्त हो जाता है उस समय भी जीव प्रलय काल के समान लिङ्गशरीर रहित होता है। अन्तर केवल यह होता है कि बद्ध (जिसे

---

[1] चक्रपाणि च०शा०1.16

[2] च०शा०, 1.53

[1] . संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः। (च०शा०, 1.85).

[2] . ...षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते। (च०शा०, 5.4).

[3] . च० शा०, 1.16

[4] . वही, 1.35

[5] . पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः। (च० शा०, 1.53).

[6] च० शा०, 1.59

[7] च० शा०, 1.38

मोक्ष नहीं मिला है) जीव तो पुन: अग्रिम सृष्टिकाल आरम्भ होने पर नया लिङ्गशरीर प्राप्त करता है तथा पुन: प्रलय काल तक जन्म और मरण के तथा उनके द्वारा कर्म और फलोपभोग के चक्र में पड़ता है[1] किन्तु मुक्त पुरुष को नया सृष्टिकाल आरम्भ होने पर भी लिङ्ग शरीर नहीं प्राप्त होता।

जन्म-मरण का यह चक्र अथवा लिङ्ग शरीर युक्त जीवात्मा की एक योनि (देह) से दूसरे योनि में गति करने को संसरण या संसार कहते हैं। इसका मूल कारण रजस् और तमस् ये मानस दोष हैं। तमो गुण के आधिक्य से पुरुष (मन) में मोह (अज्ञान या मिथ्या ज्ञान) होता है, वह सृष्टि के पदार्थो को अपने सुख और दु:ख का कारण समझता है तथा जिन वस्तुओं को अपने सुख का हेतु मानता है उनके प्राप्त करने की इच्छा तथा जिन्हे दुख का हेतु मानता है उनके प्रति द्वेष उसके मन में उदित होता है।[1] इस इच्छा और द्वेष के कारण पुरुष इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति तथा द्विष्ट वस्तुओं के परिहार के लिये प्रवृत्ति या कर्म करता है। ये प्रवृत्तियां शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती है। शुभ प्रवृत्तियो का फल धर्म और अशुभ प्रवृत्तियों क फल अधर्म एवं धर्म का फल सुख एवं अधर्म का फल दु:ख होता है। इन दोनों फलों के भोग के लिये पुरुष को बलात् शरीर धारण करना पड़ता है।

जब तक पुरुष का मन तम एवं रजोगुण से आविष्ट रहता है तबतक मोह, इच्छा, द्वेष, प्रवृत्ति, धर्माधर्म और शरीर का क्रम अविच्छिन्न रहता है। आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से छः या चौबीस तत्वों का संयोग जिसे राशिपुरुष आदि नाम दिये गये हैं,[2] तबतक रहता है जबतक सत्व गुण उदित होकर इन दोषों को परास्त नहीं करता। राशि पुरुष की परम्परा अनन्त है रजस् और तमस् के हट जाने और सत्वगुण का उदय होने पर यह क्रम नष्ट होकर पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है।[3]

कर्मपुरुष की क्रियाकारिता :- जीवात्मा एकाकी न किसी विषय का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, न किसी प्रकार का कर्म कर सकता है और न ही कर्मों के फल का भोग कर सकता है।[4] ज्ञान, कर्म और कर्मफल का उपभोग करने के लिये आत्मा को करण (साधन) की आवश्यकता होती है ये करण है मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। इन कारणों के

---

[1] च० शा०, 1.38

[1] च०शा०, 2.38

[2] . बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानामं विद्याद्योगधरं परम् ।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुष संज्ञकः॥ (च० शा०, 1.35).

[3] च०शा०, 1.36

[4] . च० शा०, 1.75-76.

संयोग से ही ज्ञानादि का सम्पादन होता है। ये करण न होने से जिस प्रकार ज्ञानादि नहीं होते, उसी प्रकार इनके मलयुक्त होने से अथवा अन्य प्रकार से शक्तिहिन होने से विषय ग्रहण यथार्थ नही होता यथा दर्पण या जल या मलिन हो तो उसमें पड़ा प्रतिबिम्ब भी स्पष्ट और यथार्थ नहीं होता।[1] मन अचेतन है और क्रिया करने वाला है तथा आत्मा चैतन्ययुक्त है। उस बिभु, व्यापक आत्मा का जब मन से संयोग होता है तब उसकी ही क्रियायें कहलाती है। आत्मा चेतन है इसलिये कर्ता कहा जाता है। क्रिया करने वाला मन अचेतन होने से कर्ता नहीं कहलाता।

मन ही आत्मा का बिभिन्न सुक्ष्म और स्थूल शरीरों से सम्बन्ध कराता है।[1] सूक्ष्म शरीर के द्वारा वह आत्मा को भोग के साधनभूत स्थूल शरिर से संयुक्त करता है। यही मन अथवा उससे युक्त सुक्ष्म शरिर जब स्थूल शरीर को छोड़ने को उद्यत होता है तब पुरुष का स्वभाव और रूचियां बदल जाती हैं, सब इन्द्रियां विकल हो जाती हैं, बल क्षीण हो जाता है और रोगों के लक्षण बढ़ जाते हैं। इस मन के शरीर को छोड़कर चले जाने पर ही प्राण भी शरीर को छोड़ देते हैं। यत: मन की भी क्रिया का कारण आत्मा है अतएव क्रिया का श्रेय उसी को दिया जाता है।[2] **कर्म पुरुष के गुण-** सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राणवायु को धारण करना, अपान वायु को छोड़ना, बुद्धि, मन, संकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय (निश्चयात्मिका बुद्धि), विषयोपलब्धि (इन्द्रिय द्वारा विषय का ज्ञान) आदि गुण कर्म पुरुष के हैं।[3]

सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) :- सूक्ष्म शरीर का स्वरूप आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये पञ्चमहाभूत शरीर की उत्पत्ति के कारण हैं।[4] सांख्यकारिका में अठारह तत्त्वों के समुदाय को सूक्ष्मशरीर की संज्ञा दी गई है। यह अठारह तत्व बुद्धि, अहंकार, मन, दश इन्द्रियां और पञ्चतन्मात्राएं हैं पर चरकसंहिता में भूत चतुष्टय वाला ही लिंगशरीर स्वीकार किया गया है। 'भूतानिचत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीलानि विशन्ति गर्भम्। स बीजधर्मा

---

[1] च०शा०, 1.49,56

[1] . च० शा०, 1.75-76.

[2] च०शा०, 3.3 पर चक्रपाणि

[3] सु०शा०, 1.22

[4] . वायुस्तेज आपः पृथिवीति पञ्चमहाभूतानि शरीरहेतुरुच्यते। (काश्यप०, 79).

ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति-याति'।[1] आत्मा स्वयं निर्विकार, अजन्मा, अमर और सुख-दुःख रागद्वेषादि रहित है[2] परन्तु सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ वही धर्म-अधर्म का कर्ता सुख-दुःख रूप फलों का भोक्ता, राग, द्वेष, काम, क्रोध, जन्म-मरण आदि से आविष्ट होता है।[3] इस सूक्ष्म शरीर का निर्माण आकाश के अतिरिक्त चार भूतों से होता है। सूक्ष्मशरीर के निर्माण में आकाश की विशेष क्रिया न होने के कारण इसकी गणना नहीं की गई है। ये चारों महाभूत सर्वदा प्रत्येक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। इन्द्रियातीत भूतों के अतिरिक्त सूक्ष्मशरीर में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, और सत्व, रजस, तमस् ये तीन गुण भी सर्वदा विद्यमान रहते हैं।[1] इस सूक्ष्म शरीर में सत्त्व गुण की सात प्रकृतियां, रज गुण छः और तमोगुण की तीन प्रकृतियां भी रहती हैं। इसे लिंगशरीर या आतिवाहिक शरीर भी कहते हैं। सांख्यकारिका की टीका सुवर्णसप्ततिशास्त्र में बुद्धि, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा इन सात तत्वों को ही सूक्ष्मशरीर का घटक स्वीकार किया गया है।[2] गौडपाद मन को भी जोड़कर आठवां तत्व मानते हैं।[3] चरकसंहिता के अनुसार चेतना (आत्मा) का आश्रयभूत और पञ्चमहाभूतों के विकार के समष्टि रूप का नाम शरीर है[4] किन्तु काश्यपसंहिता में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पञ्चमहाभूत को शरीर की उत्पत्ति का कारण माना गया है।[5] शरीर इन पॉच महाभूतों का ही संघात है। इसमें जो चेष्टा या गति है वह वायु का भाग है, जो खोखलापन (ख) है वह आकाश का अंश है, ऊष्मा अग्नि का अंश है, द्रव्य जल का अंश है एवं ठोस पदार्थ पृथिवी का अंश है।[6] किन्तु महाभारत के एक स्थल पर तीस गुणों से युक्त समुदाय को शरीर की संज्ञा दी गयी है।[7]

---

[1] च०शा०, 2.35

[2] च०शा०, 4.33

[3] च०शा०, 2.37

[1] च०शा०, 2.31

[2] . बुद्धेरहंकारोऽजायत्। अहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्यजायन्त। एतानि सप्त सूक्ष्मशरीरम्। (सुवर्ण०, 40).

[3] . महदादि बुद्धिरहंकारो मन इति। पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्मपर्यन्तं...। (गौड०, 40).

[4] चरक शा०, 6.4

[5] . खं वायुस्तेज आपः पृथिवीति पञ्चमहाभूतानि शरीरहेतुरुच्यते। (का०सं०, 79).

[6] . महा०, 12.184.4.

[7] . महा०320.113.

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष परिदृश्यमान प्रत्येक व्यक्ति के स्थूल शरीर के अतिरिक्त उसका एक सूक्ष्म शरीर भी होता है जिसे लिंग शरीर के नाम से अभिहित किया जाता है।[1] वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह शरीर प्रलय के अन्त में अपने हेतु या प्रधान में लय हो जाता है इस कारण इसकी संज्ञा 'लिङ्ग" है।[2] मनुस्मृति में उल्लेख है कि जब (जीवात्मा) अणुमात्रिक होकर स्थावर अथवा जंगम बीज में प्रविष्ट होता है, तब वह स्थूल देह को धारण करता है।[3] मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने मूल श्लोक अणुमात्रिक शब्द का अर्थ पुर्यष्टक किया है।[4] फिर इस पुर्यष्टक का अर्थ 'भूत' इत्यादि अष्ट तत्त्व करते हुए उसके समर्थन में सनन्दन के नाम से यह श्लोक उद्धृत किया है- "**भूतेन्द्रियमनोबुद्धिर्वासना कर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः।**" यह श्लोक सनन्दन रचित किसी ग्रन्थ का उद्धरण है अथवा उक्ति, इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। कुल्लूक भट्ट के अनुसार पुर्यष्टक लिंग शरीर का ही दूसरा नाम है। इसके समर्थन में उन्होंने ब्रह्मपुराण का उदाहरण प्रस्तुत किया है कि सृष्टि आदि में जीवात्मा प्राण आदि आठ तत्त्वों से निर्मित पुर्यष्टक रूप लिंग शरीर से युक्त होता है। ब्रह्मपुराण के इस मत के समान ही सनन्दन का एतद्विषयक मत सांख्यसूत्र में कथित है जिसमें कहा गया है कि सनन्दनाचार्य के अनुसार पुरुष का भोक्तृत्व उसके लिंग शरीर से युक्त होने के कारण सम्पन्न होता है। जब तक लिंग शरीर है तब तक भोग्य भोक्तृत्व भाव है, जब लिंग शरीर का लय हो जाता है तब यह भाव नहीं रहता।[1]

यह लिंग शरीर कुल्लूक भट्ट के द्वारा उद्धृत सनन्दन सन्दर्भ के अनुसार भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वायु एवं अविद्या इन आठ तत्त्वों से बना है। आद्या प्रसाद मिश्र के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग में भूत से पञ्चमहाभूत या तन्मात्र और इन्द्रिय पद से दस इन्द्रियां गृहीत हैं। वायु पद से उन्होंने शरीरान्तर्गत प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान इन पञ्चविध प्राणों का ग्रहण किया है। इस प्रकार पुर्यष्टक रूप लिंग शरीर में अवान्तर संघटक तत्त्व पच्चीस होते हैं और ये हैं पञ्च कर्मेन्द्रियां, पञ्चज्ञानेन्द्रियां, पञ्चतन्मात्र, पञ्चप्राण, मन, बुद्धि, वासना, कर्म एवं अविद्या। वस्तुतः सनन्दन के युक्त सन्दर्भ में लिंग शरीर पद का सन्निवेश न होकर पुर्यष्टक पद का ही समावेश है क्योंकि आठ पुरियों की कल्पना

---

[1] सां०सू०, 6.69

[2] तत्त्वकौ०, 40

[3] मनुस्मृति 1.56

[4] मनुस्मृति टीका कुल्लूक भट्टकृत 1.56

[1] सांख्यसूत्र 6.69

को पूर्ण करने के लिए उन्होंने लिंग शरीर के पॉच भूत (तन्मात्र), दस इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, वायु (पांच प्राण) एवं अविद्या इन पुरियों का कथन किया है।[1]

सूक्ष्म शरीर कितने तत्त्वों से मिलकर बना है इसमें प्रायः मतभेद है। महाभारत में सत्रह तत्त्वों के समुदाय को शरीर की संज्ञा दी गयी है।[2] सुवर्णसप्ततिकार सात तत्त्वो- बुद्धि, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्रा के समुदाय को सूक्ष्म शरीर की संज्ञा देते हैं।[3] आचार्य गौडपाद[4] इन सात तत्त्वों में मन को सन्निविष्ट कर आठ तत्त्वों को सूक्ष्म शरीर में सन्निहित स्वीकार करते हैं। आचार्य माठर[1], जयमंगलाकार[2] एवं वाचस्पति मिश्र (४०) सूक्ष्म शरीर में अठारह घटक स्वीकार करते हैं किन्तु विज्ञानभिक्षु (३.9) एवम् उनके शिष्य भावगणेश[3] सूक्ष्म शरीर में बुद्धि, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र ये सत्रह तत्त्व ही स्वीकार करते हैं। इन्होंने अहंकार का अन्तर्भाव बुद्धि में ही कर लिया है। पुराणों के अनुसार भी सूक्ष्म शरीर में सत्रह तत्त्व निहित हैं।[4] यह सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न असक्त, नियत, महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्म तन्मात्रों से बना हुआ भोगरहित, धर्माधर्म इत्यादि भावोम् से युक्त लिंग शरीर संसरण करता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ही सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है। प्रकृति आदि सर्ग में ही प्रत्येक पुरुष के लिए पृथक्-पृथक् सूक्ष्म शरीर का निर्माण करती है। सूक्ष्म शरीर का आधार स्थूल शरीर है। यह बारम्बार धारण किए गये शरीर को त्याग कर नवीन स्थूल शरीर को धारण करता है क्योंकि यह छः कोषों के स्थूल शरीर के बिना भोगविहीन रहता है।[5]

यहॉ यह प्रश्न स्वतः उदीर्ण होता है कि सूक्ष्म शरीर का संसरण तो धर्म और अधर्म से होता है और ये धर्म-अधर्म बुद्धि में रहते हैं। जब सूक्ष्म शरीर का धर्माधर्म आदि के संयोग होता ही नहीं, तब वह कैसे संसरण करता है? इसके उत्तर में वाचस्पति मिश्र का कथन है कि सूक्ष्म शरीर में निहित एक तत्त्व बुद्धि भी है इसलिए सूक्ष्मशरीर भी

---

[1] . सां० ऐ० प०, पृष्ठ 153-154.

[2] शान्ति०, 351.15-16

[3] सुवर्णसप्तति 40

[4] गौडपादभाष्य 40

[1] माठरवृत्ति 40

[2] जयमंगला 40

[3] तत्त्वया० 5.6

[4] . अग्निपु०, 373.12-13, ब्रह्मपु०, 235.16.

[5] . सां० का० एवं तत्त्वकौ०, 40.

बुद्धि के द्वारा धर्माधर्म इत्यादि भावों से उसी प्रकार युक्त होता है जैसे सुगन्धित चम्पक पुष्प के सम्पर्क से वस्त्र उसकी सुगन्ध से सुवासित हो जाता है। इस प्रकार धर्माधर्म इत्यादि से युक्त होने के कारण सूक्ष्म शरीर संसरण करता है।[1]

मनुस्मृति के मेधातिथिभाष्य में कहा गया है कि सूक्ष्म शरीर की सत्ता न मानने में कुछ अन्य सांख्याचार्य भी विन्ध्यवासी के साथ हैं किन्तु इससे न तो इन सांख्याचार्यों के नाम आदि के सम्बन्ध में कुछ पता चलता है, न सूक्ष्म शरीर के न मानने के कारण के ही सम्बन्ध में कुछ विशेष पता चलता है। केवल भगवान् व्यास, जिसके मत के समर्थन में विन्ध्यवासी प्रभृति कुछ सांख्याचार्यों का उल्लेख किया गया है; के उद्धृत श्लोक में इतनी बात कथित है कि यतः इस देह के नष्ट हो जाने पर इन्द्रियां अन्य देह में प्रविष्ट हो जाती हैं अतः दो स्थूल देहों के बीच कोई सूक्ष्म देह नहीं रहता। इस प्रकार यद्यपि अन्य स्त्रोतों के माध्यम से विन्ध्यवासी के सूक्ष्म शरीर न मानने का पता चलता है, तथापि उसकी इस मान्यता के कारण का उनमें से किसी से कुछ पता नहीं चलता।[1] विन्ध्यवासी के विपरीत आचार्य पञ्चाधिकरण सूक्ष्म शरीर की सत्ता मानते हैं। माता-पिता के संसर्ग काल में कारणों में आविष्ट हुआ वैवर्त (सूक्ष्म) शरीर शुक्रशोणित में प्रविष्ट होकर कलल (शोणित मिश्रित वीर्य), बुद्बुद्, मांसपिण्ड़ इत्यादि अवस्थाओं में होता हुआ अंग-प्रत्यंग के पूर्ण हो जाने पर चैतन्य युक्त होकर माता के गर्भ से बाहर निकलकर पूर्वकृत धर्माधर्म के भोग के लिए स्थूल शरीर के पात (विनाश) होने तक अवस्थित रहता है। भोग द्वारा पुण्यापुण्य प्रारब्ध के क्षीण हो जाने पर जब स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है तब अवशिष्ट कर्म के धर्म प्राय होने पर तदनुसार धर्म संस्कृत करणों को स्वर्गलोक या दिव्ययोनि, अधर्मयुक्त करणों को नरकलोक या तिर्यग्योनि तथा धर्माधर्म युक्त करणों को पृथ्वी लोक या मनुष्ययोनि में प्राप्त कराने कि लिए सूक्ष्मशरीर की अपेक्षा होती है।

इस प्रकार इन्द्रियों को धारण या प्रापण कराने में समर्थ नित्य आतिवाहिक सूक्ष्म शरीर अनित्य बाह्य (स्थूल) शरीर के द्वारा निरन्तर परिवेष्टित और परित्यक्त रहता है। आचार्य पतञ्जलि[2] की सूक्ष्मशरीर विषयक धारणा अन्य दार्शनिकों से भिन्न है। पतञ्जलि स्थूल और सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति साथ-साथ स्वीकार करते हैं। पतञ्जलि के अनुसार सूक्ष्म शरीर एक न होकर अनेक होता है। इनके अनुसार सूक्ष्म शरीर प्रथम इन्द्रियों को बीजदेश

---

[1] तत्त्वकौ०, 40

[1] मनुस्मृति 1.55

[2] . युक्ति०, 39.

में ले जाता है, वहाँ से प्रारब्ध के अनुसार देवलोक या नरकलोक अथवा करणों तक पहुंचाकर निवृत्त हो जाता है और शरीर पात के समय दूसरे सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर अनेक होता है। यह क्रम प्रकृति पुरुष विवेक या प्रलयपर्यन्त चलता रहता है।

परन्तु चरकसंहिता में भूतचतुष्टय वाला ही लिंग शरीर स्वीकार किया गया है। आत्मा स्वयं निर्विकार, अजन्मा, अमर, सुख-दुःख, रागद्वेषादिरहित है परन्तु सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ वही धर्म-अधर्म का कर्त्ता, सुखदुःखरूप फलों का भोक्ता, रागद्वेष, कामक्रोध,जन्ममरण आदि से आविष्ट होता है।[1] इस सूक्ष्म शरीर का निर्माण आकाश के अतिरिक्त शेष चार भूतों (पृथ्वी, जल, तेज एव वायु) के अतिसूक्ष्म रूपों से होता है। सूक्ष्म शरीर के निर्माण में आकाश की गणना इसलिए नहीं की गई है कि अवकाश प्रदान के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर में उसकी विशेष क्रिया नहीं होती। ये चारों महाभूत सर्वदा प्रत्येक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। सूक्ष्म शरीर में इन्द्रियातीत भूतों के अतिरिक्त मन, बुद्धि, चित्त अहंकार और सत्व, रजस् तथा तमस् ये तीन गुण भी सर्वदा विद्यमान रहते हैं।[1] सत्व के उत्कर्ष के कारण होने वाली मन की सात प्रकृतियां[2],रजोगुण के आधिक्य से होने वाली छः प्रकृतियां[3] तथा तमोगुण के प्राबल्य से होने वाली तीन चित्त प्रवृत्तियां भी इस सूक्ष्म शरीर में रहती हैं।[4] इस सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर या आतिवाहिक शरीर कहते हैं। आत्मा के साथ (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) स्पर्श (सम्बन्ध) होने से इस शरीर को "**स्पृक् शरीर**" का नाम दिया जाता है।

सांख्यसूत्र में लिंगपद में एकवचन के प्रयोग के आधार पर विज्ञानभिक्षु ने सृष्टि के आरम्भ में समष्टिरूप से एक ही लिंग शरीर की सत्ता मानी है।[5] विज्ञानभिक्षु का कथन है कि यद्यपि सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ नाम का एक ही सूक्ष्म शरीर होता है अनन्तर उसी के अंश से जितने व्यक्ति होते जाते है उतने ही लिंग शरीर भी बनते जाते हैं क्योंकि उनके कर्मों का भोग होना है जो लिंग शरीर से ही हो सकता है।[6] अन्य सभी आचार्य सूक्ष्मशरीर को एक ही प्रकार का मानते हैं और वे उसे लिंग शरीर से अभिन्न समझते हैं परन्तु विज्ञानभिक्षु अधिष्ठान एवं लिंगभेद से सूक्ष्म

---

[1] च०शा०,2.27

[1] च०शा०, 2.31

[2] च०शा०, 4.37; सु०शा०, 4.81-87

[3] च०शा०, 4.38; सु०शा०, 4.89-93

[4] च०शा०, 4.39; सु०शा०, 4.95-97

[5] सांख्यसूत्र 3.9

[6] . यद्यपि सर्गादौ हिरण्यगर्भोपाधिरूपमेकमेव लिंगं तथापि तस्य पश्चाद् व्यक्तिभेदो व्यक्तिरूपेणांशतो नानात्वमपि भवति। (सां० प्र० भा०, 3.10).

शरीर के दो विभाग स्वीकार करते हैं। इसमें लिंग शरीर को आधेय एवं अधिष्ठान शरीर को आधार माना गया है। स्थूल शरीर से विहीन हो जाने पर अत्यन्त सूक्ष्म लिंग शरीर को एक लोक दूसरे लोक में गमन कराने अथवा ले जाने कारण इसे आतिवाहिक शरीर भी कहा जाता है। यह आतिवाहिक शरीर सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों का ही नामान्तर है। यह शरीर परिमाण अथवा माप में अंगुष्ठ के बराबर होता है। उनका कथन है कि सकल शरीर में व्याप्त लिंग शरीर स्वतः तो अंगुष्ठ मात्र हो नहीं सकता अतः उसके आधार का ही यह परिमाण हो सकता है। जैसे समस्त गृह में अपने प्रकाश द्वारा व्याप्त दीप-तैलसिक्त बत्ती आदि पार्थिव अंश के कलिकाकार होने से स्वयं भी कलिकाकार हो जाता है वैसे ही समस्त शरीर में व्याप्त लिंग शरीर भी अपने अधिष्ठानभूत सूक्ष्मभूतों के अंगुष्ठपरिमाण वाला होने से अंगुष्ठमात्र हो जाता है। इस अधिष्ठान शरीर का भी आधार वे स्थूल शरीर को स्वीकार करते हैं।[1]

16. अपवर्ग एवं शरीर :-

चरक के अनुसार निवृत्ति मार्ग को अपवर्ग कहते हैं, जो अपवर्ग सर्वश्रेष्ठ और शान्त, अविनाशी एवं ब्रह्मस्वरूप है, वही मोक्ष है।[2] आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थों के सन्निकर्ष से सुख और दुःख दोनों होते हैं। जब आत्मा में मन स्थिर होता है तब शरीर के साथ आत्मा वशी हो जाती है। यही योग मोक्ष को दिलानेवाला होता है। मन में जब रजस् और तमस् का अभाव होता है और बलवान् कर्मों का क्षय हो जात है तब मन का कर्म-संयोग से वियोग हो जाता है। यही अपुनर्भव (मोक्ष) है जिसके पश्चात् जन्म नहीं होता। इस प्रकार मोक्ष में आत्यान्तिक वेदनाओं का नाश हो जाता है।[3] चरक ने विपाक, विरज, शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्मा, निर्वाण और शान्ति को मोक्ष या मुक्ति का पर्याय माना है।[4] चरकसंहिता के अनुसार जब तत्त्वस्मृति से समूल वेदानाएं शान्त हो जाती हैं तव भूतात्मा ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।[5] करण आदि का परित्याग करने से उसे मुक्त कहा जाता है।[6]

---

[1] सां०सू०, 5.103 पर भाष्य

[2] . निवृत्तिरपवर्गः, तत् परं प्रशान्तं तत्तदक्षरं तद्ब्रह्म स मोक्षः। (च०शा०, 5.16).

[3] शा०, 1.137-39

[4] . विपाकं विरजः शान्तं परमक्षरव्ययम्।
अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते॥ (च० शा०, 5.23).

[5] च. शा०, 1.155

[6] च.शा०, 5.22

- **जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति :-**

जिस प्रकार नर्तकी रंगस्थ दर्शकों के समक्ष उपस्थित होने के पश्चात् पुनः नृत्य नहीं करती, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकट कर देने के बाद फिर प्रवृत्त नहीं होती। इससे पुरुष को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और वह इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त कर लेता है, यही जीवन्मुक्ति है। यह अवस्था आत्म-ज्ञान की है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से संचित धर्म-अधर्म इत्यादि कर्मों का बीजभाव नष्ट हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट संस्कारों के सामर्थ्य से साधक वैसे ही शरीर धारण किए रहता है जैसे दण्ड से चलाई गयी कुम्हार की चाक पुनः दण्ड चालन न होने पर भी पूर्व उत्पन्न वेग से घूमती रहती है और समय आने पर वेग के नष्ट हो जाने पर रुकती है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के बाद भी धर्मादि भावों के संस्कार फलस्वरूप ज्ञानी का शरीर स्थिर रहता है। शरीर के रहते ही जिन शुभ और अशुभ कर्मों ने फल देना प्रारम्भ कर दिया वे तो फल का भोग करके ही क्षीण किये जा सकते हैं किन्तु प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने पर पुरुष का शरीरपात हो जाता है और वह विदेहमुक्ति को प्राप्त करता है। मृत्यु के अनन्तर देह के विनाश होने पर मुक्त पुरुष का जो सूक्ष्मादि शरीर से सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, वही विदेहमुक्ति है। जिन कर्मों का फलभोग आरम्भ हो गया, भोग द्वारा उनके क्षीण होने पर जब द्विविध शरीर का विनाश हो जाता है तब भोग एवं अपवर्ग द्विविध प्रयोजन के सिद्ध हो जाने के कारण त्रिविध दुःखों की ऐकान्तिक और आत्यान्तिक निवृत्ति हो जाती है। विज्ञानभिक्षु विदेहमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते हैं। उनके अनुसार जब तक आत्मा का सम्बन्ध सूक्ष्मादि शरीर से है तब तक शारीरिक और मानसिक विकारों से उसका सम्बन्ध पूर्णतः विच्छिन्न नहीं हो सकता।

सांख्य और वेदान्त की मोक्ष विवेचना में अन्तर है। अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की अवस्था को आनन्दमय माना गया है।परन्तु सांख्य इसे स्वीकार नहीं करता क्योंकि आनन्द तो सत्त्वगुण का कार्य है और इस सत्त्व के साथ रजस् एवं तमस् भी सूक्ष्म रूप से सम्बद्ध रहते हैं। मोक्ष त्रिगुणातीत अवस्था है अतः मोक्ष आनन्दमय नहीं हो सकता। सांख्य मोक्ष की अवस्था में दुःखत्रय का पूर्ण विनाश मानता है इस कारण मोक्ष में आनन्द का कोई स्थान नहीं है। सांख्य की मुक्ति अभावात्मक एवं वेदान्त की मुक्ति भावात्मक है।[1] सांख्यकारिका में मोक्ष के भेदों का उल्लेख नहीं है किन्तु तत्त्वसमाससूत्र में मोक्ष के त्रिविध भेदों का उल्लेख है। इनमें से प्रथम मोक्ष ज्ञान के द्वारा, द्वितीय राग या रजोगुण के क्षय से तृतीय कृच्छ्र-कर्म (तपस्या) के क्षय से होता है। ज्ञान द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्ष के व्याख्यान का

[1] तत्त्वकौ०, 67, 68

निरूपण करते हुए आचार्य भावगणेश का यह कथन है कि ज्ञान के उद्रेक से अविद्या की निवृत्ति हो जाया करती है। इस प्रकार से यह ज्ञान स्वरूपात्मक मोक्ष हुआ। उन्होंने रागसक्षय का अर्थ इन्द्रियों का उपशमन किया है अर्थात् जब इन्द्रियां अपने तत्तद् विषयों में आसक्त नहीं होती तो यह रागसंक्षय नामक मोक्ष है।कृच्छ्र का अर्थ उन्होंने धर्म एवं अधर्म की अनुपपत्ति के स्वरूप का प्रकटीकरण है यही तृतीय प्रकार का मोक्ष है। यह तीनों प्रकार के मोक्ष ज्ञान के द्वारभूत होने के कारण गौण माने गये हैं किन्तु मुख्य मोक्ष वह जहॉ त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है।[1]

निष्कर्ष :-

प्राचीन भारतीत दार्शनिक परम्पराओं का परम लक्ष्य शुद्ध ज्ञान आधारित सुख (आनन्द) प्राप्ति तथा संसार के दु:खों से निवृत्ति जिज्ञासा के फलस्वरूप अनेक चिन्तनधारायें विकसित हुईं, जिनका उद्देश्य परमसत्ता को जानना है। उपर्युक्त दार्शनिक विवेचन में सूक्ष्मशरीर के दार्शनिक पर्यालोचन पर बल दिया गया है। भारतीय दार्शनिक विद्वानों में यह मतभेद हमेशा से बना रहा है कि इन अच्छे- बुरे संस्कारों का वाहक आत्मा है या सूक्ष्मशरीर ? आत्मा इन संस्कारों का वाहक नही हो सकता क्योंकि आत्मा किसी का साधन स्वीकार करने पर उसकी सर्वव्यापकता पर प्रश्न खड़ा हो सकता। आत्मा शाश्वत, नित्य, अपरिणामी एवं बन्धन रहित है। यदि आत्मा को संस्कारों का वाहक मान लिया जाता है जडत्व दोष के कारण उनमें अनित्यता का दोष आ जायेगा तथा जो जड़ तत्त्व है उसका नाश निश्चित है। यदि आत्मा को अनित्य तत्त्व मान लिया जाता है तो वैश्विक स्तर पर अनेक समस्यायें विश्वजगत के सामने सम्पुस्थित हो जाती है। जैसे कि आत्मा की नित्यता सिद्धान्त के कारण मनुष्य में आशावाद का भावना में प्रवृत्ति तथा निराशावाद की भावना से निवृत्ति मिलती है। जिसके चलते व्यक्ति में यह पुनर्जन्म लेने की भावना बनी रहती है तथा दूसरा वह जीवन के अन्तिम अवस्था के दौर में वह इस आशा के साथ नश्वर शरीर का परित्याग करने के लिये तैयार रहता है कि अगले जन्म में योग-साधाना के माध्यम से कलुषित कर्मों के सस्कारों से मुक्ति पाने का प्रयास करेगा। यहाँ आत्मा कर्मों के संस्कारो का वाहक नही है। और नश्वर शरीर भी कर्मो के संस्कारों का वाहक नही हो सकता क्योंकि व्यवहारिक जगत में यह प्रत्यक्ष ज्ञान से क्षणभगुर परिलक्षित होता है। सूक्ष्मशरीर की अवधारणा से पुनर्जन्म की गुत्थियों को समझा जा सकता है। सूक्ष्म शरीर ही वह माध्यम है जो एक जन्म से

[1] तत्त्वया०, 22

दूसरे जन्म हमारे अच्छे-बूरे संस्कारों को ले जाने वाला वाहक है। सूक्ष्म शरीर के सन्दर्भ में भारतीय ज्ञान परम्परा की मतैक्यता नही है। सभी दार्शनिक परम्पराओं की दार्शनिक पृष्टभूमि अलग- अलग होने कारण सूक्ष्म शरीर की तत्त्वमीमांसा भिन्न-भिन्न है। भारतीय दर्शन में पुनर्जन्म की अवधारणा को चार्वाक को छोड़कर प्राय: सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। आत्मा के भोगादि के लिए एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर में जाने के लिए भी साधन की अपेक्षा रहती हैं। यह साधन सूक्ष्म शरीर ही हैं। इस जन्म-मरण की गति में यह हमेशा आत्मा के साथ बना रहता हैं। आत्मा का वाहन सूक्ष्म शरीर को कहा जाता हैं। समस्त सर्गकाल में आत्मा इसी में स्थित होकर अपनी समस्त गतिविधियाँ सम्पन्न करता हैं। यह आत्मा और स्थूल शरीर के मध्य सदैव बना रहता हैं। इस तरह सूक्ष्म शरीर आत्मा का अधिष्ठान कहा गया हैं। सूक्ष्म शरीर का वास्तविक उपयोग, आत्मा के लिए सुख-दु:खादि समस्त भोगों को प्रस्तुत करना तथा समाधि द्वारा तत्त्वज्ञान का सम्पादन करना हैं। शुद्ध आत्मा भोगों को करने में असमर्थ रहती है फलस्वरूप आत्मा को अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए एक ऐसे साधन की अपेक्षा रहती है, जो भोग से लेकर अपवर्ग या मोक्ष पर्यन्त सर्वदा उसका सहयोग कर सके, सूक्ष्म शरीर ही वह साधन हैं। सूक्ष्म शरीर आत्मा तथा स्थूल शरीर के मध्य की योजक- कड़ी हैं। कठोपनिषद् में अंगुष्ठपरिणाम पुरुष को शरीर के मध्य में स्थित बताया गया है – **अंगुष्ठमात्रः पुरुषों मध्य आत्मनि तिष्ठति**।[1] वह अंगुष्ठमात्र पुरुष धूम रहीत ज्योति के समान है।[2] अंगुष्ठमात्र पुरुष को जीवों के हृदय में स्थित उनका अन्तरात्मा है।[3] श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसके सन्दर्भ में कहा गया है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार अनुसार शरीरस्थ आत्मा उत्तरोत्तर नाना-स्थानों पर जन्म लेता है । वह अपनी प्रकृति के गुणों की शक्ति के अनुसार वह बहुत-से स्थूल और सूक्ष्म रूप धारण करती है। यहाँ सूक्ष्माणि से तात्पर्य सूक्ष्म शरीर से है।[4] बृहदारण्यक उपनिषद् में मृत्यु व अन्य शरीर प्राप्ति में कितना समय लगता है। इस सन्दर्भ में कहा गया है कि जैसे तृण जलायुका (सुंडी=कोई कीड़ा विशेष) तिनके के अन्त पर पहुँच कर, दूसरे तिनके को सहारे के लिए पकड़ लेती है अथवा पकड़ कर अपने आपको खींच लेती है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीररूपी तिनके को परे फेंक कर अविद्या

---

[1] कठ.उप.१/२/१२

[2] अङ्गुष्ठमात्रः पुरूषो ज्योतिरिवाधूमकः। कठ.उप.१/२/१३

[3] कठ.उप.१/६/१७

[4] कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रद्यते । .

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति॥ -श्वेताश्वतरोपनिषद ५.११, १२

को दूर कर, दूसरे शरीर रूपी तिनके का सहारा लेकर अपने आपको खींच लेता है। मृत्यु के बाद दूसरा शरीर प्राप्त होने में इतना ही समय लगता है, जितना कि एक कीड़ा एक तिनके से दूसरे तिनके पर जाता है अर्थात् दूसरा शरीर प्राप्त होने में कुछ ही क्षण लगते हैं। कुछ ही क्षणों में (सूक्ष्म शरीर) जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है।[1] उपनिषदों ने पाँच प्रकार के शरीरो की चर्चा मिलती है। पहला हाड्मास से दिखाई देने वाला अन्नमय शरीर है । दूसरा अन्नमय शरीर को शक्ति प्रदान शरीर प्राणमय शरीर है उर्जा उत्पन्न होती है। विज्ञानं इसे Bio-energy कहा गया है। जिससे मन की इच्छायें, कामनायें, प्राणमय शरीर की उर्जा में परिवर्तित होकर शरीर से क्रियाओं से इच्छायें पूर्ण होती हैं उस तीसरे शरीर को मनोमय शरीर है कहा गया है। चौथा विज्ञानमय शरीर है यहाँ ज्ञान की धारायें बहती हैं और अपने प्रभाव से मन को नियंत्रित करने का प्रयास करती हैं। पाँचवा शरीर आनंदमय शरीर है। इससे जीवन में कभी सुख महसूस होता है तो उसकी तरंगे इसी शरीर से फूटती है जिससे व्यक्ति के ज्ञान, मन, प्राण और आनंदमय शरीर सभी आनंद और संतुष्टि महसूस करते है। इन पाँचों शरीरों के पीछे वो अशरीरी 'आत्मा' निवास करता है जो परमात्मा का अंश है।

भारतीय ज्ञान परम्परा जहाँ सूक्ष्म शरीर को संस्कारों के वाहक का माध्यम मानते है, वहीं विज्ञान ने डी.एन.ए एवं माइक्रोटयूबुल्स के माध्यम से गुणों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक गुणों का वाहक माना गया है। चार्वाक दर्शन की अवधारणा भौतिकता पर आधारित होने के कारण जीव भौतिक शरीर से भिन्न नहीं है। शरीर ही जीव या आत्मा है। स्थूल भौतिक शरीर का विनाश जब मृत्यु के उपरान्त दाह संस्कार होने के बाद हो जाता है, तब ही जीव या जीवात्मा भी विनष्ट हो जाता है। शरीर में जो चार महाभूतों का समवधान है, यह समवधान ही चैतन्य का कारण है। मृत्यु के अनन्तर सूक्ष्म शरीर परलोक चला जाता है यह मान्यता तभी निराधार सिद्ध हो जाती है जब चार्वाक दर्शन भौतिक शरीर को ही चेतन या आत्मा स्वीकार करता है तथा मृत्यु के बाद पुनर्जन्म की अवधारणा को अस्वीकार करता है।

---

[1] "तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानम् उपसँहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्य् आत्मानमुपसंहरति। -बृ. ४.४.३

जैन आगम ग्रन्थों में कार्य कारण आदि के सादृश्य की दृष्टि से शरीर पाँच प्रकार के बताये गये हैं[1]- औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर एवं कार्मण शरीर। इन्होनें सूक्ष्मशरीर की तरह व्यवहार करने वाले तैजस शरीर एवं कार्मण शरीर को माना है, जो कि तैजस परमाणुओं द्वारा निष्पन्न होता है। जिसके द्वारा दीप्ति, पाचन तथा आभामण्डल का निर्माण होता है तथा जो तेजोलब्धि का निमित्त बनता है।[2]

सुत्तपिटक (दीघनिकायपालि) सीलक्खन्धवग्ग नामक ग्रन्थ के पोट्ठपादसुत्त के अन्तर्गत प्रोष्ठपाद परिव्राजक तथा भगवान बुद्ध के मध्य हुए वार्तालाप में १ औदारिक स्थूल शरीर का ग्रहण, २ मनोरूप शरीर ग्रहण एवं ३ अरूप (अभौतिक) शरीर ग्रहण तीन प्रकार के शरीर की चर्चा मिलति है। इनमें मनोमय शरीर ग्रहण को सूक्ष्मशरीर कहा गया है। यह रूप स्कन्ध को नियन्त्रित करता है। इस पर स्थूल औदारिक शरीर आश्रित है। यह स्वयं की इच्छा के अधीन होता है। कई जगह विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक कर्मों के संस्कारों का वाहक सूक्ष्मशरीर के स्थान पर आलयविज्ञान के माध्यम से समझाया गया है। हीनयान के मतानुसार जब तृष्णा तथा इच्छायें समाप्त हो जाती है तब सब समाप्त हो जाता है जिस प्रकार तेल समाप्त हो जाने पर दीपक की रोशनी स्वतः समाप्त हो जाती है।

वैशेषिक दर्शन में स्वरूप की दृष्टि से शरीर का चतुर्विध विभाजन किया है- पार्थिव, जलीय,तैजस एवं वायव्य शरीर। इसमें पार्थिव शरीर को योनिज शरीर कहा गया है, जो कि पृथिवी-परमाणुओं से निर्मित माना गया है। इसमें योनिज को जरायुज एवं अण्डज दो प्रकार से तथा अयोनिज को स्वेदज तथा उद्भिज्जद दो प्रकार बताये गए हैं। मनुष्यों और चतुष्पदों के शरीर जरायुज जैं, पक्षियों और सरीसृपों के अण्डज, कृमिकीटादि के स्वेदज तथा तृणगुल्मादि के शरीर उद्भिज्ज हैं।[1] प्रशस्तपाद में सूक्ष्मशरीर की तरह व्यवहार वाला आतिवाहिक शरीर को माना गया है।[2] इसी आधार लेकर व्योमवतीकार और न्यायकन्दलीकार ने भी मृत स्थूल शरीर के ही समीप में एक अतिसूक्ष्म, उपलब्धि के सर्वथा अयोग्य आतिवाहिक शरीर की कल्पना की है जिसकी उत्पत्ति सक्रिय परमाणुओं के

---

[1] ठांण 5/25

[2] जैपाश 132

[1] किरणा, पृ.५७-५८

[2] ततः शरीराद्वहिरपगतं ताभ्यामेव धर्माधर्माभ्यां समुत्पन्नेनातिवाहिकशरीरेण सम्बध्यते.....। प्र.पा.भा,पृ.२७२

द्वारा द्वयणुकादि क्रम से होती है। इन परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति अदृष्ट होती है। मन को मृत शरीर से छुड़ाकर स्वर्गादि देशों में अतिवहन करके ले जाने के कारण इसे आतिवाहिक शरीर कहते है[1]

शैव दर्शन में सूक्ष्म शरीर को आठ अष्टकों से मिलकर होने के कारण पोर्यष्टक कहा जाता है। यह शरीर प्राप्त करके कर्म के वश में होकर नाना प्रकार के जन्म प्राप्त करता है। तत्त्वप्रकाशकार भोजराज ने पुर्यष्टक का लक्षण दिया है-- ***"स्यात्पुर्यष्टकमन्तःकरणं धीकर्मकरणानि।"*** अर्थात् अन्त:करण(मन, बुद्धि, अहंकार तथा सात कलादि) धी अर्थात् बुद्धि के कर्म(पांच भूत,+ पांच तन्मात्र) और करण अर्थात् साधन(दस इन्द्रियां, क्योंकि यह ज्ञान व कर्म के साधन हैं)- इसे पुर्यष्टक कहा गया हैं। कैवल्य दर्शन में सूक्ष्म शरीर सत्तरह तत्त्वों का बना होता है।[1]

वेदान्त के अनुसार, तमोगुणप्रधान किन्तु रजस् एवं सत्त्व की यत्किञ्चित् सत्ता से युक्त विक्षेप शक्ति सम्पन्न अज्ञानोपहित चैतन्य अर्थात् ब्रह्म ही सृष्टि का कारण हैं। उससे सर्वप्रथम सूक्ष्मतन्मात्रारुप आकाश की उत्पत्ति होती है क्रमश: आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से सूक्ष्मतन्मात्रारुप पृथ्वी की उत्पत्ति होती हैं।[2] इन्हीं से सूक्ष्मभूत अपञ्चीकृत आकाशादि से सूक्ष्मशरीर, पञ्चीकृतमहाभूत आदि की उत्पत्ति होती है तथा पञ्चीकृत महाभूतों से स्थूलशरीर उत्पन्न होते हैं। सूक्ष्मभूत अपञ्चीकृत आकाशादि से सूक्ष्मशरीर की उत्पत्ति होती हैं। इसे किसी भी प्रकार से देख अथवा छू नहीं सकते, इसी कारण इसे सूक्ष्मशरीर कहा जाता हैं। इसका ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा होता हैं। इसका अपर नाम 'लिंगशरीर' भी हैं। इसे लिंग दो अर्थों में कहा जाता है- **लिंगयते ज्ञाप्यते यत् तत् लिंगम्-** इस व्युत्पत्ति से अर्थ है, जो लिंगित हो अर्थात् अनुमान प्रमाण से ज्ञात हो। **लिंगयते ज्ञाप्यते अनेन**- इस व्युत्पत्ति से अर्थ् है, अनुमापक शरीर अर्थात् यह शरीर आकाशादि सूक्ष्मभूतों का अनुमापक हैं। सदानन्द ने भी सूक्ष्मशरीर को १७ अवयवों से निर्मित लिंग शरीर कहा है- **सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिंगशरीराणि।** [3]पञ्चज्ञानेन्द्रियां,

---

[1] न्या.क.पृ.७३८-३९

[1] एतानि मनोबुद्धिभ्याम् सह सप्तदशसूक्ष्मागानि। लिंगशरीरस्य।-कैवल्य दर्शनम्,१०

[2] तम:प्रधान विक्षेपशक्ति मदज्ञानोपहितचैतन्याकाश आकाशद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोदभ्य:पृथिवी चोत्पधते तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूतं इत्यादिश्रुते:।वेदान्तसार571

[3] वेदान्तसार से,61

पञ्चकर्मेन्द्रियां, पञ्चवायु तथा बुद्धि एवं मन आदि ये सत्रह अवयव हैं।[1] सूक्ष्मशरीर अभिव्यक्ति की प्रक्रिया सृष्टि में जड़ता का प्राधान्य होने के कारण ईश्वर को भी तमोगुण से युक्त विक्षेपशक्ति से उपहित माना जाता हैं। ये पांचों तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और व्यक्त नहीं होते, अत: इन्हें सूक्ष्मभूत या तन्मात्रा कहा जाता हैं। इन तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश से पृथक-पृथक पांच इन्द्रियों की उत्पत्ति होती हैं।[1] आकाश तन्मात्रा से श्रोत्र, वायु तन्मात्रा से स्पर्श, अग्नि तन्मात्रा से चक्षु, जल तन्मात्रा से जिह्वा तथा पृथ्वी तन्मात्रा से घ्राण इन्द्रिय की उत्पत्ति होती हैं। इन पांचों का निवास स्थान क्रमश: कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा तथा नासिका में है और ये क्रमश: शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध का अनुभव कराती हैं।[2] आकाश तन्मात्राओं के सात्त्विक अंश की समष्टि से बुद्धि और मन नाम की दो वृत्तियों की उत्पत्ति होती हैं। बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति[3] तथा मनस् संकल्प विकल्पात्मिका वृत्ति हैं।[4] चित्त का बुद्धि में और अहंकार का मन में अन्तर्भाव हैं।[5] ये सभी प्रकाशस्वरूप है अर्थात् बाह्य संसार का ज्ञान कराती है, अत: इनको सत्त्वगुण से उत्पन्न माना गया हैं।[6] आकाशादि के राजसिक अंश से इसी प्रकार से कर्मेन्द्रियों और प्राणों की उत्पत्ति होती हैं।[7] कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति आकाशादि तन्मात्राओं से पृथक-पृथक होती हैं।[8] रजोगुणप्रधान आकाश से वाक्, रजोगुणप्रधान वायु से

---

[1] बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैमनसा धिया।
शरीरं सप्तदशाभि: सूक्ष्मं तल्लिंहमुच्यते॥पञ्चदशी १/२३

[1] तेषु जाडयाधिक्यदर्शनात्तम: प्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्वरजस्तमांसि कारणगुणक्रमेण तेष्वाकाशादिपूत्पद्यन्ते। वेदान्तसार,58

[2] ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि।वेदान्तसार,63

[3] बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्त: करणवृत्ति:।वेदान्तसार,65

[4] मनोनाम संकल्पविक्लपात्कान्त:करणवृत्ति।वेदान्तसार,66

[5] अनयोरेव चित्ताहकांरयोन्तर्भाव:।वेदान्तसार,67

[6] एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते।वेदान्तसार,70

[7]. रजोSशै: पञ्चभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियाणि तु।वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे।।पञ्चदशी।

[8] एतानि पुनराकाशादीनां रजोSशेभ्यो व्यस्तेभ्य: पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। वेदान्तसार,76

पाणि (हाथ) , रजोगुणप्रधान अग्नि से पाद, रजोगुणप्रधान जल से मलविसर्जन करने वाली कर्मेन्द्रिय पायु और रजोगुणप्रधान पृथ्वी से जननेन्द्रिय उपस्थ की उत्पत्ति होती हैं। प्राणों की उत्पत्ति पांच तन्मात्राओं से होती हैं। प्राणवायु पांच है- प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान।[1] प्राण-वायु नासिका के अग्रभाग में रहने वाली है, सामने की ओर गमन करने वाली हैं।[1] अपान वायु गुदा आदि स्थानों में रहने वाली है, नीचे की ओर गमन करने वाली हैं।[2] व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में निवास करने वाली, सब ओर गमन करने वाली हैं।[3] उदान वायु कण्ठ में रहता हुआ जीवात्मा को उपर ले जाती हैं।[4] समान वायु उदर में रहती है जो कि भोजन का परिपाक एवं विभाग करती हैं।[5] वेदान्त दर्शन में पञ्चकर्मेन्द्रियों, पञ्चज्ञानेन्द्रियों, पञ्च प्राणों, मन एवं बुद्धि इन सभी सत्रह तत्वों के योग से सूक्ष्म शरीर बनता हैं। इन्हीं सत्रह अवयवों को तीन कोशों- विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश तथा प्राणमय कोश में वर्गीकृत किया गया हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं।[6] पञ्चज्ञानेन्द्रियों सहित मन को मनोमय कोश कहते हैं।[7] पञ्चकर्मेन्द्रियों एवं पञ्च प्राणों को प्राणमय कोश कहते हैं।[8] इनमें से विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से युक्त है, अतः कर्त्ता कहलाता हैं। इस कोश से युक्त चैतन्य जीव कहलाता हैं। मनोमयकोश इच्छाशक्तिसम्पन्न है, अत: विवेक का साधन कहलाता है तथा प्राणमय कोश गमनादि क्रियासम्पन्न है, अत: कार्यस्वरूप हैं। स्वयोग्यता के आधार पर ही इनका क्रमश: कर्ता, करण तथा कार्य इन नामों से विभाग किया गया हैं। ये तीनों मिलकर ही सूक्ष्म

---

[1] वायव: प्राणपानव्यानोदानसमाना:।।वेदान्तसार,77

[1] प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती।।वेदान्सार,78

[2] अपानो नामावाग्गमनवान् पाय्वादिस्यानवर्ती।।वेदान्तसार,79

[3] व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती।।वेदान्तसार,80

[4] उदानो नाम कण्ठस्थानीय उर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायु:।।वेदान्तसार81

[5] समानो नाम शरीरमध्यगतशितपीतान्नादिसमीकरणकर:।वेदान्तसार,82

[6] इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियै: सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। वेदान्तसार,72

[7] मनस्तु ज्ञानेन्द्रियै: सहितं सन्मनोमयकोशो भवति। वेदान्तसार,73

[8] इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियै:सहितं सत्प्राणमयकोशोभवति। वेदान्तसार,88

शरीर कहलाते है।[1] वेदान्त दर्शन के अनुसार जीव, ईश्वर एवं ब्रह्म ये तीनों उपाधि भेद से पृथक-पृथक हैं किन्तु तत्त्वत: एक ही हैं। जीव का तीन तरह के शरीरों से संबंध होता है- कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर। सृष्टि के प्रारम्भ में जीव कारण शरीर का आश्रय लेकर विद्यमान रहता हैं। ब्रह्म जब शुद्ध सत्वप्रधान अज्ञान से आवृत होता है तो इसे ईश्वर, अव्यक्त, अंतर्यामी या जगत का कारण कहते हैं इसे ही 'कारण शरीर' कहते हैं। आनंद का प्राचुर्य रहने से इसे आनंदमय कोश भी कहते हैं। यह प्रलयकाल तक बना रहता हैं। सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर का यह लय स्थान होता हैं। द्वितीय- अनुमेय सूक्ष्म शरीर अपञ्चीकृत महाभूतों से निर्मित होता हैं। इसी के माध्यम से जीव सुख-दुख का भोग या अनुभव करता हैं। तृतीय- स्थूल शरीर आकाशादि सूक्ष्म भूतों के पञ्चीकरण के बाद आकाशादि स्थूल भूतों का निर्माण होता है ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती हैं। ब्रह्माण्ड में जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज यें चार प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं। इन्हें सांख्य दर्शन में स्थूल शरीर से अभिहित किया गया हैं।

वेदान्त परम्परा में जीव या अपर लिंग शरीर की चार अवस्थाओं के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है। जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर का अभिमानी जीव 'विश्व' कहलाता है।[1] इस अवस्था में यह घटपटादि ज्ञान से युक्त होने के कारण तथा आत्मा अन्नमयकोश में आबद्ध रहती है। जीव या सूक्ष्म शरीर का पुनर्वापसी की अवस्था में रहते हुये क्रियाशील अवस्था में शरीर से बाहर रहना ही जीव की स्वप्नवास्था है। स्वप्न अवस्था का तैजस सूक्ष्मशरीररूप कार्य से उपहित रहता है तथा मूल अज्ञानव्यष्टि का कारणशरीर भी उपहित रहता है। अतः इसे कार्य-कारण बद्ध माना गया है। जिस अवस्था में सब प्रकार की प्रतीति प्रशान्त हो जाती है और अन्तःकरण सूक्ष्म बीज-रूप से शेष रहता है, वही सुषुप्ति अवस्था है।[2] कारण शरीर की प्रवृत्ति सत्त्व, रजस् एवं तमस् त्रिगुणात्मक बताई गई है। जब सूक्ष्म शरीर का साधना या ध्यान आदि के माध्यम से आत्मा या कारण शरीर से मिलकर स्थूल शरीर से

---

[1] एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान कर्तरूप:। मनोमय इच्छाशक्तिमान करणरूप:। प्राणमय: क्रियाशक्तिमान कार्यरूप:। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं। सत्सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते। वेदान्तसार,89

[1] बाह्यान्तःकरणेवं देवतानुग्रहान्वितैः।

स्वस्व च विषयज्ञानं तज्जागरितमुच्यते।– सुरेश्वराचार्य, पंचीकरणवार्तिक, वा.२९, पृ.२६

[2] सर्वप्रकारप्रमितिप्रशान्तिबीजात्मनावस्थितिरेव बुद्धेः।

सुषुप्तिरेतस्य किल प्रतीतिः किंचिन्नचेद्यीति जगत्प्रसिद्धेः॥ -विवेकचूड़ामणि,१२१

बाहर एकाकार अवस्था में स्थित रहना ही तुरीयावस्था है। वेदान्त में अवस्थाओं के माध्यम से शरीर का दार्शनिक सम्बन्ध समझाया गया है।

सूक्ष्मशरीर के माध्यम से पुनर्जन्म कर्मों की अव्यवस्थित व्यवस्था को व्यवस्थित करने का अवसर प्रदान करती है। मनुष्य अच्छे कामों से अच्छा और बुरे कामों से बुरा बनता है। जीवात्मा स्थूलशरीर मनो-ध्यान के माध्यम से सत्, रजस् तथा तमस् के मल को त्यागकर अपने शुद्ध ब्रह्म आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है ,वही सूक्ष्मशरीर की मुक्त अवस्था है।[1] इस अवस्था को जीवात्मा स्थूलशरीर के माध्यम से मनोध्यान के सतत अभ्यास करने से निर्विकल्पक समाधि में ब्रह्म में लीन हुआ जीव अद्वितीय ब्रह्मरस का अनुभव करता है।[2] यह स्थूल शरीर असत्, अनित्य एवं आसक्त स्वभाव है। इसकी देह के साथ तादात्म्य रखने वाली बुद्धि के कारण जन्मादि दुःख निकलते रहते है। यदि मन से स्थूलशरीर का तादात्म्य भाव नष्ट हो जाय तो शरीर का पुनर्जन्म नही होगा।[3]

सांख्य-योग दर्शन में तेरह करण (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार) तथा पञ्च-तन्मात्रायें, इन अट्ठारह तत्त्वों का यह समूह सूक्ष्म शरीर कहलाता हैं।[4] सांख्य दर्शन के अनुसार मनुष्य जो भी शुभ और अशुभ कार्य करता हैं उसके परिणाम-स्वरूप संस्कार बनते हैं। इन संस्कारों को ही भाव कहते हैं।[5] ये संख्या आठ में है:- धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये सात्त्विक भाव तथा इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये तामस् भाव हैं। बुद्धि इन्हीं से संयुक्त होकर सूक्ष्म शरीर की रचना करती हैं। सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों में से तेरह करणों

---

[1] यथा सुवर्णं पुटपाकशोधितं त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं ध्यानेन सन्त्यज्य समेति तत्त्वम॥ विवेकचूडामणि, ३६२

[2] निरन्तराभ्यासवशात्तदित्थं मनो ब्रह्माणि लीयते यदा।
तदा समाधिः सविकल्पवर्जितः स्वतोऽद्वयानन्दरसानुभावकः। विवेकचूडामणि, ३६३

[3] देहात्मधीरेव नृणामसद्धियां जन्मादिदुःखप्रभवस्य बीजम्।
यतस्ततस्त्वं जहि तां प्रयत्नात्त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवाशा॥ -विवेकचूडामणि, १६४

[4] पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चबुध्दीन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि, मनोबुद्धिरहंकार, एवमष्टादश महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्| माठरवृत्ति,40

[5] सा च बुध्दिरष्टांडिका सात्त्विकतामसरुपभेदात्।-गौडपादभाष्य,२३

को लिंग शरीर भी कहते हैं।[1] जिसका लक्षण है-**'लिंगनाज्ज्ञापनाद् लिंगम्"**[2] अर्थात् जिसके द्वारा पुरूष का ज्ञान होता है वह लिंग हैं। इस तरह लिंग अर्थात् तेरह करणों में जब पञ्च तन्मात्राएं जुड़ जाती हैं, तो वह सूक्ष्म शरीर हो जाता हैं। सूक्ष्म शरीर का अपर नाम लिंग शरीर हैं। सूक्ष्म शरीर का **'लयं गच्छतीति लिंगम्'** की व्युत्पत्ति से इसका नाम लिंग रखा गया अथवा जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका विनाश भी अवश्यसम्भावी है, इस व्याप्ति से सूक्ष्म शरीर अपने विनाश का घोतक होने से लिंग कहा गया। यह लिंगत्व सूक्ष्म शरीर को प्रधान(मूल प्रकृति) से पृथक करता है, क्योंकि प्रधान किसी से भी उत्पन्न नही होता। ये सूक्ष्म शरीर व्यक्ति-भेद कर्म विशेष से अलग-अलग होते हैं।[1] यह लिंग शरीर सृष्टि के आरम्भ से उत्पन्न होकर प्रलय पर्यन्त बना रहता है। पुनर्जन्म की अवधारणा को समझने के लिए अनेक सूक्ष्म शरीर की सत्ता को स्वीकार किया गया है। यह सभी संघातों (वस्तु समूहों) के दूसरे के लिए होने से, त्रिगुण आदि का अभाव होने से, सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिए चेतन अधिष्ठाता तथा भोक्ता की अपेक्षा होने से एवं मोक्ष के लिए प्रवृत्त होने से पुरुष की सत्ता के पृथकता के आधार पर सूक्ष्मशरीर का भी प्रथक-प्रथक होना सिद्ध होता है।[2] सांख्यदर्शन में पुरुष एक नहीं बल्कि अनेक का स्वीकृत किया गया हैं। जीवात्मा में अधिष्ठित होकर समस्त कार्य संपन्न करने के कारण इसको अधिष्ठान कहा गया है।[3] जिस प्रकार छाया और चित्र बिना किसी आश्रय के नहीं रह सकते उसी प्रकार स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर की स्वतंत्रता के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकता।[4] पुरुष को भोग प्रदान करने कि लिए सूक्ष्म शरीर की रचना होती है। सूक्ष्म शरीर स्वतः भोग सम्पन्न नहीं करता अपितु वह स्थूल शरीर के माध्यम से करता है। अतः सूक्ष्म शरीर के भोग सम्पादन के लिए स्थूल शरीर की रचना होती है। आचार्य

---

[1] लिंग प्रलयकाले प्रधाने लय गच्छति इति लिंगम्। माठरवृत्ति,40

[2] सांख्यतत्वकौमुदी,41

[1] व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्।सा.सू.३/१०

[2] . संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्य्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च॥ (सां० का०, १७).

[3] अधिष्ठानमिच्छाद्वेष-सुखदुःख-ज्ञानादीनामभिव्यक्तेराश्रयोधिष्ठानं शरीरम् (शांभा) अधिष्ठयते जीवात्मनेति महाभूतसंघातरूपं शरीरमधिष्ठानम्।(रामानुजभाष्य) अधिष्ठानं प्रथमं शरीरं कारणम्। -वल्लभभाष्य

[4] न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च। सांख्यसूत्र ३/१२

गौडपाद के अनुसार रुधिर, मांस, स्नायु, शुक्र अस्थि और मज्जा से उत्पन्न पाञ्चभौतिक शरीर अवकाश प्रदान करने से आकाश, वृद्धि होने से वायु, पाक से तेज, संग्रह से जल, धारण से पृथ्वी इन समस्त अवयवों से युक्त होकर माता के गर्भ से बाहर आता है।[1] वाचस्पति मिश्र (३९) के अनुसार छः कोषों से बने होने के कारण इसे "**षाट्कौशिक शरीर**' भी कहा जाता है। इनमें लोम, रक्त, मांस माता से तथा स्नायु, अस्थि और मज्जा पिता से प्राप्त होते हैं। सांख्यसूत्र में स्थूल शरीर को **पाञ्चभौतिक** कहा गया है[1] एवं अन्य मतों के प्रतिपादन में इसे **चातुर्भौतिक**[2] एवं **ऐकभौतिक**[3] भी कहा गया है। प्राकृतिक, वैकृतिक एवं दाक्षिण बन्धन से सूक्ष्मशरीर प्रभावित रहता है। अविवेक के कारण ही प्रकृति का भोग सम्पादन होता है। प्रकृति तभी तक कर्मों का भोग उत्पन्न करती है, जब तक पुरुष में विवेक ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। विवेकज्ञान उत्पन्न हो जाने पर स्वकृत्य समाप्त हो जाने के कारण विवेक ज्ञान से युक्त सूक्ष्मशरीर की निवृत्ति हो जाती है। पातञ्जलयोगसूत्र के अनुसार ये नव अन्तराय प्रमुख हैं जो पुनर्जन्म के लिए सूक्ष्मशरीर को प्रेरित करती है। वह इस प्रकार से हैं – व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थित्व।[4] इसके अतिरिक्त बन्धन के कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। यहां अविद्या के पांच भेद हैं इन्हें ही क्रमशः तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र कहा गया है[5] क्योंकि अस्मिता इत्यादि चारों अज्ञान के कार्य होने के कारण उसी के स्वभाव के हैं।[6] योगसूत्र में अविद्या आदि को पञ्चक्लेश की संज्ञा दी गयी है।[7] अशक्तियां प्रकृति से भिन्न आत्मा के विषय में होने के कारण ये तुष्टियां आध्यात्मिक–आत्मविषयक कहलाती हैं जो प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य हैं और वैराग्य होने के कारण विषयों से उत्पन्न पॉच

---

[1] गौडपादभाष्य,३९

[1] सांख्यसूत्र ३.१७

[2] सांख्यसूत्र ३.१८

[3] सांख्यसूत्र ३.१९

[4] व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। यो.सू. 1.30

[5] . तत्त्वकौ०, ४७.

[6] . तत्त्वया०, पृष्ठ ७५.

[7] योगसूत्र २.३

बाह्य- इस प्रकार कुल नव तुष्टियां हैं।[1] पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमाम्भ, उत्तमाम्भ। ज्ञान की प्राप्ति ही सिद्धि है।[2] ऊह (तर्क), शब्द, अध्ययन, त्रिविध दुःख विनाश, सुहृत्प्राप्ति एवं दान के भेद से सिद्धियों के आठ भेद हैं।यह सभी सूक्ष्मशरीर को पुनर्जन्म के कारण है। इन सभी की आत्यान्तिक निवृत्ति कैवल्य या मोक्ष से ही सम्भव है। सांसारिक जगत के प्रति राग रहित भाव रखने से मुक्ति सम्भव है बतायी गई है। इन्होंने वैराग्य की चार अवस्थाएं मानी हैं- यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय एवं वशीकार वैराग्य।[1] सांख्य-योग परम्परा में निरन्तर समाधि में अभ्यास करने पर पुरूष अष्ट ऐश्वर्यों से साक्षात्कार होता है जो कि निम्न प्रकार से है- अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व ये अष्ट ऐश्वर्य हैं। पुरूष प्रकृति को अपने से भिन्न रूप में देखने पर तो प्रकृति की प्रवृत्ति अपने आप रुक जाती है और प्रकृति का व्यापार रुक जाने पर पुरुष को अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष है।[2] तत्त्वज्ञान के प्राप्त होने पर पुरुष प्रकृति के आरोपों से मुक्त हो जाता है। तत्त्वज्ञान के अभाव के कारण उत्पन्न प्रकृति के सप्त भावों धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य की समाप्ति हो जाती है जिससे पुनः सूक्ष्मशरीर की अभिव्यक्ति नहीं होती है। चित्त-परिकर्म, चित्तप्रसाधन, प्राणायाम, विषयाकाराकारित प्रवृत्ति, विषयवती प्रवृत्ति, ज्योतिष्मती विशोका वृत्ति, वीतरागचित्तप्रवृत्ति, स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बन प्रवृत्ति, अभीष्टवस्तु ध्यान, क्रिया योग, तपस्या, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान के अतिरिक्त सूक्ष्मशरीर की आत्यान्तिक निवृत्ति में पातञ्जल अष्टांग योग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि[3] ये सभी अंग व्यक्तित्व के क्रमिक विकास एवं शरीर की निवृत्ति के सोपानों का प्रतिपादन किया गया है।

आयुर्वेदीय में शरीर के दार्शनिक पर्यालोचन के सन्दर्भ स्थूलशरीर की समस्त प्रवृत्तिया त्रिगुणात्मक सूक्ष्मशरीर की सत्त्व, रज एवं तम गुणों की प्रकृति पर आधारित होती है। यहाँ सत्त्व, सूक्ष्मशरीर की चैतन्य, हल्की एवं सुखद अवस्था का द्योतक है। यह रोगों से मुक्ति की अवस्था है। रज सक्रियता एवं गति का प्रतीक है। इसमें

---

[1] . सां० का० एवं तत्त्वकौ०, ५०.

[2] . सिद्धिर्ज्ञानप्राप्तिः। (जय०, ४६).

[1] . विरागो वैराग्यं रागाभावः। तस्य यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा। (तत्त्वकौ०, २३).

[2] तर्करह०, २८

[3] यमनियमाऽसनप्राणायाम् प्रत्याहारधारणा ध्यानमसामधयोऽष्टाग्डानि। यो. सू. 2.29

सभी प्रकार की इच्छायें कामनायें और आकांक्षायें जन्म लेती है और विविध मानसिक व्याधियां इससे जन्म लेते है। तमस जड़ता एवं भारीपन का द्योतक है। यह अचेतनता जड़ता एवं निष्क्रियता का प्रतीक है। यह सूक्ष्मशरीर में अधिष्ठित मन की ग्रहणशीलता एवं सक्रियता में बाधा डालता है। इसकी वृद्धि से भ्रम आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, दैन्यता आदि भाव उत्पन्न होते हैं। आयुर्वेद के मत में रजस् एवं तमस् अवस्थाएं स्थूलशरीर के मानसिक स्वास्थ्य में व्यवधान डालती है। रजस् व तमस् दोषों के कारण ही विभिन्न मानसिक विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मद, शोक, चिन्ता, उद्वेग, भय, हर्ष आदि) की उत्पत्ति होती है। यह मानसिक विकार मनोगत सूक्ष्मशरीर के वाहक का कारण होता है। अतः स्थूलशरीर स्वास्थ्य सूक्ष्मशरीर में अधिष्ठित मनस् की शुद्ध सात्त्विक अवस्था में स्थिति होना से ही संभव है। इसलिए आयुर्वेद शास्त्र में 'शरीरेन्द्रियसत्वात्म' संयोगरुप जीव की सत्ता के अनुसार ही स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर, आत्मा, इन्द्रियां तथा मन रुप सर्वांगीण दार्शनिक अवधारणा पर ही बल दिया गया है। इनकी दृष्टी में स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर को प्रभावित करता है और सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर को प्रभावित करता है।[1] आयुर्वेद में शरीर पांचभौतिक है तथा आत्मा का भोगायतन है।[2] स्थूल शरीर अन्न ग्रहण से ही निर्मित होता है और पांच भौतिक है। इसीलिये इसे 'अन्नमयकोश' भी कहा जाता है । स्थूल शरीर को पितृज, मातृज तथा रसज कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर को 'लिंग शरीर' भी कहा जाता है। सांख्यमतानुसार सूक्ष्मशरीर अष्टादश तत्त्वात्मक है जबकि चरकसंहिता में सूक्ष्मशरीर को अग्नि,वायु,जल,पृथ्वी सहित चार महाभूतों तथा मन से गठित माना है।[3] कारण शरीर ही स्थूल व सूक्ष्म शरीर का मूल है ।आत्म स्वयं निर्विकार, अजन्मा, अमर और सुख-दुःख, रागद्वेषादि रहित है।[4] परन्तु सूक्ष्म शरीर में रहता हुआ वही धर्म-अधर्म का कर्ता, सुख-दुःख रूप फलों का भोक्ता, राग-द्वेष, काम-क्रोध, जन्म-मरण आदि आदि से आविष्ट होता है।[5] इस सूक्ष्म शरीर का निर्माण आकाश के अतिरिक्त शेष चार भूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) के अति सूक्ष्म रूप में होता है। ये चारों महाभूत सर्वदा प्रत्येक आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं। भूतों के अतिरिक्त

---

[1] शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते सत्त्वं च शरीरम् ॥ च.शा. 4.36

[2] शरीरं पाञ्चभौतिकमात्मनो भोगायतनम्। च.सू.1.42

[3] भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।

कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ॥ च .सं4.2.31

[4] . च०शा०,4.33.

[5] . च०शा०,4.37.

सूक्ष्म शरीर में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और सत्व, रज, तम ये तीन गुण भी सर्वदा विद्यमान रहते हैं।[1] सत्व के उत्कर्ष के कारण होने वाली मन की सात प्रकृतियां,[2] रजोगुण के आधिक्य से होनेवाली छः प्रकृतियां,[3] तथा तमोगुण के प्राबल्य से होनेवाली तीन चित्त प्रवृत्तियां,[1] भी इस सूक्ष्म शरीर में रहती हैं। इस सूक्ष्म शरीर को लिङ्गशरीर या आतिवाहिक शरीर भी कहते हैं। आत्मा के साथ नित्य (सृष्टि से प्रलय पर्यन्त) स्पर्श होने से इस शरीर को 'स्पृक् शरीर ' भी नाम दिया गया है।[2] मैथुन द्वारा शुक्र और शोणित (स्त्रीबीज) का सम्मूर्च्छन (संयोग) होने पर तत्क्षण यह सूक्ष्म शरीर ही अपने पूर्व के शरीर (मृतशरीर) को छोड़कर उत्पन्न होनेवाले नये गर्भ के शरीर में प्रवेश करता है।[3] वस्तुतः सूक्ष्म शरीर ही मन द्वारा अधिष्ठित होकर पूर्व शरीर को छोड़ता है तथा नये शरीर (गर्भाशय से युक्त शुक्र-शोणित) में प्रवेश करने के कारण इसे मनोजव कहते हैं। अज्ञान के कारण रज और तम गुणों का मन से अनुबन्ध रहने से मन सदोष कर्म के कारण जन्म-जन्मान्तर के कारण होते है, जो इनका वाहक वह सूक्ष्म शरीर/ लिग्ड शरीर है।[4] यह वस्तुतः सूक्ष्म शरीर और 'परम आत्मा' का संयोग है। प्रलय की समाप्ति के अनन्तर सृष्टि प्रारम्भ होने पर प्रत्येक आत्मा को एक-एक सूक्ष्म शरीर उपलब्ध होता है। यह सूक्ष्म शरीर अगले प्रलय आने तक रहता है। प्रलयावस्था आने पर यह सूक्ष्म शरीर नष्ट होकर प्रलयकाल की समाप्ति होने तक अपनी 'निर्विकार' परम आत्मा में स्थित रहता है। सूक्ष्म शरीर तथा आत्मा का यह संयोग ही एक योनि से दूसरे योनि में जाता है अर्थात मृत्यु के समय मृत शरीर को छोड़ता है और तत्काल शुक्रशोणित के सम्मूर्च्छन से उत्पन्न होनेवाले नये शरीर (गर्भ) में प्रविष्ट होता है।[5]

---

[1] . भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति वेगात्। (च०शा०, 2.31).

[2] . च० शा०, 4.47, तथा सु० शा०, 4.80-86.

[3] . च० शा०, 4.38, तथा सु० शा०, 4.87-92.

[1]. च० शा०, 4.39, तथा सु० शा०, 4.93-96.

[2] . नित्यमात्मानं स्पृशतीति स्पृक् शरीरमतिवाहिकशरीरम्। (च०शा०, 30.4).

[3] च०शा०, 2.31

[4] अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः।
न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकारविकार दोषैः॥
रजस्तमोभ्यां हि मनोऽनुबद्धं ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः।
गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म॥ 2/37-38, शरीरस्थानम्/ चरक संहिता

[5] च०शा०, 3.14

आर्यर्वेद में पुरुष को निर्विकार 'परम आत्मा' अथवा 'सूक्ष्मशरीरयुक्त आत्मा' से पृथक् बोध के लिए कर्म पुरुष, राशिपुरुष[1], संयोगपुरुष,[2] समुदाय पुरुष,[1] षड्धातुक पुरुष[2] या चतुर्विंशतिक पुरुष[3] कहते हैं। मोह, इच्छा, द्वेष कर्म से राशि पुरुष की उत्पत्ति होती है।[4] हेतु (कारणों) से उत्पन्न पुरुष सत्ता वाला होते हुए सकारण है अत: अनित्य है।[5] इन नामों का कारण स्पष्ट है। पूर्वोक्त दो पुरुष (आत्मा) कर्म नहीं कर सकते यह चेतन शरीर ही कर्म कर सकता है, अत: इसे कर्म पुरुष कहा गया है। जीवात्मा को कर्म तथा कर्मफलोपभोगार्थ प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में मूल प्रकृति से उत्पन्न बुद्धितत्व, मन, पञ्चतन्मात्रा आदि से निर्मित जो सूक्ष्म लिङ्गशरीर उत्पन होता है यह ही प्रलय काल में विलोम क्रम से अपने मूल रूप में लीन हो जाता है और केवल आत्मा अपने एकाकी स्वरूप में रह जाता है।[6] प्रलय की समाप्ति पर अन्य द्रव्यों के समान लिङ्गशरीर उत्पन्न होता है तथा यह आत्मा को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने, कर्म करने तथा उनका फल भोगने में सहायक होती है। मोक्ष में जब जीव जन्म और मरण से बन्धन से मुक्त हो जाता है उस समय भी जीव प्रलय काल के समान लिङ्गशरीर रहित होता है। अन्तर केवल यह होता है कि बद्ध (जिसे मोक्ष नहीं मिला है) जीव तो पुन: अग्रिम सृष्टिकाल आरम्भ होने पर नया लिङ्गशरीर प्राप्त करता है तथा पुन: प्रलय काल तक जन्म और मरण के तथा उनके द्वारा कर्म और फलोपभोग के चक्र में पड़ता है[7] किन्तु मुक्त पुरुष को नया सृष्टिकाल आरम्भ होने पर भी लिङ्ग शरीर नहीं प्राप्त होता।

सांख्य और योग दर्शन में सारे जड़ और चेतन जगत् की उत्पत्ति पंच महाभूतों (आकाश, वायु, तेज (अग्नि), जल (अप्), और पृथ्वी) के सम्मिश्रण से मानते हैं, वही आयुर्वेद भी शरीर और स्थूलशरीर के मूल आधारों– दोष,

---

[1] च०शा०, 1.53

[2] . संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः। (च०शा०, 1.85).

[1] . ...षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते। (च०शा०, 5.4).

[2] . च० शा०, 1.16

[3] . वही, 1.35

[4] . पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः। (च० शा०, 1.53).

[5] च० शा०, 1.59

[6] च० शा०, 1.38

[7] च० शा०, 1.38

धातु, मल की उत्पत्ति इन्हीं पाँच महाभूतों से मानता है।[1] त्रिदोषों से प्रभावित स्थूलशरीर की समस्त प्रवृत्तियां विकृत संस्कारों का हेतु होती है, जो कि सूक्ष्मशरीर में अधिवासित रहती है। मनुष्य के स्थूलशरीर का निर्माण दोष, धातु और मल इन तीन तत्त्वों का संयुक्त रूप है।[2] वात ,पित्त और कफ संख्या में तीन होने के कारण त्रिदोष कहलाते हैं।[1] त्रिदोष वैषम्य रोगोत्पत्ति व साम्य आरोग्यता का कारण है।[2] दोष वैषम्य अवस्था में होते हैं, तो धातु और मल की मात्रा असन्तुलन जाता है जिससे स्थूलशरीर में रोग जन्म लेते है। चूंकि वात, पित्त और कफ स्वयं दूषित होकर (अर्थात् वृद्धि, प्रकोप या क्षय को प्राप्त होकर) विकार रहित धातुओं और मलों को भी दूषित करते और स्थूलशरीर में रोग उत्पन्न करते हैं, अतः इन्हें दोष कहा जाता है।[3] अतः त्रिदोषों में वृद्धि व क्षय रोगोत्पत्ति का कारण है।[4] जिस प्रकार मनोगतो सूक्ष्मशरीर का प्रभाव सारे शरीर में व्याप्त रहता है उसी प्रकार ये तीनों दोष भी सारे शरीर में व्याप्त है।[5] यह स्थूलशरीर रस अथवा लसीका, रक्त, मांस तन्तु, मेद या वसा, अस्थि या हड्डी, मज्जा या अस्थि-मज्जा हड्डी के अन्दर का भाग, शुक्र (पुरुषों में) शुक्राणु एवं स्त्रियों मे अण्डाणु आदि सप्त धातुओं से मिलकर बना हुआ है। यह एक जाठराग्नि, सात धात्वाग्नियाँ और पाँच भूताग्नियाँ[6] मिलाकर तेरह प्रकार की अग्नियों का संघात रूप स्थूलशरीर के दार्शनिक पक्ष पर भी बल दिया गया है।

---

[1] पञ्चभूतात्म के देहे आहारः पाञ्चभौतिकः । विपक्वः पञ्चधा सम्यक् गुणान स्वान भिवर्धयेत ॥ सु.सू. 46.526

[2] (1) दोषधातु मलमूलं हि शरीरम् ।। सु.सू. 15.3

(2) दोषधातुमलामूलं-सदा देहस्य ॥ अ.ह्र.सू. 11.1

[1] (1) वायु पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः । च. सू. 1.57

(2) वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयोदोषाः समासतः ॥ अ. ह्र.. 1.6

[2] रोगस्तु दोष वैषम्यां दोषसाम्यमरोगता । अ.सं.सू. 1.43

[3] रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये । तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्धृतदाहवत् ॥ अ.सं.सू. 1.32

[4] उत्कृष्टमध्याल्पतया त्रिधा वृद्धि क्षयावपि । विकृताऽविकृता देहं घ्रन्ति ते वर्तयन्ति च ।।

रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये । तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्धृतदाहवत् ॥ अ.सं.सू. 1.24, 1.32

[5] वातपित्तश्लेष्मणां पनः सर्वशरीर चराणां सर्वाणिस्त्रोतांस्ययन भूतानि । वातपित्तकफा देहे सर्वस्त्रोतोऽनुसारिणः। च.वि. 5.6

[6] भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः । पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि ॥ च.चि. 15.13

- **सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -**

मूल स्त्रोत :-

- अष्टांगहृदयम्, वाग्भटट्, निर्मलाहिन्दीटीकासहित, ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2003
- अष्टांगहृदयम्, वाग्भटट्, 'विद्योतिनी' भाषाटीका-व्यक्तव्य-परिशिष्ट्सहितम्, कविराज अत्रिदेव गुप्त्, चौखम्बा प्रकाशन्, 2007
- चरकसंहिता, श्रीमदग्निवेशेन प्रणीता चरकदृढबलाभ्यां प्रतिसंस्कृता सविमर्शविद्योदनी हिन्दीएव्याख्यायोपेता, पं.काशीनाथ पाण्डेय, डा. गोरखनाथ चतुर्वेदी, चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, 2001
- सुश्रुतसंहिता, आयुर्वेदतत्त्वसन्दीपिका हिन्दीव्याख्या, प्रथमभाग, डा. अम्बिकादत्तशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2002
- अग्निपुराणम्, व्यासकृत, चौखम्बा, वाराणसी, १९६६.
- अथर्ववेद (प्रथम से तृतीय खण्ड), स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९५८.
- अष्टांगसंग्रह, वाग्भट, चित्रशाला प्रेस, पूना, १९३८.
- अष्टांगसंग्रह, वाग्भट, चौखम्बा, वाराणसी, १९५४.
- अष्टांगहृदयम्, वाग्भट, चौखम्बा, वाराणसी, १९७५.
- वेदान्तसार (विवृत्ति सहित) सदानन्दयोगीकृत, डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ-250002
- सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, डॉ.रामकृष्ण आचार्य, साहित्य भण्डार, मेरठ
- सांख्यदर्शन, विदोदयभाष्य, उदयवीर शास्त्री, विजयकुमार गोविन्दराम, हंसानन्द
- सुबोधिनी संस्कृतटीका सहितः वेदान्तसार सदानन्दप्रणीत, डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद।

गौण स्त्रोत :-

- *ईशादि नौ उपनिषद्*, गीताप्रेस गोरखपुर।
- ईशावास्योपनिषद्, गीता प्रेस गोरखपुर।
- उपनिषद दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, डी० रानाडे, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७१.
- ऋग्वेद, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली, सं० २०३२.
- ऐत्तिरीय उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२९.
- कठोपनिषद्, चौकम्बा, वाराणसी, १९६८.
- कठोपनिषद्, डॉ शशि तिवारी, विद्याभवन प्रकाशन दिल्ली, २००६
- काश्यपसंहिता, कश्यप, चौखम्बा, वाराणसी, १९५३.
- कूर्मपुराण, व्यास, सर्वभारतीय काशिराजन्यास दुर्ग, रामनगर, १९७२. केनोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- कौटिल्य अर्थशास्त्र, कौटिल्य, चौखम्बा, वाराणसी, १९६२.
- गरुड पुराणम्, व्यास, पण्डित पुस्तकालय, काशी, १९६३.
- छान्दोग्य उपनिषद् (शांकरभाष्य), गीता प्रेस, गोरखपुर।
- जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, दयानन्द महा विद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला, १९२१.
- *तर्कसंग्रह (दीपिका सहित)* अन्नभट्ट, सं. अथल्ये-बोडास, बाम्बे संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७२
- तैत्तिरीय उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२९.
- तैत्तिरीय ब्राह्मणम्, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, १९२३८.
- धर्मशास्त्र का इतिहास, पी० वी० काणे, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, १९७३.
- निरुक्त शास्त्रम्, रामलाल कपूर विक्षेप निधि, अमृतसर, सं० २०२१.
- *न्यायसर्शनम,* उदयवीरशास्त्री, विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, २००३

- पद्मपुराण, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९५७.
- पाणिनि कालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल, मोतीलाल बनारसीदास,
- प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्राचार्य, सिन्धी ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९३९.
- *प्रशस्तपादभाष्य* (सं.) मण्डन मिश्र, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९७
- प्रश्नोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
- बुद्धचरित, अश्वघोष, चौखम्बा, वाराणसी, सं० १९२९.
- बृहदारण्यकोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०२५.
- *बोधिचर्यावतार* स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती वाराणसी, १९८८
- ब्रह्मपुराण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९७६.
- ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३८.
- ब्रह्माण्डपुराण, श्री वेङ्कटेश्वर स्टीम यन्त्रालय, बम्बई, १९२६.
- भेलसंहिता, चोखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९५१.
- मत्स्यपुराण, नन्दलाल मोर प्रकाशन, कलकत्ता, १९५४.
- मनुस्मृति (कुल्लूक भट्ट टीका), चौखम्बा, वाराणसी, १९७०.
- मनुस्मृति (मेधातिथिभाष्य), एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, १९३२.
- महाभारत और पुराणों में सांख्यदर्शन, रामसुरेश पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७२.
- महाभारत, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- महाभारत, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट्, पूना, १९५४.
- माण्डूक्योपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- मार्कण्डेयपुराण, ५ क्लाइव रोड, कलकत्ता, १९६२.

- मार्कण्डेयपुराण-एक सांस्कृतिक अध्ययन, वासुदेवशरण अग्रवाल, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, १९६१.
- *मीमांसादर्शनम्,* डाँ मण्डनमिश्र, आचार्य पट्टाभिरामशास्त्री विद्यासागर, श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रिय-संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, १९८३
- *मीमांसाश्लोकवार्तिक,* डाँ काशीनाथ मिश्र कृत, कामेश्वरसिंहदरभंगासंस्कृत विश्वविद्यालय,दरभंगा बिहार २००१
- *मीमांसासार संग्रह* , शंकरभट्टकृत चौखम्बा प्रकाशन, १९९४
- मुण्डकोपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- मैत्रायणी उपनिषद्, कलकत्ता प्रकाशन।
- यजुर्वेद, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली, १९५७५.
- याज्ञवल्क्य स्मृति (अपरादित्य टीका), आनन्दाश्रम मुद्राणालय, १९०४.
- याज्ञवल्क्य स्मृति, चौखम्बा, वाराणसी, १९६७.
- युक्तिदीपिका, रामचन्द्र पाण्डेय (सम्पादन), मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १८६७.
- योगीकथामृत, परमहंस योगानन्द, योगा सत्संग सोसायटी ऑफ इंडिया
- लिंगपुराण, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९८१.
- वामन पुराण, सर्वभारती काशीराज, रामनगर, १९६८.
- वायु महापुराण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००७.
- वायुपुराण, ५ क्लाइव रोड, कलकत्ता, २०१६.
- विष्णु पुराण का भारत, सर्वानन्द पाठक, चौखम्बा, वाराणसी, १९६७.
- विष्णु पुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- वैदिक धर्म एवं दर्शन, एन०वी० कीथ, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।
- शतपथ ब्राह्मण, वैज्ञानिकाध्ययन अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली, १९६७.

- श्रीमद्भागवद्गीता रहस्य, बालगंगाधर तिलक, तिलक मन्दिर, पूना, १९३३.
- श्रीमद्भागवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर।
- श्रीमद्भागवद्गीतापुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० १९९७.
- श्वेताश्वतर उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर। सं० २०१२.
- *सर्वदर्शनसंग्रह*, माघावाचार्यकृतः उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००६
- *सांख्यकारिका*, रामकृष्ण, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, १९७७
- *सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा*, डॉ आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन इलाहाबाद, २००६
- *सांख्यदर्शनम्*, रामनाथ झा, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, २००८

B. <u>गौणस्रोत</u> <u>(Secondary Sources)</u>:–

- *भारतीय न्यायशास्त्र* , चक्रधर बिजलवान, उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ संस्थान, लखनऊ, 1998, द्वितीय संस्करण
- *भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन,* चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल ब**नार**सीदास, दिल्ली, 2004,
- *भारतीय दर्शन : आलोचना और अनुशीलन,* चन्द्रधर **शर्मा** मोतीलाल ब**नार**सीदास, दिल्ली, 2004,
- *भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा,* राममूर्ति शर्मा मणिद्वीप, दिल्ली, 2001
- *मन के रोग एवं उनकी **आयुर्वेदिक** चिकित्सा,* त्रिलोकी नाथ पाण्डेय, भावना प्रकाशन, दिल्ली,२००३
- आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान, सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, लोकभारती प्रकाशक, इलाहाबाद, १९६९.
- आयुर्वेद और सांख्यदर्शन, ऊषा कुशवाहा एवं ज्योतिर्मित्र, सचित्र आयुर्वेद, पटना, दिसम्बर, १९७७.
- आयुर्वेद का बृहत् इतिहास, अत्रिदेव विद्यालंकार, प्रकाशन शाखा सूचना विभाग, उ०प्र०, १९६०.
- आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, प्रियव्रत शर्मा, वाराणसी, १९७६.
- चरक एवं सुश्रुत की सांख्य-प्रस्थानीय विचारधारा-एक मौलिक चिन्तन, ऊषा कुशवाहा एवं ज्योतिर्मित्र, आल इण्डिया ओरियण्टल, कान्फेंस, विवरणिका इंस्टीट्यूट, पूना, १९७८.

- चरक एवं सुश्रुत के दार्शनिक विषयों का अध्ययन, ज्योतिर्मित्र आचार्य, वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड, पटना, १९८२.
- चरकसंहिता (आयुर्वेददीपिका व्याख्या), निर्णय सागर, बम्बई, १९४१.
- चरकसंहिता, प्रथम खण्ड १९७७, द्वितीय खण्ड १९७०, चौखम्बा, वाराणसी।
- त्रिदोष तत्त्व विमर्श, रामरक्ष पाठक, वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता, १९५०.
- दर्शन दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल
- न्याय कुसुमाञ्जलि, उदयनाचार्य, चौखम्बा, वाराणसी, सं० १९६२.
- न्यायवार्तिक, उद्योतकर प्रणीत, चौखम्बा, वाराणसी, १९१५.
- न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति मिश्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९२५.
- न्यायशास्त्रम्, वात्स्यायन भाष्य सहित, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०.
- पातञ्जलयोग दर्शनम् (तत्त्ववैशारदी), भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६३.
- पातञ्जलयोग दर्शनम्, (व्यास एवं भोजवृत्ति सहित), मदनलाल लक्ष्मी निवास, अजमेर, १६६१.
- भारतीय दर्शन (आलोचन और अनुशीलन), चन्द्रधर शर्मा, मोतालाल बनारसीदास, नई दिल्ली।
- भारतीय दर्शन का इतिहास, एस० एन० दासगुप्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
- भारतीय दर्शन का इतिहास, हरदत्त शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ।
- भारतीय दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास, राममूर्ति शर्मा, राष्ट्रीय संस्कृत –संस्थानम्
- भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण, संगमलाल पाण्डेय, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, १९८४.
- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, एम० हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६९.
- भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा, राममूर्ति पाठक, अभिमन्यु प्रकाशन, इलाहाबाद

- भारतीय दर्शन, डी. आर. जाटव, नेशनल प्रकाशन हाउस, नई दिल्ली
- भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्ण, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
- भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन्, खण्ड २, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६९.
- भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास, एन० के० देवराज तथा रामानन्द तिवारी, हिन्दुस्तान एकेडमी, उ० प्र०, १९४१.
- मन का दार्शनिक एवं आयुर्वेदिक स्वरूप, ऊषा कुशवाहा एवं ज्योतिर्मित्र, इन्द्रप्रस्थानीय आयुर्वेद महासम्मेलन, दिल्ली, जनवरी १९७९.
- मृतात्माओं से सम्पर्क (सत्य घटनाओं पर आधारित भूत-प्रेत प्रसंग एक रस्यवादी गृहस्थ पुञ्ज), अरूण कुमार शर्मा, एनशियन्ट साइन्स पब्लिशर्स
- मृत्यु भी जन्म जिन्दगी के बाद जारी यात्रा का सच,दिनेश रावत, Educreation Publication
- वैशेषिक दर्शन-एक अध्ययन, श्री नारायण मिश्र, चौखम्बा वाराणसी, १९६८.
- वैशेषिक दर्शनम्, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६६.
- शांख्यायन आरण्यकम्, आनन्दाश्रम मुद्राणालय, पूना, १९२२.
- शारंधर संहिता, वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, कलकत्ता, १९६१.
- शिक्षा: नए प्रयोग, ओशो, डायमंड बुक्स प्रकाशन, 2007
- शिवमुनि ग्रंथावली, आदि मुनीश्वीर योगेश्वर शिव मुनि महाराज, मुनीश्वर मठ आदिमुनीश्वराश्रम,24/1, अलहदादपुर, गोरखपुर-273001
- श्लोकवार्तिक, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १८८९.
- षड्दर्शन रहस्य, पंडित रंगनाथ पाठक, बिहार राष्ट्रभाषा, पटना
- षड्दर्शनसमुच्चय (तर्करहस्यदीपिका), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९७०.

- सन्मति तर्क, सिद्धसेन दिवाकर, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, सं० १९८०.
- सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६४.
- सांख्य योग दर्शन, उमेश मिश्र, तीरमुक्ति प्रकाशन, प्रयाग, १९५८.
- सांख्य से आयुर्वेद का सादृश्य एवं पार्थक्य, उषा कुशवाहा एवं ज्योतिर्मित्र, सचित्र आयुर्वेद, पटना,१९७८.
- सांख्यकारिका (अनुराधाव्याख्या), बृजमोहन चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६१.
- सांख्यकारिका (गौडपादभाष्य), चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६८.
- सांख्यकारिका (जयमंगलाटीका), कलकत्ता ओरिण्टल सीरीज, १९२६.
- सांख्यकारिका (माठरवृत्ति), चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९२२.
- सांख्यचन्द्रिका, नारायणतीर्थ, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९५२.
- सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा, आद्या प्रसाद मिश्र, सत्य प्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, १९६६.
- सांख्यतत्त्वकौमुदी, वाचस्पति मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
- सांख्यतत्त्वालोक, हरिहरानन्द आरण्यक, गवर्नमेंट सस्कृत लाइब्रेरी, वाराणसी, १९३६.
- सांख्यदर्शन और विज्ञानभिक्षु, उर्मिला चतुर्वेदी, कला प्रकाशन, वाराणसी, १९८१.
- सांख्यदर्शन का इतिहास, उदयवीर शास्त्री, विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, १९५०.
- सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, आद्या प्रसाद मिश्र, सत्य प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६७.
- सांख्य-योग दर्शन का जीर्णोद्धार, हरिशंकर जोशी, चौखम्बा, वाराणसी, १९६५.
- सांख्यसंग्रह, विन्ध्येश्वरीप्रसाद, द्विवेदी (सम्पादक), चौखम्बा, वाराणसी, १९६१.
- सांख्यसिद्धान्त, उदयवीर शास्त्री, विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, सं०२०१९.
- सांख्यसूत्रम् (अनिरुद्ध वृत्ति), प्राच्य भारतीय प्रकाशन, कमच्छा, वाराणसी, १९६४.
- सांख्यसूत्रम्, भारतीय विद्या भवन, वाराणसी, १९६६.

- सुवर्णसप्ततिशास्त्र, तिरुमल तिरुपति प्रेस, १९४४.
- सुश्रुतसंहिता, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७६.
- सुश्रुतसंहिता, भास्कर गोविन्द घाणेकर की टीका, वाराणसी, १९५३.
- सौन्दरानन्द, अश्वघोष, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सं० २०२६.
- स्कन्धपुराण, गुरुग्रन्थमाला, १९५६-६२.
- स्याद्वादमंजरी, मल्लिषेण, चौखम्बा, वाराणसी, १९६३.
- हिन्दी वैशेषिक सूत्रोपस्कार, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, १९६९.
- R. Krishnan and C. A. Moor, *A Surcce Book in Indian Philosophy*, (eds.), Princeton University Press, 1957.
- V.V.Sovani, *A Critical study of Samkhya System*, Poona Oriental Book Agency, 1935.
- Y.N.Sinha, *A History of Indian Philosophy*, Vol, 1, Central Book Agency, Calcutta, 1952.
- Usha Kushwaha and J. Mitra, *Ayurveda and Samkhya-Similarity and Dissimilarity*, In Basic Principles of Ayurveda, D.P. Sharma and K. Shastri (eds.), Shree Baidyanatha Ayurveda Bhavan Ltd., 1978.
- A. Sengupta, *Classical Samkhya A Critical Study*, Asrama, Lucknow, 1969.
- J. C. Larson, *Classical Samkhya*, Motilal Banarasi Das Varansi, 1969.
- H. H. Johnston, *Early Samkhya*, Royal Asiatic Society, Oxford, 1937.
- S. N. Dasgupta, *Hisatory of Indian Philosophy*, Cambridge University Press, Vol. 1, 1922.
- M. Winternitz, *History of Indian Literature*, Motilal Banarasi Das, Varansi, Vol. 3, 1967.
- Bihari Chakravarti, *Origin and Development of Samkhya System of Thought*, Pulin, Calcutta, Sanskrit Series, 1951.
- J. R. Ballantyne, *Samkhya Apporism of Kapil*, Choukhamba, Varansi, 1963
- K. Battacharya, *Some Problem of Samkhya Philosophy& Samkhya Litreature*, Indian Historical Quarterly, Vol. 8, Calcutta, 1932.
- M. Hiriyanna, *The Essantial of Indian Philosophy*, George Allen and Unwin Ltd., 1949.
- A. Sengupta, *The Evolution of Samkhya School of Thought*, Pioneer press Ltd., Lucknow, 1959.

- A. N. Majumdar, *The Samkha Conception of Personality*, Calcutta University Press, 1930.
- A. B. Keith, *The Samkhya System*, Neg Publishers, Delhi, 1975.
- M Hiriyanna, *The Sastitantra and Varsaganya*, J. of Oriental Research Madras, 1929.
- Maxmullar, *The Six System of Indian Philosophy*, Chaukhamba, Varansi, 1930.
- , R. N. Phuban, *Theory of Rebirth*, Banchharama Akrur Lane, Calcutta.

❖ कोश ग्रंथ :-

- *ENCYCLOPEDIA OF INDIAN PHILOSOPHIES*, VOL; 1;, KARL H. POTTER, MOTILAL BANARASIDAS, VARANSI,1995
- *संस्कृत हिन्दी कोश,* वामन शिवराम आम्टे, नाग प्रकाशन, दिल्ली
- *अमरकोश,* शक्तिधरशास्त्रीकृत हिन्दी टीका सहित, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ,1919
- *भारतीय दर्शन वृहतकोश* (4 खण्ड), बच्चूलाल अवस्थी, शारदा प्रकाशन, दिल्ली,2005
- Monier Williams *Sanskrit-English Dictionary*, Motilal Banarasidass Publishers, Delhi, 1993
- *Oxford English-Hindi Dictionary,* Oxford University Press, London, 2007.
- Karl H Potter, *Encyclopaedia of Indian Philosophy*, Vol. I-II, Motilal Banarsidass, Delhi, 1995
- **संस्कृत–हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1989, पुनर्मुद्रण**
- *पाली-हिन्दी कोश*, भदनन्द कौसल्यायन,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली,**1975**
- **संस्कृत–हिन्दी–** अंग्रेजी शब्द**कोश,** डॉ शिवप्रसाद भारद्वाज, अनिल प्रकाशन,नई दिल्ली, **2003**
- ***संस्कृत–धातु–कोष,* संपा. युधिष्ठिर मीमांसक, सोनीपत, 1996**

(d) अन्तर्जाल (**Internet**)

i. www.accesstoinsight.org/tipitaka/dhp.intro.budd.html.

ii. www..hvk.org/articles/0904/29.html.

iii. www.vedabase.net/bhagavan